CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

* ओ३म् *

वैदिक-इतिहास-विमर्श

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

❀ ओ३म् ❀

वैदिक-इतिहास-विमर्श

A CRITICAL STUDY OF VEDIC AHKYANAS

WITH SPECIAL REFERENCE TO THE VEDIC INDEX

लेखक—प्रसिद्ध वेदानुसंधानकर्त्ता

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

लेखक—सामवेद-भाष्य, आर्यसिद्धान्तसागर, वैदिक ज्योति, कर्ममीमांसा, शिक्षणतरंगिणी

प्रकाशक—

आर्य साहित्य मण्डल लि०, अजमेर.

प्रथमावृत्ति १०००]   जून १९६१   मूल्य { सजिल्द ८) रूपये
अजिल्द ...

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मुद्रक—
शिरीशचन्द्र शिवहरे, एम. ए.
दी फ़ाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस,
अजमेर

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
प्रागौक्तिकी	१—४
प्रथम प्रकरण	
इतिहास पक्ष का निराकरण	१—५४
इतिहासों का वर्गीकरण	७
इतिहास क्यों खड़ा हुआ	७
यौगिक प्रक्रिया	८
इतिहास वादियों के माने हुये इतिहास के चार प्रकारों का समाधान	१३—१८
ऋषिवेदकर्त्ता हैं और उनके नाम मन्त्रों में हैं का समाधान	१८—३३
वेदों में राजावों के नाम हैं—इस पक्ष का निराकरण	३३—५४
द्वितीय प्रकरण	
वैदिक इतिहास का स्वरूप	५५—१४३
तृतीय प्रकरण	
वैदिक इण्डेक्स में दिये गये नामों का विवेचन	१४४—३०६
(इसमें इण्डेक्स में दिये गये नामों को अकारादि क्रम से ही रखा गया है ।)	
परिशिष्ट	३०७—३१४
शुद्धाशुद्धिपत्र	३१५—३१८

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

❀ ओ३म् ❀

प्रागौक्तिकी

दीर्घकाल से यह विचार मन में स्थान किये था कि वेद के रहस्य के उद्घाटन की कोई ऐसी भूमिका निर्मित की जावे कि जिससे इसके अध्ययन का मार्ग प्रशस्त बने। इसी प्रयत्न में मैंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "वैदिक-ज्योति" का प्रणयन किया। इस पुस्तक में सामान्येन वेद के विविध विषयों का वर्णन और अनुसंधानपूर्ण परिचय दिया गया। वेद के अन्तस्तलावगाहन और रहस्यावगमन के लिए प्रक्रिया (प्रकरण), देवता और यौगिकता के सिद्धान्त का ज्ञान आवश्यक है। वैदिक-ज्योति में इनका सुन्दर निरूपण किया गया है। परन्तु इतने मात्र से सन्तोष का आश्रयण न करके इनमें से कुछ विषयों पर विशेष विस्तृत ग्रन्थ लिखने का विचार मेरे मस्तिष्क में सदा रहा। वैदिक इतिहासों के निर्णय और देवतावाद की वैज्ञानिकी स्थिति एवं वैदिक विज्ञानों के विस्पष्टीकरण की इच्छा सर्वदा जाग्रत रही और विघ्नों एवं बाधावों के रहते हुये भी इस दिशा में गम्भीर अन्वेषण चलता रहा और चालू भी है। वैदिक ज्योति के पृष्ठ ५६ पर मैंने अपनी इतिहास सम्बन्धी पुस्तक के लिखने की भावना का स्पष्टीकरण किया है। उसी के अनुसार यह वैदिक-इतिहास-विमर्श ग्रन्थ मैंने लिखकर इस विषय के जिज्ञासुवों और जनताजनादर्न एवं विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस पुस्तक का विषय इतना गूढ़ है और विपक्षियों ने इतनी समस्यायें इसके विषय में खड़ी की हैं कि इसकी रचना में मुझे कई वर्षों तक अनुसन्धान कर सफलता के मार्ग को प्रशस्त करना पड़ा। वस्तुतः लम्बे काल के अनुसन्धान और प्रयत्न का फल है यह प्रस्तुत ग्रन्थ।

पाश्चात्य विपश्चितों ने वैदिक इतिहासों के विषय में बड़ी भारी भ्रान्तियाँ पैदा कर दी हैं। उनका आधार सायण आदि भाष्यकारों का भाष्य और कुछ पौराणिक किस्से कहानियाँ हैं जो बिना सिर पैर की हैं। वेदाध्ययन की जो परम्परा ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त अक्षुण चली आयी और जिसका आधुनिक युग के महान् वेदज्ञ आचार्यप्रवर महर्षि दयानन्द ने पुनः प्रचार किया, उसके अनुसार वेदों में किन्हीं व्यक्तिविशेषों का इतिहास नहीं पाया जाता। फिर भी सायण आदि भाष्यकारों और उनके पदचिन्हों पर चलने वाले विदेशीय और एतद्देशीय विद्वानों ने इस पर

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पर्याप्त लिखा और एक भव्य भवन खड़ा किया। इस विषय में मैकडानल की Vedic Index एक बृहत् पुस्तक है। इसमें सभी वैदिक संज्ञावों का, (जिनको ग्रन्थकर्त्ता ने व्यक्तिवाचक समझा) संग्रह किया गया है। जब तक इस ग्रन्थ में दिये गये नामों का युक्तियुक्त उत्तर न दिया जावे तब तक "वेद में इतिहास नहीं" की घोषणा का कोई मूल्य नहीं था। इसका समुचित उत्तर देने और वैदिक इतिहासों के निर्णय की धारणा मेरे मन में घर किये हुये थी। यह पुस्तक मुझे सदा खटकती रही। इसका उत्तर देने के लिए मैंने इस प्रस्तुत पुस्तक का निर्माण किया और मुझे आन्तरिक हर्ष है कि प्रस्तुत पुस्तक के तीसरे प्रकरण में मैंने इसका पूर्ण रूप से और समुचित ढंग से उत्तर दे दिया है। वैदिक इण्डेक्स पुस्तक को लेकर जो भय और हौवा लोगों के समक्ष खड़ा किया जाता था अब वह मेरी इस पुस्तक से समाप्त हो जावेगा। इसके साथ ही प्रथम दो प्रकरणों में वैदिक इतिहासों का पूर्ण ऊहापोह कर अन्तिम सिद्धान्त भी दर्शा दिया गया है।

कुछ आर्य विद्वानों ने वैदिक इतिहासों के निर्णयार्थ पुस्तकें लिखी हैं। इनमें श्रीमान् पं० शिवशंकरजी काव्यतीर्थ का वैदिक इतिहासार्थनिर्णय ग्रन्थ अपना एक स्थान रखता है। इस ग्रन्थ में लेखक ने निरुक्तकार को भी इतिहास मानने वालों में घसीटा है जिससे कि मैं अपने को सहमत नहीं पा सका। इस ग्रन्थ में पं० काव्यतीर्थजी ने सुन्दर और सराहनीय प्रयत्न किया है परन्तु वह प्रयत्न कुछ थोड़े से पदों को लेकर है और थोड़ा है। साथ ही सायणाचार्य द्वारा प्रदर्शित दृष्टि को लेकर ही अर्थान्तर मन्त्रों का इसमें किया गया है। लेखक ने ऋषिवाचक सभी शब्दों को प्राण के अर्थ का प्रतिपादक बताया है। लगभग सभी मन्त्रों में आत्मा, प्राण और बुद्धि का अर्थ लगाने का प्रयत्न किया है। स्त्रीवाचक जितने पद आये हैं सभी को ब्रह्मवादिनी अर्थ में दिखलाया गया है। लेखक का कार्य प्रशंसनीय है। परन्तु इस प्रशंसा के साथ उसे स्मरण करते हुये भी उससे मुझे अपने दृष्टिकोण के पोषण और समूची समस्या के सुलझाने में कोई सहयोग नहीं मिल सका। "वसिष्ठ" का अर्थ प्राण करने में कोई ग़लती नहीं है। परन्तु इस अर्थ के ही आधार पर उन सभी मन्त्रों की संगति नहीं लगायी जा सकती जिनमें वसिष्ठ पद आया है। साथ ही जिन पदों की व्याख्या इस ग्रन्थ में की गयी है वे बहुत साधारण हैं। उनसे बहुत अधिक शब्दराशि उस प्रकार की पड़ी हुई है। यमी को ब्रह्मवादिनी कहकर तत्सम्बन्धी सूक्त की अर्थसंगति उतनी सुन्दर नहीं लग सकती है जितनी उसे रात्रि, अथवा स्त्री समझ कर लगायी जा सकती है। इसी सूक्त के मन्त्र में नियोग का भी वर्णन है और ऋषि ने भी "अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिम् मत्"—का ऐसा ही अर्थ लगाया है।

इसके अतिरिक्त मेरी दृष्टि में श्री० पं० प्रियरत्नजी आर्ष (वर्तमान स्वामी ब्रह्ममुनिजी) का ग्रन्थ "वेद में इतिहास नहीं" भी आया और मैं इस ग्रन्थ के लेखक की बड़ी ही प्रशंसा करता हूँ। इस ग्रन्थ में दैवत पक्ष को लेकर अर्थ दिखलाने का प्रयत्न है और वैज्ञानिक पुटसे युक्त करने का ख्याल रखा गया है। इस ग्रन्थ में भी पूर्व पक्ष का समाधान करने में निरुक्तकार के स्थलों को बहुधा प्रक्षिप्त दिखलाया गया है। इसके निर्णय में अभी तक मैंने कोई प्रयत्न नहीं किया है कि मैं झट से

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कह दूँ कि अमुक स्थल प्रक्षिप्त है। इसमें भी थोड़े से प्रसिद्ध इतिहासों पर ही विचार किया गया है। परन्तु अपनी विचारधारा को संगत ढंग पर रखा गया है।

कुछ विद्वानों ने इस विषय पर निबन्ध लिखे हैं जो आर्यसिद्धान्तविमर्श में छपे हैं। उनमें श्रीमान्माननीय पं० गोपालदत्तजी शास्त्री, श्री० पं ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु और श्री० युधिष्ठिरजी मीमांसक के लेख इस विषय से सम्बन्ध रखते हैं। इन्हें भी मैंने देखा और इनकी प्रशंसा करता हूँ। परन्तु यहाँ पर भी इस तथ्य के स्वीकार करने में मुझे संकोच नहीं कि ये लेख सिद्धान्त-निर्धारण में एक दिशा का निर्देश तो करते हैं परन्तु समस्या का समाधान करने में अधिक साहाय्य नहीं देते हैं। हैं भी लघुकलेवर और निर्देशात्मक। मान लिया कि पूषा का अर्थ सेरिबेलम (लघुमस्तिष्क) और इन्द्र का अर्थ सेरीब्रम (दीर्घ मस्तिष्क) कर लिया जावे परन्तु इससे सभी मन्त्रों की अर्थसंगति भी तो लगनी चाहिए। साथ ही ये दैवत पद हैं। ये ऐतिहासिक पक्ष वालों द्वारा दिखलाये जाने वाले व्यक्तिवाचक पद नहीं हैं। मेरे मित्र चतुर्वेद भाष्यकार स्वर्गीय श्री० पं०जयदेवजी विद्यालंकार ने भी "क्या वेद में इतिहास है ?"—नाम की एक पुस्तक लिखी है। उसमें भी "विश्पला" आदि सम्बन्धी इतिहासों पर अच्छा युक्तिसंगत विचार किया गया है। मैंने इन सभी पुस्तकों और लेखों को देखा है और इनका तथा इनके लेखकों का समादर करता हूँ।

इस इतिहास की समस्या के समाधान में मैंने किस मार्ग का अनुसरण किया है वह मेरी पुस्तक वैदिक ज्योति के इतिहास प्रकरण में भली प्रकार प्रदर्शित है। प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका वैदिक ज्योति का वह लेख है। इस दृष्टि से इस वैदिक–इतिहास–विमर्श पुस्तक को लिखा गया है। पुस्तक में तीन वृहद् प्रकरण रखे गये हैं। प्रथम प्रकरण में वेद को ईश्वरीय ज्ञान दिखलाकर यौगिक प्रक्रिया का प्रतिपादन और पूर्व पक्षियों द्वारा दिखलाये गये इतिहासों का वर्गीकरणपूर्वक निराकरण किया गया है। इसी प्रकरण में यह भी प्रबल रूप से स्थापित कर दिया गया है कि ऋषि मन्त्रकर्त्ता नहीं हैं। दूसरे प्रकरण में इतिहासतत्व क्या है ? और इसका क्या स्वरूप है ? इसकी स्थापना की गयी है। निरुक्त के लगभग सभी स्थलों का ऊहापोह कर नित्येतिहास-पक्ष की सिद्धि की गयी है। तृतीय प्रकरण में वैदिक इण्डेक्स द्वारा दिये गये सभी व्यक्तिवाचक नामों को पदसामान्य सिद्ध किया गया है। इनका प्रक्रियानुसार अर्थ दिया गया है और यह पूर्णरूपेण ध्यान में रखा गया है कि जहाँ जहाँ पर भी ये पद आये हैं वहाँ वहाँ सर्वत्र मन्त्रार्थसंगति व्याख्यात अर्थ के आधार पर लग जावे। जहाँ मन्त्र दुरूह पाये गये वहाँ पर मन्त्रों का अर्थ भी कर दिया गया है।

मेरी विदुषी पत्नी श्री उर्मिलादेवी शास्त्री का मेरे कार्यों में सदा ही सहयोग रहता है। इसके लिए मुझे बहुत ही प्रसन्नता है।

पुस्तक के लेखनकाल में ही आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर के मैनेजिंग डाइरेक्टर, प्रिय श्री शिरीशचन्द्र शिवहरे एम० ए० ने मण्डल की ओर से पुस्तक के प्रकाशन की महती इच्छा

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रकट की। साथ ही उनका यह विचार रहा कि पुस्तक शीघ्र ही छपनी प्रारम्भ हो जावे। उनकी इस मुस्तैदी केलिए मुझे बड़ा ही हर्ष था। वे इस पुस्तक के काग़ज़, छपाई और साजसज्जा पर पूरा ध्यान रखेंगे—इसका मुझे पूरा विश्वास था। आर्य साहित्य मण्डल वैदिक आर्य साहित्य के प्रकाशन का बहुत सुन्दर कार्य कर रहा है। अपनी स्थिति से भी अधिक उत्तम कार्य मण्डल ने गत वर्षों मे किया है। उसकी दैनंदिन उन्नति हो—ऐसी मेरी शुभ कामना है। प्रियवर शिरीशचन्द्रजी अपने कर्मठ-आर्य एवं महर्षिभक्त स्वर्गीय पिता श्री मथुराप्रसादजी शिवहरे (जिन्होंने आर्य साहित्य मण्डल की स्थापना की) के पथ पर चल कर अधिकाधिक मण्डल के कार्य को बढ़ावें और वैदिक साहित्य के प्रचार एवं प्रसार के कार्य को विस्तृत रूप दें—

ऐसी मेरी शुभेच्छा है। पुस्तक में मुद्रण आदि की कई त्रुटियाँ रह गयी हैं जो दूसरे संस्करण में दुरुस्त कर दी जावेंगी। आशा है यह ग्रन्थ अन्वेषक विद्वानों, स्वाध्यायशीलों, जनता और पुस्तकालयों तथा अन्वेषण संस्थानों के लिए विशेष लाभकर सिद्ध होगा।

पंचवटी (नासिक)
१-६-१९६१

वैद्यनाथ शास्त्री

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ओ३म्

वैदिक-इतिहास-विमर्श

प्रथम प्रकरण

इतिहास पक्ष का निराकरण

वेद परम पिता परमेश्वर का दिया हुआ ज्ञान है। परम कारुणिक भगवान् ने समस्त मनुष्यों के कल्याण के लिए इस नित्य ज्ञान का सृष्टि के आदि में प्रकाश किया। जब तक वेद और उसकी शिक्षाओं का प्रचार रहा, धरा पर लोग सुख और शान्ति का जीवन व्यतीत करते रहे। सुख की प्राप्ति के साधन वेद का स्वाध्याय लगभग इस सृष्टि के प्रारंभ से लेकर महाभारत काल तक बराबर रहा। ऋषि मुनियों ने अपने तपस्याकाल और समाधिबल से वेद के गूढ़ रहस्य को समझने की पूरी पूरी चेष्टा की। उनके इस प्रयत्न का ही यह फल है कि अनेक विद्वानों के ग्रंथ इस समय में बने और प्रचार के पात्र बने। ऋषियों ने अपने प्रयत्न से वेद के रहस्यों को समझा और उसमें से रत्नों को निकाल कर विविध विद्वानों के रूप में हमें दिया। महाभारत काल तक बराबर वेदों के विषय में ग्रन्थ लिखे जाते रहे जिससे वेद का प्रचार जनता में बराबर बना रहा। महाभारत काल के कुछ पहले से ही भारत के दुर्भाग्य का उदय होना प्रारंभ हुआ और अविद्या ने धीरे धीरे लोगों के मानस पटल पर अपना प्रभाव अङ्कित करना प्रारंभ कर दिया। लोग आलस्य, अज्ञान के वश में होकर वेद से विमुख होने लगे। महाभारत के बाद इस अज्ञानान्धकार की अवस्था ने अपना प्रभुत्व जोरों से जमाया। अविद्या का इतना ज्यादा प्रभाव पड़ा कि लोग वेदों की तरफ़ से बिल्कुल ही विमुख हो गए। जनसाधारण का तो कहना क्या विद्वान् कहलाने वाले भी वेद की तह में नहीं पहुँचे। समय ने पलटा खाया और हालत अधिक बिगड़ गई। परिणास्वरूप महाभारत के चार हजार वर्ष बाद वेदों का नाम लेने वाले भी वेदों के भक्त न रह गए। अनेकों मत मतान्तरों ने जन्म लिया और अपने अज्ञानमय प्रचारों से वेद की रही सही मर्यादा को भी मटिया मेट कर दिया। मत-मतान्तरों की नींव ज्यों ज्यों जमती गयी वेद प्रचार की शिला उखड़ती गयी। इन मतों के रंग ढंग में रंगे हुए कुछ विद्वानों ने वेदों के भाष्य आदि भी किए परन्तु उनसे वेद का रहस्य खुलने के बजाय परदे में ही आता गया। तप, ज्ञान और समाधि का बल तो था ही नहीं कोरे लौकिक व्याकरण के आधार पर वेद मन्त्रों के अर्थ होने लगे। बाद के भाष्यकार सायण ने इसी आधार पर वेदों का भाष्य किया है। यद्यपि निरुक्त और ब्राह्मण-ग्रन्थों की प्रक्रिया को लेकर उत्तम भाष्य वेदों पर किया जा सकता था परन्तु सायण ने इनकी परवाह नहीं की। महीधर तो वाममार्गानुयायी था ही, उसने भी व्याकरण, बल से ही यजुर्वेद का भाष्य किया। आजकल जो वेद भाष्य उपलब्ध हैं वह पुनः उवट, महीधर और सायण का ही पाया जाता है। वैसे तो आंशिक भाष्य या निरुक्त आदि के व्याख्यान अब भी बहुत से उपलब्ध हैं परन्तु वेद भाष्य के नाम से ये तीन ही बड़े प्रकाण्ड

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

समझे जा रहे हैं। वर्त्तमान समय में ऋषि दयानन्द का भाष्य सब दृष्टियों से इन सभी भाष्यों से उत्तम है परन्तु इसका प्रचार अभी बहुत थोड़े लोगों में है और आधुनिक पंडितों में तो वह भी न के बराबर है। दो सौ वर्षों से भारत में विदेशी राज्य का प्रभाव रहा है। इस में भारतीयों पर बहुत बड़ा प्रभाव विदेशी सभ्यता का पड़ा। हर एक विचारक कुछ न कुछ इस रंग में रंगा हुआ ही विचारसरणी को आगे बढ़ाता है। आजकल के पंडित नामधारी अंग्रेजी पढ़े लिखे कुछ व्यक्ति तो इस विदेशी सभ्यता में इतने रंगे हैं कि बिना इस रंग के वे अपना एक क़दम स्वतन्त्र नहीं उठा सकते। अस्तु, सायण ने निरुक्त आदि ग्रन्थों की बिना परवाह किए अपने कोरे व्याकरण के पांडित्य पर वेद भाष्य किया, यह पूर्व बतलाया जा चुका है। आजकल वेदान्वेषकों के मार्ग में जो रुकावटें हैं वह इस सायण भाष्य की देन है। यदि सायण और महीधर ने भ्रमोत्पादक भाष्य न किये होते तो वेद की मर्यादा न चौपट होती। यहां पर सायण और महीधर के भाष्यों की त्रुटियां दिखलाना विषयान्तर प्रवेश है, एक बात उल्लेख करना परमावश्यक है जिससे यह पता लग जावेगा कि सायण ने किस प्रकार निरुक्त आदि आर्ष शास्त्रों की अवहेलना की। यदि अवहेलना नहीं तो अनभिज्ञता से पिण्ड छूटना कठिन ही है। सायण ने अपने वेदभाष्य भर में कहीं भी "गोत्रा" शब्द का पृथ्वी अर्थ नहीं किया। उसने गोत्रा शब्द के बादल आदि अर्थ तो किये हैं परन्तु गोत्रा का अर्थ पृथ्वी कहीं भी नहीं किया। यह उसकी अवहेलना या अनभिज्ञता ही कही जा सकती है अन्य कुछ नहीं। क्योंकि निघण्टु १।१ में पृथिवी के २१ नामों में गोत्रा शब्द भी पढ़ा गया है। यदि गोत्रा शब्द वेद में कहीं पृथिवी अर्थ में न पाया गया होता तो यास्क अपनी तरफ से इसका पाठ मिलाकर इसे पृथिवी नामों में कदापि न पढ़ता, लेकिन पढ़ा है। इससे यह साफ प्रकट है कि गोत्रा शब्द किसी न किसी मंत्र में पृथ्वी अर्थ में अवश्य है। सायण ने यास्क की इस बात की परवाह न की और अपने भाष्य में गोत्रा का अर्थ पृथिवी नहीं करके अन्य कर दिया। उसे इतना तो विचारना चाहिए ही था कि जब प्रसिद्ध भाष्यकार यास्क यह मान रहा है कि गोत्रा शब्द पृथ्वी अर्थ में वेद में आया है तो अवश्य ही कहीं न कहीं होगा परन्तु उसने तनिक भी प्रयत्न इस तरफ़ न किया और यास्क के अर्थ को छोड़ गया। यह बात यहां तक बढ़ी कि प्रसिद्ध विद्वान् देवराज यज्वा ने जब निघण्टु का भाष्य किया तो इस "गोत्रा" शब्द का निगम उसे नहीं मिला और यह लिखकर छोड़ गया कि [1]इसका निगम अन्वेषणीय है। उसे ऐसा इसलिए करना पड़ा कि सायण जैसे भाष्यकार ने किसी मंत्र में गोत्रा का पृथ्वी अर्थ किया ही नहीं था फिर वह किस आधार पर निगम ढूंढ़ कर लिखता। जब पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने इस पर विचार किया तो वह टिप्पणी लिखकर सायण भाष्य का दोष प्रकट किया कि [2]बहुत से मन्त्रों में गोत्रा पद सुना जाता है परन्तु कहीं पर वह पृथ्वी अर्थ में नहीं है, ऐसा यज्वा का विचार मालूम पड़ता है। यदि यह ठीक है तो क्या इसका पृथ्वी नाम ये पाठ व्यर्थ ही है। यदि व्यर्थ नहीं तो मानना पड़ेगा कि उन उन मन्त्रों पर

१—निगमोऽन्वेषणीयः। नि० टीका देवराज यज्वा कृत १।१

२—बहुमंत्रेषु श्रूयते गोत्रापदं, परं न तत् क्वापि पृथ्वीपरमिति भावः। एवञ्च गोत्रेत्यस्य पृथ्वीनामसु पाठः किं मुधैव? नो चेदवश्यं सायणादिव्याख्यातृणामेव तत्र तत्र मंत्रेषु व्याख्यागतं दूषणमूरीकार्यम्। तथा च न सर्वत्रैव गोत्रेत्यस्य मेघादिरेव वाच्यः, क्वचित्क्वचित् पृथ्वीवाचकत्वापि तस्य ग्रहः कार्यः। तथा त एवास्य निगमा भवितव्या इति ज्ञेयम्। निघंटु देवराज टीका यज्वा कृत १।१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भाष्य करने वाले सायण आदि भाष्यकारों की व्याख्या का दोष है कि उन्होंने सर्वत्र गोत्रा पद का मेघ आदि ही अर्थ किया और पृथ्वी अर्थ कहीं पर नहीं किया। उसे चाहिए था कि कहीं पर इसका पृथिवी अर्थ भी करता जिन मंत्रों में यह अर्थ बनता है वहीं इस गोत्रा शब्द के निगम समझने चाहिए।" यह सायण भाष्य का एक दूषण स्थालीपुलाकन्याय से दिखलाया गया। और तो क्या? यजु० १३।३ "ब्रह्मजज्ञानं प्रथमं पुरस्तात्" इस मंत्र पर यास्क का भाष्य देखते हुए भी सायण ने इस मंत्र में वेन कोई गन्धर्व विशेष है ऐसा अर्थ अथर्ववेद में तथा अन्य स्थल पर किया है। इससे अच्छे तो इस विषय में उवट और महीधर ही हुए जिन्होंने सूर्य परक अर्थ इस मंत्र का किया। अस्तु! जो भी हो सायण, महीधर आदि ने वेदों की महिमा को घटाया ही बढ़ाया नहीं। इन्होंने वेद मन्त्रों के भाव को लोगों के सामने उल्टा ही रखा। इसमें सन्देह नहीं अंग्रेज़ी राज्य के दौरान में अंग्रेज़ों और जर्मनी के विद्वानों ने वेदों पर बहुत से कार्य किए। अनेक पाश्चात्य विद्वान् अपने दृष्टिकोण से वेदों या वैदिक ग्रन्थों पर अनुसंधान कार्य करते रहे। इन विद्वानों में मैक्समूलर, कीथ, ब्लूमफील्ड राथ, ह्विटने ग्रिफ़िथ, मैकडानल, मैकेंजी, रागोजीन, इगलिंग, पीटर्स वर्ग, अल्डेन वर्ग, तथा अन्यों के नाम उल्लेखनीय हैं। इन पाश्चात्य अन्वेषकों की मंशा जो भी रही हो, उस पर आक्षेप करना ठीक नहीं, फिर भी यह निश्चित और साधार है कि ये सभी वेद की तह तक नहीं पहुँचे। क्योंकि इनके विचार की आधारशिला सायण और महीधर आदि विद्वानों के भाष्य रहे। इन विद्वानों का परिश्रम उस हालत में अत्यन्त सराहनीय है जब हम इनकी अन्वेषण की प्रवृत्ति पर विचार करते हैं परन्तु इन्होंने जो कुछ किया वह वेदों के महत्त्व के बढ़ाने के लिए किया इस पर पर्याप्त सन्देह है। सायण ने जिन विचारों को अपने भाष्य में स्थान दिया था उनकी इन विदेशी विद्वानों ने पर्याप्त रूप में नींव जमायी। सायण आदि भाष्यकार और इन विद्वानों ने ऐसा भ्रम वेदों के विषय में पैदा किया कि आज अनेकों वाद उन पर खड़े हो गए हैं। यद्यपि ऋषि दयानन्द के प्रभाव से अब वेदों की सच्चाई लोगों के सामने आने लगी है फिर पंडितमानी कई अंग्रेज़ी पढ़े लिखे व्यक्ति अब भी इन पाश्चात्यों के चरण चुम्बन में लगकर उनकी लकीर पीटते जा रहे हैं। वर्तमान समय में होने वाले, अनेकेश्वरवाद, अपुनरागमन, इतिहासवाद, प्रक्रियैकवाद, आदि नामों से अनेकों वाद इन महानुभावों की देन है। वेदों में जादू, टोना, अश्लीलता, अनेक देवी, देवताओं की कल्पना, आदि होने के विचारों को अंग्रेज़ विद्वानों और सायण ने पुष्ट करने की चेष्टा की है। अमुक काल मंत्रकाल और अमुक छन्दकाल है, यह कल्पना पाश्चात्य अन्वेषकों और उनके आँख मूँद कर अनुसरण करने वाले विद्वानों की है। वेदों में व्यक्ति विशेषों के इतिहास हैं, इस कल्पना को सायण, महीधर, उवट और सभी पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी पूरी शक्ति से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। वेदों में अनित्य इतिहास है इसकी नींव इन भद्र पुरुषों की डाली हुई है। इन्होंने इस पर क्या? क्या? किया है और क्या? क्या? ग्रन्थ लिखे हैं, और कैसे इसकी सिद्धि की चेष्टा की है तथा वास्तविक तत्त्व क्या है? इत्यादि बातों का विचार आगे चलकर किया जावेगा। यद्यपि पूर्वोक्त पंक्तियों में गिनाये सभी वाद विचार के विषय हैं परन्तु इस ग्रन्थ में वैदिक इतिहास-पक्ष पर ही विचार किया जावेगा। विषय में प्रवेश करने से पहले थोड़ा-सा विचार यहां पर उससे संबन्धित विषय छन्दःकाल और मंत्रकाल की कल्पना पर कर लेना उचित जान पड़ता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

छन्द:काल और मंत्रकाल

आर्य लोग प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाणों और वेदों की अन्तःसाक्षियों के आधार पर यह मानते चले आये हैं कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है, इसका प्रादुर्भाव सृष्टि की आदि में हुआ। आर्यों की इस विचारधारा को उखाड़ने के लिए और वेदों के काल को चार या पाँच हज़ार वर्षों तक ही में समाप्त करने के लिए इस काल-कल्पना को पश्चात्य विद्वानों ने जन्म दिया। इस कल्पना पर मैक्समूलर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ History of Ancient Sanskrit Literature में काफ़ी जोर दिया है। जहां तक विचार से सम्बन्ध है इस कल्पना की जड़ में विकासवाद काम कर रहा है। बिना यह स्वीकार किए हुए कि प्रारंभिक काल (Premitive stage) में जो लोग मूर्ख और जंगली तथा मामूली योग्यता के थे यह कल्पना खड़ी नहीं हो सकती। पहले के लोगों में ज्ञान की कमी थी और फिर ज्ञान का विकास होकर इस वर्त्तमान अवस्था में वह आ पहुँचा, इस प्रकार के क्रमिक ज्ञान-विकास माने बिना कभी भी यह कल्पना चल नहीं सकती। अस्तु ये दोनों काल क्या हैं यह भी देखना चाहिए। मैक्समूलर कहता है कि छन्दःकाल मंत्रकाल से पहले का काल है। इसमें[1] लोग बहुत ही सीधे सादे विचार के थे अतः उनकी काव्य रचनायें सीधी सादी और भाषा के लावण्य, जगड्वाल और शब्द गुञ्जना से रहित हैं। चूंकि संस्कृत भाषा में "छन्द" शब्द के अर्थ स्वच्छन्दता (Spontaniousness) के हैं अतः स्वच्छन्दता से स्वाभाविक निकले हुए विचार से पूर्ण ये कवितायें छन्दः काल की समझनी चाहिएं। इस काल में रचे गए मंत्र स्वाभाविक हैं और भाषा के परिभाषिक शब्दों के प्रयोग तथा क्लिष्ट परिष्कृत कल्पना से पृथक् हैं। इसके बहुत यानी २०० वर्षों बाद का काल मंत्रकाल है। यह समय आज से लगभग २६०० वर्ष पुराना है। इतने दिनों में भाषा का पर्याप्त विकास हुआ और लोग स्वाभाविकता से हटकर कृत्रिमता की तरफ़ झुके। इस समय में जिन मंत्रों की रचना हुई उनमें[2] यज्ञ आदि का वर्णन, भाषा के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग और काव्य-रचना के परिष्कृत उदाहरण पाये जाते हैं। ये रचनायें छन्दःकाल की अपेक्षा अस्वाभाविक हैं अतः ये मंत्रकाल की हैं। इस प्रकार मन्त्रों की रचना दो कालों की हुई जिनका नाम छन्दःकाल और मंत्रकाल है। मैक्समूलर की इस कल्पना से दो बातों का खण्डन हो जायगा यदि किसी भी प्रकार सप्रमाण साबित कर दिया जावे। छन्दःकाल और मंत्रकाल की कल्पना से यह विचार खण्डित हो जावेगा कि वेद ईश्वर कृत है और दूसरा इस बात का भी विरोध हो जायगा

---

(1) There is no very deep wisdom in their teaching, their laws are simple, their poetry shows no very high flights of fancy, and their religion might be told in a few words. But whatever there is of their language, poetry and religion, has a charm which no other period of Indian literature possesses; it is spontaneous, original and truthful. p 526.

(2) But this is not the case with all the poems of the Vedas. It would be tedious to translate many specimens of what consider the poetry of the secondary age, the Mantre period. These songs are generally intended for sacrifical purposes, they are loaded with technicalities, their imagery is sometimes more brillient, but always less perspicuous and many thoughts and expressions are clearly borrowed from earlier hymns (History of Ancient Sanskrit Literature) p. 558.

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कि ये सारे वेदों के मंत्र एक काल में प्रकट हुए। मैक्समूलर और अन्य पाश्चात्य विद्वानों का इस वाद से इतना ही तात्पर्य है कि वेद की ईश्वरकृतता और समकालिक मंत्राविर्भाविता खण्डित होकर यह पक्ष स्थापित हो जावे कि वेद ऋषियों या मनुष्यों के बनाये हुए हैं और इनकी रचनायें भिन्न २ कालों में हुईं। लेकिन इनका यह प्रयत्न तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि ये लोग यह सिद्ध न कर दें कि वेद का कर्त्ता परमेश्वर नहीं और छन्दः तथा मंत्र शब्द समानार्थक नहीं। ऋषियों ने मंत्र रचना की यह सिद्ध पक्ष नहीं बल्कि साध्य है, साध्य कोटि में होने वाली बातें किसी दूसरे पक्ष के लिए साधक नहीं बन सकतीं। मैक्समूलर आदि ने इतनी बड़ी कल्पना तो कर डाली परन्तु यह विचार नहीं किया कि वैदिक साहित्य में छन्दः और मंत्र के क्या अर्थ हैं। लौकिक साहित्य की दृष्टि से ही यदि लिया जावे तब भी छन्दः का अर्थ प्रसिद्ध उपजाति आदि काव्यगत छन्दों से है। वैदिक साहित्य में छन्दः शब्द अनेकार्थक है। पिंगलशास्त्र आदि छन्दःग्रन्थों के आधार पर छन्द वर्ण या मात्रा से बद्ध पारिभाषिक गायत्री आदि छन्दों का नाम है। यदि लौकिक और छन्दःशास्त्र की दृष्टि से भी छन्दः शब्द पर मैक्समूलर ने विचार किया होता तो वह ऊटपटांग कल्पना से बच जाता। उसे देखना चाहिए था कि सभी मन्त्र छन्दोमय हैं, यदि छन्दःकाल में कोई विशेष मन्त्र थे तो फिर मंत्रकाल में रचे गये मन्त्रों में छन्दःकाल वाले मन्त्रों की भांति गायत्री आदि छन्दों का होना क्यों पाया जाता है? इस तरह तो छन्दःकाल वाली रचनाओं को मन्त्र या ऋक् नाम भी नहीं दे सकते। इस बात को छोड़िये। आर्ष वैदिक ग्रन्थों को लीजिए। वेदों के मर्म को खोलने वाले प्रसिद्ध ग्रन्थ निरुक्त१ में छन्द और मन्त्र को एक ही बतलाया गया है। जिनको मन्त्र कहा जाता है वही छन्द नाम से भी ग्रहण किये जाते हैं। मनन के साधन या विषय होने से मन्त्र और वेद अज्ञान के हटाने तथा विविध ज्ञानों को अपने अन्दर ढकने या रक्षा करने वाले होने से छन्द कहे जाते हैं। इसी तरह ब्राह्मण-ग्रन्थ में भी जहां छन्द शब्द के अनेक अर्थ हैं वहां मन्त्रवाचक भी छन्दः शब्द उनमें पाया जाता है। २शतपथ ब्राह्मण में भी मन्त्र का नाम छन्द है। उसकी परिभाषा में मन्त्र का नाम छन्द इसलिए है कि मनुष्य और जगत् का सारा ज्ञान इसमें बँधा हुआ है। इन वैदिक ग्रन्थों के प्रमाणों से यह सिद्ध है कि मंत्र और छन्द एक ही हैं। ये दोनों ही वेदों के मन्त्रों के लिए प्रयुक्त होते हैं। जब ये दोनों समानार्थक हैं तो फिर मैक्समूलर की पूर्वोक्त कल्पना को कोई स्थान नहीं मिलता। यदि उसने इन ग्रंथों को देख लिया होता तो कभी ऐसी कल्पना न करता। पाठकों को यह समझ लेना चाहिए कि इस प्रकार मन्त्र और छन्द के समानार्थक सिद्ध हो जाने पर छन्दः और मन्त्रकाल की कल्पना निःसार और निराधार सिद्ध हो गयी और अन्त में यही सिद्ध प्रश्न मानना चाहिए कि मन्त्र एक काल (सृष्टि के आदि) में प्रकट हुए और वे ईश्वरकृत हैं, किसी मनुष्य विशेष की कृति नहीं।

इतिहासवाद

पूर्व यह दिखलाया जा चुका है इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय वैदिक इतिहास होगा। अतः अगली पंक्तियों में साधारणतया इतिहासपक्षियों की धारणा पर विचार किया जाता है। इससे पहले

१—मंत्राः मननात्, छन्दांसि छादनात्, स्तोमः स्तवनात्, यजुर्यजतेः, साम संमितमृचा। निरुक्त ७।१२।

२—छन्दांसि वयोनाधश्छन्दोभिर्हीदꣳ सर्वं वयुनं बद्धम्।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यह सिद्ध कर दिया गया है कि मन्त्रों की रचना का भिन्न भिन्न काल नहीं अपितु सारे मन्त्र एक ही काल के हैं। इस विचार से इतिहास के उत्तरपक्षीय दृष्टिकोण को समझने में सहायता मिलेगी और काल-कल्पना वाले पक्ष को मान कर चलने पर वेदों में व्यक्तिविशेषों के इतिहास-पक्ष को आश्रय मिलता है, यही कारण है कि जिन्होंने इतिहासवाद को स्वीकार किया है वे पहले यह मान कर चले हैं कि वेदों के मन्त्र भिन्न भिन्न कालों में रचे गए। सायण ने अपने भाष्य में सर्व प्रथम इस धारणा को बद्धमूल किया कि वेदों में बहुत से मन्त्रों में व्यक्तिविशेषों का इतिहास है। उसने पुराणों में लिखे गए इतिहासों को मन्त्रों पर घटाकर मन्त्रों का इतिहासविषयक भाष्य किया। चाहे वे मन्त्र किसी व्यक्तिविशेष का इतिहास भले ही बतलाते हों परन्तु सायण ने पुराण कल्पित इतिहास को उनके सर पर मढ़कर उनका अर्थ करने की चेष्टा की। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पहले सायण के द्वारा इतिहासवाद को प्रोत्साहन मिला। सायण द्वारा पुष्ट किये गए पक्ष को सायण के अर्ध शिष्य पाश्चात्य अन्वेषकों ने पूरी तरह निभाया और इस दिशा में अपनी शक्ति को लगाकर इस पक्ष को जमाने का उद्योग किया। ग्रिफ़िथ ह्विटने तथा अन्य विद्वानों के जो वेद या किन्हीं फ़ुटकर मन्त्रों पर भाष्य मिलते हैं उनसे पता चलता है कि इन्होंने सायण का खूब अनुसरण किया। करते भी क्या ? जब अपने पास संस्कृत का पांडित्य नहीं तो दूसरे का अनुकरण तो करना ही था। इतिहास पक्ष का प्रभाव बाद में इतना बढ़ा कि इस की छाप अंग्रेज़ी पढ़े लिखे बाबुओं पर अमिट रूप में पड़ी। इन पाश्चात्य विद्वानों की नक़ल करने वाले इनके भारतीय शिष्यों ने अपने इन गुरुओं की देन को खूब अपनाया। इन वेद मार्ननिभिज्ञ लोगों ने यहां तक किया कि मौक़ा मिलने पर प्राचीन ऋषियों और वेदज्ञों के मखौल उड़ाये। एक भी मंत्र चाहे इनसे लग न सके फिर भी ये यह कहने में सकुचाते नहीं कि अमुक अमुक वेदों और मन्त्रों में ऐसी बातें लिखी हैं। पाश्चात्य विद्वानों में वैसे तो सभी इतिहास-पक्ष के किसी न किसी रूप में पोषक थे परन्तु ओल्डेनवर्ग, गिल्डनर, हिलब्रॅड्थ, ग्रासमैन, होपकिन्स, ब्लूमफील्ड, कीथ, मैंकडानल आदि ने यथावसर बहुत कुछ लिखा है। लुडविग ने अपने वैदिक भाषान्तर ग्रंथ (Ludwigs translation of Rigved) में यथा-स्थान इतिहास-पक्ष को उत्साह दिया है। ब्लूमफील्ड ने भी अथर्व मंत्रों के भाषान्तर में ऐसा ही किया है। उस दिशा में अधिक जोरदार कार्य मैकडानल और कीथ ने किया है। मैकडानल को (Vedic Index) इतिहासवाद को पुष्ट करने वाली महान् पुस्तक समझी जाती है। इसमें वेदों में आने वाले सभी नामों का संग्रह कर दिया गया है। साथ ही हर एक व्यक्तिवाची नामों—जिन्हें ग्रन्थकार ने ऐसा समझा था—पर टिप्पणी और प्रमाणों (References) को देकर पुस्तक को सर्वांगपूर्ण बनाने का पूरा उद्योग दिखलाया गया है। इस ग्रंथ को बनाकर ग्रन्थकार ने इतिहासवाद की जड़ को बहुत मज़बूत किया है। यद्यपि इस ग्रंथ की सारी सामग्री कीथ की है फिर भी ग्रंथकार मैकडानल है। कई लोग (Vedic Index) का नाम लेने से कीथ का ही नाम ग्रंथकार के रूप में लेते हैं। कीथ ने वैदिक आख्यानों पर दो बड़े जबर्दस्त लेख भी लिखे हैं जो कि (Royal Asiatic Society, London) के १९११ और १९१२ वाले अंक में छपे हैं। इन लेखों में उसने वैदिक आख्यानों पर विचार किया है। कुछ भी हो इस विषय को प्रतिपादन करने वाला यह (Vedic Index) कोष ही सब से अधिक महत्त्व रखता है। इसमें ही सबका समावेश हो जाता है। यदि इसमें संग्रहीत सभी व्यक्तिवाचक नामों वाले मन्त्रों और सूक्तों की अनैतिहासिक अर्थसंगति कर दी जावे और यह

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सिद्ध कर दिया जावे कि ये व्यक्तिवाचक नाम (Proper names) नहीं हैं तो इतिहासवाद की नींव अपने आप ढह जाती है। मेरा विचार इन सभी नामों का समाधान और उन नामों वाले सूक्तों की अर्थसंगति लगाने का है। आगे चलकर इस ग्रन्थ में इस महान् कार्य को संपादन करने का मैं पूरा पूरा विचार रखता हूँ। यदि परमेश्वर की कृपा रही और उसने मुझे बल दिया तो मैं इस कार्य को पूरा कर सकूंगा।

इतिहासों का वर्गीकरण

पूर्वोक्त पंक्तियों में इतिहासवादियों के मत का निर्देश किया गया। ये सभी इतिहास-पक्षी वेदों में जिन इतिहासों का वर्णन करते हैं उनका वर्गीकरण आगे की पंक्तियों में किया जावेगा। सभी इतिहास-पक्षी यह स्वीकार करते हैं कि व्यक्तिवाचक संज्ञाओं से वेद भरे पड़े हैं। इन नामों के आधार पर ही वे अपनी कल्पना को आगे बढ़ाते हैं। व्यक्तिवाचक संज्ञायें स्थानवाचक और नामविशेष-वाचक भेदों वाली हैं। इसलिए इतिहासपक्षी यह कहते हैं कि वेदों में जो व्यक्तियों के नाम हैं वह दो प्रकार के हैं। एक तो नदी, पहाड़, देश आदि जैसा कि सरस्वती, गंगा, यमुना, वितस्ता, शुतुद्री, गोमती, सरयू तथा कीकट, मगध, मूँजवान् अंग वंग आदि। दूसरे नाम वे हैं जो व्यक्तियों के हैं। ये दो प्रकार के हैं, एक ऋषि लोग जो वेद मंत्रों के कर्त्ता और दूसरे राजे महाराजों की विशेष विशेष व्यक्तियाँ जो भिन्न भिन्न कालों में महाभारत आदि इतिहासों में वर्णित पायी जाती हैं। इनके अतिरिक्त वैदिक इतिहासों का एक भेद और भी वेद में पाया जाता है जो कि किन्हीं विशेष सत्ताओं के परस्सर के संवाद के रूप में है। इस प्रकार वैदिक इतिहासों का विभाजन का वर्गीकरण इतिहास-वादियों के बताये वर्णनों के आधार पर चार प्रकार से किया जा सकता है। पहला वर्गीकरण यह है कि वेद में नदी, पहाड़ और विशेष विशेष स्थानों का नाम पाया जाता है, जैसे पूर्वोक्त गंगा आदि। दूसरा वर्गीकरण यह है कि वेद में वेद-मंत्रों के कर्त्ता ऋषियों के नाम और उनके पिता, पुत्र आदि का वर्णन है। तीसरा यह कि वेद में महाभारतादि इतिहासों में वर्णित राजाओं का नाम और उनके दान आदि का वर्णन आता है। चौथे वर्ग में यह बात आती है कि वेदों में व्यक्तिविशेषों का परस्पर संवाद पाया जाता है। इतिहासपक्षियों के द्वारा कहे गए वैदिक इतिहास इन चार वर्गों में ही आ जाते हैं। इनसे अधिक वर्ग करने की जरूरत नहीं। इन सबका समाधान युक्ति-प्रमाण-पूर्वक आगे इस ग्रन्थ में किया जावेगा।

इतिहास क्यों खड़ा हुआ ?

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि इतिहासवादियों के इतिहास का क्या स्वरूप है और उन इतिहासों को कितने भागों में बांटा जा सकता है। अब उनमें से प्रत्येक वर्ग का समाधान करने से पूर्व यह विचार किया जावेगा कि इस इतिहासवाद का मूल कहां से प्रारंभ हुआ। मेरे विचार में इस वाद का जन्म दो बातों को न समझने से हुआ। वे दो बातें हैं, वेद के शब्दों का यौगिक होना और उनमें कहीं कहीं पर नित्य अव्यक्तिवाचक इतिहासों का होना। इन दो बातों को अच्छी तरह न समझने कारण ही यह वाद खड़ा किया गया। इस प्रकरण में पहली बात पर ही विचार किया जाता है। पूर्व कहा जा चुका है कि इतिहासवादी व्यक्तिवाचक नामों के आधार पर ही इतिहासों की सिद्धि करते हैं। यह व्यक्तिवाचक नाम की कल्पना खड़ी ही तब हो सकती है जब कि यह मान लिया जावे कि वैदिक शब्द रूढ़ हैं यौगिक नहीं। वैदिक शब्दों को यौगिक मान लेने पर यह

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कल्पना समाप्त हो जाती है। उदाहरण के तौर पर विश्वामित्र शब्द को ही लीजिए। जिस अवस्था में इसे रूढ़ माना जावेगा उस अवस्था में यह ऋषिविशेष का बोधक होगा। ऐसा मानकर इसे किसी मंत्र में आया देख कोई व्यक्ति इतिहास की कल्पना कर सकता है। जब यह शब्द यौगिक मान लिया जाता है तब इसका अर्थ सबका मित्र होगा। ऐसी अवस्था में यह किसी व्यक्ति का बोधक नहीं है। इस विश्वामित्र शब्द को वेद में आया देख कर इतिहासपक्षी यह कहते हैं कि यह वही ऋषि विश्वामित्र हैं जिसका कि वर्णन पुराणों आदि में मिलता है। वे व्याकरण का जोर भी इस पक्ष की सिद्धि में देते हैं। वे कहते हैं कि "मित्रे चर्षौ" अ० ६।३।१३० इस पाणिनीय सूत्र से विश्व के 'अ' को जो दीर्घत्व प्राप्त है वह ऋषि अर्थ में ही है नहीं तो विश्वमित्र शब्द बनेगा, विश्वामित्र नहीं। कई लोग यह समाधान करते हैं कि "मित्रे चर्षौ" सूत्र में "ऋषि" शब्द का अर्थ वेद और ऋषि दोनों ही लेना चाहिए। इस तरह से विश्वामित्र शब्द दोनों अर्थों में बन जावेगा। उनके अर्थ को अवकाश इसलिए मिलता है कि "सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे" सूत्र में आये अनार्ष शब्द का अर्थ अवैदिक है। अतः आर्ष का अर्थ हुआ वैदिक, और तद्धित प्रत्यय को अलग कर देने पर बचा ऋषि शब्द, जिसका अर्थ वेद है। जो भी हो इस क्लिष्ट और विवादास्पद कल्पना को यहीं छोड़कर मैं एक ऐसा प्रमाण उपस्थित करता हूँ जिससे विश्वामित्र शब्द की सिद्धि भी हो जायगी और वेदगत होते हुए उसके ऋषि नाम होने वाली आपत्ति भी नहीं उठेगी। पाणिनीय सूत्र "मित्रे चर्षौ" को ऋषि अर्थ में ही मान कर विश्वामित्र शब्द की सिद्धि कर ली जावे तब भी कोई हानि नहीं होगी क्योंकि इस प्रमाण से वेदगत विश्वामित्र शब्द सिद्ध हो जायगा। व्याकरण ग्रन्थ जहां अनेकों प्रकार के हैं वहाँ प्रातिशाख्य भी उन्हीं की कोटि के आवश्यक ग्रन्थ हैं। ये प्रातिशाख्य वैदिक शब्दों की सिद्धि और वैदिक स्वरों आदि पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। इन प्रातिशाख्यों में कात्यायन का यजुः प्रातिशाख्य भी बड़ा ही उपयोगी ग्रन्थ है। इसके एक सूत्र "नरहामित्रेषु च" से वैदिक विश्वामित्र शब्द बिना किसी विवाद सबके मित्र होने के अर्थ में सिद्ध हो जाता है। इससे यास्क के निरुक्तगत वचन की पुष्टि हो जाती है कि "विश्वामित्रः सर्वमित्रः" अर्थात् विश्वामित्र वह है जो सब का मित्र हो। अगर कोई वादी हठवश यही कहे कि पाणिनि व्याकरण से ही "मित्रे चर्षौ" सूत्र के अतिरिक्त कोई ऐसा उपाय बताओ कि विश्वामित्र शब्द सिद्ध हो तो उसे समझना चाहिए कि "बहुलं छन्दसि" अकुण्ठ शक्ति यहां पर भी अपना प्रभाव रखती है। जहां वह अनेकों शब्दों को साधने में समर्थ है वहाँ विश्वामित्र शब्द को सिद्ध करने में उसे संकोच क्या? इस प्रकार यह मानना पड़ेगा कि वैदिक शब्द यौगिक हैं और उन्हें न समझ कर या समझते हुए अवहेलता करके ही पूर्वोक्त इतिहासवाद की नींव पड़ी।

यौगिक-प्रक्रिया

वैदिक शब्दों को यौगिक न समझ कर इतिहासवाद की नींव पड़ी, यह इससे पहले दर्शाया जा चुका है। अब इस प्रकरण में इस विषय पर ही विचार किया जाता है वैदिक शब्द यौगिक हैं। शब्दों का तीन प्रकार का होना व्याकरण शास्त्र मानता है। वे तीनों प्रकार हैं—रुढ़ि, यौगिक और योगरुढ़। जो शब्द किसी अर्थ में प्रसिद्ध हैं और उसके अर्थ में धातु प्रत्यय का संबंध अर्थ प्रकाशक नहीं वह रूढ़ है। जैसे कुन्ती, अवन्ती, और जत, जिन शब्दों का अर्थ धातु और प्रत्यय से ही प्रकट हो जाता है और उनका सम्बन्ध अर्थ के प्रकाश में शक्ति रखता है वे यौगिक हैं। जैसे

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भूमिज, जलज और रत्नोत्पन्न इत्यादि। जो शब्द यौगिक होते हुए भी किसी विशेष अर्थ में रूढ़ हैं वे योगरूढ़ कहाते हैं। जैसे कौन्तेय और पीताम्बर इत्यादि। कौन्तेय का यौगिक ढंग पर अर्थ है—कुन्ती का अपत्य। यह कुन्ती के चारों पुत्रों के अर्थ में प्रयुक्त हो सकता है। परन्तु इसका प्रयोग अर्जुन के अर्थ में ही पाया जाता है, इसलिए यह योगरूढ़ है। पीताम्बर शब्द से किसी भी पीले वस्त्र वाले का ग्रहण हो सकता है परन्तु यह विष्णु के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, इसलिए यह योगरूढ़ है। इस प्रकार ये तीनों प्रकार लौकिक शब्दों के हैं—वेदों में सब शब्द यौगिक हैं। प्रत्येक वैदिक शब्द का अर्थ धातु, प्रत्यय, प्रत्ययान्त के संबन्ध से निकलता है, वह किसी विशेष अर्थ में रूढ़ नहीं। वेद के शब्द यौगिक हैं; इसका प्रमाण वेद से ही मिल जाता है। नीचे कुछ प्रमाण दिये जाते हैं, जिनसे यह बात सर्वथा सिद्ध हो जावेगी। ऋग्वेद १० वें मण्डल के ९४ वें सूक्त का पहला मंत्र—"प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः। यदद्रयः पर्वताः साकमाशवः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः।" इसमें श्लोक और घोष शब्द आये हैं। ये दोनों ही नि० १।११ में वाणी के पर्याय हैं परन्तु यहां पर विशेष्यरूप में प्रयुक्त हैं। यह बात संभव तभी हो सकती है जब कि इन्हें यौगिक माना जावे। इसी मंत्र में "अद्रयः पर्वताः" दोनों शब्द पर्यायवाची होते हुए विशेषणरूप में प्रयुक्त हुए हैं, यह यौगिक प्रक्रिया मान कर ही बन सकता है। मंद्रया देव-जिह्वया नि० ५।२३।१ "यं याचाम्यहं वाचा सरस्वत्या" ऋ० ५।७।५, "मन्द्रया सोमधारया" ऋ० ९।६।१, "मन्द्रा गिरो देवयन्तीरुपस्थुः" ऋ० ७।१८।३, इन मन्त्रों में आये हुए मन्द्रा, जिह्वा, धारा, गीः, सरस्वती आदि शब्द निघण्टु १।११, में वाणी नाम में पढ़े हैं। परन्तु यहां पर उनका विशेषण और विशेष के रूप में प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद ७।७९।३ में इन्द्रतमा और अंगरिस्तमा तथा १।४८।४ में कण्वतमः और १।८४।१ में मरुतः नृतमासः पाठ आया है। यह तद्धित प्रत्यय इन्हें विशेषण सिद्ध करता है, परन्तु ये इन्द्र आदि शब्द विशेषण तभी बन सकेंगे जब इन्हें यौगिक माना जावे। निघण्टु ३।१७ में यज्ञ और अध्वर शब्द को पर्यायवाची माना गया है परन्तु "अग्ने यम् यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि" ऋ० १।१।४, में अध्वर यज्ञ का विशेषण माना गया है। शतपथ ब्राह्मण ४।१।५।१६ में बतलाया गया है कि "इमे हवै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनाविमेहीदꣳ सर्वमाश्नुवाताम्" अर्थात् ये द्यावापृथिवी ही अश्विनी हैं क्योंकि ये ही सबको व्याप्त कर रहे हैं। यास्क ने भी निरुक्त १२।१ में लिखा है कि "अश्विनौ यद्व्यश्नुवाते सर्वम्" अर्थात् अश्विनी नाम इनका इसलिए है कि ये सबको को व्याप्त करते हैं। यहां ब्राह्मण और निरुक्त का निरुक्ति-प्रकार मिलता जुलता है। यह ज्ञान इनको कहां से हुआ ? इस बारे में यही कहा जा सकता है कि वेद से, क्योंकि ऋ० ८।५।३१ में "अश्नन्तावश्विनौ" लिखा है। इस प्रमाण से स्पष्ट है कि वेद स्वयं यह बतलाता है कि वैदिक शब्द यौगिक हैं। नीचे वेद से ही कुछ शब्दों की एक तालिका दी जाती है जिससे यह सिद्ध होगा कि पर्यायवाची शब्द किस प्रकार यौगिक होने से विशेषण विशेष्यरूप में परस्पर प्रयुक्त हुए हैं :—

महीमवनिम्	ऋ० ४।१९।६	तोकाय तनयाय	ऋ० ६।१।१२
उर्वी पृथ्वी	,, १।१८५।७	शुक्राय भानवे	,, ७।४।१
अत्यं न वाजिनम्	,, १।१२९।२	आ मही रोदसी वृण	,, ६।४१।५
त्वरसे बलाय	,, ३।१८।३	मही अपारे रजसी	,, ६ ६८।३
अश्वं न वाजिनम्	,, ७।७।१	बृहती मही	,, ६।५।६

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अत्यं न सप्तिम्	ऋ० ३।३२।१	भूमिं पृथिवीम्	ऋ० १२।१।७
रोदसी मही	,, ६।१८।५	उर्वी पृथ्वी	,, ६।७।१
सूर्यस्य हरितः	,, ५।२९।५	उर्वीं पृथ्वीम्	,, ७।३८।२
इन्द्रं मघवानमेनम्	,, ७।२८।५	उनत्तिभूमिं पृथिवीयुतयाम्	,, ५।८५।४
		यथेयं पृथिवी मही दाधार	,, १०.६०।९

इन प्रमाणों में बहुधा सभी शब्द निघण्टु में पर्यायवाची पढ़े गए हैं, परन्तु उनका प्रयोग इनमें परस्पर विशेषण और विशेष्य के रूप में हुआ है। उदाहरण के लिए "मही अपारे रजसी" ऋ० ६।६८।२ के प्रमाण को लीजिए। ये सभी निघण्टु ३।३० में 'द्यावापृथ्वी' के नाम में पढ़े गए हैं। परन्तु यहां पर एक का दूसरा विशेषण है। यह तो वेद की बात हुई अब अन्य वैदिक ग्रंथों के प्रमाण दिये जाते हैं। ब्राह्मण-ग्रंथ वेदों के व्याख्यान हैं। वे अनेक प्रकार से वेदों का रोचक व्याख्यान करते हैं। उनके इस व्याख्यान का आधार है यौगिक प्रक्रिया। ब्राह्मणों में जो वैदिक शब्दों की अनेकार्थता प्रतिपादन की गयी है वह यौगिकवाद के ही आधार पर है। रूढ़िवाद मान कर अर्थवैविध्य की कल्पना लंगड़ी ठहरेगी। उदाहरण के तौर पर 'इन्द्र' शब्द को ही लीजिए। इसके वायु, सूर्य, विद्युत्, अग्नि, आत्मा, हृदय, प्राण, मन, यजमान, वीर्य आदि अनेक अर्थ वेदों में हैं। इन अर्थों का वर्णन ब्राह्मण-ग्रन्थों ने किया है। यह तभी संभव हो सका जब कि इसे यौगिक माना गया। इन्द्र के पूर्वोक्त अर्थों में ब्राह्मण-ग्रंथों के कुछ प्रमाण नीचे दिये जाते हैं जिनसे पूर्वोक्त बात स्पष्ट हो जायगी। "यो वै वायुः स इन्द्रः य इन्द्रः स वायुः" शत० ४।१।३।१९, इसमें इन्द्र को वायु कहा गया है। इसी तरह "एष एव इन्द्रः। य एष तपति" शत० १।६।४।१८, अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः शत० ८।५।३।२; स्तनयित्नुरेवेन्द्रः शत० ११।६।३।९; तर्हि हैष (अग्निः) भवतीन्द्रः शत० २।३।२।११; इन्द्रस्येन्द्रियेण तां० १।३।५; हृदयमेवेन्द्रः शत० १२।६।१।१५; प्राण एवेन्द्रः शत० १२।६।१।१४; मन एवेन्द्रः शत० १२।६।१।१३ यन्मनः स इन्द्रः गो० उ० ४।११; इन्द्रो वै यजमानः शत० २।१।२।११, ४।५।४।८; वीर्यमिन्द्रः तै० १।७।२।२ इत्यादि प्रमाणों में क्रमशः इन्द्र के वायु, सूर्य आदि पूर्वोक्त अर्थों का क्रमशः वर्णन है। ब्राह्मण-ग्रंथों का यौगिक प्रक्रिया का उदाहरण और कई प्रमाणों से दिया जाता है। "अत्य" शब्द वेद में अश्व के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। निघण्टु १।१४ में यह अश्व नाम में पढ़ा भी गया है। इस अर्थ को यौगिक प्रक्रिया के बल पर शतपथ ब्राह्मण [1]कहता है कि चूंकि अत्य = अश्व अपनी चाल से पशुओं को अतिक्रमण कर जाता है इसलिए वह "अत्य" है। इसी तरह 'अदिति' शब्द वेद में बहुत से अर्थों में आया है। 'अदिति' 'शब्द' अदीना, देवमाता, पृथिवी, वाणी और गो आदि अर्थों में वेदों में देखा जाता है। ब्राह्मण ग्रंथों में जहां इसके पूर्वोक्त [2]अर्थों को दिखलाया गया है वहां इस अदिति शब्द की यौगिकता पर भी बल दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण १०।६।५।५ में लिखा है कि "सर्वं वाऽअत्तीति तददितेरदितित्वम्" अर्थात् सभी चीजों को अपने अन्दर खा जाती है इसलिए

१—तस्मादश्वः पशूनत्येति तस्मादश्वः पशूनां श्रैष्ठ्यं गच्छति शत० १३।१।६।१

२—इयं (पृथिवी) ह्यदितिः ऐ० १।८ ; इयं वै पृथिव्यदितिः शत० १।१।४।५ निघण्टु १।१ अदितिह गौः शत० १४।२।१७ निघण्टु २।११ ; वाग्वा अदितिः शत० ६।५।२।२० निघण्टु १।११; आदित्या (अदितेरुपत्ना) वा इमाः प्रजाः तां० १३।९।५।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यह पृथिवी अदिति है। इसी प्रकार अन्तरिक्ष शब्द का अर्थ बतलाते हुए भी लिखा है कि १सब कुछ इसके अन्दर है अतः इसे अन्तरिक्ष कहते हैं, अथवा २आकाश के मध्य में है, वा ३अन्तर्यक्ष होते हुए भी इसको अन्तरिक्ष कहा जाता है। इन्द्र के जहां अनेक अर्थ हैं वहां "आत्मा" भी एक अर्थ है। इसकी सिद्धि यौगिक-प्रक्रिया से करता हुआ तैत्तिरीय ब्राह्मण कहता है कि चूंकि ४इसमें ही इन्द्रियाँ अपनी प्रतिष्ठा पाती हैं, इसलिए इसे इन्द्र कहा जाता है। इष्टका शब्द का अर्थ ईंट होता है। वेदों में वेदि निर्माण में इसका प्रयोग बतलाया गया है। यह यज्ञ के संपन्न होने से सुखदात्री होती है इसलिए इसे इष्टका कहा जाता है। ब्राह्मण भी ५इसका इसी प्रकार वर्णन करता है। 'मख' शब्द यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'म' के मानी नहीं और 'ख' के मानी छिद्र हैं, चूंकि यज्ञ छिद्र अर्थात् दोषों से रहित होता है इसलिए उसे 'मख' कहते हैं। ६देखो गोपथ उत्त० २।५। इन्द्र को मघवान् कहा जाता है जब इसे धन वाला कहा जाता है तब तो 'मघ' धन के अर्थ में लेकर इसे "मघवान्" कहते हैं परन्तु जब इसका संबन्ध ब्राह्मणों के आधार पर यज्ञ-प्रधान देवता के रूप में किया जाता है तब इसे मखवान् कहा जाता है। मखवान् होते हुए ही इसे ब्राह्मण ग्रंथ ७मघवान् कहते हैं।

इस प्रकार ब्राह्मण ग्रंथों में सहस्रशः प्रमाण हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि वेदों के शब्द यौगिक हैं। निरुक्तकार महामुनि यास्क तो अपने ग्रंथ निरुक्त में यौगिक प्रक्रिया का पूरा चित्र ही देता है। उस ग्रंथ का आधार ही यौगिक प्रक्रिया है। यौगिक मान कर ही पदों की निरुक्ति चल सकती है अन्यथा नहीं। यास्क अपने ग्रंथ निरुक्त १।१२ में कहते हैं कि ८सारे ही नाम आख्यातज (प्रकृति और प्रत्यय से उत्पन्न) हैं, ऐसा शाकटायन और निरुक्त वालों का सिद्धान्त है। निरुक्त के इस सिद्धान्त की पुष्टि महाभाष्यकार पतंजलि ने भी की है। महाभाष्य ३।३।१ में भाष्यकार कहते हैं कि ९निरुक्त में सारे नाम धातुज माने गए हैं और शकट का पुत्र शाकटायन व्याकरण में भी ऐसा ही मानता था। इस प्रमाण से बिल्कुल ही सिद्ध हो गया कि यास्क का मत यौगिक पक्ष का था।

१—अन्तरेव वा इदमिति तदन्तरिक्षस्यान्तरिक्षत्वम् ता० २०।१४।२

२—अन्तरेणाकाश आसीत्तदन्तरिक्षमभवन् शत० ७।१।२।२३

३—तद्यदस्मिन्निदं सर्वमन्तस्तस्मादंतर्यक्षम् । अन्तर्यक्षं ह वै नामैतत् । तदन्तरिक्षमिति परोक्षमाचक्षते । तै० उ० १।२०।४

४—अस्मिन् वा इदमिन्द्रियं प्रत्यस्थादिति । तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम् । तै० २।२।१०।४

५—तद्यदस्मै इष्टे कमभवत्तस्मादिष्टकाः शत ६।१।२।२३

६—मख इत्येतद्यज्ञनामधेयं छिद्रप्रतिषेधसामर्थ्यात्, छिद्रं खमित्युक्तं तस्य मेति प्रतिषेधः । मा यज्ञं छिद्रं करिष्यतीति । गो० उ० २।५

७—स उ एव मखः स विष्णुः । तत इन्द्रो मखवानभवन्मखवान्ह वै तं मघवानित्याक्षते परोक्षम् । श० १४।१।१।१३

८—तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च । नि० १।१२

९—नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम् । ३।३।१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इसके अतिरिक्त यास्क और दूसरे आचार्यों के अन्य भी प्रमाण इस पक्ष के पोषक मिलते हैं। निरुक्त १२।१ में यास्क ने "अश्विनौ" १पद पर स्वयं कई आचार्यों के मत दिये हैं। यौगिक बल से अनेकार्थ इस शब्द का वहां ही निरुक्ति द्वारा सिद्ध किया गया है। यौगिक पक्ष के आधार पर द्यावापृथिवी, अहोरात्र, सूर्याचन्द्रमसौ, पुण्यकर्म वाले दो राजे—ये सब अर्थ 'अश्विनौ' शब्द के होते थे। अतः यास्क ने इन सभी अर्थों को सिद्ध करने वाली निरुक्तियाँ दिखलायीं। "अश्विनौ" का निरुक्त दिया गया प्रत्येक अर्थ किसी न किसी आचार्य का मत है। यास्क ने जहाँ अपना अर्थ दिखलाया वहाँ अन्य आचार्यों का मत भी प्रकट कर दिया। जबरस अथवा ज्योति से व्यापन करने का अर्थ लिया जायगा तब २द्यावापृथिवी, सूर्याचन्द्रमसौ और अहोरात्र वाला पक्ष सिद्ध होगा। जब पुण्यकर्म वाले दो राजे अर्थ लिया जावेगा तब अश्वैरश्विनौ अर्थात् अश्वों से युक्त को "अश्विनौ" कहते हैं यह निरुक्ति चरितार्थ होगी। यह मत ऐतिहासिकों का माना गया है। और्णवाभ इसी मत का था। एक और प्रसंग में निरुक्त ६।१३ में यास्क ने नासत्या आश्विनौ का उल्लेख करके भली भाँति बतलाया है कि नासत्य ३का अर्थ अश्विये हैं इनको सत्यवाला होने और नासिका से पैदा होने वाला होने के कारण नासत्य कहा गया है। वैयाकरण होते हुए भी भर्तृहरि ने २।१७५ में नैरुक्तों की निर्वचन प्रक्रिया का सम्मान करते हुए यौगिक पक्ष का समर्थन किया है। भर्तृहरि कहता है कि कई आचार्यों ने भिन्न-भिन्न ४प्रकार से 'गौ' शब्द के निर्वचन किये हैं। कोई गॄ, कोई गर्ज, कोई गम्, कोई गु और कोई गद् धातु से गौ शब्द की सिद्धि मानते हैं। इसी प्रकार भरत स्वामी ने भी कई वैदिक शब्दों का अर्थ करते हुए इस प्रक्रिया को स्वीकार किया है। सामवेद १।६।६ के भाष्य 'पिता', 'श्रद्धा', 'माता' और 'मनुः' का अर्थ क्रमशः पालयिता, सत्यस्य धारयिता, जगतः निर्माता और ज्ञाता किया है। पुनः सामवेद २।१।४ के भाष्य में आचार्य भरत स्वामी 'मातरः' का अर्थ निर्मातारः करता है। इसी प्रकार २।१।५ में मतिः का अर्थ उसने ज्ञात्री किया है। साम २।६।२ में अथर्वा का अर्थ न थर्वा अथर्वा इस निरुक्ति से यजमान है, ऐसा भरत स्वामी ने लिखा है। निरुक्त समुच्चय में 'ब्रह्म जज्ञानं' इस मंत्र का भाष्य करते हुए ५वररुचि ने भी ब्रह्म पद का अर्थ

१—तत्कावश्विनौ। द्यावापृथिव्यावित्येके। अहोरात्रावित्येके, सूर्याचन्द्रमसावित्येके। राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः।

२—अश्विनौ यद्व्यश्नुवाते सर्वम्। रसेनान्यः। ज्योतिषान्यः। अश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः।

३—नासत्यौ चाश्विनौ। सत्यौ एव नासत्यावित्यौर्णवाभः। सत्यस्य प्रणेतारावित्याग्रायणः। नासिकाप्रभवौ बभूवतुरिति वा। नि० ६।१३

४—कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गर्जतेर्गमेः गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्रानुदर्शितम्। वाक्यपदी० २।१७५

५—ब्रह्म नामानि सर्वाणि सामान्येनाख्यातजानि हि नैरुक्तसमयत्वात् क्रियायोगमङ्गीकृत्य प्रयोगः। निरुक्त समुच्चय प्रथम कल्प ?

नोट—औौर्णवाभ मत में अश्विनी लोग दो पुण्य कर्म करने वाले राजा हैं यह बतलाया गया है। यहाँ पर नासत्यौ पद का अर्थ भी वैसा ही करके उस पक्ष को पुष्ट कर दिया कि वे असत्य नहीं अपितु सत्य हैं। जब पुण्य कर्म करने वाले हैं तो फिर उनका सत्य वाला होना ठीक ही है। प्राण और अपान को भी अश्विनीद्वय कहा जाता है इसलिए निरुक्ति में कहा गया कि "नासिकाप्रभवौ" अर्थात् नासिका से यह अपान = श्वास प्रश्वास पैदा होते हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

करते हुए इसे यौगिक माना है। इस प्रकार अनेकों आचार्यों के प्रमाणों से यह सिद्ध है कि वेदों के शब्द यौगिक हैं। यदि ऐसा संभव न होता तो कभी वेद में अग्नि का विशेषण कवि [१]मेधावी हो सकता था। कदापि नहीं, क्योंकि रूढ़िवाद में यह किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकता। यहाँ पर कोई यह प्रश्न उठा सकता है कि जब सभी वैदिक शब्द यौगिक हैं तो फिर अर्थ का नियंत्रण किस प्रकार बन सकेगा? इसका उत्तर यह है कि योगबल से अनेकार्थ होते हुए भी वैदिक शब्दों का अर्थनियंत्रण मंत्र के देवता और प्रकरण के बल से हो जाता है। जो लोग यौगिक प्रक्रिया को नहीं मानते वे भी तो व्याकरण के अनुसार रूढ़ि पक्ष को मानते हुए भी कुछ शब्दों को यौगिक मानते ही हैं। जैसे वहां पर यौगिक शब्द अर्थनियंत्रण में समर्थ और उनके स्वीकार करने में आपत्ति को स्थान नहीं वैसे सारे वैदिक शब्दों के यौगिक मानने पर भी सारी व्यवस्था बन जावेगी। जो लोग यह कहते हैं कि निरुक्त प्रदर्शित निरुक्तियाँ अर्थ से संबन्ध नहीं रखतीं, वे केवल निरुक्तिमात्र हैं और निरुक्त का इतने मात्र से सम्बन्ध है—अर्थ से नहीं; वे भूल पर हैं। निरुक्त की निरुक्तियाँ यौगिक प्रक्रिया के आधार हैं और निरुक्त का निरुक्तिमात्र से ही नहीं अपितु अर्थ से भी सम्बन्ध है जैसा कि उसके प्रयोजनों में लिखा है[२]।

इतिहासवादियों के माने हुए इतिहास के चार प्रकारों का समाधान

जब यह सिद्ध हो गया है कि वैदिक शब्द यौगिक हैं तब फिर यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वेद में किन्हीं व्यक्तिविशेषों का इतिहास नहीं है। शब्दों के यौगिक मानने पर व्यक्तिवाचक नामों का होना ही नहीं बन सकेगा और ऐसा होने से किसी व्यक्तिविशेष का इतिहास भी सिद्ध न किया जा सकेगा। यद्यपि यौगिक प्रक्रिया के मान लेने से ही बात सुलझ जाती है फिर भी पहले दिखलाये गए चारों इतिहास प्रकारों में प्रत्येक का संक्षेप से उत्तर यहाँ दिया जायगा। विशेष विवरण तो आगे दिया जावेगा जिसमें कि (Vedic Index) के प्रत्येक व्यक्तिवाचक नामों और तत्संबन्धी मंत्रों वा सूक्तों की संगति लगाने का प्रयत्न किया जायगा। यह बतलाया जा चुका है कि इतिहासवादी जिन इतिहासों को वेदों में मानते हैं उनके चार प्रकार हैं। उनमें से पहले प्रकार का समाधान किया जाता है। पहला प्रकार यह है कि वेदों में नदी, पहाड़ और विशेष स्थानों के नाम पाये जाते हैं। नदियों के नाम उनके कथनानुसार गंगा, यमुना, सरस्वती, विपाट्, शुतुद्री और गोमती हैं जो कि वेदों में आये हैं। वास्तव में ये सारे नाम ऋग्वेद मं० १० के ७५ वें सूक्त में आये हैं। इसी तरह नदी नाम ३।३३।६ में भी आये हैं। उस सूक्त के देवता नदी हैं। उसे नदी सूक्त के नाम से कई लोग पुकारते हैं। ये सभी नाम नदी विशेष जो वर्तमान में मौजूद हैं उन्हीं के ये सामान्य नाम हैं? यही यहाँ पर विचारणीय है। विशेष नाम का बनना तो नहीं हो सकता क्योंकि वेदों के शब्द यौगिक हैं। सामान्य नाम बनने से वर्तमान गंगा आदि नदियों का ग्रहण है यह नहीं कहा जा सकता। यास्क ने निरुक्त २।२४ में नदी का निर्वचन करते हुए कहा है कि नदी इसलिए इनका

१—अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा। हव्यवाड् जुह्वास्यः। ऋ० १।१२।६। कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे। देवममीवचातनम्। ऋ० १।१२।७

२—अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थ प्रत्ययो न विद्यते। नि० १।१५। अर्थनित्यः परीक्षेत। नि० २।२

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नाम है क्योंकि (बहाव के समय में) ये शब्द करने वाली होती हैं। वह कहता है कि १इनका कहीं-कहीं पर प्रधान रूप से वर्णन पाया जाता है और गौण रूप से तो बहुत करके। यास्क ने जहां नदियों का निर्वचन वर्णन किया वहां सरस्वती शब्द के निर्वचन में एक २विशेषता भी दिखलायी। सरस्वती का अर्थ जलवाली होने से अथवा लौकिक धारणानुसार सरः का अर्थ तालाब लेकर तालाब से निकलने वाली मानकर नदी अर्थ होगा। परन्तु इसका जहाँ निघण्टु १।१३ में बहुत्रान्त पाठ नदी नामों में किया गया है वहां वाक् नाम में भी निघण्टु १।१२ में इसका वाचन किया गया है। इन दोनों भेदों को दर्शाने के लिए यास्क ने निरु० २।२४ में लिखा है कि सरस्वती का वेदों में दोनों प्रकार का प्रमाण पाया जाता है। कहीं देवता की भाँति और कहीं पर नदी के रूप में। इनमें नदी के रूप में यास्क ने ऋ० ६।६१।२ का३ मंत्र प्रमाण दिया है और देवता के रूप वाले पक्ष में उसने निरुक्त ११।२५ में ऋग्वेदीय "पावकाः नः सरस्वती" "महोऽर्णाः सरस्वती" आदि मं० १।३।१०–१२ मंत्रों को दिया है। नदी के वर्णन में यास्क ने जिस मंत्र का प्रमाण दिया है उसमें "सरस्वतीमाविवासेम धीतिभिः" पद आये हैं। इनमें से सरस्वती पद का अर्थ यास्क ने नदी किया है। यदि सरस्वती विशेष नाम होता और उससे वर्तमान सरस्वती नदी का ग्रहण होता तो यास्क सामान्य नाम उसको पर्याय रूप में न देता। उसके ऐसा करने से ही ज्ञात होता है कि सरस्वती वर्तमान सरस्वती नदी नहीं बल्कि नदीसामान्य है। यह एक गड़बड़ी देखी जाती है कि निरुक्त छापने वाले और दुर्ग आदि भाष्यकारों ने सरस्वतीम् के साथ नदी लिखा इस ढंग पर है कि उससे सहजतया सरस्वती नामी नदी का भाव लोगों के हृदय में घर कर जाता है। वास्तव में यास्क ने सरस्वती का पर्याय नदी दिया है, नदी का सरस्वती के बाद अध्याहार किया है। यदि यह मान लिया जावे कि नहीं वर्तमान सरस्वती नदी का वहां पर ग्रहण है तो फिर शोभन स्तुतियों के साथ क्या सरस्वती नदी पर ही निवास करना ठीक है अन्य पर नहीं। नदियाँ तो सभी संध्या, प्रार्थना आदि का स्थान मानी जाती हैं। लोगों को उनके किनारों पर सन्ध्या और परमात्मा की उपासना आदि कार्य करना चाहिए। जब यह सारी नदियों पर हो सकता है तो सरस्वती पर ही ऐसा किया जावे इसका तो कोई मतलब नहीं। अतः यह सिद्ध है कि सरस्वती नदी विशेष नहीं अपितु नदी सामान्य है। इसके अतिरिक्त एक और स्थल पर निरुक्त में इन सभी नदियों पर विचार प्रकट किया गया है। वहां पर यास्क ने ऋग्वेद १०।७५।५ मंत्र४ की व्याख्या करते हुए लगभग गंगा यमुना आदि सभी शब्दों की निरुक्ति कर दी है। यास्क का यह निरुक्ति प्रकार यही सिद्ध करता है कि ये नदी सामान्य हैं वर्तमान नदी विशेष नहीं। यास्क की अपनी की हुई इन गंगा आदि की निरुक्तियों से ध्वनित होता है कि विभिन्न-विभिन्न बहाव आदि की नदियां होती हैं। नदियों के इन प्रकारों को ही गंगा, यमुना आदि कहते हैं। बाद में उन गुणों को वर्तमान गंगा आदि नदियों में

१—नद्यः कस्मात् नंदना इमा भवंति शब्दवत्यः। नि० २।२४

२—तत्र सरस्वतीत्येतस्य नदीवद्देवतावच्च निगमा भवन्ति। नि० २।२३

३—इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवेत्यादि। ऋ० ६।६१।२

४—इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रिस्तोमं सचता परुष्ण्या। असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया। ऋ० १०।७५।५

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

देखकर लोगों ने इनके भी गंगा आदि नाम रख लिये होंगे। यास्क के अनुसार १गंगा गमन करने वाली अर्थात् बहुत दूर तक बहती चली जाने वाली नदी को कहते हैं। यमुना अलग भी होकर चलने वाली और मिलकर भी बहने वाली नदी सामान्य को कहते हैं। जल वाली होने से नदियों को सरस्वती कहा जाता है। शुतुद्री शीघ्र बहने के कारण नदी सामान्य को कहा जाता है। इस तरह यास्क ने इस स्थल पर सभी मंत्र-गत नदी सामान्य नामों को निरुक्ति द्वारा दर्शा दिया है। आपत्ति की जो बात इतिहासवादी उठाते हैं वह यह कि यास्क ने जो 'विपाट्' की निरुक्ति की है वह नदीसामान्य पक्ष को नहीं सिद्ध करता अपितु नदी विशेष पक्ष को सिद्ध करता है। मंत्र में आये 'आर्जिकीया'२ पद की व्याख्या करते हुए यास्क कहता है कि आर्जिकीया को ही विपाट् कहा जाता है। आर्जिकीया तो इसलिए कहा जाता है कि यह सीधा गमन करने वाली है परन्तु विपाटन करने से इसे विपाट् भी कहा जाता है। वह आगे चलकर कहता है कि मरने की इच्छा करते हुए वसिष्ठ के पाश इसमें खुल गए थे इसलिए इसे 'विपाड्' कहते हैं कि यहां पर इतिहास सिद्ध हो रहा है। थोड़ा-सा विचार इस विषय पर किया जाता है। यह विचार दो दृष्टियों से होगा। पहली दृष्टि यह है कि यहां पर वर्णित वसिष्ठ कोई व्यक्तिविशेष है या काल्पनिक वस्तु है। दूसरी दृष्टि यह कि जिस सूक्त के मंत्र की व्याख्या में यास्क यह कह रहा है क्या उस सूक्त में कोई ऐसी बात है जिससे यह आर्जिकीया नदी विशेष सिद्ध होती हो। जहां तक पहली दृष्टि का संबन्ध है यह कहा जा सकता है कि वसिष्ठ कोई व्यक्तिविशेष नहीं मंत्रार्थ के भाव को व्यक्त करने के लिए यह कल्पना करली गयी है। वासिष्ठ नाम ढके हुए उदक संघात का है। यह उदक संघात जब तक साधारण पानी के रूप में नहीं आ जाता तब तक यह पाशबद्ध है। वर्षाकाल में अनेक प्रकार से आकाश में विद्यमान वाष्पमय जल इसके पुत्र के रूप में हैं। इनको सूर्य अपने विजातीय तेज से पिघला कर वर्षा के रूप में गिरा देता है। सूर्य जहां जलों को वर्षा द्वारा गिराता है वहां वह आकर्षण द्वारा अन्तरिक्ष में वायुओं के आधार पर उनका स्तम्भन भी करता है। कुछ जल पदार्थों को जब वह द्रवित कर देता है और बचा हुआ आकर्षणरूपी पाशबद्ध जल संघात शेष रह जाता है तो यह ऋतुगामिनी वायुमण्डलस्थ जल धाराओं में हो लेता है। उसमें वायुओं के झकोरे और द्रवप्रभाव से उसके पाश खुल जाते हैं और वह जल के रूप में परिवर्त्तित हो बहने लगता है जिससे अन्तरिक्षस्थ जलीय धारा अपना काम करने लगती है और वर्षा में प्रकट रूप से पानी पृथिवी पर आ जाता है। इस कल्पना को न समझ कर लोगों ने वसिष्ठ का इतिहास विपाट् के साथ गढ़ दिया। यहां पर इतिहासवादी यह कह सकते हैं कि इस कल्पना में प्रमाण क्या है? मैं इसलिए इस कल्पना की मूलभूत बातों का प्रमाण दे देता हूँ। वसिष्ठ

१—गंगा गमनात्। यमुना प्रयुवती गच्छतीति वा। प्रवियुतं गच्छतीति वा। सरस्वती, सर इत्युदक नाम। सर्त्तेः। तद्वती। शुतुद्री शुद्राविणी, चिप्रद्राविणी। आशु तुन्नेव द्रवतीति वा। इरावतीं परुष्णीत्याहुः। पर्ववती [भास्वती] कुटिलगामिनी। असिक्न्यशुक्लासिता। सितमिति वर्णनाम। तत्प्रतिषेधोऽसितम्। वितस्ता विदग्धा विवृद्धा महाकूला। नि० ९।२५ ॥

२—आर्जिकीयां विपाडित्याहुः ऋजीकप्रभवा वा। ऋजुगामिनी वा। विपाड् विपाटनाद् वा। विपाशनाद्वा विप्रापणाद्वा। पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतः। तस्माद्विपाडुच्यते। पूर्वमासीदुरुञ्जिरा। नि० ९।२५

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नाम संघात का है इसका प्रमाण वेद १स्वयं देता है और साथ ही निरुक्त भाष्यकर्त्ता स्कन्दस्वामी ने भी वसिष्ठ का ऐसा ही अर्थ किया। यह वसिष्ठ आकाश में रहता है इसका प्रमाण २ऋग्वेद ७।२३।११ के प्रमाण से सिद्ध है। विश्वामित्र सूर्य को कहते है और इसका काम जलों को रोकना है इसमें क्रमशः ३स्कन्दस्वामी भाष्यनिरुक्त और ऋ० ३।५३।६ से मिल जाता है। कोई यह सकता है कि आर्जिकीया की स्थिति आकाश में कैसे मान ली। इसका समाधान यह है कि जिस सूक्त का यह मंत्र है उस सूक्त का पहला मंत्र नदियों का वर्णन सामान्य रूप में करता है और यह बतलाता है कि ये नदियों के प्रकार पृथिवी पर ही नहीं अपितु ये सात-सात के रूप में ४पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौलोक में भी फैली हुई हैं। जब मंत्र ऐसा वर्णन करता है तो यह साफ प्रकट है कि सूक्त में वर्णित नदियां नदी सामान्य हैं विशेष नहीं और साथ ही यह भी विदित होता है कि पृथिवी पर स्थित ऋतुगामिनी नदी में वसिष्ठ के पास टूटे थे यह कल्पना सर्वथा निराधार है। अतः यहां पर आर्जिकिया का तात्पर्य अन्तरिक्षस्थ जल प्रवाह से है वसिष्ठ के जलसंघात होने की पुष्टि स्वयं "गंगे यमुने सरस्वति" मन्त्रस्थ 'मरुद्वृधे' पद से हो जाती है। नदियां मरुतों से बढ़ती हैं इसलिए इन्हें 'मरुद्वृधा' कहा जाता है मरुत् ब्राह्मणग्रंथों में ५जल और वायुएं हैं। ये ही जल नदियों को बढ़ाने वाले हैं। इस तरह यदि ये जल माने जावें तो जल से नदियां बढ़ती हैं और उसके साथ वसिष्ठ के जल संघात होने की बात ठीक ही पड़ेगी। वायुओं के अर्थ में मरुतों को मानने पर आकाशस्थ मरुत आकाशीय जल प्रवाहों के धारण साधन होंगे और इनसे आकाशस्थ जलों का बढ़ना सिद्ध होगा। वसिष्ठ के जल रूप होने से उसमें भी जलों की भांति मरुतों की स्थिति मानी जावेगी। इस प्रकार का परस्पर संबन्ध सिद्ध होकर इस आकाशस्थ वृत्त की कल्पना सिद्ध होगी।

इसके बाद अब दूसरी दृष्टि पर विचार किया जाता है। वह यह कि क्या 'गंगे यमुने सरस्वति' मंत्रों वाले सूक्त में कोई ऐसा प्रमाण है जिससे आर्जिकीया का नदीविशेष होना सिद्ध है। मेरा विचार यह है कि इस सूक्त में कोई ऐसा प्रमाण नहीं पाया जाता है जिससे पूर्वोक्त बात सिद्ध हो सके। सूक्त का पहला मंत्र तो नदियों की स्थिति पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में भी बतलाता है फिर ये नदीविशेष कैसे हो सकती है। यदि यह वास्तव में पृथिवीस्थ वर्तमानविशेष नदियों के नाम हैं तो इनकी तीनों लोकों में स्थिति कैसे मानी जा सकती है। इस विषय में विपाट् शुतुद्री और विश्वामित्र को जो इतिहास है उस पर आगे चलकर विचार किया जायगा।

१—विद्युतो ज्योतिः परिसंजिहानामित्यादि ऋ० ७।३३ १० वसिष्ठोऽप्याच्छादित उदकसंघातो वसुनिमित्तत्वाद्वसुमत्तमः। स्कद नि० ५।१४

२—विश्वेदेवाः पुस्करे त्वाददन्त। ऋ० ७।३३।११

३—विश्वामित्रः—सर्वमित्रो भगवानादित्यः नि० २।२७ महां ऋषिर्देवजा देवजूतोऽस्तभ्नात्सिन्धुमर्णवं नृचक्षाः। विश्वामित्रो यदवहत् सुदासमप्रियायत कुशिकेभिरिन्द्रः। ऋ० ३।५३ ९

४—प्र सुव आपो महिमानमुत्तमं कारुर्वोचति सदनेविवस्वतः। प्र सप्त सप्त त्रेधा हि चक्रमुःप्रसृत्वरीणामतिसिन्धुरोजसा। १०।७५।१ तानद्यः सप्त सप्त भूत्वा त्रेधा पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि चेति सायणाः।

५—आपो वै मरुतः रो० ६।३०। अप्सु वै मरुतः श्रिताः गो० उ० १।२२

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नदियों के विषय का विवेचन थोड़ा-सा किया गया, शेष सूक्त संगति के अवसर पर किया जायगा। अब कुछ इस पहले वर्ग के दूसरे पहलू पर विचार किया जायगा। नदियों के नाम के साथ-साथ इतिहासवादी देशों के नाम को भी वेदों में मानते हैं। आर० सी० दास आदि ने जो भौगोलिक अवस्था भारत की वर्णन की है वह इन्हीं कथित नदी नामों और देश नामों के आधार पर की है। इनकी पुस्तक (Rigvedic India) की रचना इसी आधार पर हुई है। इन इतिहास मानने वालों का कथन है कि वेदों में कीकट, मगध, अङ्ग, गान्धार आदि स्थानों के नाम आये हैं। इन नामों के विषय में संक्षेप में यही समाधान दिया जाना उचित होगा कि ये भी स्थानविशेष नहीं बल्कि सामान्य-स्थानों के वाचक हैं। कीकट शब्द की व्याख्या यास्क ने स्वयं निरुक्त ६।३१ में कर दी है। उससे यह सिद्ध है कि कीकट नाम कृपण और धर्म विरोधी जनों के रहने के स्थानों का है किसी स्थानविशेष का नहीं। जहां पर ही पूर्वोक्त मनुष्य रहें वही कीकट कहा जा सकता है। निरुक्त के इस स्थल पर स्कन्द स्वामी आदि के भाष्य देखने से स्वयं पाठक उचित परिणाम पर पहुँच सकते हैं। विशेष जानकारी के लिए वररुचिकृत "निरुक्त समुच्चय" तृतीय कल्प में १०१ वां मन्त्र देखना चाहिए वहां पर इसकी व्याख्या आचार्य वररुचि ने अच्छी तरह से की है। अथर्ववेद में ज्वर की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि मगध, गान्धार, मूंजवत् आदि स्थानों में ज्वर अधिक उत्पन्न होता है। वहां पर ये नाम सामान्य स्थान के ही अर्थ में हैं विशेष स्थलवाची नहीं। वदबू, और हरी घास-फूस पैदा होने वाले गन्दे स्थानों में ज्वर का पैदा होना सिद्ध ही है। इन नामों पर विवेचन करने से पूर्व उस मंत्र को यहां पर उद्धृतकरना आवश्यक है जिनमें कि ये नाम आये हुए हैं। मंत्र इस प्रकार है—गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः। प्रैष्यञ्जनमि शेवधिं तक्मानं परिदद्मसि ॥ अथर्व ५।२२।१। वास्तव में इस मंत्र वाले सूक्त में ज्वर की श्रेणियाँ, उसके पैदा होने के स्थान और औषधियों का वर्णन है। इस समूचे सूक्त का देवता "तक्मनाशन" ज्वर का नाश करने "वाला" या ज्वर को नाश करना है। इस सूक्त का विनियोग करते हुए कौशिक सूत्रकार ने लिखा है कि [1]इस सूक्त से रोगी को लाजा (पथ्यद्रव्य) पिलाना चाहिए। सूक्त के पहले मंत्र में बतलाया गया है कि [2]अग्नि, सोमलता, मेघ, शुद्ध पवित्र जल, यज्ञवेदी, कुशा तथा प्रदीप्त समिधायें ज्वर को दूर करने वाली हैं। यद्यपि ज्वर आदमी को पीला कर देता है और अंगों को सुखा देता है परन्तु इन औषधियों से उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। इसके वर्णन से यह प्रकट है यह सूक्त ज्वर के विषय में विचारों को प्रस्तुत करता है इसमें किसी प्रकार का ऐतिहासिक यो वर्तमान भौगोलिक वर्णन नहीं। अब रही मगध, मूजवत आदि स्थानों की बात। निश्चय ये मगध आदि शब्द स्थान विशेष के नाम नहीं अपितु स्थान सामान्य के नाम हैं। मूजवत का तात्पर्य मूजवाले स्थल से है। ऋग्वेद १०।३४।१ में उपमार्थक वाक्य द्वारा यह बतलाया गया है कि [3]सोम मूजवत जात अर्थात् मूजवत पर पैदा होने वाला है। इस वाक्य के "मौजवत" शब्द पर यास्क ६।७ में कहता है कि मौजवत

१—अग्निस्तक्मानमिति लाजान् पाययति—कौ० २९।१८

२—अग्निस्तक्मानमपबाधतामितः सोमो ग्रावा वरुणः पूतदक्षाः।
वेदिर्बर्हिः समिधः शोशुचाना अपद्वेषास्यमुया भवन्तु ॥ अथर्व ५।२२।१

३—सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः। ऋ० १०।३४।१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

का अर्थ है [1]मूजवन्द में उत्पन्न, और मूजवत् का अर्थ है पर्वत अर्थात् मुञ्जवान् = मूंजवाला। यास्क ने यहां पर स्पष्ट बतलाया कि मूजवत पर्वत प्रदेश या मूज वाले स्थान को कहते हैं परन्तु कई लोगों ने पर्वत मूजवत् का पर्याय न मानकर "मूजवान् पर्वतः" एक नाम मानकर इसका अर्थ मूजवान् नामी पर्वत कर लिया। परन्तु यह बात ठीक नहीं, यदि यास्क को वर्तमान मूजवान् पर्वत कहना अभीष्ट होता तो फिर वह आगे मुञ्जवान् पद न देता। उसके इस पद के देने से ही विदित होता है कि मूजवान् का अर्थ पर्वत या मूजवाला स्थान है। इसी प्रकार गन्धारि, अङ्ग और मगध आदि नामों से भी गन्दे और नमी आदि वाले स्थानों का ही तात्पर्य है क्योंकि ऐसे स्थानों में ज्वर का होना बहुधा हुआ करता है। इसी सूक्त में पांचवें मंत्र में ज्वर का स्थान बतलाते हुए कहा गया है कि "ओको अस्य महावृषाः" अर्थात् "महावृष" इस ज्वर के घर हैं। यहां पर महावृष शब्द से अधिक वर्षा के स्थान समझना चाहिए और यह बिल्कुल ही ठीक बात है कि अधिक वर्षा के स्थानों पर मलेरिया ज्वर का होना पाया जाता है। इसलिए पूर्वोक्त नाम सामान्य स्थान हैं कोई भौगोलिक वर्तमान स्थानविशेष नहीं। इनका यहां पर संक्षेप में वर्णन किया गया है विशेष रूप से इस सूक्त की संगति लगाते समय किया जायगा।

"ऋषि वेदकर्त्ता हैं और उनके नाम मंत्रों में हैं" का समाधान

ऐतिहासिकों के माने इतिहासों के पहले वर्ग का समाधान पहले किया जा चुका। अब दूसरे वर्ग वाले विषय का समाधान किया जाता है। इतिहासवादी यह कहते हैं कि वेदों में वेद-मंत्रों के रचयिता ऋषियों के नाम पाये जाते हैं। इससे यह सिद्ध है कि उनका इतिहास वेदों में है। जहां तक इस पक्ष का सम्बन्ध है उस पर विचार मैं पाठकों के सामने प्रस्तुत करना चाहता हूँ। इस विषय पर गवेषणा से पूर्व ऋषि क्या है? वे वेद मंत्र कर्त्ता हैं या नहीं इत्यादि बातें भी विचारनी आवश्यक हैं। ऋषि क्या हैं इस पर दो तरह के विचार पाये जाते हैं एक तो यह कहते हैं कि ऋषि लोग वेद मंत्रों के कर्त्ता हैं और दूसरे कहते हैं कि वे वेद मंत्रों के कर्त्ता नहीं अपितु द्रष्टा अर्थात् उसके अर्थ को देखने वाले हैं। ऋषि पर विचार करते हुए ऋक्सर्वानुक्रमणीकार लिखता है कि जिसका यह [2]वाक्य है वह इसका ऋषि और इस वाक्य से जो कुछ प्रतिपादन किया जाता है वह इसका देवता है। सर्वानुक्रमणी के इस वाक्य को लेकर इतिहासवादी कहते हैं कि मन्त्रों के कर्त्ता ऋषि हैं, क्योंकि यहां पर साफ तौर कह दिया गया है कि जिनके ये वाक्य हैं वही इन वाक्यों के ऋषि हैं। इस नियम से वेद मन्त्र जिनके वाक्य हैं उन ऋषियों का नाम सूक्त के प्रारंभ होने से पूर्व देवता छन्द आदि के साथ दिया है। जब वेद मन्त्र उनके वाक्य हुए तो वे इन वाक्यों के ऋषि ठहरे ही। मेरा विचार इस पर यह है कि यह वाक्य दोनों पक्षों की तरफ लगता है। इतिहासवादी इसे अपने पक्ष का पोषक समझते हैं और अनैतिहासिक इसे अपने पक्ष का समर्थक समझते हैं। ऋषि वेद मन्त्रों के द्रष्टा हैं, मेरे विचार में यह वाक्य इस पक्ष को सिद्ध करता है। एक तो वह जो अपने द्वारा रचकर और दूसरे वे जो दूसरों के वाक्य हैं परन्तु अपने बनाकर बोले जाते हैं। "अग्निमीळे पुरोहितम्" मन्त्र को सभी बोलते हैं, परन्तु यह उनका रचा हुआ नहीं है। इसी प्रकार दूसरे के द्वारा रचे गए

१—मौजवतो मूजवति जातः। मूजवान् पर्वतो मुञ्जवान्। नि० ९।७

२—यस्य वाक्यं स ऋषिः। या तेनोच्यते सा देवता। ऋक्सर्वानुक्रमणी १।२।४

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वाक्यों के बोलने के लोक में अनेकों उदाहरण हैं। "यस्य वाक्यं" में "यस्य" षष्ठी का प्रयोग है वह स्वस्वामिभाव सम्बन्ध दिखलाने के लिये है। स्वस्वामिभाव सम्बन्ध से द्रष्टा भी किसी वाक्य को अपना कह सकता है क्योंकि उसे अपने अभ्यास आदि के कारण इस वाक्य पर पूरा-पूरा अधिकार प्राप्त हो गया है। जब सम्बन्ध को कर्तृवादजनित मानकर अर्थ किया जाता है तब ऋषि कर्त्ता सिद्ध होते हैं परन्तु यह अर्थ इस वाक्य का निकालना असाध्य या साध्यसम है। अतः इस वाक्य से ऋषियों का द्रष्टा होना सिद्ध होता है। इतिहासवादी इसके अतिरिक्त और बहुत से प्रमाण ऋषियों के मन्त्रकर्त्ता होने में दिया करते हैं। मैं उन सारे प्रमाणों को यहां पर क्रमशः एकत्र कर देता हूँ और बाद में उन पर विवेचना करूँगा।

(क) ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धनयन् गिरः। ऋ० ९।१४।२

(ख) शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत्। तां० ब्रा० १३।३।२४

(ग) नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः। आप० श्रौ० ८।१४

(घ) दक्षिणतस्तिष्ठन् मन्त्रवान् ब्राह्मण आचार्यायोदकाञ्जलिं पूरयेत्। खादिर गृ० २।४।१०
द्राह्यायण २।४।१०

(ङ) इत ऊर्ध्ववान् मन्त्रकृतो अध्वर्युर्वृणीते यथर्षिमन्त्रकृता वृणीत इति विज्ञायते।
सत्या० २।१।३

(च) दक्षिणत उदङ्मुखो मन्त्रकारः। मानव गृ० १।८।२

(छ) देवा ह वै सर्वचरौ सत्रं निषेदुः। ते ह पाप्मानं नापजघ्निरे। तान् होवाचार्बुदः काद्रवेयः सर्पऋषिर्मन्त्रकृत्। ऐत० ब्रा० ६।१

(ज) नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः। मा मामृषयो मन्त्रकृतो मन्त्रपतयः परादुः। माहमृषीन् मन्त्रकृतो मन्त्रपतीन् परादाम्॥ तै० आ० ४।१।१

(झ) मन्त्रकृतो वृणीते 'यथार्षिमन्त्रकृतो वृणीत' इति विज्ञायते।
आप० श्रौ० २४।५।६

(ञ) अथ येषामु मन्त्रकृतो न स्युः स पुरोहित प्रवरास्ते प्रवृणीरन्। आप० श्रौ० २४।१०।१३

(ट) भूमिमुपस्पृशेदग्न इला नम इला नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यो नमो नो अस्तु।
ऐतरेयारण्यक १।१।१

(ठ) पुरस्तात् प्रत्यङ्मुखो दाता पश्चात्प्राङ्मुखः प्रतिग्रहीता दातुरुत्तरतः प्रत्यङ्मुखी कन्या दक्षिणत उदङ्मुखो मन्त्रकारः। वाराह गृह्यसूत्र खण्ड १३

(ड) शुचीन् मन्त्रवतः सर्वकृत्येषु भोजयेत्। आपस्तम्ब-धर्म० २।१५।९

(ढ) शुचीन् मन्त्रवतो योनिगोत्रासम्बन्धानयुग्मांस्त्र्येवरानन र्थानिच्छो भोजयेत्।
आप० गृह्यसूत्र ८।२१।२

ये उपर्युक्त प्रमाण हैं जिनसे कि इतिहासवादी अपने पक्ष की सिद्धि का प्रयत्न करते हैं। अब इन पर विचार करना उपयुक्त होगा। इन प्रमाणों में चार प्रकार के पद पाये जाते हैं—मन्त्रकृत्, मन्त्रकार, मन्त्रपति और मन्त्रवान्। इनमें से मन्त्रकृत् और मन्त्रकार में केवल प्रत्ययों का भेद है

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वास्तविक नहीं। मन्त्रपति और मन्त्रकार पद में जब पति का अर्थ स्वामी माना जावे तो लगभग समानता पायी जावेगी। परन्तु जब पति का अर्थ पालक लिया जावे तो कुछ थोड़ा सा अर्थभेद दोनों में पाया जावेगा। मन्त्रकृत् पद वास्तव में मन्त्र बनाने वाले या मन्त्रों के रचयिता के अर्थ में नहीं है। ब्राह्मण और सूत्रग्रन्थों की यह विशेष शैली है कि मन्त्रद्रष्टा और ऋत्विजों को जो कि मन्त्र के प्रयोग या उच्चारण करने वाले हैं, उन्हें मन्त्रकृत् कहते हैं। मन्त्रों के द्रष्टा भी मन्त्रों के अर्थ को देखकर उसका प्रयोग करते हैं और ऋत्विज् यज्ञ में मन्त्रों का प्रयोग और उच्चारण दोनों ही करते हैं इसलिए वे मन्त्रकृत् हैं। मैं एक प्रमाण से इस बात को स्पष्ट कर देता हूँ। इन उपर्युक्त प्रमाणों में (ज) संख्या का प्रमाण तैत्तिरीय आरण्यक ४।१।१ का है। इसमें मन्त्रकृत् और मन्त्रपति दोनों ही शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस मन्त्रकृत् पद पर भाष्य करते हुए सायण ने लिखा है कि "मन्त्र[1]" करने वाले मन्त्रकृत् हैं, यद्यपि वेद अपौरुषेय होने से उसके ये कर्त्ता नहीं हैं तथापि कल्प के आदि में ईश्वर के अनुग्रह से मन्त्रों का लाभ करने वाले ही मन्त्रकृत् कहे जाते हैं। यहां पर सायण जैसे इतिहासपक्षी भाष्यकार ने भी मन्त्रकृत् का अर्थ मन्त्रों को ईश्वरानुग्रह से प्राप्त करने वाला अर्थात् मन्त्रद्रष्टा बतलाया है। इससे यह सिद्ध है कि मन्त्रकृत् का अर्थ मन्त्रद्रष्टा, मन्त्र का प्रयोग करने वाले ऋत्विज् आदि हैं। जहां भी ब्राह्मण या श्रौत ग्रथों में इसका प्रयोग है वहां पर मन्त्र के प्रयोक्ता और उच्चारण करने वाले ऋत्विज् या मन्त्रार्थवेत्ता अर्थ में ही है, मन्त्र बनाने वाले के अर्थ में नहीं। इसके अतिरिक्त अन्य आन्तरिक प्रमाण भी यह सिद्ध करते हैं कि ऋषिजन मन्त्रों के बनाने वाले नहीं। गोपथ ब्राह्मण में यह आया है कि उन[2] संपातऋचाओं (एवा त्वां इन्द्र वज्रिन्, ऋ० मंडल ४ सूक्त १९) को सर्वप्रथम विश्वामित्र ने देखा था और उसके बाद उन विश्वामित्र द्वारा देखी हुई को वामदेव ने देखा। इस वाक्य में असृजत् क्रिया को देखकर लोग कहते हैं कि देखा तो विश्वामित्र ने परन्तु रचना उनमें वामदेव की है। परन्तु यह विचार ठीक नहीं। यहां पर 'असृजत्' का अर्थ रचा नहीं अपितु देखा ही है क्योंकि "विश्वामित्र ने देखा" इस ऊपर वाले वाक्य में देखा का क्रिया विशेषण "पूर्व" लगा हुआ है। जिसका अर्थ पूर्व है। देखने वाला पहले और रचने वाला बाद को, यह कैसे संभव हो सकता है। फिर यदि भावमात्र देखना होता तो बात भी, यहां तो संपात जो ऋचा रूप है उनका देखना लिखा है। यह ब्राह्मण-वाक्य स्पष्ट ऋग्वेद चौथे मण्डल के १९ सूक्त का प्रथम द्रष्टा विश्वामित्र है। उसके बाद वामदेव ने इन्हें देखा अर्थात् इनका साक्षात्कार किया। अब यदि ऋषियों को मन्त्रों का कर्त्ता माना जावे तो इस सूक्त का ऋषि विश्वामित्र होना चाहिए परन्तु ऐसा नहीं है। सर्वानुक्रमणी ने इस सूक्त का ऋषि वामदेव ही माना है। इसका तात्पर्य यह निकला कि इस सूक्त के दोनों ही ऋषि कर्त्ता नहीं। यदि विश्वामित्र कर्त्ता माना जावे तो ठीक नहीं, क्योंकि वहां पर ब्राह्मणग्रंथ स्वयं उसको "पश्यति" क्रिया द्वारा द्रष्टा स्वीकार करता है और दूसरी बात यह है कि उसका नाम भी इस सूक्त के ऋषि में नहीं है कि उसे कर्त्ता माना जावे। अगर वामदेव को कर्त्ता माना जावे तो यह बात भी ठीक नहीं क्योंकि वामदेव

१—मंत्रकृद्भ्यः = मंत्रं कुर्वन्तीति मंत्रकृतः, यद्यप्यपौरुषेये वेदे कर्त्तारो न सन्ति तथापि कल्पादावीश्वरानुग्रहेण मंत्राणां लब्धारो मंत्रकृत् इत्युच्यन्ते। तैति० आ० ४।१

२—तान् वा एतान् संपातान् विश्वामित्रः प्रथममपश्यत्—एवा त्वामिन्द्र वज्रिन् (ऋ० ४।१९ तान् विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवो असृजत् ६।१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पूर्व विश्वामित्र ने इस सूक्त का साक्षात्कार किया था और ये सूक्त उसके समय में ही विद्यमान थे। इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण ५।१४ का भी एक प्रमाण इस विषय में दिया जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण बतलाता है कि नाभानेदिष्ठ[१] मानव (मनु का पुत्र) ब्रह्मचर्य आश्रम में ही था कि भाइयों ने दामाद को बांट लिया। जब वह लौटकर आया तो पिता से बोला कि मुझे आप क्या देते हैं? पिता ने कुछ सोचकर कहा कि आंगरिस लोग स्वर्ग की इच्छा से यज्ञ कर रहे हैं। उसके षष्ठाह्न में "इदमित्था" "प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः" इसका पाठ करना। नाभानेदिष्ठ ने पिता की बात मानी और वैसा ही किया। परिणामतः अन्त में पिता मनु ने इस मंत्र वाले ऋ० १० वें मण्डल के सूक्त ६१।६२ को नाभानेदिष्ठ को दिया। अब उस सूक्त का ऋषि नाभानेदिष्ठ लिखा है। परन्तु ये मंत्र उसके पिता के समय में भी विद्यमान थे। यदि नाभानेदिष्ठ को इस सूक्त का रचयिता मान लिया जावे तो फिर इसे उसके पिता मनु के समय का और उसके द्वारा नाभानेदिष्ठ को दिया हुआ नहीं होना चाहिए। ऐसा भी प्रमाण उपलब्ध होता है कि एक ही सूक्त या कई मंत्रों को प्रयोग में लाने वाले दो व्यक्ति भी हैं। परन्तु उनमें से जो मंत्र-द्रष्टा है उसी का नाम मंत्र के ऋषियों में है दूसरे का नहीं। उदाहरण के रूप में ऋ० ८।४५।१ के "आ घा ये" इत्यादि तीन ऋचाओं को लीजिए। इनका ऋषि त्रिशोक है और देवता इन्द्र है। इध्मवाह नाम के एक ऋषि ने प्रतिसत्रियों की स्तुति की। उसने जो स्तुति की वह भी इन तीन ऋचाओं द्वारा ही की थी परन्तु मंत्र-द्रष्टा होने से इन तीन ऋचाओं का ऋषि त्रिशोक तो लिखा है इध्मवाह का नाम तक इनके साथ नहीं। इध्मवाह ने इन ऋचाओं से स्तुति की थी इसका वर्णन शाष्पायन ब्राह्मण ने किया[२] है।

माधव ने अपनी अनुक्रमणी में इस त्रिशोक सम्बन्धी ऋचा का यथोक्त[३] रूप में ही वर्णन किया है। इन प्रमाणों के अतिरिक्त ऐसे भी प्रमाण पाये जाते हैं जिनसे एक मंत्र के दो ऋषि भिन्न-भिन्न स्थानों में पाये जाते हैं। यदि ऋषियों को मंत्र-कर्त्ता माना जावे तो क्या एक मंत्र के दो कर्त्ता हैं? कदापि नहीं। वे भिन्न-भिन्न अर्थों के द्रष्टा हैं। "ब्रह्मजज्ञानं प्रथमं पुरस्तात्" यजुर्वेद १३।३ में इस का ऋषि "वत्सार" (अवत्सार) लिखा है और वहां पर देवता आदित्य है परन्तु सामवेद पू० ४।३।३।६ में इसका वर्णन आने पर ऋषि "गातु" और देवता "इन्द्र" लिखा है। यदि ऋषि वेद मंत्रों के कर्त्ता हैं तो बताना पड़ेगा कि इस मंत्र का कर्त्ता कौन है। ऋग्वेद ६ मण्डल सूक्त ६६ के ऋग्वेदीय सर्वानुक्रमणी [५०] में "शतं वैखानसाः" १०० ऋषि लिखे हैं। इस सूक्त में सारे मंत्रों की संख्या ३० है। यदि ऋषि बनाने वाले हैं तो क्या इन्होंने कुछ एक टुकड़े ही बनाये और अपने बनाये टुकड़ों को जोड़कर ३० मन्त्रों को पूरा किया? इन पूर्वोक्त प्रमाणों से यह सिद्ध है कि ऋषि मंत्रकर्त्ता

१—नाभानेदिष्ठं मानवं ब्रह्मचर्ये वसन्तं भ्रातरो निरभजन्।....स च किमनेन भागेन। अंगिरसः स्वर्गार्थं सत्रमासीनाः षष्ठाहःपर्यन्तमनुष्ठाय मुह्यन्ति। तान् "इदमित्था" सूक्ते शंसय। ऐ० ५।१४

२—ऋषयो वै स्पर्धयन्त इध्मवाहं समिद्धारं परेतमरण्यं एकमजहुः। सोऽकामयत। अनुपतेमं स्वर्गलोकम्। प्रतिसत्रिणोऽभिसंगच्छेयमिति। स ऐक्षत हन्त प्रतिसत्रिण एवं स्तवानि, इत्यादि। शाष्पायन ब्राह्मण।

३—त्रैशोकेन तृचेनास्तौदैन्द्रेण प्रतिसत्रिणः। ऋषिरन्य इध्मवाह आ घा ये अग्निमिन्धते। माधवानुक्रमणी।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नहीं हैं। यहां पर एक प्रश्न यह उठ सकता है कि जब ऋषि मंत्रकर्त्ता नहीं तो इनके साथ कृञ् धातु का प्रयोग ही क्यों लगाया गया, दश् धातु का ही प्रयोग लगाना चाहिए था। इसका समाधान यह है कि ऊपर के ही प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि यह कृञ् का प्रयोग दश् के अर्थ में है। अन्यथा मंत्रपति शब्द का प्रयोग करने की क्या आवश्यकता थी। चूंकि अध्ययन और अध्यापन ही इन मन्त्रों की रक्षा करना है। यह ऋषि लोग किया करते हैं इसलिए वे मंत्रपति कहे जाते हैं। इसी पढ़ने और प्रयोग करने के आधार पर ऋत्विज लोग भी मन्त्रों के रक्षा करने के कारण मन्त्रपति हैं। गृह्य और धर्म सूत्रों ने इसी अर्थ में "मन्त्रवान्" शब्द[१] का प्रयोग किया। इनके आधार पर मन्त्रवान् को ही पुरोहित बनाना चाहिए और मंत्रवित् को ही सत्कार्यों में भोजन आदि भी कराना चाहिए। कृञ् और दश् का प्रयोग समान अर्थ में ही वैदिकों में किया जाता था ऐसा ही प्रमाणों से ध्वनित होता है। यही कारण है कि जहां मंत्रकृत् प्रयोग का बाहुल्य है वहां मंत्रद्रष्टा के प्रयोग भी कम नहीं। माधवानुक्रमणी ५।७।१–२। में ऋषियों को मंत्रकृत् कहा गया[२] है, साथ ही अगले पद्य में मंत्रदर्शन से पूर्व ऋषि होने का निषेध भी किया गया है। आगे चलकर माधव ५।७।१४ में पुनः[३] लिखता है कि ऋषियों ने उन मंत्रों को देखा। उन्होंने तप द्वारा नाना-विध मंत्रों का दर्शन किया। इन प्रमाणों से यही विदित होता है कि कृञ् और दश् का प्रयोग समानार्थक है। नहीं तो माधव एक ही स्थल पर दो तरह का प्रयोग कैसे करता।

कृञ् धातु के प्रयोग करने से मंत्रकृत् का अर्थ मन्त्र बनाने वाला ही हो, यह नियम भी नहीं। ताण्ड्य ब्राह्मण[४] १३।३।२४ में पिता को मन्त्रकृत् कहा गया है। पिता के साथ मन्त्रकृत् का प्रयोग मालूम पड़ता है कि "मंत्रदः" के अर्थ में है, जैसा कि मनु में पिता को मन्त्र देने वाला कहा गया है। यदि इस ब्राह्मण-वाक्य का अर्थ यह माना जावे कि मन्त्रकृत् को पिता कहा जाता है तब भी मन्त्रकृत् का कृञ् कर्त्ता अर्थ में प्रयुक्त है यह सिद्ध नहीं हो सकेगा। उस अर्थ में यह मन्त्रपालक के अभिप्राय को ही सिद्ध करेगा। कई लोग यहां पर यह सन्देह करते हैं कि जब कृञ् ऋषि मन्त्र कर्त्ता नहीं तो यास्क ने फिर नि० ६।५ "कारुरहमस्मि" में "कर्त्ता स्तोमानाम्" अर्थात् स्तोमों = मन्त्रों का कर्त्ता अर्थ क्यों किया। इससे तो प्रतीत होता है कि ऋषि मंत्रकर्त्ता हैं। इसका उत्तर यह है यास्क ने "कर्त्ता" का प्रयोग बनाने वाले के अर्थ में नहीं किया है। उसने प्रयोक्ता या द्रष्टा अर्थ में ही इसका प्रयोग किया है। इस वाक्य पर भाष्य करते हुए दुर्ग भी लिखता है कि[५] स्तोमानां कर्त्ता का अर्थ यज्ञ में स्तुति प्रयोक्ता है।

१—शुचीन् मंत्रवतः सर्वकृत्येषु भोजयेत्। आप० ध० २।१५।९

२—मनुष्यत्वे मंत्रकृतः ऋषयः परिकीर्तिताः। आर्षेयवरणं तेषां तथा च ब्राह्मणं शृणु। न मंत्रदर्शनात्पूर्वमृषित्वं प्रत्यपद्यत। माधवा० ५।७।१-२।

३—तादृशान् ददृशुर्मंत्रान्। ५।७।१४, काण्डान्यकुर्वन्नृषयः ५।७।१९, भूयोभूयस्तपस्तप्त्वा वेदान्नानाविधानिति।

ऋषयो ददृशुः पूर्वं तं तमर्थमभीप्सवः। मा० ५।२।२६। नानाविधैरभिप्रायैर्मन्त्रा दृष्टा महर्षिभिः। मा० ८।१।१

४—एष वाव पिता यो मंत्रकृत्। ता० ब्रा० १३।३।२४

५—स्तोमानां कर्त्ता स्तोमकर्त्ता स्तुतीनां प्रयोक्ता यज्ञकर्मणि होतृत्वेन अवस्थितः। दुर्ग, नि० भा० ६।५

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दुर्ग की यह बात सिद्ध करती है कि यास्क वास्तव में कृञ् का प्रयोग कर्त्ता अर्थ में नहीं कर रहा है। इसके अलावा एक और बात से भी यास्क का अभिप्राय "कर्त्ता स्तोमानाम्" से मन्त्रों का कर्त्ता नहीं मालूम पड़ता। वह यह कि यहां पर ऋग्वेदीय ६।११२।३ मन्त्र में स्थित "कारु" पद की व्याख्या कर रहा है। चूंकि मन्त्र में "कारु" पद है और वह कृञ् का प्रयोग है अतः उसके स्थान में वह "कर्त्ता स्तोमानाम्" उसका अर्थ दे रहा है। उसे यह मालूम है कि "कारु" पद वेद में ऋत्विक् के अर्थ में हुआ है अतः वह उसका अर्थ भी वैदिक ग्रन्थों की प्रसिद्ध परिभाषा में "कर्त्ता स्तोमानाम्" अर्थात् "ऋत्विग्" ही दे रहा है। यास्क ने निघण्टु ३।१६ में "कारु" पद को "स्तोतृ" नाम में पढ़ा है। इसी के अनुसार यहां पर "कर्त्ता स्तोमानां" अर्थात् स्तुतियों का प्रयोक्ता, या ऋत्विग् आदि अर्थ है। यास्क ने उस अर्थ को व्यक्त कर दिया। निघण्टु के अनुसार जब "कारु" का अर्थ स्तोता है तो फिर यास्क पठित कर्त्ता "स्तोमानाम्" का अर्थ भी "स्तोता" ही समझना चाहिए, कल्पनान्तर करने की आवश्यकता ही क्या? यास्क ने तो निरुक्त २।११ में "ऋषि" पद का निर्वचन करते हुए स्वयं ही लिख दिया है कि ऋषि का अर्थ वेद मन्त्रों का द्रष्टा[१] होता है। इस यास्क वचन का समर्थन औपमन्यव जो प्रसिद्ध निरुक्तकार है, ने भी सिद्ध किया है। औपमन्यव यह मानता है कि मन्त्रों को देखने से ऋषियों को ऋषि कहा गया है। दुर्ग ने इस स्थल पर भाष्य करते हुए रही-सही कोर कसर को भी पूरा कर दिया है[२] उसका कहना है कि चूंकि यह सूक्त अर्थों को भी देखता है इसलिए इसे ऋषि कहा जाता है। इतिहासवादी "ऋषे[३] मंत्रकृतां स्तोमैः" इस पूर्वोक्त ऋग्वेदीय मन्त्र के "मन्त्रकृताम्" पद पर भी अधिक बल देते हैं। उनका कथन है कि इस वेद प्रमाण से भी उनके पक्ष की पुष्टि होती है। वास्तव में तो मन्त्रकृत् पद पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है परन्तु फिर भी यहां इस विशेष स्थल पर कुछ पंक्तियां पाठकों की सेवा में रखी जाती हैं। इस मन्त्र में ऋषि और कश्यप पद संबोधनान्त हैं। इनका सम्बन्ध वाक्य के साथ तो है परन्तु "मन्त्रकृताम्" के विशेषण आदि के रूप में नहीं। इतिहासवादी "ऋषीणाम्" का अभिप्राय इस मन्त्र से कहां से निकालते हैं यह पता नहीं। क्योंकि ऋषीणाम् पद सूक्त भर में कहीं नहीं आया है। यदि वे "मन्त्रकृताम्" का अर्थ "ऋषीणाम्" समझते हैं तो फिर यह संभव नहीं कि यह मन्त्रस्थ पद ऋषियों के मन्त्रकर्त्ता होने का प्रमाण बन सके। जब इसका अर्थ ही ऋषि है तो मन्त्र बनाने वाला कैसे होगा? यदि मन्त्र बनाने वाला अर्थ ही वे लेना स्वीकार करें तो फिर "ऋषीणाम्" पद विशेष्य के रूप में कहीं से आना चाहिए। परन्तु वह सूक्त भर में नहीं, इसलिए यह प्रमाण उनके पक्ष का साधक नहीं। हमारी दृष्टि से मंत्रकृताम् का अर्थ ऋत्विज् है। वे मंत्रकृत् इसलिए कहे जाते हैं कि यज्ञ में मन्त्रों का प्रयोग और उच्चारण वे करते हैं। मैंने इस भाव को पूर्व दिखलाया भी है। यदि कृत् का अर्थ करने वाला ही मान लिया जावे तब भी इसका अर्थ उच्चारण करने वाले अर्थात् ऋत्विज् ही होगा। ब्राह्मण-ग्रंथों में मन्त्र शब्द वाक्[४] अर्थ में आया

१—ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः। नि० २।११

२—ऋषिर्दर्शनात्। पश्यति ह्यसौ सूक्तानप्यर्थान्। दुर्ग २।११

३—ऋषे मंत्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन् गिरः। ऋ० ९।११४।२

४—वाग्वै मंत्रः। शतपथ ६।४।१।७

वाग्घि मंत्रः। „ १।४।४।११

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है । उस वाणी (वाक्) का करने वाला मन्त्रकृत् अर्थात् उच्चारण करने वाला ही इस पद का अर्थ बनेगा । इससे मन्त्रों का कर्त्ता अर्थ कभी भी नहीं निकल सकेगा । मन्त्र के ऋषि और कश्यप पद को लीजिए । ऋषि का अर्थ मन्त्रद्रष्टा है यह पहले बतलाया जा चुका है । कश्यप का अर्थ इससे मिलता जुलता ही है । दृश् धातु से पश्यक शब्द बनता है । उसी का आद्यन्त विपर्यय करके कश्यप पद की सिद्धि होती है । कश्यप का अर्थ सूक्ष्म तत्त्वों को देखने वाला । तैत्तिरीय [१]आरण्यक में इस बात की पुष्टि भी की गई है । इस तरह से विवेचना करने पर इस मन्त्र वाक्य का अर्थ यह होगा कि "हे सूक्ष्म रहस्यों के जानने वाले अतीन्द्रियतत्त्ववेत्तः विद्वन् ! तू ऋत्विजों द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली स्तुतियों या मन्त्रों से वाणियों को बढ़ाता हुआ," इत्यादि । इस प्रकार पूरे मन्त्र वाक्य पर विचार करने से परिणाम निकला कि इस मन्त्र से ऋषि मन्त्रकर्त्ता है, यह नहीं सिद्ध होता । इतनी दूर तक पूर्वपक्षियों के प्रमाणों और उनके प्रतिद्वन्द्वी हेतुओं से यह सिद्ध किया गया कि ऋषि मन्त्र कर्त्ता नहीं और कृञ् धातु का प्रयोग वास्तव में दृश् के अर्थ में ही है । अब वे प्रमाण दिये जाते हैं जिनमें ऋषियों को द्रष्टा कहा गया है और उनके साथ कृञ् का प्रयोग न करके दृश् का प्रयोग किया गया है :—

१—ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः । निरु० २।११

२—ऋषिर्दर्शनात्पश्यति ह्यसौ सूक्ष्मानप्यर्थान् । दुर्ग २।११

३—तद्येनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंभ्वभ्यानर्षत् तदृषीणामृषित्वम् । तै० आ० २।९

४—ब्रह्म ऋग्यजुसामाख्यं स्वयम्भु अकृतकमभ्यानर्षदभ्यागच्छत् । दुर्ग २।११

५—एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति । नि० ७।४

६—विश्वामित्रः स तृतीयं मण्डलमपश्यत् । ऋ० सर्वा० १६

७—वामदेवो गौतमश्चतुर्थं मण्डलमपश्यत् । ऋ० सर्वा० २०

८—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः षष्ठं मण्डलमपश्यत् । ऋ० सर्वा० २८

९—इन्द्राय सोममिति तृचोऽथर्वाऽपश्यत् । अथर्व० सर्वा० २।१

१०—शमीमश्वत्थ इति प्रजापतिरपश्यत् । अथर्व० सर्वा० ६।११

११—सप्तमं मण्डलं वसिष्ठोऽपश्यत् । ऋ० सर्वा० ३३

१२—पर्जन्याय तृचं गायत्रम्, एते कुमार आग्नेयोऽपश्यद् वसिष्ठ एव वा वृष्टिकामः । ऋ० सर्वा० ४०

इन पूर्वोक्त प्रमाणों में दृश् धातु के प्रयोग द्वारा यह दिखलाया गया है कि ऋषि मंत्रद्रष्टा हैं मंत्रकर्त्ता नहीं । प्रमाणों के अर्थ से तो कहना ही क्या द्रष्टवाद पक्ष का पूरा समर्थन हो जाता है । ये प्रमाण इतने सुगम हैं कि इनकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती । एक और प्रमाण यहां ऋषि शब्द के अर्थ को दिखलाने के लिए दिया जाता है । यह शतपथ ब्राह्मण

१—कश्यपः पश्यति सर्वान् सौक्ष्म्यात्–तैत्तिरीय०

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

का प्रमाण है और इसमें यह बतलाया गया है कि वे पहले इस (वाणी) को चाहते हुए तप से और श्रम से अर्षण किये इसलिए ऋषि हुए। इस प्रमाण ने स्पष्ट कर दिया कि जो श्रम और तपश्चर्या से मन्त्रों के अर्थ को जानने की इच्छा कर उनका साक्षात्कार करता है वह ऋषि होता है।

प्रमाणों से जहाँ यह सिद्ध होता है कि ऋषि मंत्रकर्त्ता नहीं अपितु मन्त्रद्रष्टा हैं वहाँ वेद-मन्त्रों में आये ऋषि नामों की जांच पड़ताल करने पर उनकी अन्तःसाक्षियों और युक्तियों से भी यही सिद्ध होता है। मन्त्रों में जिन ऋषियों के नाम को देखकर, लोग उनके व्यक्तिविशेष होने की कल्पना करते हैं वास्तव में वे व्यक्तिविशेष नहीं। वे सामान्य नाम स्पष्ट प्रतीत होते हैं। यदि ये व्यक्तिवाचक नाम होते तो कभी भी इनसे जड़ और पदार्थों या सृष्टि के मूलतत्त्वों का बोध न हो सकता। परन्तु ऐसे मंत्र बहुत से वेदों में देखे जाते हैं जहाँ इनको जड़ पदार्थों का नाम और सृष्टि के मूल पदार्थों का नाम कहा गया है। ऋग्वेद १०।७३।११ में "प्रियमेधा ऋषयः" पाठ आया है। यदि कोई इतिहासवादी विचार करेगा तो वह इसका अर्थ "प्रियमेधा" नाम के ऋषि करेगा। परन्तु ऐसा अर्थ करने पर वेदमन्त्र की संगति ठीक नहीं लग सकेगी। मन्त्र का भाव ऐसा अर्थ करने से बिल्कुल जाता रहेगा। यहां पर तो सूर्य की किरणें अर्थ लगाकर ही मंत्र की संगति लगायी जा सकती है। प्रसिद्ध विद्वान् यास्क ने निरुक्त ४।३ में "सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः" पतनशील सूर्य की किरणें ही अर्थ किया है। यास्क की यह शैली इस बात को और भी स्पष्ट कर देती है कि ऋषि से पृथ्वी, द्यौ और अन्तरिक्षस्थ तथा अन्य मूल पदार्थों का ग्रहण किया जा सकता है। यजुः २६।६ में 'अग्निः ऋषिः पवमानः' पाठ आया है। यह मन्त्रपाठ ऋग्वेद तथा साम में भी ज्यों का त्यों है। इसमें अग्नि को ऋषि कहा गया है। यदि ऋषि

टिप्पणी—कृञ् धातु का अर्थ केवल कर्त्ता ही नहीं है द्रष्टा तथा अनेक अर्थ भी उसके पाये जाते हैं। नीचे लिखे प्रमाण इसके समर्थक हैं—

१—ऐतरेय ब्राह्मण ६।१ पर सायणाचार्य कहते हैं—

ऋषिरतीन्द्रियार्थद्रष्टा मन्त्रकृत् करोति धातुस्तत्रदर्शनार्थः। पूना संस्करण पृ० ६७७

२—भट्टभास्कर मिश्र मै० सं० भाग ३ पृ० १ पर लिखते हैं—

अथ नमः ऋषिभ्यो मंत्रकृद्भ्यो मंत्राणां द्रष्टृभ्यः, दर्शनमेव कर्तृत्वम्।" मै० सं० भाग ३ पृ० १।

३—कात्यायन श्रौतसूत्र ३।२।९ पर कर्काचार्य लिखते हैं—मंत्रकृतो मंत्रदृश उच्यन्ते। नहि मन्त्राणां करणं भवति। अनित्यत्वप्रसंगात्। तेन दर्शनार्थः कृञिति अध्यवसीयते। दृश्यते चानेकार्थता धातूनां, गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः (अष्टाध्यायी ७।३।७७) इत्यात्मनेपदप्रतिपादने गन्धादीनर्थान् कृञा दर्शयति।

४—महाभाष्यकार पतंजलि मुनि ने भी भूवादयो धातवः (१।३।१) सूत्र की व्याख्या करते हुए "अनेकार्था अपि धातवो भवन्ति" लिखकर कृञ् के अनेक अर्थ दर्शाये हैं। करोतिरयमभूत-प्रादुर्भावे दृष्टः। निर्मलीकरणे चापि दृश्यते—पृष्ठं कुरु पादौ कुरु—उन्मृदान इति गम्यते। निक्षेपणे चापि-वर्तते। कटे-कुरु, घटे कुरु—स्थापयतीति गम्यते।

५—वेंकटेश्वर मुद्रित रघुवंश के संपादक गोविन्द शास्त्री ने रघुवंश ५।४ में आये मंत्रकृत् शब्द पर टिप्पणी करते हुए लिखा है "अत्र न मंत्रान् कुर्वन्तीति मंत्रकृत इति व्युत्पत्तिर्गरीयसी वेदापौरुषेयत्वभंगात्, किन्तु मंत्रान् कुर्वन्ति प्रयोगविधिना इष्टलाभाय प्रयुञ्जत इति मंत्रकृतः।

संवत् १९६९ मुद्रित।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शब्द से केवल ऋषियों का ही बोध होता तो फिर अग्नि को ऋषि न कहा जाता। सृष्टि में काम करने वाली शक्तियाँ (Forces) भी ऋषि शब्द से व्यहृत होते हैं ऐसा लिखा गया है। ऋग्वेद १।३१।१६ में "अग्ने भृमिरस्यृषिकृत्" पाठ आया है। यहां पर अग्नि को "ऋषिकृत्" कहा गया। इस पद का अर्थ करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् स्कन्दस्वामी ने अपने भाष्य तथा निरुक्त में लिखा है कि ऋषिकृत् का अर्थ "दर्शनकृत्" अर्थात् दर्शन कराने या दिखलाने वाला है। इससे ऋषि शब्द का अर्थ दर्शन है ऐसा यहाँ पर स्कन्द ने प्रकट किया। ऋग्वेद १०।८२।४ में ऋषियों को भूतकृत् और [1]आकाश में रहने वाला बतलाया गया है। यदि ऋषि से विशेष ऋषियों का ही ग्रहण होता तो क्या ये ऋषि सदा आकाश में ही लटके रहते थे। [2]अथर्ववेद में विश्व को पैदा करने वाली विभिन्न शक्तियों को ऋषि कहा गया है। यह तो सामान्य में ऋषि शब्द की बात हुई। अब विशेषों पर भी विचार किया जाता है। ऋ० १०।८५।२० का ऋषि "सूर्या" है। मन्त्र में भी "सूर्ये" सम्बोधनान्तर पद आया है। इतिहासवादियों की प्रक्रियानुसार इस मन्त्र की कर्त्री सूर्या को होना चाहिए। परन्तु यास्क ने निरुक्त १२।७ पर [3]सूर्य की पत्नी उषा को सूर्या बतलाया है। प्रसिद्ध व्याख्याकार दुर्ग भी उसी[4] ही का अर्थ वहां पर दर्शाता है। इससे यह सिद्ध है कि मन्त्रस्थ सूर्या व्यक्तिविशेष नहीं अपितु सामान्य नाम उषा का वाची है। इसी प्रकार ऋ० ५।६।२१ और १०।१२१।१ मन्त्रों का ऋषि क्रमशः "वृषाकपि" और "हिरण्यगर्भ" है। मन्त्रों में ये पद आये भी हैं परन्तु निरुक्तकार ने[5] १२।२८ और १०।२३ [6]में इनके अर्थ आदित्य तथा हिरण्यगर्भ वाला किया है। जो कभी भी व्यक्तिवाचक अर्थ में संगत नहीं हो सकते।

अङ्गिरसः, पितरः, नवग्वा, अथर्वाणः भृगवः आदि को ऐतिहासिक लोग व्यक्तिविशेष नामों में गिनाते हैं परन्तु यास्क ने निरुक्त ११।१६ [7]में इनको मध्यमस्थान (अन्तरिक्ष) भौतिक पदार्थ गिनाये हैं। यदि ये व्यक्तिवाचक होते तो फिर आकाशस्थ भौतिक पदार्थ के अर्थ में इनका प्रयोग क्यों कर हो सकता था। ऐतिहासिक अंगिरा को ऋषिविशेष मानते हैं परन्तु वेद में अग्नि को अंगिरा ऋषि कहा गया है। ऋग्वेद १।३१।१ [8]में अग्नि को अङ्गिरा ऋषि कह कर वर्णन किया है। यदि यह अंगिरा ऋषिविशेष ही होता तो अग्नि से इसका क्या सम्बन्ध है कि इसे अग्नि का नाम या विशेषण बनाया जावे। यजु० ३४।५५ में सातों ऋषियों का शरीर में होना बतलाया गया है। यही मंत्र ऋग्वेद में भी आया है। इसकी व्याख्या करते हुए यास्क ने सात इन्द्रियों को ही सप्तऋषि कहा है। यजु० १३।५४ से ५८ तक मन्त्रों में वशिष्ठ, भरद्वाज, जमदग्नि आदि नाम

१—त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना।
असूर्त्ते सूर्त्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि॥

२—यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिवेधिरे।

३—सूर्या सूर्यस्य पत्नी। एषैवाभिसृष्टकालतमा।

४—एषैव उषा, अभिसृष्टकालतमा—यथा सूर्यस्योदयकालः प्रत्यभिसृष्टतमा भवति गततमा भवति तथा सैषा उषा सूर्या सम्पद्यते। दुर्गं।

५—अथ यद्रश्मिभिरभिप्रकम्पयन्नेतः-तद् वृषाकपिर्भवति।

६—हिरण्यगर्भो हिरण्यो गर्भो, हिरण्यमयो गर्भोऽस्येति वा।

७—माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः।

८—त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आये हैं। ये वहां पर प्राण आदि के अर्थ में आये हैं। ५४ वें मंत्र में वसिष्ठ ऋषि पाठ आया है। उसमें प्राण को वसिष्ठ ऋषि कहा गया है ऐसा शतपथ ब्राह्मण में इस मन्त्र की व्याख्या करते समय कहा गया है। मन्त्र भी स्पष्ट प्राण अर्थ को बतलाता है जैसा कि उसके पाठ "वसिष्ठ ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया प्राणं गृह्णामि" निश्चित होता है। शेष अगले मंत्रों में भी विश्वामित्र, जमदग्नि आदि के साथ ऋषि शब्द का प्रयोग पाये जाने से यह पक्ष और भी पुष्ट हो जाता है। ऋषि नामों से व्यक्ति-विशेष नहीं अपितु सामान्य वस्तु नामों का ग्रहण होता है इसमें कुछ प्रमाण इस प्रकार हैं :—

प्राणो वा अंगिराः–श० ६।१।२।२८
६।५।२।३–४

अंगिरा वा अग्निः–श० ६।४।४।४

अङ्गिरा उ ह्यग्निः–श० १।४।१।२५

चक्षुर्वै जमदग्नि ऋषिः–श० ८।१।२।३

प्राणो वै वसिष्ठः–श० ८।१।१।५

मनो वै भरद्वाज ऋषिः–श० ८।१।८

श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः–श० ८।२।२६

वाग्वै विश्वकर्मा ऋषिः-श० ८।२।६

कण्वः मेधावी–निघण्टु ३।१५

वाग्वै सरस्वती प्राणो भरतः–ए० ३।२५।१२३

एष (प्राणः) उ एव बृहस्पतिः–बृ० उ० १।३।२०

एष (प्राणः) उ एव ब्रह्मणस्पतिः–बृ० उ० १।३ २१

इन पूर्वोक्त प्रमाणों में अङ्गिरा, जमदग्नि, भरद्वाज, विश्वामित्र, विश्वकर्मा, कण्व, भरत बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति आदि अग्नि, प्राण, आँख, श्रोत्र, वाणी, मेधावी, प्राण आदि के वाचक बतलाये गए हैं। इसके अतिरिक्त "अर्वा एव लश्रमस ऊर्ध्वबुन्ना" इस मंत्र की व्याख्या करते हुए बृहदारण्यक उपनिषद[1] २.२.४ में आँख, नाक, कान को गोतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप कहा गया है। वहीं पर वाणी को अत्रि कहा गया है। इससे यह सिद्ध है कि वेदों में आये हुए ऋषि नाम जो व्यक्तिवाचक दिखलायी पड़ते हैं वे व्यक्तिविशेष नहीं अपितु पदार्थों के सामान्य नाम हैं। इनके अनेकार्थ वेदों में पाये जाते हैं। जहां ये सृष्टि के पदार्थों के सामान्य नाम हैं वहां ये विद्वान्, त्यागी, तपस्वी, गृहस्थ, संन्यासी, योगी, वैज्ञानिक आदि अर्थों के भी वाचक हैं। वैदिक-इण्डेक्सगत नामों का समाधान करते समय इसका विशेष उल्लेख किया जायगा। यहां पर सिर्फ संक्षेप में दिखलाने की चेष्टा की गयी।

पूर्व पंक्तियों में यह दिखलाया गया कि वेदमंत्रों में आये नाम व्यक्तिविशेष नहीं बल्कि जगत् के पदार्थों और विद्वान् आदि के वाचक हैं। अब एक दूसरी युक्ति से भी यह बात सिद्ध की जावेगी कि ये नाम व्यक्तिविशेष के नाम नहीं। वेदों में आये शब्द यौगिक होने से कभी विशेषण कभी विशेष अर्थों में प्रयुक्त पाये जाते हैं, यह एक सिद्धान्त है जो कि नैरुक्त, याज्ञिक,

---

१—इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाजः। इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी। अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निः। इमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपः। वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्य अत्ता भवति।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ब्राह्मणग्रन्थकार आदि वैदिक मानते हैं। इस नियम के अनुसार ये मन्त्रों में आये हुए "अङ्गिरा" "इन्द्र" तथा "कण्व" आदि शब्द भी इन विशेषण और विशेष्य के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। यदि ये व्यक्तिवाचक नाम होते तो ये विशेषण के रूप में नहीं प्रयुक्त किये गये होते। परन्तु वेदों में अनेक स्थलों पर ऐसे प्रयोग पाये जाते हैं। व्याकरण का नियम भी इन्हें अनेकों मन्त्रों में विशेषण सिद्ध कर इनके व्यक्तिवाचक न होने का प्रमाण उपस्थित करता है। संस्कृत व्याकरण में गुणवाचक शब्द की पूर्वापर विशेषता दिखलाने के लिए तुलनात्मक भेद द्वारा "तरप्" "तमप्" प्रत्यय लगाये जाते हैं। इस तरह से गुणवाची शब्द की परिस्थिति में भेद हो जाता है। उदाहरण के रूप में शुभ्र शब्द या महान् शब्द को ले लीजिए। ये दोनों गुणवाचक और सफेद तथा महान् के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। जब इनसे सिर्फ सफेद या बड़ा होना अर्थ ही अभिप्रेत होता है तब ये ज्यों के त्यों बिना परिवर्त्तन बोले जाते हैं। परन्तु जब दो वस्तुओं में से एक को दूसरे की अपेक्षा अधिक शुभ्र या महान् कहना या लिखना होता है तब इनके साथ तरप् प्रत्यय लगाकर शुभ्रतर और महत्तर रूप इन शब्दों के बना दिये जाते हैं। जब अधिकों की अपेक्षा यह विशेषता बतलाना चाहते हैं तब इनमें "तमप्" प्रत्यय लगाकर इनका रूप शुभ्रतम और महत्तम बन जाता है। यह नियम विशेषणवाची शब्दों में लागू होता है और उन्हीं में तरप्, तमप् प्रत्यय पाया जाता है। संज्ञा या व्यक्तिवाचक में इन प्रत्ययों का अभाव पाया जाता है। शुभ्रतर, शुभ्रतम प्रयोग तो बनता है परन्तु ऐसा नहीं कि देवदत्त के साथ इन प्रत्ययों को लगाकर देवदत्ततर और देवदत्ततमं प्रयोग बन सके। देवदत्त के साथ ये प्रत्यय इसलिए नहीं लगाते कि यह व्यक्तिविशेष के नाम का वाचक है। यदि गुणवाची हो तो इसके साथ भी ये प्रत्यय लग सकते थे। संस्कृत व्याकरण का यह नियम इंगलिश में भी पाया जाता है और इसी के आधार पर Good, Better और Best प्रयोग Cordial, Comparative और Superlative डिग्रियों के साथ बन जाते हैं। adjectives में तो ये डिग्रियां लगती हैं परन्तु न्यूटन सेक्सपियर, सत्यदेव आदि व्यक्तिवाची नामों में नहीं। इन नियमों को दृष्टि में रख कर विचारणीय बात यह है कि यदि अंगिरा, इन्द्र, कण्व आदि किन्हीं व्यक्तिविशेष के वाचक होते तो इनके साथ तमप् प्रत्यय नहीं लग सकता था। परन्तु वेद-मन्त्रों में अनेक स्थलों में इनके "तमप्" प्रत्यय वाले प्रयोग पाये जाते हैं। जिससे यह स्वतः सिद्ध है कि ये व्यक्तिवाचक नाम नहीं हैं।

ऋग्वेद १।३१।१ में अग्नि को अंगिरा ऋषि कह कर फिर दूसरे मंत्र में उसी अग्नि को "अंगिरस्तम" कहा गया है। यदि यह अंगिरा ऋषि व्यक्तिविशेष होता तो कभी भी इस प्रकार का प्रयोग नहीं बन सकता था। यह तो उदाहरण के लिए लिखा गया। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में लगभग १२[1] स्थानों में मंत्रों में तमप् प्रत्ययान्त अगिरस्तम, अगिरस्तमः, अगिरस्तमम् और अंगिरस्तमा आदि प्रयोग आये हुए हैं। ऋग्वेद ७।७५।१ और ७।७९।३[2] में उषा के विशेषण के

१—ऋ० १।७५।२; ८।४३।१८; ८।४३।२७; ८।४४।८ (अंगिरस्तम)
ऋ० १।३१।२; १।१००।४; (अंगिरस्तमः)
ऋ० १।१३०।३; ९।१०७।६; १०।६२।६ (अंगिरस्तमः)
ऋ० ८।२३।१० (अंगिरस्तमम्)
ऋ० ७।७५।१; ७।७९।३ (अंगिरस्तमा)

२—अभूदुषा इन्द्रतमा मघोनी अजीजनत् सुविताय श्रवांसि।
विदिवो देवी दुहिता दधात्यङ्गिरस्तमा सुकृते वसूनि ॥ ऋ० ७।७९।३

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रूप में अंगिरस्तमा प्रयोग आया है। साथ में ही मंत्र में इन्द्रतमा विशेषण भी आया है। जिससे इन्द्र का भी व्यक्तिवाची होना निर्मूल सिद्ध हो जाता है। ऐसे ही ऋ० १।४८।४ में कण्वतम[1] पद भी आया हुआ है जो कि कण्व के व्यक्तिवाचक होने का पूरे के तौर पर निषेध करने वाला है। इस प्रकार तरप्, तमप्, प्रत्यय के आधार से भी यही पक्ष सिद्ध हुआ कि अंगिरा आदि ऋषिविशेष नहीं बल्कि सामान्य नाम हैं। यहां पर कई व्यक्ति यह आक्षेप उठाते हैं कि जब ये व्यक्तिविशेष नहीं किन्तु पदार्थों के सामान्य नाम हैं तो फिर वेदों में इनके पुत्र आदि सम्बन्धों का वर्णन क्यों पाया जाता है। ऐसा नहीं हो सकता कि जड़-पदार्थों के पुत्र और पिता आदि का व्यवहार हो सके। ऐसे आक्षेपकर्त्ताओं से मेरा यही निवेदन है कि वे वेद की शैली का अध्ययन करें। वेदों में जड़पदार्थों के साथ भी पिता पुत्र आदि का व्यवहार गुणवाचक यौगिक भावनाओं के आधार पर होता है। जड़पदार्थों में जो यह व्यवहार पाया जाता है वह योगबल से ही पाया जाता है। यौगिक अर्थ को लेकर एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का पिता-पुत्रभाव दिखलाया जाता है। वेदों में ऐसे व्यवहार के प्रयोग बहुतायत से पाये जाते हैं। साथ ही इसी भाव को लेकर अपत्यवाची प्रत्यय भी पदार्थों के साथ पाया जाता है। उदाहरण के लिए पहले आदित्य शब्द को ही ले लीजिए। यह पद ऋग्वेद[2] में अनेकों मंत्रों में आया है। आदित्य शब्द का अर्थ जहां अनेक निरुक्तियों से गृहीत होता है वहां अदिति के पुत्र को भी आदित्य कहा जाता है। प्रकाशों को देने ग्रहण करने तथा रसों को ग्रहण करने से आदित्य नाम पड़ा है। ऐसे ही अदिति के अपत्य होने से भी आदित्य नाम इसका माना जाता है। वैदिक[3] साहित्य में आदित्य को अदिति का पुत्र कहा जाता है। प्रसिद्ध वैदिक यास्क[4] ने जहां कई प्रकार से आदित्य शब्द की निरुक्ति की है वहां अदिति के अपत्य अर्थ में भी इसकी निरुक्ति दिखलायी है। बारह मासों में प्रकाश की भिन्नता से होने वाले सूर्यों को द्वादश आदित्य कहा जाता है। ये बारह आदित्य अदिति के पुत्र कहे गए हैं। अदिति के अपत्य होने अर्थ में ही इसमें तद्धित प्रत्यय किया गया है। यह प्रत्यय अपत्य अर्थ को लेकर ही हुआ है। यद्यपि आदित्य कोई ऐतिहासिक व्यक्तिविशेष नहीं और न अदिति ही कोई व्यक्तिविशेष है। ये दोनों सृष्टि के पदार्थ हैं। इनमें इस पुत्र और माता के भाव का पाया जाना यह सिद्ध करता है कि जड़ पदार्थों में भी ऐसे व्यवहार गौण रूप में पाये जाते हैं। ये सारे व्यवहार योगबल से हैं। यदि चेतन पदार्थों में ही यह व्यवहार होता तो फिर अदिति में यह बात नहीं पाई जानी चाहिए थी। अदिति इससे अधिक

१—कण्व एषां कण्वतमः। १।४८।४

२—यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम् ॥ ऋ० १०।८८।११

३—अदितिर्वै प्रजाकामौदनमपचत्तत. उच्छिष्टमाश्नात् सा गर्भमाधत्त तत आदित्य अजायन्त। गो० पू० २।१५

अदितिः पुत्रकामा साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनमपचत्। तस्य उच्छेषणमदद्:। तत्प्राश्नात् सा रेतो अधत्त। तस्यै धाता चार्यमा चाजायेताम्। मित्रश्च वरुणश्चाजायेताम्। अंशश्च भगश्चाजायेताम्। इन्द्रश्च विवस्वांश्चाजायेताम् ॥ तै०१।१।९।१-३

४—आदित्यः कस्मादादत्ते रसान्। नि० २।४।१३

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इस प्रकार का वर्णन वेदों में आता है। ऋग्वेद १।८७।१० और यजुर्वेद २५।२३ में अदिति को माता, पिता[1] और पुत्र सब कुछ कहा गया है और इन सबको भी अदिति कहा गया है। यदि चेतन में ही यह व्यवहार होता तो फिर अदिति = जड़प्रकृति में यह व्यवहार क्यों पाया जाता। ऋग्वेद १०।७२।४ में तो अदिति के विषय को लेकर इस व्यवहार का बड़ा ही विचित्र रूप दिखलाया गया है। वहां पर आदित्य को अदिति का पुत्र[2] और अदिति को आदित्य की पुत्री कहा गया है। यास्क ने इस स्थल का भाष्य करते हुए इस पर विशेष प्रकाश डाला है। इसी प्रकार ऋग्वेद १।१६४।३३ में "द्यौ" को पिता,[3] जनक और पृथिवी को माता कहा गया है। ये दोनों ही जड़ हैं परन्तु वेद स्वयं इनमें इस प्रकार का व्यवहार योगबल से दिखलाता है। इस योगबल को ही लेकर यास्क ने इस मंत्र में आये "पिता" शब्द का अर्थ पाता अथवा पालयिता किया है। यह तो एक नमूने के तौर पर दिखलाया गया। वेदों में इनसे अतिरिक्त और भी अनेकों प्रयोग इस प्रकार के व्यवहार को दिखलाने वाले पाये जाते हैं। ऋग्वेद ३।१४।१ में 'विद्युद्रथः सहसस्पुत्रो अग्निः' पाठ आया है। इसमें अग्नि को सहः = बल का पुत्र कहा गया है। ऐसे ही ३।२५।१ में "अग्ने दिवो सूनुरसि" पाठ से अग्नि को द्यौः का सूनु=पुत्र कहा गया है। ये प्रमाण स्पष्ट ही प्रकट कर रहे हैं कि वेद में जड़ में भी पिता पुत्र आदि के व्यवहार पाये जाते हैं। यह तो रही वेद की बात, महामुनि यास्क ने भी इस विषय पर प्रबल प्रकाश डाला है। निरुक्त ८।५ में उसने एक दूसरे निरुक्तकार आचार्य कात्थक्य का मत दिखलाते हुए तनूनपात्[4] पद की व्याख्या पर लिखा है कि "तनूनपात्" का अर्थ आज्य अर्थात् घृत है। नपात् अनन्तरापत्य अर्थात् व्यवधान से होने वाली प्रजा का नाम है। यहां पर "तनू" का अर्थ "गौ" है क्योंकि उसमें भोग (दुग्ध और दधिरूप में) विस्तृत होते हैं। उससे दूध उत्पन्न होता है और दूध से घी निकलता है अतः घृत गौ का पौत्र है। जब यास्क आदि विद्वान् भी इस प्रकार जड़ वस्तुओं में पुत्र पौत्र आदि का व्यवहार मानते हैं तो वेद में ऐसे व्यवहारों को देखकर इतिहासवादी क्यों घबड़ाते हैं। ऐसे प्रयोग यौगिक हैं और सब में घटित हो सकते हैं। इनके बल पर ही व्यक्तिविशेषों के इतिहास की कल्पना करना इतिहासवादियों की वेदानभिज्ञता और अपने पक्ष को सिद्ध करने की दुःसाहसिकतामात्र है अन्य कुछ नहीं। इन्हें आंखें खोलकर देखना चाहिए कि यह व्यवहार जड़ पदार्थों में वेदों में बहुधा पाया जाता है। इससे पदार्थों के कार्य कारण भाव, या सम्बन्ध आदि पर गहरा प्रकाश पड़ता है इसीलिए यह शैली वेदों में बहुधा वर्ती गई है। अथर्ववेद में सभा और समिति[5] को प्रजापति की दुहिता = पुत्रियां कहा गया है। यदि चेतन में ही यह व्यवहार होता तो क्या प्रजापति को और लड़कियां नहीं मिलती थीं कि सभा और समिति ही उसे लड़कियों के रूप में मिलीं। ये दोनों ही प्रजापति की परम पुत्री

१—अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्। ऋ० १।८९।१०

२—अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि। ऋग्वेद १०।७२।४

३—द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथ्वी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो योनिरन्तरत्र पिता दुहितुर्गर्भमाधात्। ऋ० १।१६४।३३

४—तनूनपादाज्यमिति कात्थक्यः। नपादित्यनन्तरायाः प्रजाया नामधेयम् निर्णततमा भवति गौरत्र तनूरुच्यते। तता अस्यां भोगाः। तस्याः पयो जायते पयसः आज्यं जायते।

५—सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। अथर्व० ७।१२।१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

बनकर प्रजापति को अनपत्यता के दोष से मुक्त करने आईं। नहीं राजा का इनसे गहरा सम्बन्ध है अतः उसके साथ यह सम्बन्ध इस व्यवहार से बतलाया गया है। जैसे पुत्रियां पालनीय हैं वैसे राजा को इन सभा और समिति को पालनीय समझना चाहिए, यह भाव इस मंत्र में दिखलाया गया है। इन पूर्वोक्त प्रमाणों से जड़ों में भी पिता पुत्र के व्यवहार का होना पाया जाता है। केवल चेतन में ही नहीं। तथा ऐसे व्यवहारों से पूर्वोक्त ऋषिवाचक नाम व्यक्तिविशेष नहीं अपितु सृष्टि पदार्थों के नाम सामान्य ही सिद्ध होते हैं इत्यादि बातों पर प्रकाश डालकर अब इस बात पर विचार किया जाता है कि ये नाम फिर लोक में व्यक्तियों के क्यों पड़े? जहाँ तक इस प्रश्न का सम्बन्ध है उत्तर में यह कहा जा सकता है कि वेदों से ही लेकर ये नाम रखे गए। वेदों में आये अंगिरा आदि नामों को लेकर ही लोगों ने लोक में व्यक्तियों के नाम रखे। आज भी लोक में लोग अपने पुत्रों के नाम राम और कृष्ण आदि रखते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि ये सभी वही राम और कृष्ण हैं जो कि दशरथ पुत्र या महाभारत वाले कृष्ण हैं। जैसे लोक में यह व्यवहार किया जाता है वैसे ही वेदों से अंगिरा आदि नाम लेकर व्यक्तियों के नाम रखे गए। न कि इन व्यक्तियों का नाम वेदों में वर्णन किया गया। ऋग्वेद में 'मृगो न भीमः' ऐसा पाठ आया है। आज कल बहुतों का नाम भीम है; यदि सभी ये कहें कि मेरा भी नान वेद में आया है तो जैसे यह बात युक्तसङ्गत नहीं वैसे ही अंगिरा, मनु आदि विषयक बातें भी समझनी चाहिए। सृष्टि के प्रारम्भ में वेदों के शब्दों से पदार्थों के नाम रखे जाते हैं। इसी प्रक्रिया का अनुकरण लोक में भी होता है कि लोग अपने पुत्रों आदि का नाम रखते समय वेदों से ही नामों को लेकर नाम रख देते हैं। इससे यह नहीं हो सकता कि वेदों में इनका ही नाम आया हुआ है। मनु महाभारत[1] आदि ग्रंथ इस विषय का प्रमाण देते हैं कि वेदों से नाम लोगों के रखे गए। ये लौकिक नाम जो वेदों में मालूम पड़ते है वे वेदों से रखे हुए हैं न कि इन अनित्य व्यक्ति-विशेषों का नाम वेद में है। वेदान्तदर्शन[2] में वेदों की नित्यता सिद्ध की गई है। वहाँ पर इन नामों को ही पूर्वपक्ष में रखकर उसका समाधान किया गया है और सिद्ध किया गया है कि ये नाम अनित्य व्यक्तियों के नहीं। स्वामी शङ्कराचार्य ने इन सूत्रों पर विशेष प्रकाश डाला है और महाभारत आदि के प्रमाणों से इस पक्ष की पुष्टि की है। इस विषय का विस्तार मैंने अपनी लिखी सामवेद के भाष्य की भूमिका में वेद-नित्यता प्रकरण में दिया है। पाठक वहाँ पर ही देखें। मीमांसा[3] में

१—सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे। मनुः १।२१
नामरूपे च भूतानां कर्मणाञ्च प्रवर्तनम्।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः॥ महाभारत शान्तिपर्व १२।२४।१५
ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः॥
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवेभ्यो ददात्यजः॥ महाभारत [शांकरभाष्य वेदान्त १।३।२८ में भी इसका उदाहरण दिया है।]
अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाप्र वृत्तयः॥

२—शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।
अत एव च नित्यत्वम्॥ [वेदान्तदर्शन १।३।२८-२९]

३—औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वेद के शब्दों पूर्वक सृष्टि का प्रतिपादन कर यह बतलाया गया है कि वेदों में जो नाम अनित्य व्यक्तियों के से दिखलाई पड़ते हैं वे वास्तव में अनित्य ऐतिहासिक व्यक्तिविशेष नहीं अपितु सामान्य[1] मात्र हैं। अर्थात् वेदों के नामों के समान ही लोक में वे नाम रख लिए गए हैं। इन लोक वाले नामों का वेदों में वर्णन नहीं। मीमांसा दर्शन के प्रथमाध्याय में विशेष रूप से इस पर विवेचन करके यह सिद्ध किया गया है कि ये नाम ऐतिहासिक व्यक्तिविशेषों के नाम नहीं। शवर स्वामी और भट्ट कुमारिल ने इस अध्याय के सूत्रों की व्याख्या करते हुए अनित्य व्यक्ति विशेषों के इतिहास का खण्डन कर वेदों में इस इतिहास का न होना और नामों का नित्य नाम सामान्य होना भली प्रकार सिद्ध किया है। शवर स्वामी ने लिखा है कि असद्[2] वृत्तान्त (जो हुआ नहीं अपितु कल्पित है) का अन्वाख्यान स्तुति द्वारा प्रशंसा के अभिप्राय से होता है। यदि कहा कि इससे वेद की अनादिता खण्डित होगी और वेद आदि वाला सिद्ध होगा तो यह ठीक नहीं क्योंकि प्रजापति आदि कोई अनित्य व्यक्तियां नहीं अपितु ये नित्य पदार्थ हैं। इसके अतिरिक्त वेद में जो सम्वाद[3] कहा जाता है वह गुणवाद से रुचि पैदा करने के लिए है सम्वाद गौण रूप में है। यदि पूछा जावे कि किस गौणता = सादृश्य को लेकर ये सम्वाद है तो उत्तर है कि जिस प्रकार अन्न प्रीति का साधन है इसी प्रकार यह सम्वाद भी प्रीति के साधनों की शक्ति से युक्त पदार्थ की प्रशंसा के निमित्त प्रीति के साधन शब्दों द्वारा कहा जाता है। इस प्रकार वेद में प्ररोचनार्थ गौण होता है। शवर स्वामी की यह आख्यान-प्रक्रिया यास्क से मिलती है। यास्क भी "प्रीतिभवति आख्यानसंयुक्ता" से इसी भाव को बतलाता है। शवर ने अपने इन विचारों से इतिहासवाद की मुख्य प्रक्रिया पर ही कुठाराघात कर दिया है। यदि इस पर भी इतिहासवादी अपनी मनमानी करें तो उनका दुःसाहस मात्र है। इसी बात की पुष्टि करते हुए फिर भी शवर स्वामी ने लिखा है कि वृत्तान्तों[4] का जो कथन वेद में दिखलायी पड़ता है वह वास्तव में किसी व्यक्ति विशेष का वृत्तान्त बताने के लिए नहीं अपितु प्रीति उत्पन्न के लिए है। इसी प्रकार कुमारिल भट्ट ने भी पूर्वोक्तसिद्धान्त का पोषण किया है। वह अपनी धारणा के अनुसार लिखते हैं कि कीकट[5] यद्यपि जनपदों को कहते हैं परन्तु वे कोई नाम विशेष नहीं अपितु नित्य हैं। अथवा सारे लोकों में स्थित कृपणों को कीकट समझना चाहिए। भट्ट कुमारिल

१—वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः। अनित्यदर्शनाच्च। उक्ति तु शब्द पूर्वत्वम्। आख्याप्रवचनात्। परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्। मीमांसादर्शन १।१।२७–३१।

२—असद्वृत्तान्वाख्यानं स्तुत्यर्थेन प्रशंसाया गम्यमानत्वात्। वृत्तान्ताख्यानेऽपि विधीयमाने आदिमत्तादोषो वेदस्य प्रसज्येत, नित्यः कश्चिदर्थः प्रजापतिः वायुः आकाशः आदित्यः स्यात्।

३—ननूक्तं असंवादो वेदे······गुणवादेन प्ररोचनार्थता गौणत्वात् ब्रूमहे। संवादः। किं सादृश्यं यथान्नं प्रीतेः साधनं एवमिदमपि प्रीतिसाधनशक्तियुक्तं प्रशंसितुं प्रशंसावाचिना प्रीतिसाधनशब्देनोच्यते।

४—वृत्तान्तान्वाख्यानं न च वृत्तान्तज्ञापनाय। किं तर्हि प्ररोचनायैव।

५—कीकटा नाम यद्यपि जनपदाः। तथापि नित्याः। अथवा सर्वलोकस्थाः कृपणाः कीकटाः। तंत्रवार्त्तिक।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ने इसी विषय के प्रसंग में प्रजापति और [1] उसकी दुहिता वाले इतिहास तथा इन्द्र और अहल्या वाले प्रकरण का उल्लेख कर इतिहास पक्ष को भली प्रकार निर्मूल कर दिया है। वह कहते हैं कि प्रजापति सूर्य का नाम है और उषा उसकी दुहिता के समान वर्णित है। इसी प्रकार अहल्या नाम रात्रि का है। जीर्ण करने वाला होने से उस आदित्य को जार कहा जाता है। यह कथा वास्तविक इतिहास की प्रतिपादिका नहीं अपितु औपचारिकी है। इस भांति यहां पर विविध प्रमाणों द्वारा पूर्वोक्त शंका का समाधान करते हुए अन्त में यह निर्णयपूर्वक कहा जाता है कि वेदों में आये ऋषियों के नाम सामान्य है व्यक्तिविशेष नहीं। ऋषि मन्त्रकर्ता नहीं अपितु मंत्र द्रष्टा होते हैं। नामों को वेद से लोक में रखा गया, लोक प्रसिद्ध नामों का वेद में वर्णन नहीं।

वेदों में राजाओं के नाम हैं ? इस पक्ष का निराकरण

इस के पूर्व प्रकरण में इतिहास वादियों के माने हुए द्वितीय वर्ग पर विशेष विवेचना की गयी। अब इस प्रकरण में उन के तीसरे वर्ग में आने वाले पक्ष पर विचार किया जाता है। यह पूर्व कहा गया है कि इतिहासपक्षी यह मानते हैं कि वेदों में महाभारत आदि इतिहासप्रसिद्ध राजावों का वर्णन है। उनके दान और युद्ध आदि व्यवहार भी मंत्रों में दिखालाये गये हैं। इतिहासवादी इस पक्ष को रखते हुए प्रमगन्द कुरुङ्ग, मुद्गल ऋषि, देवापि, शान्तनु आदि राजावों के नाम को उपस्थित करते हैं। उनका कहना है कि वेद में इन का इतिहास माना जाता है। आगे बढ़कर वे यह भी बल देते हैं कि ये तो थोड़े से नाम हैं इस तरह के अनेकों और राजावों के नाम वेदमत्रों में आये हैं। जहां तक इस पक्ष का सम्बन्ध है मैं थोड़ी सी पंक्तियां इस के निराकण में पाठकों के सामने प्रस्तुत करता हूँ। विस्तार से विचार करना तो यहां संभव नहीं, हाँ कुछ संक्षेप से यहां पर अवश्य किया जायगा। विस्तार से विचार तो वैदिक Index में आये नामों की, जिनमें ये भी सम्मिलित हैं समीक्षा और संगति करते हुए किया जायगा। लोक में यह नियम है कि जब मनुष्य को किसी बड़े विषय की परीक्षा करनी पड़ती है तो वह उस विषय के मुख्य भाग को ही अपनाता है और उसकी परीक्षा से शिष्ट भाग को परीक्षित समझता है। एक हण्डे में पकने वाले चावलों के पके हुए होने की परीक्षा सारे चावलों के एक एक करके पकने को देख कर नहीं की जाती अपितु दो एक चावलों को टटोल कर करली जाती है। इसी का नाम स्यालीपोलाकन्याय है। इसी न्याय का अनुसरण यहां पर मुझे भी करना पड़ेगा जिससे कि विषय बहुत बढ़ न जावे। इस नियम को लेकर यहाँ पर पूर्वोक्त नामों में से पहले नाम पर ही विचार केन्द्रित किया जाता है। यह प्रमगन्द पद जहां पर आया है वह ऋग्वेद

१—यत्तु प्रजापतिरुषसमभ्यैत् स्वां दुहितरमहल्यायां मैत्रेय्यां इन्द्रो जार आसीदित्येवमादिदर्शनादितिहासदर्शनाच्च शिष्टाचारेषु धर्मातिक्रमं पश्यद्भिः शिष्टाचारप्रामाण्यं दुरध्यवसानमिति । तत्रोच्यते..........प्रजापतिस्तावत् प्रजापालनाधिकारादादित्य एवोच्यते । स चारुणोदयवेलायामुषसमुद्यन्नभ्यैत् । सा तदागमनादेवोपजायत इति तद्दुहितृत्वेन व्यपदिश्यते । तस्यां चारुणकिरणाख्यबीजनिक्षेपात् स्त्रीपुरुषयोगवदुपचारः । एवं समस्ततेजाः परमैश्वर्यनिमित्तेन्द्रशब्दवाच्यः सवितैवाहनि लीयमानतया रात्रेरहल्याशब्दवाच्यायाः क्षयात्मकजरणहेतुत्वाज्जीर्यत्य-स्मादनेनेवोदितेनेत्यादित्य एवाहल्यायांजार इत्युच्यते न तु परस्त्रीव्यभिचारात् । तन्त्रवार्त्तिक—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

३।५३।१४ का स्थल है। इस में प्रमगन्द के धन के आहरण करने की बात दिखलायी गयी है। इस पद को लेकर इतिहासवादी बड़ा ही वावेला मचाते हैं। प्रसिद्ध इतिहाविद् R.C. Dutta ने भी इसका विशेष वर्णन अपनी पुस्तक Regvedic India में किया है। इसी को लेकर एक बौद्धधर्मी वोद्धानन्द नामी भिक्षु ने एक पुस्तक 'भारत के आदिवासी' में आर्यों को विदेशी उजड्ड और अनार्यों को इस देश का निवासी और उत्थान वाला होना सिद्ध करने की चेष्टा की है। ये इतिहास-पक्षी कहते हैं कि कीकट एक जनपद है। वह यह वर्तमान विहार देश है। इस में पालवंश में प्रमगन्द नाम का राजा हुआ। जिसको ही बुद्ध कहा जाता है। उसके धन और गायों के अपहरण की प्रार्थना इस मंत्र में की गयी है। इस को प्रमाणित करने के लिए इतिहासवादी प्रसिद्ध वैदिक यास्क और भागवत् का प्रमाण देते हैं। यास्कने[१] कीकट शब्द का अर्थ अनार्यवास किया है और भागवत[२] में कहा गया है कि "बुद्धो नाम्नाञ्जनसुतः" अर्थात् बुद्ध नाम का अंजनपुत्र कीकट में पैदा होगा। इस प्रमाण के बल पर इतिहासवादी अपना पक्ष सिद्ध करने का पूरा पूरा प्रयत्न करते हैं परन्तु इन प्रमाणों की अन्तःसाक्षियों पर विचार करने पर उनका अर्थ सिद्ध नहीं होता दिखायी पड़ता। यहां पर थोड़ा सा विचार इस दिशा में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। यास्क द्वारा दिये गये प्रमाण में "अनार्यनिवास" पद आया है। यह देशसामान्य है। कोई देशविशेष नहीं। यह स्थान सामान्य तो है परन्तु किसी एक स्थान का व्यक्तिवाचक नाम नहीं। जहां पर भी अनार्यत्वयुक्त लोग बसें वही अनार्यवास कहला सकता है। यास्क ने इस शब्द का प्रयोग वेदमन्त्रगत "कीकट" पद की व्याख्या में प्रस्तुत किया है। जब यह अर्थ-द्योतक "अनार्यनिवास" शब्द सामान्य है तो इसका तात्पर्य यह है ही कि "कीकट" शब्द भी यास्क की दृष्टि में सामान्य है। कोई देश विशेष नहीं। एक बात और भी यहां पर स्मरण रखने की है कि "कीकट" शब्द की यास्क ने निरुक्ति की है। वह अपने निरुक्त ६।३२ स्थल पर कहता है। "कीकटा नाम देशो ऽ नार्यनिवासः। कीकटा किं कृताः किं क्रियाभिरिति प्रेप्सा वा॥" अर्थात् कीकट अनार्यनिवास का नाम है। क्योंकि किंकृताः हैं अर्थात् वहां पर उत्तम कर्मों का क्या लाभ है? कोई नहीं—ऐसा मानने वाले व्यक्तियों का निवास। यदि वस्तुत यह "कीकट" पद व्यक्तिवाची नाम होता तो यास्क कभी भी इसकी निरुक्ति न करता। व्यक्तिवाचक नामों की निरुक्ति का कोई अर्थ नहीं। यहां पर लोग यह कह सकते हैं कि यास्क के इन वाक्यों में "नाम" पद पड़ा है। परन्तु उन्हें मालूम होना चाहिए कि नाम शब्द निश्चय आदि का भी द्योतक है। निरुक्त की प्रक्रिया में कर्म, नाम और उपेक्षा शब्द के अर्थ क्रमशः अर्थ, सामान्यसंज्ञा, और परीक्षा हैं। यास्क पदजात को नाम से व्यवहृत करता है। इसी प्रकार यास्क का "गतिकर्मा" शब्द "गत्यर्थक" का बोधक है। एतेनोपेक्षितव्यम् का अर्थ "इससे-परीक्षा करनी चाहिए" है। और यहां पर तो अव्यय नाम शब्द का प्रयोग है।

"प्रमगन्द" भी कोई व्यक्ति नहीं। यह भी सामान्यशब्द है। यह किसी व्यक्ति का वाचक व्यक्तिवाची नाम नहीं। इससे पालवंशीय किसी विशेष राजा की कल्पना करना सुतराम् अनुचित है। यास्क इसी स्थल पर प्रमगन्द शब्द की निरुक्ति करते हुये लिखता है—

१—कीकटा नाम देशोऽनार्यनिवासः—निरुक्त ६।३२

२—ततः कलौ संप्रवृत्ते संमोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्नाञ्जनसुतः कीकटेषु भविष्यति॥ भागवत १।३।२४

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"मगन्दःकुसीदी। मांगदो मामागमिष्यतीत च ददाति तदपत्यं प्रमगन्दोऽत्यन्त कुसीदिकुलीन :। प्रमदको वा योऽयमेवास्ति लोको न पर इति प्रेप्सुः । पण्डको वा। पण्डकः पण्डगः प्रार्दको वा प्रार्दयत्याण्डावाण्डावाणी इव व्रीडयति तस्तम्भे। यास्क की इस निरुक्ति से "प्रमगन्द" शब्द "ब्याजखोर" अथवा अत्यन्त व्याजखोर और कृपण के अर्थ को देने वाला स्पष्ट रूप में प्रकट हो रहा है। क्योंकि वह यहां पर लिख रहा है। कि "प्र" पद अपत्य का वाचक है। मुझको अधिक ब्याज आवे इस दृष्टि से धन देने वाले को "मगन्द" कहा जाता है। अतः अत्यन्त कुसीदेकुलीनः इसका तात्पर्य हुआ। प्रमगन्द का दूसरा अर्थ यास्क दृष्टि से नास्तिक होगा। इसको जताने के लिए यास्क कहता है कि जिसकी इस लोक के अतिरिक्त कोई परलोक नहीं है ऐसी धारणा है वह प्रमगन्द है। यास्क की इस व्याख्या से यह सिद्ध होता है कि प्रमगन्द भी कोई राजा विशेष नहीं है। निरुक्त के टीकाकार[1] दुर्ग और स्कन्द स्वामी भी "कीकट" और "प्रमगन्द" पद की ऐसी ही व्याख्या करते हैं। और तो और सायण[2] ने भी ऋग्वेद ३।५३।१४ की व्याख्या करते हुये "कीकट" पद का ऐसा ही अर्थ किया है। स्कन्द से भी प्राचीन आचार्य वररूचि ने[3] भी यास्क के अनुसार ही अर्थ किया है और स्पष्टरूप में यास्क की प्रक्रिया को स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में "कीकट" और "प्रमगन्द" को व्यक्तिवाचक नाम मानकर इतिहास का भव्य प्रासाद खड़ा करना केवल मनःप्रसूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं यास्क[4] के अनुसार

१—किं क्रियाभिः इति एवं प्रेप्सा ते नास्तिका एवमभिप्राया इत्यर्थः—(दुर्गाचार्यः) = यागदानादिभिः किम्, कृताभिः किम् पिबतखादतेत्येवंप्राया एव प्रेप्सा प्रेक्षा येषां ते अश्रद्दधाना नास्तिकाः किंक्रियाः सन्तः कीकटाः।

२—कृताभिर्यागदानहोमलक्षणाभिः क्रियाभिः किं फलिष्यतीत्यश्रद्दधानाः प्रत्युत पिबतखादतायमेव लोको न पर इति वदन्तो नास्तिकाः कीकटाः। (सायणः)

३ —कीकटाः किंकृताः किमर्थंमेत उत्पादिताः सन्त इति। किमः करोतेश्च वर्णव्यापत्त्यादिना कीकटाः। अथवा क्रियाभिरिति दीनाः कीकटाः उच्यन्ते। क्रियाशब्दादुत्तरपदमिति भेदः.................. प्रमगन्दस्य मगन्दः कुसीदी मा समेष्यति वृद्ध्या वृद्धो धनराशिरिति यो ददाति स वार्धुषिको प्रकर्षेणाऽस्मानमेव यो मादयति नातिथ्यादीन् नास्तिकः स प्रमगन्दः।

४—किं ते कुर्वन्ति कीकटेषु गावः। कीकटा नाम देशोऽनार्यनिवासः। कीकटाः किंकृताः किं क्रियाभिरिति प्रेप्सा वा। नैव चाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मं हर्म्यमाहर नः प्रमगन्दस्य धनानि। मगन्दः कुसीदी मांगदो मामागमिष्यतीति च ददाति तदपत्यं प्रमगन्दोऽत्यन्तकुसीदिकुलीनः। प्रमदको वा योऽयमेवास्ति लोको न पर इति प्रेप्सुः। पण्डको वा पण्डकः पण्डगः प्रार्दको वा प्रार्दयत्याण्डावाण्डावाणी इव व्रीडयति तस्तम्भे। नैचाशाखं नीचाशाखो नीचैः शाखः। शाखा शक्नोतेः। आणिररणात्। तन्नो मघवन् रन्धयेति रध्यतिर्वशगमने। निरुक्त ६।३२।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"कीकट" और "प्रमगन्द" शब्दों वाले ऋग्वेदीय मंत्र का अर्थ निम्न प्रकार है—किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्। आनो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैशाखं मघवन् रन्धया नः। ऋ० ३।५३।१४–हे इन्द्र (राजन्) खाने पीने आदि में तल्लीन भोगपरायण जनो, अनार्यों—नास्तिकों अथवा करने धरने खाने पीने से क्या काम ऐसे कृपण लोगों अथवा उत्तम कामों में और उपयोग में न लाने वाले लोगों के स्थानों में गायें तेरे लिए किस लोकहित की सिद्धि करती हैं—कुछ भी नहीं। न तो वे लोकहितार्थ दूध ही देती हैं और न उनका घृत ही यज्ञ को प्रदीप्त करता है। ऐसे सूदखोर अथवा ब्याज के लालची मनुष्य के धन को उत्तम कार्यों को सिद्ध करने के हेतु परमार्थी मनुष्यों के लिए छीन ले। नीचकर्म में प्रवृत्त के धन को हम उत्तम कर्म वालों को दे। वररुचि ने[1] इस मन्त्र का अर्थ इस रूप में दर्शाया है—हे इन्द्र (राजन्) क्यों वे स्वयं पैदा किये गयें हैं? इस को न जानने वाले अथवा उत्तम कर्मों से रहित, ये (गौ) आदि पदार्थ किस उपयोग के लिऐ पैदा किये गये हैं, इसको न समझने वाले लोगों में गायें उनका कौन-सा हित सिद्ध करती हैं—कुछ भी नहीं। न दूध ही देती हैं और न यज्ञ के लिए धन ही उत्पन्न करती हैं। जैसे इनसे आपका प्रयोजन नहीं सिद्ध होता है वैसे ही ब्याजखोर अथवा नास्तिक के धन से भी कोई लोकहित नहीं सिद्ध होता है। अतः उसके धन का हरण कर हमें जनहित के लिए दे। निकृष्ट वृत्ति वाले अथवा ज्ञान-विज्ञान के उपयोग में न लाने वाले के धन को लोकहितार्थ हमें दे। वैसा ही यह धर्म वचन भी है—योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय—इत्यादि। इसके अतिरिक्त इसी स्थल पर स्कन्द ने अपने निरुक्त भाष्य में कीकट शब्द का (—"कृपणा वा कीकटाः"—) कृपण अर्थ भी किया है। मेदिनी कोष में भी ऐसा ही लिखा है ("कीकटाः कृपणाः") यास्क और वररुचि के अर्थों से यह भावना भी निरस्त हो जाती है कि वेद में अनार्यों के धन को हरण करके आर्यों को देने का इतिहास मिलता है। वस्तुतः यहां पर किसी इतिहास का वर्णन नहीं है बल्कि

---

१ – किं ते तव कृण्वन्ति कुर्वन्ति कीकटेषु गावः "कीकटाः किंकृताः" किमर्थमेत उत्पादिताः सन्त इति। किमः। कोरोतेश्च वर्ण व्यापत्यादिना कीकटाः। अथवा क्रियाभिरिति हीनाः कीकटाः क्रियाशब्दादुत्तरपदमिति भेदः। तेषां गावः। कुतः? यतः वा दुह्रे, अशिरमिति कारणस्य कार्यव्यपदेशः। तत्कारणभूतं पयो न दुहन्तीत्यर्थः। किं च न तपन्ति घर्मम् तपिरत्रान्तर्णीतण्यर्थः। न तापयन्ति नोऽवलयन्ति घर्मं, प्रवर्गे विनियोगं [न] गच्छन्ति इत्यर्थः। यथा तैस्ते प्रयोजनं नास्त्येवं प्रमगन्दस्य वेदः आ नो भर अस्माकमाहर। प्रमगन्दस्य मगन्दः कुसीदी मां समेष्यति वृद्ध्या वृद्धो धनराशिरिति यो ददाति स वार्धुषिको मगन्द उच्यते। तस्यापत्यं प्रमगन्दः प्र अपत्यार्थे प्रकण्व इति यथा प्रमगन्दको वा प्रकर्षेणाक्रमानमेव यो मादयति नातिथ्यादीन् नास्तिकः स प्रमगन्दः; तस्य वेदो धनम्। किं च नैचशाखम् नीचा निर्गतास्त्यक्ता ऋचादयः शाखा उच्यन्ते। नीचा शाखा तेषां स्वभूतं नैचशाखम्, तदपि हे मघवन्! इत्यशास्महे। रन्धय रन्धतिर्वशगमने नः आस्माकम्, तदप्यस्मद्वशं गमय। तथा ह्यवस्थितं धर्मवचनम्—"योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय इत्यादि अतो यष्टॄणामास्मकमयष्टॄणां धनमाहर।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

राजा के द्वारा सूदखोरों और कुवृत्ति वाले लोगों के धन को लेकर लोकहित के कार्यों में लगाने का वर्णन है। यास्क के प्रमाण ने इस परिणाम पर पहुँचा दिया कि इतिहासवाद कोरी कल्पना और अतथ्यभूत बात है।

रही बात भागवत के प्रमाण की ? वह भी अप्रामाणिक होने से ठीक नहीं। भागवत में ऐसी बहुत सी अनर्गल कल्पनायें पायी जाती हैं जिनका कोई सिर पैर नहीं। यदि सबको प्रामाणिक मान जावे तो संसार में अनर्थ फैल जावे। भागवत कोई प्रामाणिक ग्रन्थ भी नहीं है। दूसरी बात यहां पर यह भी है कि भागवत के द्वारा वैदिक साहित्य की उपर्युक्त उक्तियों को अप्रमाणित नहीं सिद्ध किया जा सकता।

इस प्रसंग में दूसरा नाम "कुरुङ्ग" का लिया जाता है। ऋग्वेद ८।४।१९[1] वे मंत्र में "कुरुङ्ग" पद आया है। इतिहासपक्षी इस "कुरुङ्ग" से ऐतिहासिक व्यक्तिविशेष का नाम ग्रहण करते हैं। वे यास्कीयनिरुक्त[2] (७।१२) का प्रमाण—कुरुङ्गो राजा बभूव—अपने पक्ष की पुष्टि में उद्धृत करते हैं। उनका कथन है कि यहां पर "बभूव" भूतकालिक क्रिया है और उसके प्रयोग से यह मालूम पड़ता है कि यास्क "कुरुङ्ग" को ऐतिहासिक व्यक्ति मानता है।

यास्क के वचन पर और मूल मंत्र पर विचार करके यहां पर वास्तविक तत्व का निर्णय किया जाता है। यास्क ने जो "बभूव" क्रिया का प्रयोग किया है उसके निम्न समाधान हो सकते हैं—

१—यास्क ने "बभूव" का प्रयोग "भवति" वर्तमान के अर्थ में किया है—क्योंकि अन्यत्र स्थलों में उसने भवति क्रिया का ही प्रयोग किया है यथा—ऋषिः कुत्सो भवति नि० ३।१।, नोधा ऋषिर्भवति नवनं दधाति—नि० ४।१६; च्यवन ऋषि र्भवति—निरु० ४।२०

२—यहां पर प्रीतिर्भवति आख्यानसंयुक्ता—अर्थात् आख्यान की कल्पना करके प्रीत्यर्थ नित्य अर्थ को इतिहास के रूप में समझाने की दृष्टि से इति+ह+आस (इतिहास) के भाव को लेकर "बभूव" क्रिया पद का प्रयोग किया गया है। जब अर्थ को दिखलाने के लिए इतिहास कल्पित कर लिया गया तो उस कल्पित इतिहास को दिखलाते हुए भूतकाल का प्रयोग किया गया।

३—यदि यास्क को भूतकाल के प्रयोग से व्यक्ति-विशेष "कुरुङ्ग" का इतिहास दिखलाना अभीप्रेत होता तो वह कुरुङ्ग की निरुक्ति न करता। क्योंकि सामान्य नाम की निरुक्ति का तात्पर्य हैं व्यक्ति विशेष नाम की नहीं।

४— इस मंत्र का मुख्य देवता इन्द्र है। इन्द्र का अर्थ कुरुङ्ग तो हो नहीं सकता यदि उसे व्यक्तिवाचक नाम मान लिया जावे। हाँ इन्द्र का अर्थ साधारण राजा हो

१—स्थूरं राधः शताश्वं कुरुङ्गस्य दिविष्टिषु।
राज्ञस्त्वेषस्य सुभगस्य रातिषु तुर्वशेष्वमन्म हि॥ ऋ० ८।४।१९

२—कुरुङ्गो राजा बभूव कुरु गमनाद्वा कुलगमनाद्वा। नि० ७।१२

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सकता है जो सामान्य नाम है। सर्वानुक्रमणी में भी इस सूक्त का मुख्य देव इन्द्र ही माना गया है। यदि इन्द्र जो प्रतिपाद्य विषय है उसके द्योतक मंत्रस्थ "राज्ञः" पद को लिया जावे तो देवता के अर्थ को बताने वाला राज्ञः पद सामान्य राजा परक हुआ। ऐसी स्थिति में कुरुङ्ग राज्ञः का विशेषण तो बन सकता है, जैसा कि मंत्र की रचना से ही ज्ञात होता है, परन्तु वह विशेष्य के रूप में व्यक्तिवाचक नाम नहीं बन सकता यदि व्यक्तिवाची नाम बन जावे तो फिर इन्द्र मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय है—यह घट नहीं सकेगा। विशेषण और यौगिक मान कर यास्क की निरुक्ति भी सार्थक होती है अन्यथा नहीं। सर्वानुकमणी ने गौण देवता के रूप में इसका देवता "कुरुङ्गस्य दानस्तुतिः"—कुरुङ्ग की दान स्तुति कहा है। यह गौण देवता गुण के कारण है। यदि इस गौण देवता पक्ष में "कुरुङ्ग" पद इन्द्र रूपी मुख्य देवता का ही गौण नाम है तो फिर इतिहास पक्ष खड़ा नहीं होता है। यदि यह गौण देवता गुण से कल्पित कर लिया गयाहै किन्तु व्यक्तिवाची नाम है तो फिर यह देवता नहीं बन सकता और इन्द्र का स्थान-भाग् गौण नाम नहीं हो सकता। क्योंकि देवतावाची शब्द को तीनों प्रक्रियावों में संगत होने वाले अर्थों का पति होना चाहिए। कोई भी व्यक्ति-वाची नाम वेद मन्त्र का देवता नहीं बन सकता। ज्ञात यह होता है कि आख्यान की प्रीति से याज्ञिकों ने राजावों की दान-स्तुति के प्रतिपादन के लिए मन्त्रगत "कुरुङ्ग" पद नित्येतिहासज्ञापक नाम कल्पित कर लिया। उसी कल्पना के आधार पर सर्वानुक्रमणीकार ने सूक्त का मुख्य देवता इन्द्र होते हुये भी गौण देवता "कुरुङ्ग" की दानस्तुति नियत कर लिया। नित्येतिहास की परिकल्पक देवता की कल्पना को ध्यान में रख कर ही स्यात् यास्क ने "बभूव" क्रिया का प्रयोग किया है। सर्वा[1]नुकमणीकार लिखता है कि "बहुधा इन्द्र देवता वाले मन्त्रों में मरुत् और सामान्य राजावों की दानस्तुतियों के वर्णन गौणरूप में आजाते हैं। यह वर्णन भी इस पूर्वोक्त विषय को सिद्ध करता है। अतः "कुरुङ्ग" कल्पित नाम है किसी राजा विशेष का नाम नहीं।

मूल मन्त्र पर विचार करने पर यह सहज में भासित होने लगता है कि 'कुरुङ्ग' कोई राजा विशेष नहीं है। वह "राज्ञः" का विशेषण है। "कुरुङ्ग" राजा को इसलिए कहा गया है कि वह राजगद्दी पर बैठने और यज्ञ आदि कार्यों के करने में "कुरु" अर्थात् ऋत्विजों को प्राप्त करता है और कुलानुक्रम से आता है अथवा शत्रु कुल प्रर विजय करने की कामना रखता है। यहां पर स्मरण रहे कि निघंटु ३।१८ में कुरु पद ऋत्विक् नाम में पढ़ा गया है। यास्क की निरुक्ति इसी पर प्रकाश डालती है। यास्क के पक्ष का समर्थन सभी निरुक्त-भाष्यकारों ने किया है। राजा की दान स्तुति को प्रतिपाद्य विषय मान कर इस कल्पित नित्य इतिहास की प्रक्रिया के अनुसार इस प्रस्तुत और अगले दो मन्त्रों की अर्थसंगति यहां पर लगा दी जाती है।—

---

[1] प्रायेण—ऐन्द्रे मरुतः राज्ञां च दानस्तुतयः। सर्वा० ऋ० ८।२४

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

(१) स्थूरं राधः शताश्वं कुरुङ्गस्य दिविष्टिषु ।
राज्ञस्त्वेषस्य सुभगस्य रातिषु तुर्वशेष्वमन्महि ॥

ऋ० ८।४।१९

(त्वेषस्य सुभगस्य कुरुङ्गस्य राज्ञः) तेजस्वी, ऐश्वर्य शाली एवं ऋत्विजों द्वारा राजसूय यज्ञ पूर्वक स्थापित कुल परम्परा से राज्यपद को चलाने वाले राजा की (दिविष्टिषु-रातिषु) दिव्य भावनावों को व्यक्त करने वाली दानक्रियावों में (शताश्वं स्थूरं राधः) सौ घोड़ों से युक्त धन को मनुष्यों के मध्य प्राप्त करते हैं। "तुर्वश" पद निघुण्टु २।३ में मनुष्य अर्थ में पढ़ा गया है।

(२) धीभिः सातानि काण्वस्य वाजिनः प्रियमेधैरभिद्युभिः ।
षष्टिं सहस्रानु निर्मजामजे निर्यूथानि गवामृषिः ॥ ऋ० ८।४।२०

(अभिद्युभिः प्रियमेधैः धीभिः अनु सातानि) उज्ज्वल ज्ञानमय कर्मों के अनुसार दिये गये (काण्वस्य वाजिनो निर्मजां गवां षष्टिं सहस्रा यूथानि) बुद्धिशाली बलवान् धनी राजा के निर्दोष गायों के साठ सहस्र यूथों अर्थात् अधिक गायों के समूह को (ऋषिः निरजे) वेदज्ञ विद्वान् प्राप्त करता है। कण्व निघण्टु में मेधावी अर्थ में पठित है और प्रियमेध की व्याख्या निरुक्त ३।१७ पर यास्क और स्कन्द आदि भाष्यकारों ने यौगिक अर्थ में किया है।

(३) वृक्षाश्चिन्मे अभि पित्वे अराराणुः ।
गां भजन्त मेहनाश्वं भजन्त मेहना ॥

ऋ० ८।४।२१

(वृक्षाश्चित् अभिपित्वे अराराणुः) वृक्ष तक मेरे इस महान् दान प्राप्ति के विषय में ध्वनित कर रहे हैं कि (मेहना गां भजन्त मेहना अश्वं भजन्त) उत्तम गायों को प्राप्त करो और उत्तम घोड़ों को प्राप्त करो।

यह मंत्रार्थ पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार है। अधिदैव और अध्यात्म में इस के और भी अर्थ होंगे। इस प्रकार निरुक्त और मंत्रार्थ दोनों से यह स्पष्ट हो गया कि कुरुङ्ग कोई व्यक्ति-विशेष नहीं। सामान्य पद है और "राज्ञः" पद का विशेषण है। प्रीतिवश उससे नित्य इतिहास की कल्पना ली जाती है।

यहाँ पर कई लोग यह कहते हैं कि निरुक्तकार की निरुक्तियों का सहारा लेकर सभी वैदिक शब्दों को यौगिक मानकर वेदार्थ करना ठीक नहीं। निरुक्ति एवं व्युत्पत्ति मात्र से कोई शब्द किसी निश्चित अर्थ को देने वाला नहीं हो जाता। अन्यच्च शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तम् अन्यच्च प्रवृत्ति-निमित्तम्—शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त और है उनसे होने वाली प्रवृत्ति का निमित्त और है। इस प्रकार यास्क का काम निर्वचन करना हैं अर्थ तो शब्द का नियत होता है। "श्मशान" का अर्थ यास्क ने शरीरशयन किया है। यदि यौगिक प्रक्रिया मानें तो विस्तर का अर्थ भी श्मशान करना पड़ेगा। परन्तु श्मशान मुर्दे जलाने की जगह का नाम है। इसी प्रकार 'सप्त' का अर्थ यास्क ने बड़ी संख्या किया है। परन्तु निर्वचन को ही यदि अर्थ माना जावे तो फिर आठ को भी सात ही कहना

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

चाहिए परन्तु ऐसा नहीं। इसलिए निर्वचन से अर्थ में अन्तर नहीं आता। धनपति का अर्थ धन का मालिक है परन्तु बोध उसी का होता है जिसका वह नाम है। इसी प्रकार क्या "हस्तो हन्तेः" से बन्दूक और तलवार आदि का नाम हस्त ही मान लें। यह एक प्रधान दोष इस यौगिक निरुक्तिवाद में आवेगा कि उसमें अर्थ का नियन्त्रण नहीं। बिना नियन्त्रण के किस विषय का प्रतिपादन मन्त्र कर रहा है—यह ज्ञान नहीं हो सकता।

यहाँ इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हुये यह कहना अनुचित न होगा कि ये पूर्वपक्षी निरुक्ति और व्युत्पत्ति को एक समझ रहे हैं। वस्तुतः व्युत्पत्ति और निरुक्ति में भेद है। व्युत्पत्ति में प्रवृत्ति निमित्त भिन्न हो सकता है परन्तु निरुक्ति में नहीं। व्युत्पत्ति व्याकरण-शास्त्र का विषय है और निरुक्ति निरुक्तशास्त्र का। यदि दोनों एक ही होते तो षडङ्गों में निरुक्त और व्याकरण को अलग अलग अङ्ग न माना जाता। वस्तुतः निरुक्तशास्त्र व्याकरण की पूर्णता का शास्त्र है। यह वह विज्ञान है जो व्याकरण की न्यूनता का पूरक है। इसीलिए यास्क ने भी निरुक्त के उद्देश्यों में "व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्" पद का प्रयोग किया है। निरुक्ति विषय निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थों का है जो स्वयं एक समुन्नत विज्ञान है। यदि इस आक्षेप को मान लिया जावे कि यौगिक शब्दों में अर्थ का नियन्त्रण नहीं होता तो प्रश्न होगा कि व्याकरण शास्त्र में भी तो यौगिक शब्द होते ही हैं—फिर वहाँ पर अर्थनियन्त्रण कैसे होता है। यदि वहाँ पर अर्थनियन्त्रण हो सकता है तो सभी वैदिक शब्दों में भी अर्थनियन्त्रण हो सकेगा। अथवा फिर पूर्वपक्षियों को यह घोषणा कर देनी चाहिए कि सारे शब्द केवल रूढ़ ही हैं। कोई बोल सकता है कि आसत्ति, योग्यता, आकांक्षा आदि के बल से अर्थ में नियन्त्रण हम कर लेते हैं। इसका उत्तर यह होगा कि ये नियम क्या आपके ही यहाँ लागू हो सकते हैं अन्यत्र नहीं। लक्षणावृत्ति रूढ़ में लागू हो सकती है परन्तु अभिधा, अभिधामूला व्यंजना और तात्पर्याख्या वृत्ति से भी तो अर्थों का बोध होता है। वेद शब्दों का अर्थ के साथ अभिधेय सम्बन्ध है अतः सभी अर्थ अभिधा वृत्ति से ही ज्ञात हो जाते हैं।

यदि प्रवृत्तिनिमित्त को ही प्रधान मान लिया जावे तो फिर मिट्टी की गाय बनावो, सोने की गाय बनावो आदि में गाय की कौन सी प्रवृत्ति पाई जाती है। इनमें फिर "गो" पद का व्यवहार किस प्रकार हो सकेगा। इसके अतिरिक्त किसी शब्द के अनेकार्थ और श्लेष कैसे सम्भव हो सकेंगे। विस्तर को "श्मशान" इसलिए नहीं कहा जाता कि उस पर आत्मायुक्त शरीर सोता है। परन्तु श्मशान में केवल शरीर शयन करता है—इसलिए उसे शरीर-शयन कहा गया है। गणित-शास्त्र में सब से छोटी संख्या एक है और सबसे बड़ी संख्या नव है। दश के बाद दोहरी अदद प्रारम्भ होती है और वह इन्हीं नव तक की संख्याओं में होती है। एक से नव तक की संख्याओं में एक "इता" संख्या है क्योंकि यह दो आदि में मिली हुई है। वैसे भी सब से पूर्व ज्ञात और सर्वाधिक छोटी एवं प्रसिद्ध संख्या होने से इसका यास्क द्वारा "इता" कहा जाना ठीक ही है। इसी प्रकार "दो" को "द्रुततरा" संख्या कहना भी ठीक है क्योंकि एक के पहाड़े में तो संख्यायें बदलती नहीं—दो के पहाड़े में बदलती जाती हैं। तीन को 'तीर्णतमा" कहना इसलिए ठीक है कि एक का सीधा योग संख्या-निर्माण में तीन पर समाप्त होता है। एक एक दो और पुनः एक तीन होता है। यह बात चार के लिए नहीं है क्योंकि दो और दो मिलाकर भी चार बनाया जा सकता है। इसलिए उसे "चलिततमा" संख्या कहा गया है। यह तीन की अपेक्षा चलित है। क्योंकि यह पहाड़े की

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दृष्टि से भी चलित है और त्रिक की दृष्टि से चलना यहीं से प्रारम्भ होता है। एक से नौ तक में तीन त्रिक बनते है। तीन पर त्रिक तीर्ण = समाप्त होता है। चार से पुनः दूसरा त्रिक चालू हो जाता है अतः वह चलिततमा है ही। पाँच "पृक्ततमा" संख्या यास्क-दृष्टि में इसलिए है कि यह सब लिङ्गों में एक सी है। इसमें स्त्री लिंग पुल्लिग और नपुंसक लिंग में कोई अन्तर नहीं पड़ता। कोई कहे कि यह बात छः, सात, आठ और नव में भी घटती है—क्योंकि इनमें भी लिंगभेद नहीं होता। इसका समाधान यह है कि पांच हर विषम संख्या के पहाड़े में अपने स्वरूप को रखे रहता है। इसलिए वह पृक्त है। दूसरी संख्याओं में यह बात नहीं पायी जाती। षट् संख्या को यास्क ने सह् धातु से बनाया है, जिसका अर्थ होगा कि यह "सहमानतमा" संख्या होगी। यह भी ठीक हैं क्योंकि यह दो से भी कटती है और तीन से भी कटती है। दो तीन को षट् कहा जा सकता है और तीन दो को भी षट् कहा जा सकता है। सप्त को यास्क सृप्ता संख्या कहता है। यह बढ़ी हुई संख्या है। वस्तुतः यहाँ भी यास्क ठीक ही है क्यों कि संख्या के बढ़ने का नियम सप्त पर ही आकर समाप्त होता है। नव तक जितनी सम संख्यायें हैं वे दो, तीन और चार से विभक्त हो जाती हैं और उनके पहाड़ों से इन का बनना बन सकता है। परन्तु विषम संख्याओं एक, तीन, पांच और सात्त तथा नव में नव भी तीन से बँटता है और तीन तीन का नव बन जाता है। आठ चार दो और दो चार का भी बन सकता है। यह बात सप्त में नहीं पायी जाती। अतः तीन, पांच और सात तक जो बढ़ने का नियम चला आ रहा था उस की अन्तिम स्थिति सात पर आकर पूर्ण होगई। इस लिए वह सृप्ता संख्या कहा गया।। यास्क को इस प्रकार सप्त की निरुक्ति इसलिये भी करनी पड़ी और ठीक ही करनी पड़ी कि "सप्त रश्मयः" आदि पदों में विशेषण के भाव से—सात प्रकार की अथवा सप्तसंख्या की सूर्य किरणें और सर्पणशील सूर्य किरणे आदि भिन्न अर्थ निकल सकें। इन दोनों अर्थों में विज्ञान टपकता है। सूर्य की किरणें सात है। यह भी विज्ञान का तथ्य है और किरणें सर्पणशील हैं, यह भी वैज्ञानिक तथ्य है। निरुक्ति का प्रभाव है कि 'सप्त' पद ने दो वैज्ञानिक तथ्यों पर पहुँचाया। 'अष्ट' को यास्क ने सात की अपेक्षा व्यापक बताया है और इसीलिए "अशूङ् व्याप्तौ" से इसकी निरुक्ति की है। सात किसी से बँटता नहीं। परन्तु आठ दो से और चार से बँटता है। अतः वह सात की अपेक्षा अधिक व्यापक है। नव को यास्क ने न वननीया और न अवाप्ता संख्या कहा' यह भी ठीक ही कहा है। क्योंकि वह बड़ी संख्या है और अपने प्रत्येक पहाड़े की संख्याओं के जोड़ में बनी रहती है अतः वह वननीय नहीं। परन्तु किसी संख्या के साथ उसे जोड़ा जावे तो वह ऐसी मिल जाती है कि उसका अपना पता तक नहीं चलता। दश दस्ता संख्या इस लिए है कि वहाँ पर संख्या का अन्त है, उसके बाद वहीं संख्ायें पुनः आती जाती हैं। इसीलिए यास्क ने इसे दृष्टार्था भी कहा है। इसी प्रकार यह भी ग़लत है कि धनपति केवल जिसका नाम है उसी को कहा जाता है। प्रत्येक धनवाले को भी लोक में धनपति कहा जाता है। यह सामान्य रूप से धनिक के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। बन्दूक और तलवार आदि को हस्त इसलिए नहीं कहा जाता क्योंकि ये मारने वाले नहीं, मारने के साधन हैं। मारना क्रिया का सम्बन्ध हाथ से है अतः हाथ ही अर्थ लिया जाना चाहिए। यदि प्रवृत्ति को ही निमित्त माना जावे तो "जघन" शब्द की हिंसार्थक हन् धातु से सिद्धि बन सकने से गत्यर्थक हन् से क्यों निष्पन्न किया जाता है। इसी व्युत्पत्तिनिमित्त की युक्ति को यदि मान

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

लिया जावे तो फिर आग, बर्तन और चावल आदि सभी को पाचक कहा जावे। यदि नहीं तो फिर बन्दूक और तलवार आदि को हाथ कैसे कहा जा सकता है। बन्दूक और तलवार आदि का प्रयोग भी हाथ ही करता है इसलिए हनन क्रिया का अधिष्ठान हाथ हुआ और वही अभिप्रेत है।

यौगिक प्रक्रिया में अर्थ का नियंत्रण करने का कोई साधन नहीं—यह गलत बात है। यौगिकप्रक्रियावाद में देवता, उसकी त्रिविधि प्रक्रिया में वाचकता, त्रिविध प्रक्रिया अर्थात् प्रकरण और अन्वयगति से अर्थ नियंत्रित होता है। यौगिक प्रक्रिया की विशेषता इस बात में है कि कोई भी पद विशेषण और विशेष्य बन सकता है और देवता तथा प्रकरण के अनुसार उसके अर्थ का नियंत्रण हो जाता है। यही कारण है कि यौगिक प्रक्रिया के समर्थक यास्क और ब्राह्मण-ग्रंथकारों ने जहाँ शब्दों की निरुक्ति पर बल दिया है वहाँ देवता-विषय को भी अपने शास्त्र का विषय बनाया है। यह कथन भी सुतराम् त्रुटिपूर्ण है कि निरुक्त में निर्वचन की ही प्रधानता है। निरुक्त के पद[1] निर्णय, व्याकरण की पूर्णता, वेदार्थप्रत्यायन दैवतज्ञान, ज्ञानप्रशंसा और अज्ञाननिन्दा, तथा ऊहब्राह्मणत्व का निर्माण करना—आदि भी विषय हैं। निर्वचन इन उद्देश्यों की पूर्त्ति का साधन है। तथा एक विज्ञान है। ॠग्वेद[2] ६। ६५। २ मंत्र में यह शिक्षा दी गयी है कि "विद्वान् ऊहज्ञ दिव्य पदार्थों के नामों (पदों) का आविष्कार करता है और यज्ञ आदि व्यहवारों में उसका उपदेश और प्रयोग करता है"। निरुक्तकार ने इसी उद्देश्य की पूर्ति की है। अतः यह निरुक्त-विद्या वेद-प्राप्त विद्या है। यह अनर्गल प्रलाप नहीं है।

इतिहासपक्षी अपने पक्ष की पुष्टि में भार्म्यश्व, मुद्‌गल और द्रुघण के इतिहास को उपस्थित करते हैं। उनका कथन है कि यास्काचार्य ने भी अपने निरुक्त ६। २४ स्थल पर मुद्‌गल-सम्बन्धी

१—अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते। नि० १।१७,
अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थ-प्रत्ययो न विद्यते। नि० १।१५
तदिदं (शास्त्रं) विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम् नि० १।१५
अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति तेदैतेन उपेक्षितव्यम्। नि० १।१७
अथापि ज्ञानप्रशंसा भवत्यज्ञान निन्दा च। नि० १।१७

मंत्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु पृथक्त्वेन मंत्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्या नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति—इत्युक्तं पुरस्तात् मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यति इति तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मंत्रार्थ-चिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। नि० १३।१२

ओहब्राह्मणा ऊहब्रह्माण ऊह एषां ब्रह्मेति वा सेयं विद्याश्रुतिमतिबुद्धिस्तस्यास्तपसा पारमीप्सितव्यम्। नि० १३।१३

२—देवो देवानां गुह्यानि नामाविष्कृणोति बर्हिषि प्रवाचे। ऋ० ९।९५।२

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ऋग्वेदीय मंत्र (१०। १०२। ६) पर "तत्रेतिहासमाचक्षते" वाक्य का प्रयोग किया है। इसलिए यास्क को भी यहाँ पर इतिहास अभिप्रेत है।

पाठकों के लाभार्थ मैं इस विषय का भी यहाँ पर समुचित विचार उपस्थित करता हूँ। यास्क इतिहासपक्षियों की भांति का इतिहास वेद में नहीं मानता, यह तो अब तक के वर्णन से प्रस्फुट है। फिर भी यास्क के कथन को यहाँ पर उद्धृत करके विचार करना अपेक्षित है। यास्क कहता है—द्रुघणो द्रुममयो घनः। तत्रेतिहासमाचक्षते—मुद्गलो भार्म्यश्व ऋषिर्वृषभञ्च द्रुघणञ्च युक्त्वा संग्रामे व्यवहृत्याजिं जिगाय। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति—

इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम्। येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु ऋ० १०।१०२।९

इमं तं पश्य वृषभस्य सहयुजं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम् येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुदगलः पृतनाज्येषु। पृतनाज्यमिति संग्रामनाम पृतनानामजनाद्वा जयनाद्वा। मुद्गलो मुद्गवान मुद्गिलो वा मदनङ्गिलतीतिवा मदङ्गिलो वा मुदङ्गिलो वा। भार्म्यश्वो भृम्यश्वस्य पुत्रः भृम्यश्वो भृमयोऽस्याश्वा अश्वभरणाद्वा। नि० ९।२४

इस सन्दर्भ में यास्क ने जो अर्थ दिखलाया है उससे द्रुघण कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मालूम पड़ता है। यास्क द्रुघण पद की निरुक्ति करते हुये कहते हैं कि यह "द्रुममयो घनः" है। अर्थात् यह लकड़ी का ठोस मजबूत पदार्थ है। यास्क की दृष्टि से यह एक यंत्र हुआ। अन्य कोई चेतन पदार्थ नहीं। इसी प्रकार मुद्गल की भी वह निरुक्ति करता है। हर्ष को नष्ट कर देवे इसलिए वह मुद्गिल होते हुये मुदगल है। अथवा मुद्ग[1] पक्षी के आकार का होने से वह मुद्वान् होते हुये मुद्गल कहलाता है संग्राम में वह शत्रुओं के मद को नष्ट कर देता है तथा उनके पराक्रम को नष्ट कर देता है इसलिए वह मदनङ्गिल और मुद्ङ्गिल होते हुये मुद्गल है। अथवा वह मुद्ङ्गिल होते हुये मुद्गल है। यहाँ पर मुद्गल की निरुक्ति भी बतलाती है कि वह कोई व्यक्तिविशेष नहीं। अब "भर्म्यश्व" की निरुक्ति भी ले लेनी चाहिए। यास्क कहता है "भर्म्यश्वः भृम्पश्वस्य पुत्रः" अर्थात् भृम्यश्व का पुत्र भर्म्यश्व है। "भृम्यश्वः" उसका नाम इसलिये है कि भृमि उसके अश्व हैं। अथवा अश्वों का रक्षण करने वाला होने से वह भृम्यश्व है। यहाँ यास्क ने भृम्यश्व पद से भी निरुक्ति द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि यह सामान्य नाम है कोई व्यक्ति-विशेष नहीं। अब "भृमि" शब्द को भी देखना आवश्यक है। यास्क ने ऋग्वेदीय १।३१-१६[2] मंत्र के सन्दर्भ से "भृमिः भ्राम्यतेः.........इत्यपि" निगमो भवति-निरुक्त ६।२० आदि वाक्यों से अग्नि को "भृमि" कहा है। इस स्थल पर भाष्य करते हुये दुर्गाचार्य ने भी लिखा है—एवमत्र भृमिः अग्निः—अर्थात् यहाँ पर अग्नि ही भृमि है। वैदिक साहित्य

१—मुद्गः पक्षिविशेषः (शब्दकल्पद्रुम)

२—इमामग्ने शरणिं मीमृषो न इममध्वानं यमगाम दूरात्।
आपिः पिता प्रमतिः सोम्यानां भृमिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम्॥

यहाँ पर अग्नि को—आपि, पिता, प्रमति, भृमि और ऋषिकृद् कहा गया है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के विचार करने से पता चलता है कि अग्नि [१] वायु और इन्द्र (विद्युत्) भृमि हैं। इन का अश्व के स्थान में अथवा अश्व की भांति प्रयोग जिसमें हो वह "भृम्यश्व है। उस भृम्यश्व से निष्पादित कलाविशेष भार्म्यश्व मुद्गल है। अतः यास्क की दृष्टि से मुद्गल अग्नि, वायु और विद्युत् से चलने वाला एक यंत्र विशेष है।

यहाँ पर एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यास्क ने 'मुद्गलो भार्म्यश्व ऋषिः' पदों का प्रयोग किया है। यदि यह यंत्र-विशेष है तो फिर ऐसा क्यों ?—इसका समाधान दो प्रकार से दिया जा सकता है। पहला समाधान यह है कि प्रीतिजनित नित्य इतिहास को दिखलाने के लिए कल्पित ढंग पर मुद्गल के साथ ऋषि पद का प्रयोग कर दिया है। दूसरा सामाधान यह है कि ऋषि पद का प्रयोग वेदों में जड़ पदार्थ के लिए भी आता है। ऋग्वेद ६।६६।२० [२] में अग्नि को ऋषि कहा गया है। अतः यदि यहाँ पर यह ऋषि पद मुद्गल के लिए प्रयोग किया गया तो कोई हानि नहीं।

दूसरा समाधेय प्रश्न यह खड़ा होता है कि यास्क ने "भृम्यश्वस्य पुत्रः" वाक्य में "पुत्र" पद का प्रयोग किया है। यदि मुद्गल जड़ पदार्थ है तो उसमें पुत्र पद का प्रयोग कैसे किया जा सकेगा। इसका उत्तर यह है कि वैदिक साहित्य और वेद [३] में जड़ वस्तुवों में भी यह प्रयोग पाया जाता है। अतः यास्क का इस प्रकार लिखना युक्त ही है।

एक विचारणीय बात यह है कि यास्क ने इस प्रसंग में "तत्रेतिहासमाचक्षते" पदों का प्रयोग किया है। "आचक्षते" क्रिया अपने लिए नहीं प्रयुक्त है। यह अन्यों के लिए प्रयुक्त है। अतः यहाँ पर यह अभिप्राय व्यक्त होगा कि नित्येतिहासवादी आचार्य लोग इसी अर्थ को इतिहास गढ़ कर भी कहते हैं। अपनी प्रक्रिया का वर्णन करते हुये उसने यहाँ पर दूसरी प्रक्रिया को भी दिखला दिया। इस बात की पुष्टि बृहद्देवता [४] ८।११–१२ से भी होती है। भार्म्यश्व मुद्गल और द्रुघण सम्बन्धी ऋग्वेदीय सूक्त में सब १२ मंत्र हैं। यदि इन पर सब पर विचार किया जावे तो पूर्वोक्त धारणा बिल्कुल उचित ही मालूम पड़ेगी। उदाहरण के लिए कुछ मंत्रों की व्याख्या

१—भूमिश्चिद्घासि तूतुजिरा चित्र चित्रिणीश्वा। चित्रं कृणोष्यूतये। ऋ० ४।३२।२
यहाँ पर इन्द्र (विद्युत्) को भृमि कहा गया है।

२—अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः। तमीमहे महागयम्। ऋ० ९।६६।२०

३—तनूनपादाज्यमिति कात्थक्यः। नपादित्यनन्तरायाः प्रजायाः नामधेयम् दिर्णततमा भवति। गौरत्र तनूरुच्यते। तता अस्यां भोगाः तस्याः पयो जयाते पयस आज्यं जायते। नि० ८।५॥

आदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः। ऋः १।८९।१०
सहसस्पुत्रोऽग्निः ऋ० ३।१४।१; अग्ने दिवः सूनुरसि। ऋ० ३।२५।१

४—प्रेतीतिहान्सयुक्तन्तु मन्यते शाकटायनः।
यास्को द्रौघणमैन्द्रं वा वैश्वदेवं तु शौनकः॥
भाजावनेन भार्म्यश्व इन्द्रसोमौ तु मुद्गलः।
अजयद्वृषभं युक्त्वा एन्द्रंश्च द्रुघणं रथे॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भी यहाँ पर कर दी जाती है। इस सूक्त के दूसरे और छठे मंत्र में मुद्गलानी पद आया है। यह पद मुद्गल से उत्पन्न शक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है।

१—प्र ते रथं मिथूकृतमिन्द्रोऽवतु धृष्णुया।
अस्मिन्नाजौ पुरुहूत श्रवाय्ये धनभक्षेषु नोऽव॥

ऋ० १०।१०२।१

अर्थ—(धिष्णुया इन्द्रो मिथूकृतं ते रथं प्रावतु) हे सांग्रामिक! धर्षणशील विद्युत् (इन्द्र) मेधावी यंत्रविद्या-विज्ञ के द्वारा जोड़े हुये तुम्हारे रथ को चलावे। (पुरुहूत अस्मिन्नाजौ श्रवाय्ये धनभक्षेषु नोऽव) बहुत प्रकार से उपयोग में आने वाली विद्युत् इस संग्राम से धन और यश के लाभ के लिए हमारी रक्षा करे।

२—शुनमष्ट्राव्यचरत्कपर्दी वरत्रायां दार्वानह्यमानः।
नृम्णानि कृण्वन् बहवे जनाय गाः पस्पशानस्तविषीरधत्त॥

ऋ० १०।१०२।८

अर्थ—(वरत्रायां दार्वानह्यमानः) विद्युत् रज्जु के अधीन लकडी से बँधा हुआ (कापर्द्यष्ट्रावी) जल की वाष्प के समान सूँ सूँ शब्द करता हुआ व्यापक यंत्र वाला यह यंत्र सुखदायक चाल (शुनम् अचरत्) चलता है। (बहवे जनाय नृम्णानि कृण्वन्) बहुत से मनुष्यों को ले जाने वाले बल को उत्पन्न करने के हेतु (गाः पस्पशानःतविषीः अधत्त) सूर्य की किरणों को अपने अन्दर ग्रहण करता हुआ वेग को धारण करता है। यहाँ पर "क" का अर्थ जल है और "पर्द" का अर्थ कुत्सित अव्यक्त शब्द है। इसको करने वाला "कपर्दी" कहलाता है। इसका अर्थ है वाष्प का शब्द करने वाला।

३—आरे अघा को न्वित्था ददर्श यं युंजन्ति तम्वा स्थापयन्ति।
नास्मै तृणं नोदकमा भरन्त्युत्तरो वहति प्रदेदिशित्॥

ऋ० १०।१०२।१०

अर्थ—(आरे अघा को न्वित्था ददर्श) अहो! आश्चर्य! किसने ऐसा वृषभ यंत्र देखा है कि (यं युञ्जन्ति तम् उ—आस्थापयन्ति) जिस द्रुघण को जोडते हैं उसी पर लोगों को बैठाते भी हैं। यह कैसा यंत्र है! (नास्मै तृणं नोदकं भरन्ती) किन्तु न तो उसको घास देते हैं और न जल देते हैं। (प्रदेदिशत उत्तरो धुरो वहति) तनिक संकेत से ही उठाये हुये धुरों को खींचता है।

४—त्वं विश्वस्य जगतश्चक्षुरिन्द्रासि चक्षुषः।
वृषा यदाजि वृषणा सिषाससि चोदयन्वध्रिणा युजा॥

ऋ० १०।१०२।१२

अर्थ—(इन्द्र त्वं विश्वस्य जगत चक्षुषः चक्षुः असि) यह विद्युत् समस्त जगत् की आँखों की आँख है। (वृषा वध्रिणा वृषणा युजा चोदयन् आजिं सिषाससि) कि जो यह अभीष्ट को वर्षाने वाला है और विद्युत् रज्जु द्वारा अपने दोनों हरी अर्थात् मित्र और वरुण शक्ति को प्रेरित करते हुये संग्राम की विजय को सम्पन्न करा देता है। यहाँ मित्र और वरुण ऋण और धन विद्युत् धारावों के लिए प्रयुक्त हैं।

इस प्रकार इन मंत्रों की व्याख्या से यह स्पष्ट हो गया कि मुद्गल एक यंत्र है और द्रुघण के साथ जोड़ा जाता है। अब तत्सम्बन्धी विवादास्पद मंत्र की व्याख्या कर दी जाती है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम्।
येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु ॥
ऋ० १० । १०२ । ६

अर्थ—(तम् इमं वृषभस्य युञ्जं द्रुघणं काष्ठायाः मध्ये शयानं पश्य) कृत्रिम यंत्र में वृषभ के स्थान में जोड़े जाने वाले घन काष्ठ और लोहे आदि से युक्त पूर्व-मंत्रोक्त इस पंजर को आजि के अन्त में पड़ा हुआ देख। (येन मुद्गलः गवां शतवत्सहस्रं पृतनाज्येषु जिगाय) जिससे मुद्ग पक्षी के आकार वाला यंत्र सैकड़ों हजारों गाय बैलों के बल को जीतता है।

इन के अतिरिक्त इतिहासपक्षी सब से बड़ा प्रमाण देवापि और शन्तनु के इतिहास का उपस्थित करते हैं। यहाँ पर इस पर भी कुछ विचार प्रस्तुत किया जाता है। देवापि और शन्तनु के सम्बन्ध को जिन मंत्रों से जोड़ा जाता है वे मंत्र ऋग्वेद १० में मण्डल के ९८ वें सूक्त में पाये जाते है। यह सूक्त वर्षकामेष्टि से सम्बन्ध रखता है। इसमें सारे मंत्र वर्षा के निमित्त किये जाने वाले यज्ञ से सम्बद्ध हैं। साथ ही इनमें वर्षा का दृश्य वर्णित है। इस भाव को लोग न समझकर उल्टी कल्पनायें करते हैं। पूर्वपक्षी लोग यास्क को भी यहाँ पर इतिहासवादी कहने का साहस करते हैं। जो बिल्कुल निराधार है। आगे की विचार-सरणि इस बात को स्वयं प्रकट कर देगी।

सर्व प्रथम निरुक्तकार का व्याख्यान यहाँ पर उद्धृत किया जाता है और उसकी समालोचना की जाती है क्योंकि इतिहासपक्षी इस पर अधिक बल देते हैं। निरुक्तकार यास्क (नि० २।१०) पर कहते हैं "समुद्र क्यों कर इस को कहा जाता हैं ? इसलिए कि इससे जल[1] पृथ्वी पर गिरता है अथवा सभी जल इसमें जाते हैं; अथवा समस्त प्राणी इसमें प्रसन्न होते हैं। अथवा सभी जल इसमे मिल जाते हैं अथवा भली प्रकार से जल को वर्षाता है। इब अन्तरिक्ष और पार्थिव समुद्रों का विभाग दिखलाया जाता है और उसमें यह (कल्पित) इतिहास लोग कहते हैं। आर्ष्टिषेण देवापि और आर्ष्टिषेण शन्तनु दो कौरव्य भाई हैं। उनमें से छोटे भाई शन्तनु ने अपना राज्याभिषेक कर लिया। देवापि तप करने को चला गया। पुनः शन्तनु के राज्य में १२ वर्ष तक मेघ नहीं बरसा। ब्राह्मणों ने उससे कहा कि तुमने अधर्म का आचरण किया है जो बड़े भाई को उपेक्षित कर स्वयं राज्य ग्रहण कर लिया है। इसी

१—समुद्रः कस्मात्समुद्द्रवन्त्यस्मादापः समभिद्रवन्त्येनमापः सम्मोदन्तेऽस्मिन्भूतानि समुदको भवति समुनत्तीति वा। तयोर्विभागस्तत्रेतिहासमाचक्षते—देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः, स शन्तनुः कनीयान् अभिषेचयाञ्चक्रे। देवापिस्तपः प्रतिपेदे। ततः शन्तनो राज्ये द्वादश वर्षाणि देवो न ववर्ष। तमूचुर्ब्राह्मणा अधर्मस्त्वया चरितो ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्याभिषेचितम् तस्मात्ते देवो न वर्षतीति। शन्तनुर्देवापिं शिशिक्ष राज्येन। तमुवाच देवापिः पुरोहितस्तेऽसानि याजयानि च त्वेति, तस्यैतद्वर्ष-कामसूक्तम्, तस्यैषा भवति।

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान्।
स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि ॥
ऋ० १०।९८।५ निरुक्त २।१०।११

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

लिए तेरे यहाँ वर्षा नहीं होती। पुनः शन्तनु ने देवापि से राज्यग्रहण करने की प्रार्थना की। देवापि ने कहा कि मैं तेरा पुरोहित बन जाता हूँ और यज्ञ कराता हूँ। उस यज्ञ से सम्बद्ध यह वर्ष-काम सूक्त है और उसकी "आर्ष्टिषेणः—यह ऋचा है।"

यास्क के इस वर्णन से यह मालूम हो रहा है कि वह यहां पर समुद्र की निरुक्ति कर रहा है। समुद्र पृथिवी पर भी है और अन्तरिक्ष को भी समुद्र कहा जाता है। यास्क द्वारा दिये गये वेदमन्त्र में उत्तर और अधर समुद्र शब्द से भी यही आशय व्यक्त किया गया है। इन दोनों समुद्रों का पृथक्करण करने की यास्क भूमिका बाँध रहा है। उसी भूमिका के प्रसंग से यह कल्पित इतिहास गढ़कर मन्त्र के भाव और दोनों समुद्र के विभाग को वह दिखलाना चाहता है। इतिहास की कल्पना अन्य आचार्यों के द्वारा इस मन्त्र के अर्थ को समझाने में की जाती है, उसका भी यहाँ यास्क ने प्रतिपादन कर दिया। परन्तु यहाँ पर यह विदित रहे कि यास्क का नैरुक्त अर्थ ही इतिहास गढ़कर भी स्पष्ट किया गया है। यास्क ने इसी प्रसंग में उद्धृत ऋग्वेदीय मन्त्र में आये हुये "आर्ष्टिषेण" और "देवापि" पदों की निरुक्ति करके स्पष्ट कर दिया है कि यह देवापि कोई व्यक्ति विशेष नहीं है। यह एक भौतिक पदार्थ है। यास्क कहता है [1] ऋष्टिषेण का पुत्र अथवा इषित सेन का पुत्र आर्ष्टिषेण है। पुनः कहता है कि सेना क्यों कही जाती है? इसलिए कि सेनापति से युक्त होती है अथवा समान गति वाली होती है। पुत्र इसलिए कहा जाता है कि वह रक्षक है माता पिता का और इन्हें "पुम्" अर्थात् बुराई के नरक से तारता है। यहाँ पर यदि ऋष्टिषेण कोई व्यक्ति होता तो यास्क उसका पर्यायवाची पद "इषितसेन" न देता। ऋष्टिषेण क्या है? इस पर निरुक्त के भाष्यकार दुर्ग कहते हैं [2] कि निरुक्तपक्ष में ऋष्टिषेण मध्यम अर्थात् अन्तरिक्षस्थ मरुद्गण है। उसका अपत्य यह पार्थिव अग्नि देवापि है। उसकी शन्तुनु = समस्त यजमानों के अर्थ में योजना करनी चाहिए। बृहस्पति भी मध्यम है और वाक् का अभिप्राय विद्युत् रूपी वाणी है"। स्कन्द स्वामी ने भी आर्ष्टिषेण के भिन्न भिन्न अर्थ निरुक्त-प्रक्रियानुसार किये हैं [3]। स्कन्द की निरुक्ति सभी प्रक्रियावों में लगाई गई है। वह कल्पित नित्येतिहास के मूलभूत यजमान के पक्ष में भी अर्थ की संगति लगाता है। अध्यात्म और दैवत प्रक्रिया में भी अर्थ की संगति लगाता है।

१—आर्ष्टिषेणो ऋष्टिषेणस्य पुत्रः इषितसेनस्येति वा सेना सेश्वरा समानगतिर्वा। पुत्रः पुरुत्रायते निपरणाद्वा पुन्नरकं ततस्त्रायत इति वा नि० २।२

२—निरुक्तपक्षे तु ऋष्टिषेणो मध्यमः तदपत्यमयमग्निः पार्थि आर्ष्टिषेणो देवापिः स शन्तनवे सर्वस्मै यजमानायेति योज्यम्। बृहस्पतिरिति मध्यमः स्तनयित्नुलक्षणां वाचमित्यर्थः। दुर्गाचार्यः। नि० २।१२

३—ऋष्टिप्रधाना सेना यस्य, इषिता वा सेना शत्रून् प्रति प्रेषिता नित्यं सेना यस्य कान्ता वा इष्टा यस्य..................अथवा ऋष्टिः रेषणा हिंसा च कामादीनाम्, अन्तश्चर-शत्रूणाम् समुदायः स च इन्द्रियाणाम्। एतदुक्तं भवति विषयाभिलाष-वैमुख्यात् कामादिचित्तमलरेषेणप्रधाना सेना इन्द्रियग्रामो यस्य, इषिता वा प्रेषिता गता पराङ्मुखी भूता प्रत्याहारेण विषयेभ्य इन्द्रियसेना यस्य। पृ० ७१ नित्यपक्षे आर्ष्टिषेणो मध्यमः तत्रभवत्वाच्च आर्ष्टिषेणो वैद्युतः।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यहाँ पर आचार्यों ने यह स्पष्ट कर दिया कि ऋष्टिषेण कोई व्यक्तिविशेष नहीं। मध्यम-स्थानी मरुद्‌गण ही ऋष्टिषेण है। उससे उत्पन्न देवापि आर्ष्टिषेण है। मरुतों को वेद में भी "ऋष्टिमन्तः" अथवा ऋष्टि वाला कहा गया है। ऋग्वेद[1] ३।५४।१३; ऋ० १।८५।४ मंत्रों में क्रमशः मरुतों को "विद्युद्रथ" "ऋष्टिमन्त" ऋष्टियों से प्रकाशमान, और "वृषव्रातासः" अर्थात् वर्षा की वायु (मानसून) से युक्त बतलाया गया है। इसी प्रकार ऋग्वेद[2] १।८८।१ मंत्र में मरुतों को "विद्युन्मद्" "ऋष्टिमद्" रथों से वृष्टिकर्म की प्रेरणा करने वाला कहा गया है। आर्ष्टिषेण की व्यख्या हो जाने पर अब "देवापि" पर विचार करना चाहिए।

"देवापि" पद की व्याख्या करते हुए [3]यास्क ने लिखा है कि देवों के ज्ञान अथवा स्तुति करने से सम्बद्ध पदार्थ "देवापि" है। दुर्ग ने, जैसा पूर्व दिखलाया गया है "देवापि" का अर्थ पार्थिव अग्नि किया है। स्कन्द स्वामी "देवापि" की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि[4]—ऋष्टि नाम शक्ति का है। उससे युक्त मरुतों की सेना ऋष्टिमन्त है। मध्यम से उत्पन्न होने के कारण "देवापि" विद्युत् है और शन्तनु वृष्टिलक्षण उदक है। दुर्ग ने पूर्व प्रदर्शित आर्ष्टिषेण सम्बन्धी प्रमाण में शन्तनु का अर्थ यजमान किया है। यास्क ने [5]"शन्तनु" की निरुक्ति करते हुये लिखा है कि शरीर के लिए कल्याण करने वाला अथवा उसके शरीर के लिए कल्याण हो ऐसा पदार्थ शन्तनु है।

इसके पश्चात् "बृहस्पति" पद का अर्थ जानना आवश्यक है। कारण यह है कि यास्क ने देवापि और शन्तनु शब्दों से युक्त जिन दो ऋचाओं की व्याख्या की है उनमें "शन्तनु" से सम्बद्ध मंत्र में उत्तरार्ध में "बृहस्पति" पद भी आया हुआ है। बृहस्पति पद को सामान्य समझकर यास्क ने व्याख्या नहीं की है। उसने इतना कहकर छोड़ दिया है कि बृहस्पति ब्रह्माथा। उसने इसके लिये वाणी दी। यास्क का यह संकेत बहुत सारगर्भित है जिसकी व्याख्या आगे बाद में की जायेगी। पूर्व दिखलाये गये प्रमाणों में बृहस्पति का अर्थ वाचस्पति अर्थात् मध्यमस्थानी अन्तरिक्षस्थ प्रदार्थ किया है। स्कन्द ने भी उस स्थल की व्याख्या करते समय ऐसा ही अर्थ किया है। अतः मेघ की गर्जना रूप वाणी का अधिष्ठान बृहस्पति है। यहाँ पर मेघ ही बृहस्पति कहलायेगा। इस प्रकार यास्क द्वारा निरुक्त में उद्धृत दो ऋचाओं में आये आर्ष्टिषेण, देवापि, शन्तनु और

१—विद्युद्रथा मरुतो ऋष्टिमन्तो दिवो मर्या ऋतजाता अयासः। ऋ० ३।५४।१३
वि ये भ्राजन्ते सुमखास ऋष्टिभिः प्रच्यावयन्तो अच्युता
चिदोजसा। मनोजुवो यन्मरुतो रथेष्वा वृषव्रातासः पृषतीरयुग्ध्वम्
ऋ० १।८५।४

२—आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैं रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः। ऋ० १।८८।१

३—देवापि र्देवानामाप्त्या स्तुत्या च प्रदानेन— नि० २।११

४—ऋष्टयः शक्तयः तत्प्रधाना सेना मरुताम्। यस्या अंसेषु वा ऋष्टयः। विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तः मध्यमप्रभवत्वाद् देवापिर्विद्युत् शन्तनुरुदकं वृष्टिलक्षणम्।
(स्कन्द स्वामी)

५—शन्तनोऽस्त्विति वा शमस्यै तन्वा अस्त्विति वा। नि० २।१२॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

बृहस्पति शब्दों की निरुक्ति पर विचार किया गया और आचार्यों की अर्थ-परम्परा पर भी ध्यान दिया गया और फलतः यह परिणाम निकला कि ये कोई व्यक्तिविशेष नहीं, सामान्य नाम हैं। इनसे किन्हीं व्यक्तिविशेषों का इतिहास सिद्ध नहीं होता है।

देवापि और शन्तनु से सम्बन्ध रखने वाले इतिहासों में परस्पर भेद पाया जाता है। निरुक्तकार ने जो इतिहास वर्णन किया हैं बृहद्देवताकार ने उससे कुछ भिन्न ही दिखलाया है। महाभारत में वर्णित इतिहास भी पूर्णतया इनसे नहीं मिलता। यह भिन्नता ही इस बात की ओर पर्याप्त संकेत दे देती है कि यह किसी व्यक्ति-विशेष का इतिहास नहीं है। वेदार्थ को समझाने के लिए भिन्न भिन्न प्रकार से गढ़न्त कथा गढ़ ली गई। बाद में एक इतिहास खड़ा कर दिया गया। तथा उसे कुरुवंशी देवापि और शन्तनु से सम्बद्ध कर दिया गया। स्पष्टीकरण के लिए एतत्सम्बन्धी भिन्न भिन्न वर्णनों को यहाँ पर दिया जाता है। यास्क का इस सम्बन्धी वर्णन पूर्व दिया जा चुका है। बृहद्देवता में निम्न वर्णन पाया जाता है—

आर्ष्टिषेणस्तु देवापिः कौरव्यश्चैव शन्तनुः।
भ्रातरौ कुरुषु त्वेतौ राजपुत्रौ बभूवतुः॥

ज्येष्ठस्तयोस्तु देवापिः कनीयांश्चैव शन्तनुः।
त्वग्दोषी राजपुत्रस्तु ऋष्टिषेणसुतोऽभवत्॥

राज्येन छन्दयामासुः प्रजाः स्वर्गं गते गुरौ।
स मुहूर्त्तमिव ध्यात्वा प्रजास्ताः प्रत्यभाषत॥

न राज्यमहमर्हामि नृपतिर्वोऽस्तु शन्तनुः।
तथेत्युक्त्वाभ्यसिञ्चंस्ताः प्रजा राज्याय शन्तनुम्॥

ततोऽभिषिक्ते कौरव्ये वनं देवापिराविशत्।
न ववर्षाथ पर्जन्यो राज्ये द्वादश वै समाः॥

(किन्हीं किन्हीं पुस्तकों में "न ववर्षाथ पर्जन्यस्त—
स्मिन् राष्ट्रे शतं समाः" ऐसा पाठ मिलता है)

महाभारत—

महाभारत में आदि पर्व में देवापि का इतिवृत्त कथन किया गया है। इसमें देवापि और शन्तनु को राजा प्रतीप का पुत्र कहा गया है। ऋष्टिषेण के पुत्र के रूप में इनका वर्णन वहाँ पर नहीं है। इस स्थल पर इनके तृतीय भाई वाह्लीक का भी नाम लिया गया है। शन्तनु न लिखकर शान्तनु लिखा गया है—

प्रतिश्रवसः प्रतीपः प्रतीपः खलु शैव्यामुपयेमे।
सुनन्दा नाम तस्यां पुत्रानुत्पादयामास देवापिं शान्तनुं
वाह्लीकञ्चेति। देवापिः खलु बाल एवारण्यं विवेश
शान्तनुस्तु महीपालो बभूव। (महाभारत ९५।४४-४५ पर)

७

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

निरुक्त, बृहद्देवता और महाभारत में वर्णित कथावों में निम्न प्रकार से भिन्नतायें मिलती हैं—

१—निरुक्त के अनुसार देवापि और शन्तनु दोनों ही आर्ष्टिषेण हैं। दुर्ग ने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा है—

देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्चार्ष्टिषेणः ॥

२—बारह वर्ष तक वृष्टि का न होना।

३—ब्राह्मणों ने कहा कि तुमने अधर्म का आचरण किया है।

परन्तु बृहद्देवता में निम्न अन्तर पाया जाता है—

१—इसमें देवापि को आर्ष्टिषेण कहा है और शन्तनु को कुरुपुत्र कहा है—
आर्ष्टिषेणस्तु देवापिः कौरव्यश्चैव शन्तनुः। त्वग्दोषी राजपुत्रस्तु आ ष्टषेणसुतोऽभवत्। ततोऽभिषिक्ते कौरव्ये—इत्यादि।

२—देवापि को कुष्ठरोगयुक्त कहा गया है।

३—पाठ भेद के आधार पर सौ वर्ष तक वर्षा का न होना वर्णित है। न ववर्षाथ पर्जन्यस्तस्मिन् राष्ट्रे शतं समाः ॥

४—देवापि ने सोचकर प्रजा से कहा कि तुम्हारा राजा शन्तनु होवे। मैं राज्य के योग्य नहीं हूँ।

इसके विपरीत महाभारत में निम्न वर्णन मिलता है—

१—नाम शन्तनु नहीं—शान्तनु है।

२—देवापि और शान्तनु को राजा प्रतीप का पुत्र कहा गया है। उनके भाई का नाम वाह्लीक है।

उपर्युक्त प्रकार से तीनों कथाओं का मिलान करने पर भेद को दृष्टिगत रखते हुये इसी परिणाम पर पहुँचना पड़ता है कि यह इतिहासपक्षियों द्वारा माना गया इतिहास नहीं है—कल्पित कथा है और इसीलिए हर एक ने अपने अनुसार कल्पना कर ली। यहाँ एक बात यह भी स्मरण रखने की है कि सर्वानुक्रमणी ने ऐसी कोई कथा इस प्रसंग में नहीं मानी है। उसने लिखा है "बृहस्पते द्वादशार्ष्टिषेणो देवापिर्वृष्टिकामो देवांस्तुष्टाव (ऋ० स० ६१) अर्थात् वृष्टिकाम आर्ष्टिषेण देवापि ने "बृहस्पते" आदि बारह मंत्रों से देवों की स्तुति की। यहाँ पर यह भी स्पष्ट है कि इस सूक्त के देवता देव हैं। उनका हो यहाँ पर वर्णन होना चाहिए। परन्तु सूक्त का ऋषि देवापि है और देवापि शब्द सूक्त में भी पड़ा है—इसलिए कई लोगों ने मंत्र में देवापि का इतिहास कल्पित कर लिया। वस्तुतः बात ऐसी है कि मंत्रगत पद से द्रष्टा ऋषि अपना भी नाम रख लेते थे।

यहाँ पर एक समस्या यह भी खड़ी होती है कि इतिहास की यह कल्पना खड़ी ही क्यों हुई। इसका समाधान यह है कि सूक्त वर्षकामेष्टि में विनियुक्त है। यास्क ने नैरुक्त पक्ष में वर्षा के दृश्य का वर्णन किया। उसके अनुसार देवापि के विद्युत् और शन्तनु के जल आदि अर्थ हुये।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

परन्तु वर्षकामेष्टि में भी याज्ञिक-प्रक्रियानुसार इसी नैरुक्त पद्य के भाव को समझाना था अतः उसने यज्ञ के पात्रों की कल्पना करके नित्येतिहास कल्पित कर लिया। यह याज्ञिक प्रक्रिया की दृष्टि से किया गया। इसके निम्न हेतु पाये जाते हैं—

१—अनावृष्टि की कल्पना करके वर्षकामेष्टि की भूमिका बनाना।

२—देवापि को पुरोहित कल्पित करना और मन्त्रस्थ ऋषि पद की योजना उसके साथ इस रूप में करना कि वह मंत्रद्रष्टा है।

३—शन्तनु को यजमान का स्थान देना।

४—बृहस्पति को ब्रह्मा के रूप में कल्पित करना।

यथा बृहस्पति र्ब्रह्मासीत् सोऽस्मै वाचम् अयच्छत।

नि० २।१२

५—यास्क की इस सम्बन्धी निरुक्तियों का सभी प्रक्रियावों में घटित होना।

इस प्रसंग में यहाँ पर यास्क का "कौरव्यौ" शब्द भी इस प्रक्रिया की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यास्कीय निघण्टु ३।१८ में "कुरु" शब्द ऋत्विग् अर्थ में पाठित है। अतः यहाँ "कौरव्यौ" शब्द का अर्थ ऋत्विक्कर्म से सम्बन्ध रखने वाले होगा। "कौरव्यौ भ्रातरौ" से यास्क का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि ये दोनों ऋत्विक्कर्म के सम्बन्ध से भाई कल्पित किये गये हैं। बाद में "कौरव्यौ" पद से लोगों ने कुरुवंशी अर्थ लगा लिए जो आकर व्यक्तिसम्बन्धी इतिवृत्त के रूप में खड़ा हो गया। यास्क की इस भावना को भली प्रकार समझकर ही स्कन्द ने लिखा कि [1]"इति+ह+ एवमासीत्" ऐसा यह था—इस प्रकार की कथनचातुरी का नाम इतिहास है। दुर्ग ने [2]भी ऐसा ही लिखा है। इस प्रकार यास्क की प्रक्रिया इतिहास के सम्बन्ध में बहुत ही स्पष्ट हो जाती है।

इस सूक्त में किसी प्रकार का व्यक्तिसम्बन्धी इतिहास नहीं सिद्ध होता है और इसमें वर्षा का एक वैज्ञानिक वर्णन है—इस परिणाम पर पहुँचने के उपरान्त यहाँ पर सूक्त में आये हुये कुछ ऐसे शब्दों पर विचार किया जाता है जिनको आधार बनाकर इतिहासपक्षी अपनी कल्पना का प्रसार करते हैं। इस सूक्त के ८ वें मंत्र (ऋ १०।९८।८) में पूर्वार्द्ध में "यं त्वा देवापिः शुशुचानो अग्न आर्ष्टिषेणो मनुष्यः समीधे" पाठ है। इतिहासपक्षी इस वर्णन को लेकर कहते हैं कि यहाँ पर आर्ष्टिषेण देवापि के विशेषण के रूप में "मनुष्यः" पद पड़ा है। इससे स्पष्ट है कि आर्ष्टिषेण देवापि मनुष्य है। उसका अर्थ विद्युत् करना ठीक नहीं। इसका समाधान यहाँ पर यह है कि मनुष्यः" पद का अर्थ मनुष्य नहीं है। यहाँ पर "मनुष्याणां हितः मनुष्यः"—इस प्रकार की

१—इति ह एवमासीत् यः कथ्यते स इतिहासः।

(स्कन्द स्वामी)

२—इति हैवमसीद् यः कथ्यते स इतिहासः।

(दुर्गाचार्यः)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तद्धित प्रक्रिया के अनुसार "मनुष्यः" का अर्थ मनुष्यमात्र का हितकारक होगा। [1]सायण ने भी "मनुष्यः" का ऐसा ही अर्थ किया है। मंत्र का वास्तविक अर्थ निम्न प्रकार होगा—

यं त्वा देवापिः शुशुचानो अग्न आर्ष्टिषेणो मनुष्यः समीधे।
विश्वेभिर्देवैरनुमद्यमानः प्रपर्जन्यमीरया वृष्टिमन्तम् ॥
ऋ० १०।६८।८

अर्थ—(अग्ने यं त्वा मनुष्यः आर्ष्टिषेणः देवापिः शुशुचानः समीधे) जिस उस विजातीय तेज (अग्नि) को वर्षा द्वारा मनुष्वमात्र की हितकारिणी, मरुतों से उत्पन्न विद्युत् चमकती हुई प्रज्वलित करती हैं। (विश्वेभिः देवैः अनुमद्यमानः वृष्टिमंन्तं पर्जन्यम् प्रेरया) वह यह अग्नि (विजातीय तेज) समस्त अन्तरिक्षस्थ दिव्य प्राकृत शक्तियों से युक्त हुआ वर्षा करने वाले मेघ को नीचे की ओर प्रेरित करता है। यहाँ अर्थ करने में यह नियम बर्ता गया है कि जड पदार्थों का यदि वेद में मध्यम पुरुष में वर्णन हो तो अन्य पुरुष में करना चाहिए।

सूक्त के ११ वें मंत्र (ऋ० १०।६८।११) में "औलानम्" पद आया है। इसका अर्थ मेघजाल है। औलानमवलम्बनम् (वाचस्पत्य कोषः)। उल धातु जलाने के अर्थ में है। उससे 'उलान" शब्द औणादिक आनच् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इसका अर्थ अग्नि का स्थान अन्तरिक्ष होगा। अन्तरिक्ष में बनने के कारण औलान का अर्थ मेघजाल होगा। इस प्रकार यह सारा सूक्त यास्क की दृष्टि से संगत हो जाता है और किसी मंत्र की अर्थसंगति में कोई बाधा नहीं आती। यास्क द्वारा दिये गये दोनों मंत्रों का अर्थ क्रमशः निम्न प्रकार है—

१—आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान्।
स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि ॥
ऋ० १०।६८।५

अर्थ—(आर्ष्टिषेणः देवापिः ऋषिः होत्रम् निषीदन् देवसुमतिं चिकित्वान्) मध्यामस्थानीय मरुद्गण सेउत्पन्न पुत्र गतिशील एवं दिखाई पड़ने और दिखाने वाला विद्युत्तत्त्व वृष्टि रूपी यज्ञ को सम्पन्न कराने में अन्य वृष्टि-सहायक दिव्य शक्तियों का सहयोग प्राप्त करता है। (स उत्तरस्माद अधरं समुद्रम् दिव्या वर्ष्या अपः अभ्यसृजत्) वह अन्तरिक्ष से नीचे पृथ्वी पर वर्षा के दिव्य जलों कगिराता है।

२—यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्।
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पति र्वाचमस्मा अयच्छत् ॥
ऋ० १०।६८।७

१—मनुष्याणां हितः मनुष्यः—इति सायणः ऋ० २।१८।१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अर्थ—(देवापिः शन्तनवे पुरोहितः वृतः कृपयन् होत्राय अदीधेत्) विद्युत् जल के लिए अग्रगामी बनकर वर्षा को पैदा करने के लिए गतिशील होती है। (बृहस्पतिः देवश्रुतं वृष्टिवनिम् रराणो अस्मै वाचम् अयच्छत्) वर्षा का देव मेघ देवों से श्रुत, वृष्टि की याचनाकरने वाली विद्युत् को गर्जना करती हुई स्तनयित्नु प्रदान करता है। विद्युत्को यहाँ पर पुरोहित इसलिए कहा गया है कि पहले वह चमकती है पश्चात् वर्षा होती है। पूर्वं हि विद्योतते पश्चाद् वर्षति।

पूरे सूक्त के अन्तस्तल में पहुँचने के लिए सूक्त के प्रथम मंत्र की व्याख्या भी यहां पर कर दी जाती है।

बृहस्पते प्रति मे देवतामिहि मित्रो वा यद्वरुणो वासि पूषा।
आदित्यैर्वा यद्वसुभिर्मरुत्वान् स पर्जन्यं शन्तनवे वृषाय ॥

ऋ० १०।९८।१

अर्थ—(बृहस्पते मे देवताम् प्रतीहि) वृष्टि का देव विजातीय तेज जो कि स्तनयित्नु का भी स्वामी है वर्षा की निमित्तभूत समस्त दिव्य प्राकृतिक शक्तियों का प्रतिनिधि बनता है। मित्रः, वरुणः यद् वा पूषा असि) वही मित्र, वरुण, और वही पूषा है। (आदित्यैः वसुभिः यत् मरुत्वान्) वही आदित्यों अर्थात् १२ मास की बारह प्रकार की सूर्य किरणों, वसुओं अर्थात् आठ वसुवों से और मरुतों से भी युक्त है। (स शन्तनवे पर्जन्यं वृषाय) वह जल के लिए मेघ को बरसाता है।

इस मन्त्र में जितने देव नाम दिये हैं विजातीयतेज अग्नि उन सबसे सम्बन्ध रखता है और उनमें से कई तो इसके रूप ही हैं।

अथर्व[1] ३।२७।६ में बृहस्पति को ऊर्ध्वा दिग् का स्वामी कहा गया है। विद्युत् को उसका सहायक कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण[2] ३।३४ में कहा गया है कि प्रजापति अर्थात् विराट् के रेतः-पिण्ड जो जल रहे थे वे अंगारा हैं क्योंकि अंगिरों से पैदा हुये। फिर जब वे शान्त होकर प्रदीप्त हुये तो बृहस्पति हुआ। यहाँ भी बृहस्पति का सम्बन्ध अग्नि से है। शतपथ ब्राह्मण[3] २।३।२।२१

१—ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः।

अ० ३।२७।६

२—ये (प्रजापते रेतः पिण्डा दग्धाः सन्तः) अङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसो ऽभवन्यदङ्गारा पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवद्।

ऐत० ३।३४

३—अथ यत्रैत्पतितरामिव तिरश्चीवार्चिः संशाम्यतो भवति तर्हि हैष (अग्निः) भवति मित्रः।

श० २।३।२।२१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

में लिखा गया है कि "जब यह टेढ़ी अर्चि शान्त होती हुई अग्नि की होती है तब यह मित्र कहा कहा जाता है। ऐतरेय[1] ६।२६ में कहा गया है कि यह अग्नि वरुण है, वेद मन्त्र में भी कहा गया है "त्वमग्ने वरुणो जायसे"—आदि। [2]शतपथ में भी अग्नि को वरुण कहा गया है।

तैत्तिरीय ३।११।२।१ में अग्नि को पूषा भी कहा गया है। यथा (अग्ने) त्वं पूषा विधतः पासि नु त्मना—तै० ३।११।२।१

इस प्रथम मन्त्र से यह पूर्णतया ज्ञात होता है कि यह सूक्त वर्षा के कारणों और कर्मों का वर्णन करता है किसी व्यक्तिविशेष का इतिहास नहीं। इसी दिशा से समस्त सूक्त के मन्त्रों की सङ्गति लगानी चाहिए।

इस प्रकार संक्षेप में इस प्रकरण में इतिहासवादियों के मन्तव्यों का निरास किया गया। अगले प्रकरण में वैदिक इतिहास के वास्तविक स्वरूप का प्रकटीकरण किया जावेगा।

———

१—यो वा अग्निः स वरुणस्तदप्येतदृषिणोक्तम् त्वमग्ने वरुणो जायसे यदिति।
ऐ० ६।२६

२—अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति। तर्हि हैष (अग्निः) भवति वरुणः।
श० २।३।२।१०

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

द्वितीय प्रकरण

वैदिक इतिहास का स्वरूप

पूर्व प्रकरण में प्रतिपत्त्रियों के माने इतिहासों का निरास किया गया और इस प्रक्रिया की स्थापना कर दी गई कि वेद के शब्द यौगिक हैं। प्रस्तुत प्रकरण में वैदिक इतिहास जिसको नित्य इतिहास कहा जाता है उसके स्वरूप पर विचार करते हैं। वेद ज्ञान के भण्डार हैं। उस ज्ञान तक पहुँचने में ही लाभ है। यदि उस ज्ञान की प्राप्ति न हो सके तो केवल मंत्रों के शब्दों को रट लेना कोई महत्व नहीं रखता हैं। वेद शब्दमय और अर्थमय हैं। शब्द की शक्ति अर्थ में है। अर्थ ही वस्तुतः उसका बल है। वाणी अर्थ की ओर दौड़ती है। वेद भी वाणीमय हैं अतः वाणी का यह स्वभाव ही है कि वह अर्थ की ओर दौड़े। ऋग्वेद[1] में भी स्वयं लिखा है कि ऋचावों के परम व्योम ओंकार रूपी अक्षर में समस्त देव स्थित हैं। जो उसको नहीं जानता वह ऋचा से क्या करेगा। जो उसे जानता है वह उससे सम्पर्क स्थापित कर लेता है"। यह ओम् अक्षर समस्त वेद-वाणी का अक्ष है। जिस प्रकार अक्ष के चारों ओर पहिये की खपाचियां घूमती हैं इसी प्रकार इस के चारों तरफ वेदवाणियां घूमती हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद[2] १०।७१।५ में वेद-वाणी के अर्थ को ही पुष्प और फल कहा गया है। जो उस पुष्प और फल को नहीं जानता उसे विना पुष्प और फल की वाणी का जानने वाला कहा गया है और उसकी निन्दा की गयी है। अर्थज्ञ की ही प्रशंसा है। परन्तु वह अर्थ क्या है कि जिस को पुष्प और फल कहा गया है तथा जिसका जानना वेदज्ञ के लिए परमावश्यक है? इसका उत्तर एक प्रक्रिया के अनुसार तो पूर्वप्रदर्शित ऋ० १।१६४।३६ मंत्र में ही दे दिया गया है। वह इस प्रकार कि "ओम्" ही वाणी का मूल है और उसी में समस्त देव विराजमान हैं। अर्थात् अध्यात्म वेद वाणी के पुष्प-फल के रूप में है और सब अर्थों में परमोत्कृष्ट अर्थ वही है। दूसरा उत्तर ऋ० [3]१।४०।५ में दिया गया है। उसके अनुसार यह भाव निकलता है कि ब्रह्मणस्पति = परमेश्वर

१—ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य एतद्विदुस्त इमे समासते ॥

ऋ० १।१६४।३६

२—वाचं शुश्रुवान् अफलामपुष्पाम्। ऋ० १०।७१।५

३—प्रनूनं ब्रह्मणस्पतिर्मंत्रं वदत्युक्थ्यम्
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे ॥

ऋ० १।४०।५

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रशस्त वेद मंत्रों का उपदेश करता है। जिन मंत्रों के अन्दर इन्द्र मित्र वरुण, अर्यमा आदि दिव्य शक्तियों ने देवता के रूप में अपना घर बनाया है। यहाँ पर पुष्पफल के रूप में अध्यात्म और अधिदैवत पक्ष दोनों आगये। पुनः ऋग्वेद[1] ६।६५।२ में इस प्रकार इसका समाधान मिलता है कि विद्वान् जगत् के दिव्य पदार्थों के रहस्यमय नामों की खोज करे और यज्ञ में उसका प्रयोग करे''। यहाँ पर अध्यात्म, अधिदैव और अधियज्ञ तीनों को संग्रहीत कर दिया। वस्तुतः ये ही वेदवाणी के पुष्प और फल हैं। आचार्य यास्क जैसे महान् वैदिक ने पूर्वोक्त ऋग्वेदीय (१०।७१।५) मंत्र की व्याख्या करते हुये निरुक्त[2] १।२० पर इन तीनों को संग्रहीत करके पुष्पफल का अर्थ आधियज्ञ, आधिदैव और अध्यात्म बतलाया। वेदवाणी का अर्थ ही पुष्प और फल है और वह पुष्पफल अध्यात्म, अधिदैव और अधियज्ञ प्रकरण के अनुसार होता है। अतः ऋग्वेद १०।७१।५ में बतलाये गये वेदवाणी के पुष्प-फल का यह स्वरूप निश्चित हुआ। वेदवाणी जिस अर्थ की तरफ दौड़ती है अथवा उससे जिस अर्थ का बोध होता है वह "देवता" शब्द से व्यवहृत होता है। तथा देवता इन तीन प्रक्रियावों में ही संगत होता है।

इस प्रकार का अर्थ जाने विना उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती और उसका अर्थ अध्यात्म, अधिदैव और अधियज्ञ है तथा इनको बाँधने वाला देवता है—इत्यादि के निर्णय हो जाने पर प्रश्न यह समुपस्थित होता है कि वेद का अर्थ किया किस प्रकार जावे। इस वेद रूपी अगाध पारावार के अन्तःपट में बैठने का साधन क्या है? किस योग्यता से वेदार्थ तक पहुँच जा सकता है। ऋग्वेद[3] १०।७१।८ ने इन प्रश्नों का स्वयं ही सुन्दर समाधान कर दिया है। उसमें बतलाया गया है कि "बुद्धि से सूक्ष्म अचिन्त्य अध्यात्मादि विषयों का विद्वान् जन परस्पर ऊहापोह करते हैं। साधारण जन उनको नहीं समझ पाते हैं अतः छोड़ देते है और "ऊह" को जानने वाले उनके तल तक पहुँच जाते हैं। वेदार्थ तक कौन पहुँचता है? इसका उत्तर मंत्र में दिया गया है कि "ऊहब्रह्माण" वेदार्थ तक पहुँचते हैं। इस पद का अर्थ है कि ऊह ब्रह्म है जिनका अर्थात् "ऊहज्ञ"। ऊह शब्द से विद्या, श्रुति, मति और बुद्धि का ग्रहण किया है। इसी का दूसरा नाम तर्क है। इसके जरिये से वेद के मंत्रों में जिन देवतावों का वर्णन है उनका ज्ञान करना चाहिए और उसकी तद्भवता का अनुभव करना चाहिए। इससे वेदार्थ खुलता है। परन्तु यह स्वयं ही एक महती तपस्या का विषय है। वैदिक जन इस "ऊह" को ही निरुक्तविद्या भी कहते हैं। ज्ञान श्रवण, मनन और निदिध्यासन इसकी प्राप्ति के साधन हैं। इस ऊह की प्राप्ति दो प्रकार के व्यक्तियों को होती है। एक तो वे हैं जो योगी, तपस्वी और ऋषि हैं उन्हें यह शक्ति स्वयं प्राप्त

१—देवो देवानां गुह्यानि नामाविष्कृणोति बर्हिषि प्रवाचे।
ऋ० ६।६५।२

२—अर्थं वाचः पुष्पफलमाह याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा॥ नि० १।२०

३—हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं विजहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे॥
ऋ० १०।७१।८

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है और वे इसीलिए वेदार्थ तक सरलता से पहुँच जाते हैं। समुचित वेदार्थ की योग्यता योगी और तपस्वी को ही है। जिन्होंने अविद्या आदि संशयों को नष्ट कर समाधिस्थ प्रज्ञा से साक्षाद्दृष्टि प्राप्त कर ली है वे ही वेदार्थ में क्षम हैं। दूसरे दर्जे पर वे हैं जो ऊह की शरण लेकर वेदार्थ करते हैं। भूयोविद्य, विद्या, श्रुति, मति और बुद्धि से ऊह शक्ति को प्राप्त कर वेदार्थ तक पहुँचता है। इस ऊह-विद्या (निरुक्त विद्या) के महा विद्वान् यास्क ने मंत्रार्थ के साधन इस ऊह पर बहुत ही प्रांजल विचार अपने निरुक्त ([1]१३।३२) में प्रकट किया है। यास्क कहते हैं कि "मंत्रों के अर्थ के विचार का ऊह (तर्क) तर्कित किया जाना चाहिए। इससे मंत्रार्थ की ऊहा करने में समर्थता हो सकती है। श्रुति और तर्क से मंत्रार्थ का विचार करना चाहिए। प्रकरण के बिना मंत्र का अर्थ नहीं करना चाहिए। प्रकरण के अनुसार ही अर्थ करना चाहिए। कारण यह है कि इसमें अनृषि और अतपस्वी को साक्षात् ज्ञान नहीं हो सकता है। पूर्वापरभाव अथवा आद्यन्त को जानने वाले वेदज्ञों में भूयोविद्य ही प्रशंसा का पात्र बनता है। जैसा कि पहले भी (निरुक्त १।१६ पर) कहा गया है। ऋषियों के उठ जाने पर देवों से मनुष्यों ने कहा कि हमारा ऋषि अब कौन होगा? देवों ने मनुष्यों के लिए यह "तर्क" ऋषि दिया जो कि मंत्रार्थ की चिन्ता का "ऊह" है। इसलिए जो भी वेदज्ञ इस ऊह के बल पर अर्थ करता है वह उसका कर्म आर्ष होता है।"

यास्क ने यहाँ पर वेद-प्रतिपादित ऊह को वेदार्थ का साधन बताया और यह भी स्पष्ट शब्दों में कहा कि मंत्रों का व्याख्यान करते समय प्रकरण के अनुसार अर्थ करना चाहिए बिना प्रकरण के नहीं। यास्क का यह प्रकरण क्या है? इस पर भी विचार अपेक्षित है। वस्तुतः पूर्व पंक्तियों में वाणी के पुष्प-फल का वर्णन करते हुये तीन जो प्रक्रियायें कही गयी हैं वे ही प्रकरण की मूल हैं। वेद में अर्थ का परिज्ञापक देवता होता है। देवता-वाची शब्द का तीन प्रक्रियावों में अर्थ होता है। जैसे "अग्निमीळे पुरोहितम्[2]" का देवता "अग्नि" है। यह अग्नि जो देवता का वाचक शब्द है इसके अधियज्ञ, अधिदैव और अध्यात्म तीन प्रक्रियावों में क्रमशः विद्वान्, नेता, अग्नि और परमात्मा आदि अर्थ होते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि देवतावाची शब्द अनेक अर्थों का पति अर्थात् वाचक होता है और प्रक्रियावश उससे अनेकार्थ निकल आते हैं। यहाँ तक कि जो मंत्र अनेक बार वेदों में आते हैं उनका भी इसी देवता और प्रक्रिया के अनुसार भिन्न भिन्न अर्थ बन जाता है। इसलिए वेद में पुनरुक्ति दोष नहीं है। जिसको यहाँ पर प्रकिया कहा जा रहा है उसी का पर्यायवाचक शब्द प्रकरण है। वैदिक शास्त्रों के अनुसार इस प्रसंग में दर्शन, दृष्टि, प्रक्रिया और प्रकरण शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। दर्शन और दृष्टि में केवल व्याकरण के प्रत्ययों और लिंग का अन्तर है, अर्थ

नोटः—"भूयोविद्यः" विषय को मेरी पुस्तक वैदिकज्योति में देखें।

१—मंत्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढः श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु पृथक्त्वेन मंत्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्या न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति। इत्युक्तं पुरस्तात् मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्मन्त्रार्थ-चिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। तस्मा देवं किञ्चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति। नि० १३।१२

२—ऋग्वेद १।१।१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दोनों का एक ही है। यही बात प्रक्रिया और प्रकरण की भी हैं। ये सारे के सारे शब्द प्रकरण के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इन प्रकरणों के बाँधने का परिज्ञान भी वेद से ही हुआ जैसा कि पूर्व दिखलाया जा चुका है। वेदार्थ को करते समय इन प्रकरणों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। यास्क ने निरुक्त में भिन्न भिन्न प्रकरणों में वेद मंत्रों के अर्थ दिखलाये हैं। परन्तु इस प्रकरण-सम्बन्धी बात को प्रयोगात्मक रूप देने के बावजूद भी यास्क अधिक स्पष्ट करने के लिए निरुक्त चतुर्दश अध्याय का प्रारम्भ करते हुये लिखते हैं कि[1] "यज्ञाङ्गों और दैवत की व्याख्या की जा चुकी अतः अब ऊर्ध्व मार्ग-गति का व्याख्यान करूँगा—सूर्य आत्मा इति। यह महान् आत्मा किये कर्मों का द्रष्टा है। इसी महान् आत्मा को यह ऋचा बतलाती है—इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः इति। इस ही महान् आत्मा ने आत्माजिज्ञासा में अपने को कहा—अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः—अहमस्मि प्रथमजा इति। यास्क ने निरुक्त में जिन मंत्रों की व्याख्या की है इन प्रकरणों का ध्यान रखकर की है। कहीं तीनों प्रकरणों में, कहीं दो कहीं एक प्रकरण में उसके अर्थ मिलते हैं। प्रकरणशः एव तु निर्वक्तव्याः—नि० १०।१२—यास्कीय वचन का अर्थ करते हुये स्कन्द[2] स्वामी ने चार प्रकरण गिनाये हैं। वे हैं अधियज्ञ, अधिदैव, अध्यात्म और इतिहास अर्थात् नित्य इतिहास। 'आचार्य[3] दुर्ग ने' भी इसी बात का समर्थन किया है। उन्होंने भी वहाँ पर क्रमशः प्रकरणों का नाम गिनाया है। सामवेद के भाष्यकर्त्ता वैंकट[4] माधव ने भी आख्यान को विषय माना है। यास्क ने स्वयं भी अनेक मंत्रों का व्याख्यान इतिहास प्रकरण में ही किया है जिसका बाद में वर्णन किया जावेगा। साथ ही यास्क ने दैवत प्रकरण में देवता का निर्णय किया है। वहाँ पर अधियज्ञ, दैवत और अध्यात्म प्रकरणों की दृष्टि से जहाँ देवता का निर्णय किया है वहाँ विस्तार देते हुये यह वर्णन किया है "कि कहीं पर पुरुष के समान अङ्गों की कल्पना करके देवता का वर्णन पाया जाता है, कहीं पर पुरुष सम्बन्धी कर्मों के आरोप से स्तुतियाँ पायी जाती हैं। कहीं पर अचेतन वस्तुओं में भी चेतन के कर्मों का आरोप करके वर्णन पाया जाता है। कहीं पर नदी की स्तुति में भी पुरुष सम्बन्धी द्रव्य रथ का सम्बन्ध नदी के साथ औपचारिक रूप में जोड़कर वर्णन देखा जाता है। कभी कर्म को ही मुख्यता देकर वर्णन होता है जैसे यज्ञ यजमान का कर्मात्मा है।" पुनः यास्क यहीं पर लिखता है—एष चाख्यान-

---

१—व्याख्यातं दैवतं यज्ञाङ्गं चाथात ऊर्ध्वमार्गगतिं व्याख्यास्यामः। सूर्य आत्मेत्युदितस्य हि कर्मद्रष्टाथैदतनुप्रवदत्यथैतं महान्तमात्मानमेषर्गणः प्रवदतीन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरित्यथैष महानात्मात्मजिज्ञासयात्मानं प्रोवाचाग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः अहमस्मि प्रथमजा इत्येताभ्याम्। निरुक्त १४।१

२—सत्यपि चैतस्मिन् निरुक्ताख्ये तर्केणैव देवदेवताधिदैवाधिपुरुषफलेतिहासप्रकरणादिनिरपेक्षेण सता मंत्रा न निर्वक्तव्याः। स्कन्दस्वामी—नि० १३।१२

३—तान्येतानि प्रकरणानि मंत्राणां याज्ञं दैवतमध्यात्ममितिहासानुप्रवेश इति। दुर्गाचार्यः नि० १३।१२

४—आशास्तिस्तुतिसंख्यानम् प्रलापः परिदेवनम्।
प्रैषमन्वेषणं चैव सृष्टिराख्यानमेव च॥
सामभाष्य १।१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

समयः[1] अर्थात् यह आख्यान का सिद्धान्त है। यहाँ पर यह स्पष्ट भासित हो रहा है कि इस प्रकार की यास्कोक्त औपचारिक कल्पनायें ही आख्यान की आधार हैं। इन औपचारिक वर्णनों के कारण तीन प्रकरणों के अतिरिक्त चौथा प्रकरण इतिहासानुप्रवेश माना गया है। परन्तु इस इतिहास का अर्थ व्यक्तिविशेषों का इतिहास नहीं। यह नित्य इतिहास है और इन्हीं तीन प्रकरणों में से किसी एक अथवा तीनों के समझाने का नाम इतिहास है। यह काल्पनिक होता है। इस प्रकार वेदार्थ चार प्रकरणों के अनुसार किया जाता है—ऐसा वैदिक आचार्यों का सिद्धान्त है। कभी कभी श्री पं० सातवलेकर जैसे व्यक्ति वेदों के अण्ड बण्ड मनमाने प्रकरण बनाने लगते हैं। यह ठीक नहीं। प्रकरण तो आचार्यों ने जैसा दिखलाया गया स्वयं ही बाँध दिये हैं।

इस प्रसंग में आगे बढ़ने से पूर्व यह आवश्यक ज्ञात होता है कि यहाँ पर बहुत उग्ररूप में प्रचलित एक भ्रम का निराकरण कर दिया जावे। वह इस प्रकार से है कि वैदिक साहित्य में इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा; नाराशंसी और ब्राह्मण, शब्दों का प्रयोग कल्पशास्त्र और प्रसिद्ध ब्राह्मणग्रंथों के लिए भी होता है और इन से विशिष्ट विद्या एवं विज्ञान-विशेष अर्थों में भी। लोग दोनों अर्थों को एक मानकर गड़बड़ी में स्वयं पड़ते हैं और दूसरों को भी डाल देते हैं। यहाँ यह बात स्पष्टरूप में समझ लेनी चाहिए कि प्रचलित वाङ्मय के रूप में जहाँ इनका नाम आया है वहाँ पर इतिहास, पुराण गाथा और नाराशंसी से ब्राह्मणग्रन्थों अथवा उनके प्रतिपाद्य विषयों का ग्रहण होता है। ऐसे ही कल्प शब्द से कल्पशास्त्र का ग्रहण होता है। परन्तु जब इनका प्रयोग इनके अतिरिक्त अर्थों में पाया जाता है तब इनसे विशिष्ट विद्यायें ही अभिप्रेत हैं। उदाहरण के लिए तैत्तिरीय आरण्यक २।९[2] का वाक्य ही लिया जा सकता है। यहाँ पर ब्राह्मण, इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसियों का वर्णन है। उसी प्रकार आश्वलायन[3] गृह्यसूत्र ३।३।१–३ में भी इन का वर्णन है। ऐसे ही गोपथ ब्राह्मण पूर्वार्ध[4] २।१० में भी ये वर्णित पाये जाते हैं। इन प्रमाणों में वर्णित कल्प और इतिहास पुराण आदि शब्द कल्पशास्त्र और ब्राह्मणग्रन्थों के लिए अथवा उनके विषयों के लिए आये हैं। इनसे भिन्न अर्थों के प्रयोग के उदाहरण के रूप में निरुक्त[5] १२।११ का स्थल लिया जा सकता है। यहाँ पर "चत्वारि वाक्परिमिता पदानि" का अर्थ

१—यज्ञो यजमानस्यैष चाख्यानसमयः।

निरुक्त ७।७

२—ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः॥

तै० आ० २।९

३—यद् ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीति।

आ० गृ० ३।३।१—३

४—एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्यानाः सपुराणाः सस्वराः ससंस्काराः सनिरुक्ताः सानुशासनाः सानुमार्जनाः सवाकोवाक्यः। गोपथ पूर्वार्ध २।१०॥

५—मंत्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति—याज्ञिकाः। नि० १२।११

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

करते हुए यास्क ने भिन्न भिन्न मतों द्वारा ग्रहण किये जाने वाले चार पदों पर प्रकाश डाला है। याज्ञिक मत में मंत्र, ब्राह्मण और कल्प तथा चौथी व्यावहारिकी वाणी—ये चार वाणी के परिमित पद माने गये हैं। यहाँ पर कल्प और ब्राह्मण पदों का प्रयोग कल्पविज्ञान और ब्राह्मण-विज्ञान के अर्थ में है। कल्प-विज्ञान वह विज्ञान है जिसको लेकर कल्पशास्त्रों की रचना हुई। यह एक विद्या है, किसी ग्रन्थविशेष का उससे यहाँ पर ग्रहण नहीं है। जैसे ज्योतिष का अर्थ ज्योतिर्विज्ञान है, ज्योतिष के ग्रन्थ नहीं वैसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिए। यास्क के इस वाक्य में मंत्र शब्द से संहिता मंत्र अभिप्रेत हैं जिनमें अनेकों ज्ञान विज्ञान भरे पड़े हैं। याज्ञिक जन 'मंत्र' शब्द से चारों वेद-संहितावों के मंत्रों का ग्रहण करते हैं जो कि यज्ञों के मूल उद्‌गम स्थान हैं और जिनमें यज्ञ का विज्ञान भरा पड़ा है। कल्प शब्द से वह विज्ञान अभिप्रेत है जो अर्थ और यज्ञों के कर्मों को देखते हुये मंत्रों का कर्मों में विनियोग करता है। किन मंत्रों से कौन से गृह्य कर्म अथवा कौन से श्रौत कर्म अथवा कौन से यज्ञ एवं यज्ञाङ्ग संपन्न किये जावें—इसका प्रतिपादन यह विज्ञान करता है। मंत्रों का कर्मों में विनियोग इस विज्ञान का कार्य है। यज्ञ का सम्बन्ध कर्म से है और कर्मों को तीन विभागों में बाँटा जा सकता है। पहला कर्म गृह्य अर्थात् घरों में होने वाले संस्कार तथा पंञ्च महायज्ञादि हैं। दूसरा श्रौत कर्म है जिसमें दर्श-पौर्णमास से लेकर अश्वमेघ पर्यन्त यज्ञकर्मों का अन्तर्भाव है।

तीसरे में कर्तव्या-कर्तव्य की मीमांसा का सन्निवेश होता है! प्रथम विभाग की सम्पन्नता के लिए गृह्य सूत्रों की रचना हुई। द्वितीय विभाग के कर्मों की सिद्धि के लिए श्रौतसूत्रों की रचना हुई। तथा तृतीय विभाग के कर्मों के लिए धर्मसूत्रों अथवा उनके आधार पर स्मृतियों की रचना हुई। कल्पशास्त्र वेद के छः अंगों में एक है। कल्पशास्त्र में गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र और धर्मसूत्र तथा शुल्वसूत्रों का ग्रहण होता है। शुल्वसूत्रों में कल्प विज्ञान का वह भाग है जिसमें वेदी आदि निर्माण के प्रकारों पर विचार किया गया है और वह रेखागणित आदि का जन्म दाता है। परन्तु इस कल्पशास्त्र का आधार क्या है जिस पर इ की रचना हुई! इसका उत्तर यह है कि कल्पविज्ञान ही इसकी रचना का आधार है। जैसे ज्योतिष का अर्थ ज्योतिष विज्ञान है ज्योतिष का ग्रंथ नहीं, उह का अर्थ निरुक्तविज्ञान है निरुक्त की पुस्तक नहीं—वैसे ही यहाँ पर कल्प शब्द का अर्थ कल्प-विज्ञान है, कल्पग्रन्थ नहीं।

इसी प्रकार "ब्राह्मण" शब्द का अर्थ यहाँ पर ब्राह्मणविज्ञान है। ब्राह्मणविज्ञान वह विज्ञान है जिसमें वेद के यौगिक आदि आधारों को लेकर यज्ञ के रूप की समृद्धि, उसके उद्देश्य की सिद्धि और उसकी प्रशंसा द्वारा उसके प्रति लोगों में श्रद्धा उत्पादन का कार्य होता है। यज्ञ करना भी सृष्टिप्रक्रिया की कड़ियों की खोज करना है। ब्राह्मणविज्ञान इस कार्य को पूरा करता है।

इसी प्रकार मंत्र भी गायत्री आदि छन्दों और देवताओं की दृष्टि से मन्त्रों का वह विभाग है जो यज्ञ में अपने तात्पर्य को बतलाने में समर्थ हो।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अथर्व वेद[1] १५।६।११ में इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी का वर्णन मिलता है। वेद के नित्य एवं ईश्वरीय होने से उनमें प्रचलित इतिहास, पुराण आदि ग्रंथों का वर्णन आना तो असम्भव है अतः इनसे ये विद्यायें ही अभिप्रेत हैं। यहाँ पर इनका वही सामान्य अर्थ नहीं लेना चाहिए जो प्रचलित रूप में लिया जाता है। वस्तुतः ये यहाँ पर ब्राह्मण ग्रंथों के अर्थ में न प्रयुक्त होकर विशेष अर्थ में प्रयुक्त हैं। इतिहास शब्द से यहाँ पर सम्वादात्मक नित्येतिहास और सृष्टि-प्रक्रिया का सम्वाद अभिप्रेत है। इससे तात्पर्य उस विज्ञान से है जिसके द्वारा देवों से सृष्टि के उत्पन्न होने का क्रम बताया जाता है। अदिति से किस प्रकार देव पैदा हुये और किस प्रकार पुनः उनसे लोकान्तर बने इस प्रकार के कल्पित आख्यानों का नाम इतिहास है। जड़ पदार्थों में इस इतिहास की कल्पना पायी जाती है। ऋग्वेद का अदिति से देवों की उत्पत्ति क सूक्त (ऋ० १०।७२) इस इतिहास से सम्बन्ध रखता है। यह व्यक्ति विशेषों का इतिहास नहीं—नित्येतिहास है। "पुराण" से सृष्टि रचनाविज्ञान अभिप्रेत है। सृष्टि की रचना का विज्ञान पुराण कहलाता है। बेदों में ऐसे बहुत से मंत्र हैं जिनमें सृष्टि विद्या का वर्णन हैं। वह विद्या ही यहाँ परपुराण शब्द से अभिप्रेत है। किसी को इस विषय में संशय न रहे इसलिए अथर्व वेद से ही पुराण की परिभाषा दे दी जाती है। अथर्व वेद[2] ११।८।७ में लिखा है कि प्रागवस्था में भूमि इस प्रकार रहती है और पुनः इस प्रकार लोक लोकान्तर प्रकट होते हैं—इसको जो भली प्रकार जानता है वह पुराण-विद् है। पुनः अथर्व ११।७।२४ में "पुराणं यजुषा सह" पाठ आया है। यहाँ पर "पुराण" शब्द से सृष्टि सम्बन्धी यजुर्वेद के विराट् (३१, ३२ वें अध्याय) सम्बन्धी अध्याय और मंत्र अभिप्रेत हैं और यजुः शब्द से शेष कर्मकाण्ड सम्बन्धी मंत्र। इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि "पुराण" से सृष्टि-विज्ञान अभिप्रेत है।

"गाथा" वे ऋचायें हैं जो स्तुति और सम्वाद से सम्बन्ध रखती हैं। नाराशंसी से तात्पर्य उन ऋचावों का है जिनमें मानवसम्बन्धी वर्णन पाये जाते हैं। जिसमें नरसम्बन्धी वर्णन अथवा गुणकथन है वे नाराशंशी हैं। ये व्यक्ति विशेषों से सम्बन्ध नहीं रखते हैं। इनका सामान्य मनुष्यों से सम्बन्ध है। इसी प्रकार जैसा पूर्व वर्णन किया है कल्प और ब्राह्मण के विषय में भी समझना चाहिए। निरुक्तकार ने [3]४।६ पर लिखा है कि "मंत्र ऋचावों; इतिहास और गाथा से मिश्रित हैं। इस भाव को कई लोग न समझकर इतिहास की सिद्धि करते हैं। परन्तु यहाँ यह मालूम होना चाहिए कि इतिहास और गाथा शब्द का अर्थ यहाँ पर निरुक्तकार को वैसा ही अभिप्रेत है जैसा कि अभी अथर्व वेद के सन्दर्भ से वर्णन किया जा चुका है। निरुक्तकार को

१—स बृहतीं दिशमनु व्यचलत्।
नाराशंसीश्चानु व्यचलन् तमितिहासश्च पुराणञ्च गाथाश्च ॥
अथर्व० १५।६।११

२—येत आसीद्भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद्विदुः।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित् ॥
अथर्व० ११।८।७

३—तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति। नि० ४।६

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इतिहास और गाथा से वैयक्तिक इतिहास और लौकिक गाथायें नहीं अभीष्ट हैं। इस स्थल की व्याख्या करते हुये प्रसिद्ध भाष्यकार स्कन्द स्वामी[1] लिखते हैं कि "ऋक् शब्द से यहाँ पर परिदेवना सम्बन्धी ऋचायें अभिप्रेत हैं। तथा गाथा से यास्क का अभिप्राय केवल स्तुति सम्बन्धी ऋचावों से है जैसा कि अरुणो मा सकृत् ऋ० १।१०७।१८—यह गाथा ऋचा है। त्रित सम्बन्धी सूक्त सम्वाद से युक्त है अतः यही नित्येतिहास है। इस प्रकार के नित्येतिहास पाये जाते हैं। यास्क का अभिप्राय इन्हीं नित्येतिहासों से है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का १०५ वाँ सूक्त नित्येतिहास से सम्बन्ध रखता है। इसमें कर्मपाश में बँधा हुआ स्थूल, सूक्ष्म और करण शरीरों में विद्यमान जीव (त्रित) पश्चात्ताप कर रहा है और परमेश्वर से प्रार्थना कर रहा है कि हे प्रभो! हमें इससे उबार ले। बस इस कल्पना का नाम यहाँ पर इतिहास है। इसी सूक्त के १७ वें[2] मंत्र में ऐसा लिखा है कि "त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊत ये—अर्थात् संसार कूप में गिरा हुआ जीव (त्रित) देवों को अपनी रक्षा के लिए पुकारता है। यह ही इतिहासकल्पना है। दुर्गाचार्य भी यास्क के इस वचन का अर्थ करते हुये लिखते हैं[3] कि—"उस त्रित सम्बन्धी सूक्त में ब्रह्म (वेद मंत्र) इतिहास से युक्त हैं वह इस प्रकार से—त्रितः कूपेऽवहितः देवान् हवत ऊतये" आदि। ऋक् और गाथावों से भी युक्त होता है। वह इतिहास ऋग्युक्त और गाथा से युक्त होता है। ऋक् का ही कोई प्रकार गाथा कहा जाता है।" यहाँ तक यह स्पष्ट हो गया कि प्रकरण चार प्रकार के है और उनमें नित्येतिहास भी एक प्रकरण है तथा इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी, कल्प और ब्राह्मणों के अर्थ लोक प्रसिद्ध एवं वर्तमान ग्रंथों में प्रसिद्ध अर्थ ही नहीं अपितु इनसे भिन्न विद्यावों के अर्थों के द्योतक भी ये हैं। निरुक्त और वेद में पूर्वोक्त स्थानों पर इनका जहाँ प्रयोग हुआ है वहाँ इन विद्यावों के अर्थ में ही हुआ है। प्रस्तुत विषय इतिहास के स्वरूप पर अब विचार किया जाता है।

जब यह सुनिश्चित है कि इतिहास भी एक प्रकरण है तो उस प्रक्रिया से भी वेदार्थ होता है इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। परन्तु वह प्रक्रिया याज्ञिक आधि दैविक और आध्यात्मिक अर्थों को समझाने की ही हुआ करती हैं। वेदार्थ की ओर प्रत्यक्ष प्रयत्न नैरुक्त, याज्ञिकों और अध्यात्मविदों का रहा। इतिहास-प्रक्रिया वाले इन्हीं के अन्दर समाविष्ट थे जो कि आगे चलकर प्रकट हो जावेगा। यास्काचार्य ने निरुक्त १३।७ पर ऋग्वेदीय (४।५८।३) मंत्र "चत्वारिश्शृङ्गा" की व्याख्या करते हुये स्पष्ट रूप में वेदवाणी का वर्णन किया है और अर्थ यज्ञ परक लगाया है। इसमें

१—ऋक्शब्देन सामान्यशब्देनापि सामर्थ्यात् परिदेवनार्था ऋच इहोच्यन्ते। (गाथाः) केवलाः स्तुत्यर्था ऋचः ताभिर्मिश्रम्। (इतिहासमिश्रम्) त्रितः कूपेऽवहितः (ऋ० १।१०५।१७)—निरुक्त ४।६ पर स्कन्द स्वामी।

२—त्रितः कूपेऽवहितः देवान् हवत ऊतये। ऋ० १।१०५।१७

३—तत्र तस्मिन् सूक्ते ब्रह्मेतिहासमिश्रम्। इतिहासयुक्तमित्यर्थः। तद्यथा "त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये (ऋ० १।१०५।१७) इत्येवमादि। ऋङ्मिश्रं गाथामिश्रं च भवति। स पुनरितिहास ऋग्बद्धो गाथाबद्धश्च। ऋक्प्रकार एव कश्चिद्गाथेत्युच्यते॥ (दुर्गाचार्य)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मन्त्रस्थ "महो देवः" का अर्थ उसने महान् देव और उसका अर्थ यज्ञ किया है। साथ ही इससे आगे आगे "स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी। यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वान्सो वितेनिरे" के द्वारा यज्ञ का उद्देश्य भी दिखला दिया है। यास्क ने चत्वारिश्रृङ्गा का अर्थ वही किया है जो लगभग गोपथ ब्राह्मण में किया गया है। [1]यास्क यहाँ पर चत्वारिश्रृङ्गा से चारों वेदों और "त्रिधा बद्धः" से मंत्र, ब्राह्मण और कल्प से बँधा हुआ—अर्थ ग्रहण करता है। इससे आगे चलकर पुनः निरुक्त १३।६ पर "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि" (ऋ० १।१६४।४५) की व्याख्या करते हुये वह भिन्न भिन्न मतों का वर्णन[2] देता है। यहाँ पर "वाणी के चार पद कौन से हैं?" इसके विषय में भिन्न भिन्न मत दर्शाये गये हैं। यास्क के वर्णनानुसार—आर्ष सरणि में वाणी के चार पद—"ओंकार", "भूः" "भुवः" और "स्वः" हैं। इन्हीं तीन को महा व्याहृति कहा जाता है। वैयाकरण लोग—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात को वाणी का चार पद मानते हैं। याज्ञिकों के अनुसार मंत्र, ब्राह्मण, कल्प और चौथी व्यावहारिकी वाणी ही—वाणी के चार विभाग हैं। नैरुक्तों के अनुसार ऋक्, यजुः, साम लक्षणमयी तथा व्यावहारिकी वाणी को वाणी का चार पद माना जाता है। किन्हीं एक आचार्यों के मत में—सर्पों की वाणी, पक्षियों की वाणी और क्षुद्रजन्तुओं की वाणी तथा चौथी व्यावहारिकी वाणी-वाणी के चार पद माने गये हैं। आत्मवादी लोग पशु, मृग, वाद्य की ध्वनियों और चौथी आत्मा की वाणी को चार पद कहते हैं। यहाँ पर यास्क ने दिखाला दिया कि प्रक्रियानुरोधेन मंत्रों के कितने अर्थ होते हैं। इन सभी प्रकारों आर्ष प्रकार में व्यवहारिकी वाणी को नहीं गिनाया गया है। कारण यह है कि आर्ष दृष्टि वेद सम्बन्धी दार्शनिक दृष्टि है अतः उसमें व्यावहारिक वाणी का प्रसंग ही नहीं उठता। वैयाकरणों ने व्यावहारिकी को इसलिए नहीं गिनाया कि उनकी वाणी व्यावहारिकी ही है। अतः वहाँ पर व्यावहारिकी का अलग कोई प्रश्न नहीं खड़ा होता। आत्मवादियों के मत में आत्मा की वाणी में व्याहारिकी आदि का अपने आप समावेश हो जाता है। याज्ञिक, नैरुक्त और "एके" से संकेतित आचार्यों के मत में व्यावहारिकी वाणी को चतुर्थ पद माना गया है। यह ठीक ही है। क्योंकि याज्ञिक और नैरुक्त मत में तीन पद हैं ही ऐसे कि जो बोल चाल के नहीं हैं। ऐसे ही अन्य 'एके' से व्यक्त आचार्य के मत में भी तीन पद तो मानव की बोल चाल में नहीं आ सकते अतः चौथी व्यावहारिकी वाणी मानना संगत ही है। इन भिन्न भिन्न मतों के निदर्शन से आचार्य यास्क ने यहाँ पर स्पष्ट कर दिया कि वेदार्थ के प्रक्रियानुसार भिन्न भिन्न प्रकार हैं और इन प्रकारों को मानने वाले आचार्य इन ढंगों पर अर्थ किया करते थे। यहाँ पर अर्थों की भिन्नता होने पर भी प्रकरण कीदृष्टि से चार ही प्रकरणों में ये सारे अर्थ आ जाते हैं। इनमें नैरुक्त लोग निरुक्त के दृष्टिकोण से

१—चत्वारि शृंगेति वेदा वा एत उक्ताः। ······त्रिधाबद्धः त्रेधा बद्धो मंत्रब्राह्मणकल्पैः—निरुक्त १३।७

२—ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्, नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः, मंत्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः, ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः, सर्पाणां वाक् वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकी इत्येके; पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः। नि० १३।९

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अर्थ किया करते थे, और याज्ञिक लोग, याज्ञिक प्रक्रिया से अर्थ करते थे। यज्ञिक-लोग ही ब्राह्मण ग्रंथकार मालूम पड़ते हैं। परन्तु ब्राह्मण ग्रंथों की प्रक्रिया भी नैरुक्तों का आधार है अतः यह नहीं कहा जा सकता कि नैरुक्तों का और ब्राह्मणकारों का परस्पर विरोध रहा हो। निरुक्तियाँ ब्राह्मण-ग्रंथों के आधार पर हैं और अनेक स्थलों पर उनका अर्थ प्रकार भी यास्क ने स्वयं स्वीकार किया है जो आगे चलकर बतलाया जावेगा। ऐसा होता भी क्यों न, क्योंकि वह भी तो एक प्रक्रिया है। ये ब्राह्मणग्रंथकार याज्ञिक नैरुक्त, पक्ष के मन्तव्य को मानते हुये भी अपने सिद्धान्तों की दृष्टि से याज्ञिक[1], पूर्वयाज्ञिक अर्थात् शुद्धयाज्ञिक के रूप में पक्ष रखते थे। आध्यात्मिक प्रक्रिया में और अधिदैवत प्रक्रिया में अर्थ करने में बहुत जटिलता नहीं होती है। परन्तु यज्ञ-प्रक्रिया में विस्तार अधिक होता है और इस विस्तार के कारण अर्थ में जटिलता होती है। इस जटिल भाव को समझाने के लिए पूर्व कथित नित्य आख्यान अथवा नित्येतिहास अथवा वैदिक सूक्तों में दिखलायी पड़ने वाले संवादों को आधार बनाकर शुद्ध याज्ञिकों ने कल्पित इतिहास का सहारा लिया। वे इस कल्पित नित्येतिहास के द्वारा अर्थों को समझाते थे। परन्तु व्यक्तिविशेष से इन इतिहासों का कोई सम्बन्ध नहीं होता था। बाद में पौराणिक काल में इस प्रक्रिया का रूप विकृत होगया और इन्हीं नामों को व्यक्तिविशेषों के इतिवृत्त पर घटा दिया गया। नित्येतिहास प्राकृतिक वस्तुओं के भी होते हैं और वे गढे हुये कल्पित होते हैं। इस प्रक्रिया का प्रभाव इतना अच्छा पड़ा कि निरुक्त कारों और अध्याध्याविदों आदि ने भी इस ढंग को अपने अर्थों को समझाने में बर्तना प्रारंभ कर दिया। वेद में अश्विनी, अदिति, आदि सम्बन्धी जो कल्पित संवाद पाये जाते हैं उन पर यह कल्पना आधारित हुई।

पूर्व कहा जा चुका है कि नित्येतिहास एक प्रकरण है और उस सम्बन्धी विज्ञान का अथर्ववेद में भी वर्णन पाया जाता है। वही वस्तुतः शुद्धयाज्ञिकों की इतिहास कल्पना का आधार बना। निरुक्त के प्रसिद्ध भाष्यकार स्कन्द[2] स्वामी ने निरुक्त ७।५ पर यास्क के कथन की व्याख्या

१—इति याज्ञिकाः नि० ११।४३; नि० ११।४२, ११।३१ ११।२९; इति याज्ञिका वेदयन्ते। नि० ५।११—इति पूर्वे याज्ञिकाः। नि० ७।२३

२—नैरुक्ता अपि मंत्रादेवतानिर्वचनेन तावद्द्रव्यमनुबुभूषन्तो ऽग्न्यादिभ्यस्त्रिभ्यो नान्यं पश्यन्ति। न शृण्वन्ति। याज्ञिका अपि तेन तेन फलेन नाधिनः सन्तस्तस्मिन् तस्मिन् कर्मणि देवतायाः सम्प्रदानत्वेन चोदनालक्षणत्वात् तदुद्देशेन व्यवदानानि। द्रव्य-त्यागो यागस्तस्य फलसाधनत्वेनाभ्युपगमात्। दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यादि वाक्यस्य दर्शपूर्णमाससंज्ञकेन यागेन स्वर्गं भावयेदित्यर्थस्य प्रपञ्चप्रति पादानादगस्य फलम्, न देवतायाः इति निश्चितम्। अतश्च तस्याश्च गुणभूतत्वाद् यागनिर्वृत्तौ स्रुगादिवदङ्गभावोपग-मात्। सा च य गनिर्वृत्तिश्चोदनालक्षणेऽग्न्यादौ शब्दमात्रे देवतायां सिद्धेति वस्तुसद्-सद्भावाकारविचारः कर्मणि मन्दोपयोग इति कृत्वा शब्दव्यतिरिक्तां देवतां न पश्यन्ति न शृण्वन्ति। शुद्धयाज्ञिकास्तु शब्दव्यतिरिक्ताम् इतिहासपुराण प्रसिद्धाम् "तुविग्रीवः" ऋ० ५।२।१२; ८।१७।८; ८।६४।७, इत्यादिमंत्रप्रत्याग्रितरूपां प्रतिजानते स्तुवते

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

करते हुये कहते हैं कि "अग्नि, वायु, सूर्य नैरुक्तों के देवता हैं। याज्ञिक शब्दमयी देवता मानते हैं। इसी कारण मंत्रों का विनियोग बदलता जाता है। शुद्ध याज्ञिक इतिहास-पुराण से प्रतीत होने वाले देवताओं को स्वीकार करते हैं। उदाहरण के रूप में "तुविग्रीवः" (ऋ० ५।२।१२; ८।१७।८; ८।६४।७) आदि मंत्रों को समझना चाहिए। सभी दर्शनों में सभी मंत्रों की योजना करनी चाहिए। क्योंकि स्वयं भाष्यकार (यास्क) ने सभी मंत्रों के तीनों प्रकार के अर्थों के प्रदर्शनार्थ कहा है कि—अर्थं वाचः पुष्पफलम्।" यहाँ पर शुद्ध याज्ञिकों के साथ इतिहासप्रक्रिया का स्पष्ट ही सम्बन्ध स्कन्द ने दिखलाया है। इसके अतिरिक्त पूर्व प्रदर्शित निरुक्त १३।११ पर यास्क द्वारा वाणी के चार विभागों के विषय में प्रदर्शित भेदों के प्रसंग में एक पक्ष को "एके" कहकर व्यक्त किया गया है। वहाँ पर लिखा गया है कि—"सर्प, [1]पक्षी क्षुद्रजन्तुवों की वाणी और चौथी व्यावहारिकी वाणी ही वाणी के चार पद हैं ऐसा कई एक आचार्य मानते हैं। इस पर टीका करते हुये स्कन्द स्वामी [2]लिखते हैं "नैरुक्त, याज्ञिक और ऐतिहासिक मतों में जो व्यावहारिकी अर्थात् लौकिकी वाणी है उसे मनुष्य बोलते हैं।" यहाँ पर नैरुक्त और याज्ञिक पद तो यास्क के मूल वाक्यों के ही प्रयुक्त हुये हैं। परन्तु ऐतिहासिक पद कहाँ से स्कन्द ने लिया ? इसका उत्तर होगा कि "एके" पद से "ऐतिहासिक" अभिप्रेत हैं। स्कन्द के इस कथन से यहां भी स्पष्ट हो गया कि ऐतिहासिक शब्द से शुद्धयाज्ञिक ही अभिप्रेत हैं। शुद्धयाज्ञिक और ऐतिहासिक यहाँ पर एक ही हैं—ऐसा प्रकरण से भान होना है भी स्वाभाविक। क्योंकि वैयाकरण, आर्ष, याज्ञिक, नैरुक्त और आत्मवादियों का वहाँ पर यास्क ने नामशः उल्लेख किया है। केवल शुद्धयाज्ञिक मत रह जाता है और वही यहाँ पर "एके" शब्द से अभिप्रेत है। स्कन्द ने पूर्व भी इतिहासपक्ष शुद्ध याज्ञिकों का ही माना है जो पूर्व दिखलाया जा चुका है।

शुद्धयाज्ञिकों द्वारा प्रचारित इस रीति का हमें भिन्न भिन्न निदर्शन वैदिकसाहित्य के ग्रन्थों में मिलता है। परन्तु इसका प्रयोग उस उच्छृंखल गति से इन्हों ने नहीं किया था जिस उच्छृंखल गति से आज इतिहासवादी अपनी इतिहास प्रक्रिया का किया करते हैं। आज तो ऐसा है कि सम्बन्ध जुड़े या न जुड़े नामवाचक शब्द के दृष्टि में आते ही लम्बी कल्पनायें कर ली जाती हैं। त्रित के इतिहास के निर्णय के अवसर पर इस पर प्रकाश डाला जावेगा। यास्क ने ऋग्वेदीय मंत्र (१।३२।१०) की व्याख्या अपने निरुक्त २।१६ पर की है। मंत्र में "वृत्र" और इन्द्र का वर्षा-कालिक युद्ध अलंकार रूप में वर्णित है। वृत्र शब्द की व्याख्या करते हुये निरुक्तकार इस रहस्य को खोलते हैं। उससे इतिहास के तथ्यभूत स्वरूप पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। निरुक्तकार

ध्यायन्ति वेति सर्वदर्शनेषु सर्वे मंत्रा योजनीयाः। कुतः स्वयमेवाह भाष्यकारेण सर्वमंत्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय "अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। स्कन्दस्वामी पृ० ३६ (लाहौर प्रकाशित)।

१—सर्पाणां वाग्वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके। नि० १३।११

२—नैरुक्तयाज्ञिकैतिहासिकमतेषु व्यावहारिकी लौकिकी या वाक् तां सर्वे मनुष्या वदन्ति ॥ स्कन्द स्वामी ॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इतिहास और निरुक्त प्रक्रिया में समन्वय लाने की दृष्टि से प्रश्न उठाते हैं कि[1] फिर "वृत्र" क्या है। उत्तर में कहते हैं कि निरुक्त पक्ष में मेघ ही वृत्र है और ऐतिहासिक पक्ष में त्वष्टा का पुत्र असुर वृत्र है। यास्क का यह कथन यहाँ पर नारायणी संहिता १।२।३।४ के आधार पर है। मेघ तो उसका अपना पक्ष है ही। इतिहास का निरुक्तमत से समन्वय किस प्रकार होगा इस पर यास्क कहते हैं कि [2]पानी और ज्योतियों के मिश्रीभावकर्म से वर्षा होती है और उसका ही उपमार्थ से युद्ध वर्णन किया जाता है। इस विषय में मंत्र का भी प्रमाण है और ब्राह्मण का भी प्रमाण है। यहाँ पर यास्क रूपक को इतिहास का कारण बतला रहा हैं और इस रूपक-कल्पना के प्रमाण में वह कहता है कि मंत्र में भी इसका वर्णन है और ब्राह्मण में भी ऐसा वर्णन मिलता है। मंत्र में भी ऐसा वर्णन मिलता है—यह कहकर यास्क हमारी पूर्व प्रदर्शित इस धारणा का समर्थन कर रहे हैं कि वेद मंत्रों में दिखाई पड़ने वाले संवाद, रूपक आदि के आधार पर इतिहास की कल्पना की गई। यास्क के इस दिये गये संकेत पर थोड़े विस्तार से विचार करने की जरूरत है और वेद में इसका वर्णन कहाँ पर है यह भी देखना है। यास्क कहता है कि "यह युद्ध "अहिवत्" है जिसका मंत्र में वर्णन है। ऋग्वेद[3] १।३२।२ स्थल पर "अहि" सम्बन्धी मंत्र हमें मिलता है। उस मंत्र में अहि और त्वष्टा का युद्ध वर्णित है। वहां पर मंत्र में वर्णित है कि पर्वताकार मेघों के मध्य में "जलद मेघ" (अहि) सोया हुआ है और त्वष्टा अपने प्रकाशमान वज्र से उस पर प्रहार करता है। इससे बहती हुई जलधारायें समुद्र में वर्षा द्वारा जा मिलती हैं"। यहाँ पर इस मंत्र में वर्णित रूपक को आधार लेकर यास्क उपमार्थ युद्ध का समर्थन कर रहा है। यास्क का इस मंत्र की ओर संकेत करना इस बात का भी द्योतक है कि मंत्र में दिखलाई पड़ने वाला रूपक जहाँ इतिहास-कल्पना का द्योतक है वहाँ "त्वष्टा" और "अहि" पद भी उसकी प्रक्रिया से मिलते हुवे अर्थों के ही वाचक है। तात्पर्य यह है कि जो नैरुक्त मत में "इन्द्र" है वही त्वष्टा भी है। इन्द्र का ही नाम त्वष्टा है। ऐतरेय ६।१० [4]में ऋ० १।१२।६ की प्रतीक के साथ लिखा गया है कि इन्द्र ही त्वष्टा है। त्वष्टा रूपों का स्वामी है—यह बात भी इन्द्र (सूर्य, विद्युत् और तेज) में ही घटती है। इसी प्रकार निघण्टु १।१० में "असुर" पद मेघ अर्थ में पढ़ा गया है। फिर इस वृत्र को "त्वाष्ट्र" अर्थात् त्वष्टा का पुत्र कैसे कहा जाता है। इसका समाधान यह है कि सूर्य सम्बन्धी विद्युत् की ऊष्मा से पानी की बाष्प मेघरूप में परिणत होती है और इसीलिए वह मेघ त्वाष्ट्र कहा गया है। पुनः उसी विद्युत् से ताडित की हुई जलधारायें वर्षा करती हैं यह इन्द्र का वृत्रवध है। [5]दुर्गने इसका अच्छा वर्णन किया है। उसका कथन है कि वायु से आवेष्टित विद्युत् से ताडित जलधारायें वर्षा के लिए होती हैं।

१—तत्को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इति—ऐतिहासिकाः। नि० २।१६

२—अपां ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। नि० २।१६

३—अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः॥ ऋ० १।३२।२

४—इन्द्रो वै त्वष्टा—ऐतरेय ६।१०

५—तेन हि वैद्युतेन ज्योतिषा वाय्वावेष्टितेनेन्द्राख्येनोपताड्यमाना आपः प्रस्पन्दन्ते वर्षभावाय कल्पन्ते। दुर्गाचार्यः नि० २।१६

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यहाँ पर यह प्रमाणित होगया कि जो वर्णन नैरुक्त मत का है वही ऐतिहासिक पक्ष ने भी किया है। नैरुक्त मत में भी मेघ का ही वर्णन है और ऐतिहासिक मत में भी। वृत्र कहें अथवा असुर कहें दोनों एक ही अर्थ को देने वाले हैं। इन्द्र कहें अथवा त्वष्टा कहें भाव। दोनों का एक ही है। यहाँ पर केवल "रूपक" प्रकट करने के लिए इतना विस्तार दिखलाया गया है।

यास्क के "उपमार्थेन युद्धवर्णाः" पद पर भाष्यकारों ने जो विचार व्यक्त किये हैं वे भी दर्शनीय हैं। स्कन्दस्वामी लिखते हैं कि[1] "सभी इतिहास अर्थवाद-मूल वाले हैं! वे अन्यपरक केवल विधि प्रतिषेध रूप हैं। इसलिए उनका अनादर करके स्वयं नित्यदर्शन को दिखलाते हुये कहा गया कि—"मेघ इति नैरुक्ताः"। "वहाँ पर मुख्य युद्ध की संभावना का अभाव होने से औपचारिक युद्ध का वर्णन उपमालक्षण से किया गया है। इसमें सादृश्य क्या है! उत्तर—संघर्ष ही सादृश्य है। इस प्रकार ऐसा युद्ध न होने पर भी यह कल्पना है। इस कल्पित युद्ध के वर्णन में मंत्र भी प्रमाण है"। दुर्ग भी यहाँ पर लिखता है—"[2]यहाँ पर परस्पर प्रतिद्वन्द्वी रूप में विद्यमान जल और तेज का उपमार्थ अर्थात् रूपक कल्पना से युद्ध वर्णन हैं। ये युद्ध के रूपक हैं। यहाँ पर वास्तविक घटित युद्ध का वर्णन नहीं है। इन्द्र के कोई शत्रु हैं ही नहीं। मंत्र भी इस अर्थ को व्यक्त करता है"। स्कन्द और दुर्ग जिस मंत्र की ओर संकेत कर रहे हैं। वह ऋग्वेद (१०।५४।२) का मंत्र है। इस मंत्र में वर्णन किया गया है "हे [3]इन्द्र! जनों में अपने बलों का प्रकाश करते हुये तुम अपने कलेवर से बढ़ते हुये फिरते हो। तुम्हारे जो युद्ध कहे जाते हैं वे केवल माया अर्थात् बुद्धि के चातुर्य एवं कल्पित हैं। तुम्हारा न आज कोई शत्रु है और न पहले कभी हुआ"। यहाँ पर मंत्र में ही इस प्रकार के इन्द्र के युद्धों को माया कहा गया है। "माया" शब्द का अर्थ कल्पना और बुद्धि-चातुर्य है। अतः ये इन्द्र के युद्ध केवल बुद्धि-चातुर्य हैं और कुछ नहीं। इस माया के वर्णन में ऋग्वेद (३।५३।८) का मंत्र और भी उत्तम प्रकाश डालता है। मंत्र में वर्णित है कि "इन्द्र [4](विद्युत्) ऋतुओं के वशीभूत न होते हुये भी ऋत नियम की पालक है। यह

१—सर्वं इतिहासाश्चार्थवाद मूलभूताः। ते चान्यपरा विधिनिषेध शेषभूताः। अतस्तानादृत्य स्वयमविरुद्धं नित्यदर्शनमुपोद्बलयन् आह: "मेघ इति नैरुक्ताः॥" तत्र मुख्ययुद्धसंभवभावादौपचारिकी उपमालक्षणार्थेन युद्धवर्णना। किं सादृश्यम्? संघर्षः। तस्मादसति युद्धे कल्पनैषा। तथा च कल्पितरूपाः मंत्रवर्णा मंत्रलिंगाः।

—स्कन्दस्वामी

२—तत्रैवं सत्युदकतेजसोरितरेतरप्रतिद्वंद्वभूतयोरुपमार्थेन रूपककल्पनया युद्धवर्णा भवन्ति—इति। युद्धरूपकाणीत्यर्थः। न ह्यत्र यथाभूतं युद्धमस्ति। न हीन्द्रस्य शत्रवः केचन सन्ति। मंत्रोऽप्येतस्मिन्नर्थेऽस्ति॥ दुर्गाचार्यः

३—यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा विवित्से॥

ऋ० १०।५४।२

४—रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्।
त्रिर्यद्दिवः परि मुहूर्तमागात् स्वैर्मंत्रैरनृतुपा ऋतावा॥ ऋ० ३।५३।८

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अपने कलेवर को माया के विस्तार के द्वारा विभिन्न रूपों में प्रकट करता है। एक ही क्षण में अपने प्रयोगों से द्यु के ऊपर तथा तीनों लोकों में पहुँच जाता है"। यहाँ मंत्र में इन्द्र की माया का इतना बड़ा विस्तार बतलाया गया है। सचमुच विद्युत् का इतना बड़ा विस्तार इस जगत् में है ही कि जो वह त्रिलोकी में विद्यमान है। पूर्व प्रदर्शित मंत्र के आशय को लेते हुये ही शतपथ ब्राह्मण में भी इस मायामय युद्ध का वर्णन है। यास्क ने इसी भाव के द्योतनार्थ "ब्राह्मणवर्णाः" पद का व्यवहार किया है। शतपथ ब्राह्मण (अजमेरीय संस्करण) ११।१।६।१ में लिखा है "इसलिए[1] कहते हैं कि यह देवासुर संग्राम हुआ नहीं। शतपथ में इतना कहने के उपरान्त किसी शाखा का वचन भी "तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्" कहते हुये दिया गया है जिसका भाव निम्न प्रकार है—"हे मघवन्! तुम कभी किसी से युद्ध करने की इच्छा नहीं करते हो। तुम्हारा कोई शत्रु नहीं है। तुम्हारे जितने युद्ध कहे जाते हैं वे माया मात्र हैं। न तुम्हारा आज कोई शत्रु है और न तुमने पहले ही कभी युद्ध किया है" यहाँ ब्राह्मण ने भी स्पष्ट कर दिया कि इन्द्र यह युद्ध माया मात्र है वास्तविक नहीं।

यहाँ इतने वर्णन से यह स्पष्ट हो गया कि इतिहास का आधार एक तो उपमार्थ औपचारिक वर्णन है और दूसरा माया का चातुर्य अर्थात् माया मात्र है।

इसके अतिरिक्त आख्यान के स्वरूप पर एक दूसरे प्रकार से भी प्रकाश पड़ता है। यास्क ने निरुक्त १०।४६ और ११।१० पर लिखा है कि [2]मंत्रार्थ-द्रष्टा ऋषि की आख्यान-संयुक्त वर्णन में प्रीति होती है।" यहाँ यास्क यह दिखला रहे हैं कि इतिहासों की कल्पना मंत्रार्थद्रष्टा की प्रीति से होती है। मंत्र के अर्थों को साक्षात् करने वाला ऋषि प्रीतिवश आख्यान की कल्पना करके अर्थ में रोचकता लाने के लिए—ऐसा किया करता है न कि किसी व्यक्ति-विशेष का इतिहास दिखलाने के लिए। यदि किसी व्यक्ति-विशेष का इतिहास बतलाने के लिए वैदिक इतिहास होते तो फिर जड़ पदार्थों में इनकी कल्पना का कोई कारण नहीं है। परन्तु ये इतिहास जड़ पदार्थों में भी पाये जाते हैं। वेद मंत्रों में ये सम्वाद के रूप में मिलते हैं और उन्हीं से प्रीतिवादी इतिहास की कल्पना को भी प्रश्रय मिलता है। यास्क ने स्वयं नि० ५।२१ पर ऋग्वेदीय (१।११७।१६) का प्रमाण उद्धृत किया है। यह मंत्र जड़ पदार्थों में इतिहास दिखलाता है। मंत्र में उषा अश्विनियों से कहती है कि हे [3]अश्विनी लोगो! आप दोनों वर्तनशील हो। आपने ही मुझे सूर्य के मुख से छुड़ाया है। आप लोग इतने महान् हो कि मेघ के शिखर पर चढ़कर विजिगीषा के साथ विचरते हो। आप दोनों ने ही सर्वत्र गतिशील होकर दुर्भिक्ष कहे जाने वाले समुत्पन्न उपद्रव को मेघ के जल से विनष्ट किया है॥" यहाँ पर उषा और अश्विनी का सम्वाद है। यह स्पष्ट करता है कि वैदिक इतिहास कल्पित हैं। व्यक्ति-विशेष के इतिहास नहीं।

१—तस्मादाहुर्नैतद् अस्ति यद्देवासुरमिति॥ तस्मा०
न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्से॥ इति।

२—ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यान-संयुक्ता। नि० १०।४६, ११।१०

३—अजोहवीदश्विना वर्तिकावामास्नो यत्सीममुञ्चतं वृकस्य।
विजयुषा ययथुः सान्वद्रेर्जातं विश्वाचो अहतं विषेण॥ ऋ० १।११७।१६

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण के दर्शपौर्णमास प्रकरण में ([1] १।४।५।१२) प्रजापति की आहुति मौन देनी चाहिए इस विषय को लेकर मन और वाणी का विवाद पाया जाता है। यह भी ऐसा ही कल्पित इतिहास है।

इसके अतिरिक्त भक्तिवाद से भी इतिहास का उन्नयन होता है। यह भक्तिवाद ब्राह्मण ग्रंथों में पाया जाता है। भक्तिवाद का अर्थ है गौणवर्णन। गौणवर्णन से एक ही विषय के अनेक विषय बनजाते हैं। इन गौण वर्णनों में इतिहास-कल्पना को भी अवसर मिलता है। यास्क ने निरुक्त ७।२१ पर "वैश्वानर" का प्रकरण चलाया है। वहाँ पर "वैश्वानर" पद की भिन्न भिन्न निरुक्तियाँ दिखलायी हैं। ये अग्नि, आत्मा और सूर्य आदि अर्थों को बतलाने वाली हैं। परन्तु वहाँ पर ७।२२ पर यास्क ने "वैश्वानर" को मध्यम देव माना है। पुनः ७।२३ पर इस विषय पर ब्राह्मण-ग्रंथों के गौण वर्णन को लेकर पर्याप्त विचार प्रस्तुत किया है। तथा अग्नि को वैश्वानर बतलाया है। पुनः ७।२४ पर अग्नि और आदित्य दोनों का वर्षकर्म द्वारा वर्णन किया गया है। एक ही वर्ष-कर्म का अग्नि के साथ भी सम्बन्ध दिखाया गया है और आदित्य के साथ भी। यह क्यों? इसलिए कि ब्राह्मणग्रंथों[2] में गौण रूप में एक ही वस्तु के विविध वर्णन पाये जाते हैं। इस पर यास्क कहते हैं कि— ब्राह्मण बहुभक्तिवादी होते हैं।" अर्थात् गुण-कल्पना को लेकर ब्राह्मण विस्तार से वर्णन करते हैं। बात भी यहाँ ठीक ही है—क्योंकि ब्राह्मणग्रंथों में वैश्वानर के अग्नि, आदित्य, प्राण और पृथ्वी आदि अनेक अर्थ दिये गये हैं। उनके किन्हीं गुणों की समता से एक ही मंत्र में आये हुये वैश्वानर शब्द का इन सब अर्थों अथवा किन्हीं भी अर्थों में वर्णन हो सकता है। यही गुणवाद एवं भक्तिवाद का वर्णन है। इस भक्तिवाद के अन्तर्गत यौगिक निर्वचन की दृष्टि, देवता के भिन्नत्व अथवा देवतावाचक पद के अर्थ की भिन्नता, तथा यज्ञ कर्म और उसके अङ्गों की विविधता आदि—आते हैं। इन्हीं को ब्राह्मणों का भक्तिवाद कहा जाता है।

निरुक्तभाष्यकार स्कन्दस्वामी ने इतिहास का स्वरूप बतलाते हुये लिखा है कि [3]"सुख से समझाने के हेतु आचार्यजन इतिहास की कल्पना करते हैं। इति+ह+आस अर्थात् ऐसा यह था—इस प्रकार जो जो कथन किया जाता है उसका नाम इतिहास है। ऐसा ही कथन दुर्गाचार्य का भी है। इससे यह परिज्ञात होता है कि केवल "इति+[4]ह+एवम्+ आसीद्"—यह जो कथन की शैली है उसका ही नाम इतिहास है। व्यक्तिविशेष के वर्णन से यहाँ इतिहास का तात्पर्य नहीं। दुर्गाचार्य इतिहास के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये एक और ही दिशा की ओर संकेत करते हैं।

१—मनश्च वाक् च उभे विवदाते स्म। अहं भद्रेऽहं भद्र—इति०

२—बहुभक्तिवादीनि ब्राह्मणानि भवन्ति। नि० ७।२४

३—तत्र सुखप्रतिपत्त्यर्थमितिहासमाचक्षते आचार्याः निदानभूतम्—इति ह एवमासीद य: कथ्यते स इतिहासः। स्कन्द टीका पृ० ७१ लाहौर संस्करण

४—इति हैवमासीदिति यः कथ्यते स इतिहासः। दुर्गाचार्यः
—नि० २।१०

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वे कहते हैं "कि [1]इतिवृति परकृति और अर्थवाद रूप से होता है। जो भी कोई आध्यात्मिक अथवा आधिभौतिक अथवा आधिदैविक अर्थ सरलता से परिज्ञान के लिए कहा जाता है उसे इतिहास कहा जाता है। वह यह इतिहास उस अर्थ को समझने वालों को उपदेश देने के लिये होता है और सदा अपने वास्तविक इतिहास अर्थ का बताने वाला नहीं होता।" इसी प्रकार स्कन्द ने भी अपने पक्ष का और भी स्पष्टीकरण देते हुये लिखा है कि "मंत्रों में यह आख्यान वर्णन औपचारिक है। वास्तविक तो नित्यपक्ष ही है। इसी प्रकार के वचनों में आचार्य वररुचि [3]ने भी इतिहास का स्वरूप दिखलाया है। मीमांसा दर्शन [4]१।२।१० पर भाष्य करते हुये शबर स्वामी लिखते हैं कि "वृत्तान्तों के कथन होने पर भी वेदों पर आदिमत्ता दोष नहीं आता क्योंकि प्रजापति, वायु, आकाश कोई नित्य अर्थ हैं। पुनः पृ० ३६, ३८ पर कहता है—कि नियश्च ही वेद में इतिहास नहीं है परन्तु प्ररोचन के लिए कहते हैं। वृत्तान्त आख्यान है परन्तु वह इतिहास के ज्ञापन के लिए नहीं अपितु गुणवाद द्वारा प्ररोचना के लिए है।" यहाँ पर शबर का "प्ररोचन" शब्द यास्क के "प्रीति" शब्द से समता खाता है। गुणवाद ब्राह्मणों के भक्तिवाद का ज्ञापक है। वैदिक इतिहास का यहाँ तक ऊहापोह के साथ विवेचन करने से संग्रात्मक रूप में उसके निम्न प्रकार मिले—

१—उपमार्थ औपचारिक वर्णन इतिहास है।

२—माया अर्थात् बुद्धिचातुर्य से कल्पनायुक्त वर्णन इतिहास है।

३—प्रीति से आख्यान का वर्णन इतिहास है।

४—भक्तिवाद के आधार पर कल्पित आख्यान का वर्णन इतिहास है।

५—तीनों प्रक्रियावों का कल्पित (गढ़न्त) कहानी से समझाना एवं स्पष्ट करना इतिहास है।

६—इति+ह+आस अर्थात् ऐसा ही था—इस कथन प्रकार का नाम इतिहास है।

१—इतिवृत्तं परकृत्यर्थवादरूपेण। यः कश्चिद् आध्यात्मिक आधिदैविक अधिभौतिको वार्थं आख्यायते दिष्ट्युदितावभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते। स पुनरयमितिहासः सर्वप्रकारो हि नित्यमविवक्षितस्वार्थः तदर्थप्रतिपत्तॄणामुपदेशपरत्वात्॥ दुर्गाचार्य नि० १०।२६

२—औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयः। परमार्थे तु नित्यपक्ष इति सिद्धम्—स्कन्दस्वामी पृ० ७८

३—औपचारिकोऽयं मंत्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्वविरोधात्—निरुक्त समुच्चय पृ० ७१

४—वृत्तान्तान्वाख्यानेपि विधीयमाने आदिमत्तादोषो वेदस्य प्रसज्यते १ (उ०) नित्यः कश्चिदर्थः प्रजापतिः वायुः आकाशः आदित्यः स्यात्। पृ० ३६-३८ ननूक्तमसम्वादो वेदे ……गुणवादेन प्ररोचनार्थतां ब्रूमहे। वृत्तान्तं न्वाख्यानं न च वृत्तान्तस्य ज्ञापनाय किं तर्हि प्ररोचनायैव॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इन छः क्रमों में दिखलाये गये प्रकार इतिहासों के बनते हैं। परन्तु यह सर्वथा नित्येतिहास है किसी व्यक्ति का इतिहास नहीं। इन क्रमों में प्रदर्शितइतिहासों की निम्न आधारभूत भूमिये हैं—

१—उपमार्थ औपचारिकी धारणा।

२—माया एवं बुद्धि चातुर्य।

३—आख्यानयुक्त प्रीति।

४—भक्तिवाद एवं गौणिक विस्तार।

५—तीन प्रक्रियावों का प्रदर्शन।।

६—इतिहास शब्द की यौगिकी अभिधेयार्थता।

संक्षेप में यही वैदिक इतिहास का स्वरूप है। जितने भी इतिहास पाये जावेंगे इसी सीमा में आवेंगे। इस नित्येतिहास कल्पना को जैसा पूर्व कहा गया है तीनों प्रक्रियावों में अर्थ करने वाले आचार्य अपनाते थे। स्वयं निरुक्तकार ने इस प्रक्रिया को अपनाया है और निरुक्त में अनेक स्थलों पर ऐतिहासिक अर्थ को ही दिखलाया है। ऐसे भी स्थल निरुक्त में पाये जाते हैं जहाँ केवल शैली का भेद पाया जाता है। वस्तुतः अर्थ नैरुक्त प्रक्रिया और ऐतिहासिक प्रक्रिया का एक ही है। निरुक्त के अनुशीलन से यह पूर्णतया ज्ञात होता है कि वैदिक इतिहास-प्रक्रिया वैयक्तिक इतिहास प्रणाली और वैयक्तिक इतिहास के उद्देश्य एवं अभिधेयार्थ से बिल्कुल भिन्न है।

नित्येतिहास की यह प्रक्रिया इतनी प्रचलित और मनोज्ञ थी कि स्वयं निरुक्तकार यास्क ने भी अनेक स्थलों पर इसका ही प्रयोग किया है। नि० ३।१७ पर यास्क ने ऋग्वेदीय (१।४५।३) मंत्र की व्याख्या की है। इस मंत्र में प्रियमेध, अत्रि, जातवेदस्, विरूप, अंगिरा और प्रष्कण्व नाम आये हैं। इतिहासपक्षी इनको व्यक्तिविशेष कहते हैं परन्तु यास्क ने इन सभी नामों की निरुक्ति की है। प्रियमेध का अर्थ किया है कि जिसको मेधा अर्थात् बुद्धि प्रिय हो। भृगु का अर्थ किया है अग्नि से पैदा होने वाला अथवा पञ्चाग्नियों से तप्तशरीर। तीन तापों से रहित विद्वान् अत्रि है। वेद का ज्ञान रखने वाला अनूचान जातवेदस् है। नाना प्रकार के ज्ञानों से युक्त मेधावी विरूप है। अङ्गारों के बीच में रहने वाले अर्थात् याज्ञिक को अङ्गिरा कहा जाता है। कण्व मेधावी के नाम में निघण्टु में पढ़ा गया है। प्र शब्द अपत्यार्थक है। अतः प्रष्कण्व का अर्थ है मेधावी का पुत्र अर्थात् अत्यन्त मेधावी। यास्क की निरुक्तियाँ भिन्न भिन्न प्रक्रियावों में लगने वाली होती है—यह मैं पहले कह चुका हूँ। यहाँ पर भी यास्क की निरुक्ति ऐतिहासिक और नैरुक्त दोनों पक्षों में लगने वाली है। परन्तु यास्क ने यहाँ पर इस मंत्र का अर्थ नैरुक्त प्रक्रिया में न करके इतिहास की प्रक्रिया में किया है। यास्क यहाँ भृगु और अत्रि पद पर उस इतिहास की ओर पूरा संकेत भी कर रहा है। स्कन्द ने इस स्थल पर टीका करते हुये लिखा है कि[1] "नित्यपक्ष में निरन्तर यज्ञ करने वाला कोई

१—नित्यपक्षे तु सततप्रवृत्तयज्ञः कश्चिद्भृज्यमानः प्रियमेधः उच्यते, तथा भृग्वादयोऽपि यजमानविशेषा एव। भृगुः पञ्चतपःप्रभृतिना तपसा भृज्यमानोऽपि न देहे।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भृज्यमान यजमान ही प्रियमेध कहा जाता है। तथा भृगु आदि भी यजमान विशेष हैं। पाँच तप आदिसे युक्त भृगु है जो देह में ममता नहीं रखता। रागादि दोषों को नष्ट कर देने वाला अत्रि है। गार्हपत्यादि अग्नियों द्वारा अंगारों में बसने वाला यजमान अंगिरा है—इत्यादि। यहाँ पर स्कन्द का नित्यपक्ष में अर्थ दिखलाना इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि यास्क ने ऐतिहासिक पक्ष में अर्थ किया है। इतिहास की कल्पना का वर्णन करते हुये बृहद्देवताकार[1] लिखता है कि—महान् देव वरुण के यज्ञ के विस्तारित होने पर अप्सरस् (विद्युत्) को देखकर ब्रह्म (विराट्) का वीर्य गिर गया अर्थात् जल गिर गया। इसको देखकर अग्नि में हवन नहीं किया गया। तत्र अर्चिः से भगवान् भृगु और अङ्गारों से अङ्गिरा पैदा हुये। इसी में अन्वेषण करने पर अत्रि और खनने से विखन मुनि पैदा हुये। इस प्रकार प्रजापति से प्राचीन ऋषि सत्तम पैदा हुये।" यहाँ पर जो इतिहास है यह वस्तुतः दैवत प्रक्रिया को बतलाता है। विराट् से किस प्रकार अग्नि वायु आदि की उत्पत्ति हुई इसको कल्पित इतिहास का रूप दिया गया है। शतपथ[2] १।४।१।२५ में ऋग्वेद (६।१६।११) के निर्देश के साथ अग्नि की अंगिरा कहा गया है। पुनः शतपथ ६।४।४।४ में भी अग्नि को अङ्गिरा कहा गया है। शतपथ ६।१।२।२८ में प्राण को भी अंगिरा कहा गया है। गोपथ[3] पू० २।८ में वायु, जल, और चन्द्रमा को भृगु कहा गया है। ये वस्तुतः भौतिक पदार्थ हैं। ऋषि, देव और पितर आदि भिन्न भिन्न नाम इन पदार्थों के ही गुण और कर्म के कारण हैं। एक ही पदार्थ एक स्थान पर गुण और कर्म के कारण ऋषि है, दूसरे स्थान पर पितर है और तीसरे स्थान पर देव है। यास्क ने नि०[4] ११।१९ पर लिखा है कि ऋभुगण, अङ्गिरा गण, भृगुगण, और अथर्वा लोग निरुक्त मत में देवगण हैं क्योंकि इनका

गार्हपत्योपायित्वादिना अङ्गारेषु वसतीत्यङ्गिराः। अदनाद् भक्षणाद् रागादिदोषाणामत्रिः। विविधखननाद् वेदार्थवस्तूनां वैखानसः। वैरूप्यात्तपसो विरूपः। यथैते ऋषीणां दर्शनाद् ऋषयः। प्रस्कण्वस्य मेधाविनः पुत्रः। एकवाक्यता पूर्ववद् योजनीया।

(स्कन्दः)

१—यज्ञे देवस्य वितते महती वरुणस्य हि।
ब्रह्मणोऽप्सरसं दृष्ट्वा रेतश्चस्कन्द कर्हिचित्॥
तत्परीक्ष्य स वर्णो न स जुहाव विभावसौ।
ततोऽर्चिषोऽभूद् भगवान् भृगुरङ्गारतोऽङ्गिराः॥
अत्रैवान्वेषणादत्रिः खननाद्विखननो मुनिः।
इत्थं प्रजापतेर्जाताः पुराणा मुनिसत्तमाः॥

बृहद्देवता ५।९९—१०१

२—अङ्गिरा उ ह्यग्निः। श० १।४।१।२५; अङ्गिरा वा अग्निः। श० ६।४।४।४; तथा प्राणो वा अङ्गिराः। श० ६।१।२।२८

३—वायुरापश्चन्द्रमा इत्येतेभृगवः। गो० पू० २।८

४—माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः। पितर इत्याख्यानम्। अथाप्यृषयः स्तूयन्ते। नि० ११।१९

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

देवता पद में ग्रहण है। आख्यानविदों के अनुसार ये पितर हैं। अथवा ये ही ऋषि के रूप में वर्णन किये गये हैं। गतिशील और दर्शन के हेतु होने से ये ऋषि है, दिव्यगुणों के कारण देव हैं और पालन आदि गुणों के कारण पितर हैं। इन जड़ पदार्थों का इतिहास गढ़ा जाना वैदिक परम्परा और प्रक्रिया के अनुसार ही है। नि० ४।१६ पर यास्क ने प्रासंगिक रूप में "च्यवानं" की निरुक्ति करते हुये ऋग्वेदीय (१०।३९।४) मंत्र में आये "च्यवन" पद का प्रमाण दिया है। स्कन्द स्वामी ने इस पर भाष्य करते हुये लिखा है कि "यह इतिहास[1] शतपथ ब्राह्मण (४।१।५।११) के सुकन्या ब्राह्मण में पढ़ा गया है। इसी में आये "तौग्र्यम्" पद पर लिखते हुये स्कन्द पुनः लिखता है कि "यह इतिहास ऋग्वेद[2] (७।६८।७) में "उतत्यं भुज्युमश्विना सखायो मध्ये जहुदूरेवासः समुद्रे"। तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे" इत्यादि आश्विन देवता वाले मंत्रों में बहुधा देखा जाता है। यहाँ स्कन्द स्वयं बतला रहा है कि अश्विनी देवता वाले मंत्रों में ऐसे इतिहास की कल्पना संवादरूप में पायी ही जाती है। उसी से पुनः इतिहास खड़ा कर दिया जाता है।

यास्क ने निरुक्त ४।२२ [3]पर लिखा है कि "अदितिः अदीना अर्थात् अखण्ड है और देवमाता है। यहाँ पर "अदीना" पक्ष नैरुक्तों का है और "देवमाता" पक्ष ऐतिहासिकों का है। यास्क ने पुनः मंत्र की व्याख्या करते हुये लिखा है कि "यह अदिति की विभूति को कहते हैं— अथवा ये सब अदीन हैं यह भी अर्थ है। यहां पर इस कथन से यह सुतरां ज्ञात होता है कि यास्क ने मंत्र का व्याख्यान ऐतिहासिकों के पक्ष को लेकर "देवमाता" अर्थ में किया है। इस पर भाष्य करते हुये स्कन्द स्वामी लिखते हैं कि—अनेकार्थता[4] तो दर्शनभेद के कारण है। कैसे?—ऐतिहासिक मत में अदिति देवों की माता कही जाती है। नैरुक्तों के मत में अदीन आदि गुण और अध्यात्म पक्ष में प्रकृति को अदिति कहा जाता है"। आगे वह फिर कहता है कि "देवों[5] की माता होने से अदिति से द्यु आदि उत्पन्न हुये हैं। इनके उससे उत्पन्न होने के कारण अदिति शब्द से ही इनका कथन किया गया है। अर्थात् अदितिप्रभवा द्यौ है। वह फिर कहता है कि [6]"अथवा अदीनपर्याय अदिति शब्द है। नैरुक्त पक्ष में अदिति शब्द देवमाता के अर्थ को

१—अयं चेतिहासः शतपथे [४।१।५।११] सुकन्याब्राह्मणे। स्कन्दस्वामी।

२—अयमितिहासः ऋग्वेदे [७।६८।७] उतत्यं भुज्युमश्विना सखायो मध्ये जहुर्दूरेवासः समुद्रे। तुग्रोह भुज्युमश्विनोदमेघे-इत्यादिषु भूय आश्विनेषु दृश्यते। स्कन्दस्वामी

३—अदितिरदीना देवमाता।·····इत्यदितेर्विभूतिमाचष्टे। नि० ४।२३

४—अनेकार्थत्वञ्च दर्शनभेदेन। कथम्। ऐतिहासिकानां देवानां माता उच्यते। नैरुक्तानामदीनादिगुणाः। अध्यात्मपक्षे प्रकृतिः। स्कन्दस्वामी

५—देवमातृत्वाददितेर्द्युप्रभृतयस्तत्प्रभवाः। तेषां तत्प्रभवात् च तच्छब्देनैवाभिधानम्। अदितिप्रभवा द्यौरित्यर्थः।

६—अदीनपर्यायो वा नैरुक्तपक्षेऽदितिशब्दो न देवमातृवचनः। अतः आह एतान्यदीनानीति वा इति। अक्षीणा द्यौः तथान्तरिक्षादीनि। अध्यात्ममपि अदितिः प्रकृतिः कारणं ब्रह्म। प्रकृतिः सार्वनाम्न्याश्च तत्प्रभवत्वे सति सर्वमदितिरिति व्याख्येयम्। स्कन्दस्वामी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

देने वाला नहीं है। इसलिये यास्क ने कहा है कि ये अदीन हैं। द्यौ अक्षीण हैं और ऐसे ही अन्तरिक्ष आदि भी। अध्यात्म पक्ष में प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण सब अदिति कहे गये हैं। इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिए''। यहां पर विशेष स्मरण रखना चाहिए कि स्कन्द द्वारा वर्णित तीनों ही पक्षों में विशेष अन्तर नहीं। जो ऐतिहासिकों के मत में देवमाता है वही अध्यात्मपक्ष में प्रकृति है। देवमाता शब्द उसके लिए इसलिए प्रयुक्त है कि उससे ही जगत् के दिव्य पदार्थ सूर्य आदि पैदा होते हैं। प्रकृति वह इसलिए है कि समस्त जगत् का वह उपादान कारण है। सांख्यों की सृष्टि-प्रक्रिया का दार्शनिक स्वरूप ही ऐतिहासिकों का देवमाता से उत्पन्न होने वाली सृष्टि की प्रक्रिया का स्वरूप है। यह ''देवयुगम्'' के व्याख्यान के अवसर पर दिखलाया जावेगा। यास्क ने यहां पर अदिति का अर्थ ''अदीना'' किया है। यह यास्क ने यौगिक प्रक्रिया के आधार को लेकर किया है। उसने ''अदिति'' शब्द को सबका विशेषण बना दिया है। यह भी निर्वचन और यौगिक प्रक्रिया का चमत्कार है॥

निरुक्त २।१३ पर ''आदित्य शिक्षति व्रतेन'' (ऋ० ३।५६।२) की व्याख्या करते हुये स्कन्द ने लिखा है कि ''नैरुक्त [1]पक्ष में अदिति ''द्यौः'' है। साहचर्य से और रसाहरण से द्यु स्थान में रहने वाला वरुण उस अदिति का पुत्र होने से आदित्य है''। यहां पर स्कन्द ने यह अर्थ नैरुक्त पक्ष में दिखलाया है।

निरुक्त ५।२ पर ''आहनः'' शब्द की संगति लगातें हुये यास्क ने यम-यमी सूक्त के मंत्र (ऋ० १०।१०।८) की व्याख्या इतिहास प्रकरण में की है। उसी स्थल पर लोपामुद्रा सम्बन्धी मंत्र की व्याख्या भी उसने ऐतिहासिक योजना के अनुसार ही की है। स्कन्द लिखता है कि—[2] यह इतिहासदर्शन का व्याख्यान है। नित्य पक्ष में यम आदित्य है और यमी रात्रि है—उसका वर्णन किया जाता है। इसी प्रकार उसने ''लोपामुद्रा'' वाले मंत्र पर भी नित्य पक्ष दिखलाया है।

निरुक्त ५।४ पर यास्क ने ''वराह'' पद के अनेक अर्थ दिखलाये हैं। वहाँ पर वह कहता है कि ''वराहो मेघो भवति'' अर्थात् मेघ वराह है। इसके उदाहरण में उसने ऋ० १।६१।७ मंत्र का प्रमाण उपस्थित किया है। परन्तु साथ ही साथ उसने ''अयमपीतरो वराहः एतस्मादेव—अर्थात् यह दूसरा वराह पदार्थ भी इसी निरुक्ति के आधार पर है''—ऐसा लिखा है। पुनः पशुवराह, अंगिरस लोग, मरुद्गण को भी वराह शब्द से ग्रहण किया है। परन्तु यास्क का ''अयमपीतरः'' पद यह संकेत कर रहा है कि असुर वराह और पशुवराह आदि अर्थ भी उसे अभिप्रेत हैं। वह इस विषय में ऋग्वेद (८।७७।१०) के जिस मंत्र का प्रमाण दे रहा है वह इतिहास पक्ष में भी घटता है। यहाँ मेघ जो निरुक्त का पक्ष है वही असुर वराह से भी सिद्ध होता है। असुर वराह शब्द भी मेघार्थक ही है, केवल इतिहास की कल्पना की प्रीति से ऐसा नाम रख लिया गया है। यहाँ पर यह

१—नैरुक्तपक्षे तु अदितिर्द्यौः तस्याः पुत्रः साहचर्याद् रसाहरणाद्वा द्युस्थानो वरुणः।
स्कन्द स्वामी

२—इतिहासदर्शनस्येतद् नित्यपक्षे तु यम आदित्यो यम्यपि रात्रिः सोच्यते।
स्कन्दस्वामी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

निश्चित है कि यास्क को दोनों ही पक्ष अभिप्रेत हैं। स्कन्दस्वामी लिखता है [1]कि यह दोनों मंत्रों की नित्यपक्ष द्वारा वराह शब्द का मेघ अर्थ लेकर योजना है। ऐतिहासिक लोग तो इन दोनों ऋचावों की पृथक् ही व्याख्या करते हैं। इस विषय में वे चरकब्राह्मण में पठित इतिहास का वर्णन करते हैं। विष्णु नाम यज्ञ का है। वह देवों से अन्तर्हित हो गया। उसको अन्य देवता नहीं प्राप्त कर सके। परन्तु इन्द्र ने प्राप्त कर लिया। यज्ञ ने इन्द्र से पूछा कि आप कौन हैं। इन्द्र ने उत्तर दिया कि मैं दुर्गों और असुरों का हनन करने वाला हूँ। यज्ञ ने कहा कि यह एमुष वराह असुरों की पाषाणमयी २१ पुरियों के मध्यमे विराजमान है, उसमें असुरों का धन है, तो आप इसको मारो। उन समस्त पुरियों को समाप्त कर इन्द्र ने उसके हृदय का भेदन कर दिया। अब जो यज्ञ था उसका विष्णु ने भरण किया''। यहाँ पर याज्ञिक पक्ष को इतिहास से समझाया गया है। परन्तु यज्ञ का मेघ से सम्बन्ध होने के कारण यास्क के पक्ष का ही यहाँ शब्दान्तर से वर्णन है। यहाँ स्मरण रहे कि यह इतिहास मैत्रायणी ३।८।१ और तैत्तिरीय ६।२।४ में भी पाया जाता है।

नि० ५।११ पर "अजोहवीदश्विना" (ऋ० १।११७।१६) की व्याख्या भी यास्क ने इतिहास-दृष्टि से की है। इस पर स्कन्द लिखता है "यहाँ पर [2]भाष्यकार (यास्क) ने इतिहास वर्णन किया है''।

यास्क निरुक्त ५।१३ पर "उर्वशी" पद की व्याख्या करते हुये विविध निरुक्तियाँ दिखलाता है। उसके मत में वस्तुतः उर्वशी अप्सरा अर्थात् विद्युत् है। मित्र और वरुण प्राण और उदान अथवा वायु और आदित्य ठहरते हैं। वसिष्ठ आच्छादित उदकसंघात का नाम है। विश्वदेव शब्द से सूर्य की किरणें आदि अभिप्रेत हैं। यास्क की दृष्टि और प्रक्रिया को लेकर अर्थ करने पर दो प्रकार से यहाँ पर उर्वशी सम्बन्धी यास्क प्रदर्शित मंत्र (ऋ०७।३३।११) की व्याख्या की जा सकती है। पहली व्याख्या तो इस विषय को लेकर की जा सकती है कि इस मंत्र में जलोत्पत्ति (composition of water) का वर्णन है। दूसरी व्याख्या इस प्रकार हो सकती है कि मंत्र में मेघस्थजल अथवा अन्तरिक्षस्थ जल का वर्णन है। प्रथमपक्ष में 'उर्वशी' का अर्थ विद्युत्, वसिष्ठ का अर्थ जल और 'मित्रावरुण'' का अर्थ प्राण और उदान होगा। ''विश्वेदेवाः'' का अर्थ वायुयें अथवा मरुद्गण होगा। दूसरे पक्ष में उर्वशी का अर्थ विद्युत्, मित्रावरुण का अर्थ वायु और आदित्य, वसिष्ठ का अर्थ

१—एवमियं तावदेतन्मंत्रद्वयस्यापि नित्यपक्षेण वराहशब्दस्य मेघविषयतयैव योजना। ऐतिहासिकास्तु द्वे अप्येते ऋचावन्यथा व्याचक्षते। अत्र च चरकब्राह्मणे पठितमितिहासमाचक्षते। विष्णुर्यज्ञः। स देवेभ्यो आत्मानमन्तरधात्। तमन्यदेवता नाविन्दन्, इन्द्रस्त्ववेत्। स इन्द्रमब्रवीत् को भवान् इति। तमिन्द्रः प्रत्यब्रवीत् अहं दुर्गाणामसुराणां च हन्ता। ततोऽयं वराह एमुष एकविंशत्याः पुरां पारे अश्मन्मयीनां वसति तस्मिन्नसुराणां वसु वामस्ति। तमिमं जहीति। तस्येन्द्रस्ताः पुरो हित्वा हृदयमविध्यत्। अथ यत्र यद् (यज्ञः) आसीत् तद्विष्णुराभरदिति। तदेतेन मंत्रद्वयेनोच्यते। स्कन्दस्वामी

२—अत्रेतिहासो भाष्यकारेण व्याख्यातः। स्कन्दस्वामी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आच्छादित उदकसंघात और "विश्वेदेवाः" का अर्थ किरणें होगा। स्कन्द स्वामी ने दूसरे पक्ष वाला अर्थ किया है। मैंने "वैदिक ज्योति पुस्तक" में इस विषय पर विशद वैज्ञानिक वर्णन किया है और उर्वशी आदि का अर्थ दिखलाते हुये प्रथम पक्ष का अर्थ किया है। यह वस्तुतः यास्क की सरणि से दैवतपक्ष कहलायेगा। इसी दैवत पक्ष को जब प्रीतिवश रूपक के रूप में वर्णित किया जावेगा तब इतिहास खड़ा हो जावेगा। परन्तु विषय यास्क प्रदर्शित ही रहेगा। वह इतिहास इस प्रकार है कि मित्रावरुण ने उर्वशी अप्सरा को देखा और इनका रेत गिर गया। इससे वसिष्ठ की उत्पत्ति हुई। इस वास्ते वसिष्ठ को "मैत्रावरुण" कहा जाता है। यहां इतिहास में भी जो "रेतः" पद आया है उसका भी अर्थ निघण्टु के अनुसार जल ही है। यास्क ने भी लिखा [2]है कि "उस उर्वशी के देखने से मित्र और वरुण का रेत गिर गया और उस अर्थ को बतलाने वाली यह ऋचा है। यास्क का यह कथन यहाँ पर इस बात को प्रकट करता है कि उसने इस मंत्र का अर्थ ऐतिहासिक ढंग पर दिखलाया है। इस इतिहास के गर्भ में ही उसका नैरुक्त अर्थ भी आजाता है। यहाँ पर आपाततः यह भी सिद्ध हो गया कि इतिहास किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं अपितु भौतिक पदार्थों का है। यास्क ने इतिहासदृष्टि से अर्थ किया है—इस बात की पुष्टि स्कन्दस्वामी भी करते हैं। वह कहते हैं कि "[3]ऐसा इतिहास पक्ष में है। नित्यपक्ष में उर्वशी। विद्युत् है और वशिष्ठ भी आच्छादित उदक-संघात है। वसुनिमित्त से वह वसुमत्तम है। मित्रावरुण भी वायु और आदित्य हैं। विश्वेदेव किरणे हैं। एक वाक्यता के लिए यहाँ पर तत् शब्द का आध्याहार करना चाहिए। इससे यह अर्थ है। जो तुम पहले पृथ्वी पर होने से पार्थिव थे वही तुम अन्न वायु और आदित्य से आकृष्ट किये जाने पर उनके सम्बन्ध से मैत्रावरुण अर्थात् मित्रवरुण सम्बन्धी हो। हे वसिष्ठ! आच्छादित उदकसंघात! तुम अन्तरिक्ष में व्यापक विद्युत् से उत्पन्न हुये हो। उपचार से ब्राह्मण भी हो क्योंकि अन्न के निमित्त हो। तुम्हें रश्मियाँ आदित्य के सम्बन्ध से वर्षाकाल में अन्तरिक्ष में धारण करती हैं।...... इसी प्रकार सिन्धु आदि को उर्वशी मान

१—उर्वश्यप्सरा उर्वभ्यश्नुते, ऊरुभ्यामश्नुते—इत्यादि। ५।१३

२—तस्या दर्शनान्मित्रावरणयो रेतश्चस्कन्द। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति॥ नि० ५।१३

३—एवमितिहासपक्षे। नित्यपक्षे तु उर्वशी विद्युद्वशिष्ठोऽप्याराच्छादित उदक संघातः। वसुनिमित्तत्वाद् वसुमत्तमः। मित्रावरुण वपि वाय्वादित्यौ विश्वे देवा रश्मयः। एक वाक्यतार्थे चात्र तच्छब्दाध्याहारः कर्तव्यः। तेनायमर्थः। यत्पूर्वं तावत्पृथिव्यां भवः पार्थिवः। उत अप्यसि मैत्रावरुणो मित्रवरुणाभ्यां वाय्वादित्यभ्याभ्यां कृष्टः सन् तत्सम्बन्धात् वसुनिमित्तत्वाद्वा वसुमत्तम उदकसंघात उर्वश्या उर्वन्तरिक्षव्यापिन्या विद्युतः। अधि धात्वर्थानुवादी जातः। उत्पन्नः। हे ब्रह्मन्! परिवृद्ध उपचारा-द्ब्राह्मणोऽन्नस्य हेतुभूतः। मनसः निमित्तलक्षणा चैषा पंचमी तमसावसंबंधात् संकल्पो लक्ष्यते। स मित्रावरुणवप्राणां संकल्पनिमित्तत्वादित्यर्थः। द्रप्सं संमितं भक्षयितव्यं चोदकसंघातं स्कन्नं मुक्तं ब्रह्मणा दैव्येन दिवि भवेन आदित्येन विश्वे देवा रश्मयो मध्यमायाः प्रावृषि पुष्करे अन्तरिक्षे त्वां धारितवन्तः। एवं सिन्ध्वादीनाम-प्युर्वशीत्वे मंत्रा यथासंभवं योजनीयः। स्कन्दस्वामी॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कर मंत्र की यथासम्भव योजना करनी चाहिए।" यास्क ने नि० ६।२० पर "भृमिः" पद के व्याख्यानावसर पर "भृमिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम्" (ऋ० १।३१।१६) की प्रतीक दी है। यास्क ने यहाँ पर इतिहास शब्द का नाम भी नहीं लिया है। परन्तु स्कन्द ने यहाँ पर भी इतिहास की कल्पना की है। वह लिखता है कि—"यहाँ पर इतिहास है। हिरण्यस्तूप यज्ञ के लिए अग्नि को बिखेरकर राक्षसों के भय से दूर भग गया। पुनः राक्षसों के चले जाने पर वापस आया और अपराध किया है इस अभिप्राय से अग्नि को कहता है 'हे अग्ने"[1] ॥

नित्यदर्शन में इसका दूसरे ही प्रकार का अर्थ होगा। हे अग्ने (परमेश्वर) संसार प्राप्ति-लक्षण हिंसा को क्षमा करो। मुझे यह संसार मार्ग प्राप्त हुआ है। जो कि मृत्यु के चक्र से सृष्टि पर्यन्त चलता रहेगा। क्योंकि आप, आपि, पिता, प्रमति और संसार-चक्र में घुमाने वाले हो। आप ही सम्यग्ज्ञान के दाता भी हो। मनुष्यों के मोक्ष और बन्ध आप के अधीन हैं। आप पिता के समान सभी यजमानों के अनुग्रहकर्ता हैं। अतः सम्यग्ज्ञान देकर संसार-चक्र से मुझे छुड़ाइये। ऐसा ही स्मृति में भी है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्नसनिबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥
मनुः ६।७४

यहाँ पर यह बात अत्यन्त प्रकट है कि नित्येतिहास की कल्पना से अर्थ के समझाने में किये जाने वाली प्रक्रिया बहुत ही प्रसिद्ध है। स्कन्द ने यहाँ पर यास्काभिप्राय को लेकर ही ऐसा अर्थ किया है।

१—अत्रेतिहासः। हिरण्यस्तूपो यागायाग्निं विहृत्य रक्षोभयाद् दूरं प्रणश्य गतेषु रक्षस्सु प्रत्यागतः कृतापराधाभिप्रायेणाग्निमाह। हे अग्ने! ....

नित्यदर्शनेष्वन्यथा योज्यते। इमां हे अग्ने शरणिम् संसारप्राप्तिलक्षणां हिंसां मीमृषः मृजेरियं जकारस्य षकारापत्त्या छान्दसं रूपं न मृषेः मार्जयापनय। अस्माकमिमं संसाराध्वानं यमगाम प्राप्ताः स्मः। दूरात् मरणप्रबन्धरूपायाः सृष्टेः प्रभृति आ-संसारमित्यर्थः। किं कारणम्? यस्मात्त्वमापिः पिता प्रमतिः सोम्यानां यस्माच भ्रमिरसि भ्राम्यतेर्ण्यन्तस्येदं रूपम् भ्रमयितासि भ्रान्तेः कर्त्ता। ऋषिकृद्दर्शनकृच्चासि सम्यग्ज्ञानकारणश्चासि मनुष्याणाम्। एतदुक्तं भवति भ्रान्तेः सम्यग्ज्ञानस्य च त्वं कर्तासि। मर्त्यानां त्वदायत्तौ च संसारमोक्षौ। त्वं च पितृवत् सर्वयजमानाना-मनुग्रहपरः। नोऽस्मान् सम्यग्ज्ञानोपायेन मोचयास्मात् संसारादिति। तथा च स्मरणम्—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न स निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥
मनुः ६।७४

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

निरुक्त[1] ११।१६ पर ऋभुवों की व्याख्या करते हुये यास्क ने नैरुक्त और ऐतिहासिक दोनों ही प्रकरणों में अर्थ दर्शाया है। परन्तु वह किसी व्यक्ति का इतिहास वहाँ पर नहीं दिखलाता हैं। वह लिखता है कि सुधन्वा आंगिरस के तीन पुत्र हुये। [2]स्कन्दस्वामी ने स्पष्ट करते हुये लिखा है कि "[2]ऋभुवों" से तात्पर्य नैरुक्त मत में वैद्युत जोतिविशेष है। इतिहास सम्बन्धी अर्थ देवों से कहे [3]गये," एकं चमसं चतुरस्कृणोतन—ऋ० १।१६१।२" से इत्यादि कर्म हैं। तरणि का अर्थ शीघ्र है..................................ऋभुविभ्वा वाजः अर्थात् सूर्यसमान दर्शन वाले अत्यन्त तेजस्वी अथवा वैसी प्रज्ञा वाले देवत्व को प्राप्त करके सम्वत्सर में जो कर्म हैं उनमें इज्यमान हुये अपने भागों को प्राप्त हुये।

निरुक्त ११।१९[4] पर यास्क कहते हैं कि आंगिरस लोग नैरुक्त मत में माध्यमिक देवगण हैं। आख्यान की दृष्टि से वे पितर हैं। अथवा ये ऋषिगण हैं और इनका यहाँ पर वर्णन किया गया है"। यहां पर भी यास्क ने ऐतिहासिकों की प्रक्रिया पर पूरा पूरा ध्यान रखा है। उसका यहाँ पर यह दिखलाना इस बात का प्रमाण है कि नित्येतिहास भी एक प्रकार का प्रकरण है और उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। स्कन्द इस स्थल की व्याख्या करते हुये एक विशेष वैज्ञानिक रहस्य की ओर ध्यान को आकृष्ट करता है। वह "आख्यानम्"[5] की व्याख्या करते हुये कहता है कि आख्यानविद् पौराणिक लोग इन्हें पितर कहते हैं और वे सनत्कुमार आदि देव विशेष ही हैं"। स्कन्द का पौराणिक शब्द विशेष महत्व का है। पौराणिक शब्द से पूर्व कथित पुराण विद्या के ज्ञाता अभिप्रेत हैं। सृष्टि की एक प्रक्रिया सांख्यों की भांति न कह कर शब्दान्तर से देवसृष्टि के नाम से कही जाती है। आंगिरस आदि उस प्रक्रिया में भौतिक पदार्थ हैं और उन्हें देव एवं पितर आदि भिन्न भिन्न नामों से कहा गया है। सृष्टिविज्ञान का नाम पुराण है और उसको जानने वाले पौराणिक कहे जाते हैं। सृष्टि के इस प्रकार के इतिहास को रोचक ढंग पर कल्पित करने वाले पौराणिक इतिहासविद् कहे जाते हैं। यहाँ यह बात दो और दो चार की भांति स्पष्ट हो गई कि

१—सुधन्वन आंगिरसस्य त्रयः पुत्रा बभूवुस्तेषां प्रथमोत्तमाभ्यां बहुवन्निगमा भवन्ति ॥
यास्कनिरुक्त ११।१६

२—वैद्युता ज्योतिर्विशेषाः - स्कन्दस्वामी

३—ऐतिहास्यानि वा देवैरुक्तानि "एकं चमसं चतुरस्कृणोतन" (ऋ० १।१६१।२) इत्यादीनि कर्माणि।..........सूर्यसमानदर्शना: अत्यन्ततेजस्विनस्तादृशप्रज्ञा वा। प्राप्य च देवत्वं संवत्सरे या धीतयः (कर्माणि) तेष्विज्यमानत्वाद्भागार्हं प्राप्ताः।
इत्यर्थः।

४—माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः पितर इत्याख्यानमथाप्यृषयः स्तूयन्ते ॥
नि० ११।१९

५—पितर इत्याख्यानविदः पौराणिकाः स्मरन्ति।
तेच सनत्कुमारादयो देवविशेषा एव ॥
स्कन्दस्वमी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ये अंगिरा आदि कोई व्यक्तिविशेष नहीं बल्कि सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम को बताने वाली भिन्न भिन्न कार्यपदार्थों की संज्ञायें हैं।

निरुक्त ११।२२ पर यास्क अदिति की व्याख्या अपने पूर्व कृत अर्थ के अनुसार करके नैरुक्त पक्ष और इतिहास दोनों की संगति लगाता है। यास्क के व्याख्यान यहाँ दोनों पक्षों में संगत हो रहे हैं। क्योंकि तर्कानुसार दोनों पक्षों की उसने सिद्धि की है। इस पर भाष्य करते हुये स्कन्दस्वामी लिखते हैं[1] कि अदिति प्रातस्तनी संध्या (उषा) है। परन्तु ऐतिहासिकों के पक्ष में तो अदिति देवमाता है उसका यहां पर वर्णन किया जाता है। वह पुनः कहता है कि—फिर यह [2]दक्ष कौन है ?। अदिति के पुत्र आदित्य को ब्रह्मविद् लोग दक्ष कहते हैं क्योंकि दक्ष का आदित्यों के मध्य में वर्णन पाया जाता है। जैसा "इमा गिर आदित्येभ्यः" इत्यादि। वह पुनः [3]कहता है कि यदि ऐसा है तो ऐतिहासिकों का कथन इस दिशा में कैसे ठीक होगा। क्योंकि वे अदिति का पुत्र आदित्य को मानते हैं और अदिति को दाक्षायणी कहते हैं। दोनों ही ठीक हैं क्यों कि दोनों ही प्रकार निगम में सुने जाते हैं। आदित्य दक्ष है और अदिति दाक्षायणी है। उसका ही यह उदाहरण है कि 'अदितेर्दक्षो अजायत" अर्थात् प्रातःकाल की उषा के बाद सूर्य निकलता है अतः वह अदिति से उत्पन्न है। सायंकाल में सूर्य अस्त होने पर उषा पैदा होती है इसलिए वह दाक्षायणी है।

यास्क निरुक्त ११।२५ पर ऋग्वेदीय (१०।१०८।१) मंत्र की व्याख्या के अवसर पर "सरमा" के विषय में कहता है कि [4] "देवशुनी इन्द्र से भेजी गई हुई असुरों से ऐसा सम्वाद करती है—यह आख्यान है।" यास्क का यहाँ भी अभिप्राय आख्यान पक्ष में ही व्याख्या करने का मालूम पड़ता है। अन्यथा इतिहास के दिखलाने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। नैरुक्तों के मत्त में 'सरमा' का अर्थ माध्यमिका वाक् है और इतिहासपक्षियों के मत में सरमा का अर्थ देवशुनी है। यहाँ यास्क का व्याख्यान देवशुनी से ही सम्बद्ध मालूम पड़ता है। स्कन्द ने इस पर अच्छा स्पष्टीकरण किया है। वह लिखता है कि "इस [5] प्रकार यह आख्यान पक्ष में मंत्र की योजना है। जब माध्यमिक वाक् को सरमा कहा जावेगा तब ऐसा अर्थ होगा। अनावृष्टि से पीड़ित मंत्रद्रष्टा स्तनयित्नु को सुनकर कहता है—इत्यादि। दुर्गाचार्य ने भी ऐसा ही लिखा है।

१—अदितिः प्रातस्तनी सन्ध्या—ऐतिहासिकानां त्वदिति देवमाता सोच्यते।

२—अथ कोऽयं दक्षः। अदितेः पुत्र आदित्यो दक्ष इत्याहुर्ब्रह्मविदः ......:आदित्यमध्ये स्तुतो दक्ष—इमा गिर आदित्येभ्यः घृतस्नूः।

३—इदं तर्हि कथं यदैतिहासिका आहुः। अदितिर्दाक्षायणीति उभयमपि चेदं निगमे श्रूयते। आदित्यो दक्षोऽदितिर्दाक्षयणीति। तद्यथा अदितेर्दक्षो अजायत। इत्युदाहरणम्। स्कन्दस्वामी

४—देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समूद इत्याख्यानम्। नि० ११।२५

५—एवमियमाख्यानपक्षे योजना। यदा तु माध्यमिकवाक् सरमात दैवम्। अनावृष्ट्या पीडितो नदन्तं स्तनयित्नुमुपश्रुत्य सासूयं मंत्रदृगाह। स्कन्दस्वामी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

निरुक्त मत में यमी मध्यमस्थाना और यम वायु अथवा विद्युत् सम्बन्धी पदार्थ मध्यमस्थानीय हुआ करता है। परन्तु यास्क ने अपने निरुक्त ११।३४ पर यमयमी सूक्त के ऋग्वेदीय (१०।१०।१४) मंत्र की व्याख्या करते हुये ऐतिह्य पक्ष में ही व्याख्यान किया है। वह कहता है "तां प्रत्याचक्षेत्याख्यानम्" अर्थात् उसके प्रति उसने कहा ऐसा आख्यान है। स्कन्द स्वामी कहते हैं कि [1] जब नैरुक्त पक्ष में यमी को मध्यमस्थाना माना जावेगा तब मध्यमस्थान यम अर्थात् वायु अथवा विद्युत्पदार्थ वर्षा काल के व्यतीत होने पर उसे कहता है। इस वर्षा काल से पहले आठ मास तू अन्य से संम्पर्क रखती है। यहाँ पर "अन्यनूषु त्वमित्यादि" मंत्र उदाहरण है। इस प्रकार दोनों पक्ष में अर्थयोजना करनी चाहिए।

इसी प्रकार निरुक्त ११।३६ पर उर्वशी से सम्बद्ध मंत्र की व्याख्या में "नर्यः" पद की निरुक्ति नैरुक्त और इतिहास दोनों पक्षों में संगत होने वाली की गई है। इससे प्रकट है कि इतिहास पक्ष भी उसे अभिप्रेत है। स्कन्द लिखता है "कि [2] उर्वशी पुरूरवा के संवाद में पुरूरवा मध्यमस्थान अथवा ऐल है। नैरुक्त पक्ष में मध्यमस्थानी वाणी की अधिष्ठात्री देवता से तात्पर्य है उसी विषय को "विद्युन्नेत्यादि" ऋचा कहती है। वह आगे और लिखता है—[3] जब ऐतिहासिक पक्ष लिया जावेगा उस समय उर्वशी का अर्थ अपसरा और पुरूरवा ऐल होगा"। वह "नर्यः" की व्याख्या करते हुए लिखता है कि "[4]नर्य" का अर्थ है नरों के हितवाला। मनुष्य शब्द का यास्क का लेख अतिरिक्त पाठ है। "नरापत्यम्" यह यास्कीय निर्वचन ऐतिहासिक पक्ष की रक्षा के अभिप्राय से है।

निरुक्त ११।३६ पर यास्क ने "अप्यम्" शब्द की निरुक्ति में दो पक्ष दिखलाये हैं। प्रथम पक्ष में वह कहता है कि अप्यम् पद का अर्थ है अप्सु श्रृतम्—अर्थात् पानी में पकाई हुई हवि।

१—यदा नैरुक्तपक्षे मध्यमस्थाना यमी तदा मध्यमस्थानो यमो वायुर्वैद्युतो वा वर्षाकाले व्यतीते तामाह। प्रागस्माद् वर्षकालादष्टौ मासान्। अन्यमूषु त्वमित्यादि। एवमुभयथा योज्यम्। स्कन्दस्वामी

२—उर्वशीपुरूरवसोः सम्वादे पुरूरवा मध्यस्थानो ऐलो वा। नैरुक्तपक्षे मध्यमस्थानः स्तनयित्नुलक्षणायाः वाचोऽधिष्ठात्री या देवता तामाह। (विद्युन्नेत्यादि)

३—यदा त्वैतिहासिकपक्षस्तदा उर्वश्यप्सराः पुरूरवाश्चैलः। विद्युदिव योर्वशी पतन्ती गच्छन्ती दविद्योत् विद्योतते। भरन्ती प्रापयन्ती च रतिकाले मे मम। आप्तव्यानि च कामानि च मधुरशिञ्जितानीति। अत्रापि यच्छ्रुतेस्तदध्याहारः। तस्याः सकाशादाहितगर्भायाः यदा जनिष्टो जनिष्यते आयुर्नाम। अपः आप्नोतेः। छान्दसं ह्रस्वत्वं आप्नोतीत्यापः। पचाद्यचि रूपम्। आप्ता सर्वकर्मणमित्यर्थः। नर्यः नरस्यापत्यं मम। सुजातः सम्पूर्णावयवः। अथ तदास्य सोर्वशी पुत्रस्नेहेन प्रवर्धयिष्यियति दीर्घमायुरित्येव योज्यम्।

४—नर्यः नृभ्यो हितः। मनुष्य इति अतिरिक्तः पाठः। अन्तरिक्षलोकस्येत्यपि। नरापत्यं चेत्यैतिहासिकरक्षाभिप्रायः। स्कन्दस्वामी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

द्वितीय पक्ष में वह कहता है "अद्भिः संस्कृतम्" अर्थात् पानी से संस्कृत की हुई हवि । स्कन्द लिखता है कि यहाँ इस प्रकार के विकल्प से यास्क का विशेष अभिप्राय है। वह यह कि यास्क को नैरुक्त और ऐतिहासिक दोनों ही पक्षों में मंत्रार्थ करना अभीष्ट है । अतः दोनों पक्षों के प्रदर्शनार्थ—ऐसी निरुक्ति की है। स्कन्द कहता है कि "[1]क्या यह मनुष्यों में प्रसिद्ध वृषाकपि ही यहाँ पर अभिप्रेत है । नहीं। यहाँ पर वह वृषाकपि है जिसके निमित्त यह "अप्य हवि" है। क्योंकि देवता का हवि से सम्बन्ध हुआ करता है, ऐसा नैरुक्तों का मत है। ऐतिहासिक पक्ष में हवि जिसकी स्वभूत होती है उससे अभिप्राय होता है। इससे यहां पर स्व और स्वामी का सम्बन्ध दिखलाया गया है।

यहाँ पर यह भी विशेषरूप से ज्ञातव्य है कि ऐतिहासिक पक्ष को नैरुक्त लोग स्वीकार नहीं करते थे, ऐसा नहीं। अनेक प्रमाणों से ऊपर यह बतलाया गया कि यास्क ने ऐतिहासिक पक्ष में भी अर्थ किये हैं। परन्तु इतना ही नहीं नैरुक्त सिद्धान्त मानने वाले भी ऐतिहासिक थे इसका भी उदाहरण मिलता है । निरुक्त १२।१ पर "अश्विनी" कौन हैं इस पर यास्क ने विविध मत दिखलाये हैं। यास्क कहता है कि "[2] अश्वों से युक्त को अश्विनी कहा जाता है—ऐसा और्णवाभ का मत है। कई एक आचार्यों के मत में द्यावापृथिवी ही अश्विनी हैं । कई एक के मत में "अहोरात्र" ही अश्विनी हैं । कुछ लोग सूर्य और चन्द्रमा को अश्विनी मानते हैं। ऐतिहासिक लोग पुण्यकृत किन्हीं दो कल्पित राजाओं को अश्विनी कहते हैं। यहां पर स्कन्द[3] "राजानौ पुण्यकृतौ" पर जो कि ऐतहासिक पक्ष है—लिखता है कि "दो राजा" यह और्णवाभ का मत है। अश्वों से युक्त होने से वे अश्विनी हैं—ऐसा और्णवाभ मानता है । क्योंकि पहले आ ही चुका है अश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः ॥ और्णवाभ स्वयं ही एक प्रसिद्ध नैरुक्त है। यहाँ पर ऐतिहासिक पक्ष उसका अपना पक्ष है। इससे इस बात पर भली प्रकार प्रकाश पड़ता है कि नैरुक्त लोग भी इतिहास पक्ष को स्वीकार करते थे।

निरुक्त १२।८ पर "सूर्या" से सम्बन्ध रखने वाले मंत्र की व्याख्या करते हुये ब्राह्मण ग्रन्थ का संदर्भ दिया गया है । उसमें यह लिखा है कि [4]सविता ने सोम राजा को अथवा प्रजापति को अपनी

१—अत्र नैरुक्तपक्षप्रदर्शनायोच्यते । किं योऽयमिति वृषाकपिरिति प्रसिद्धो मनुष्येषु नेत्युच्यते। यस्येदमप्यं हविरिति। देवतायाश्च हविषा सम्बन्धः [इति नैरुक्ताः]। ऐतिहासिकपक्षे तु यस्य स्वभूतमिति स्वस्वामिभावः सम्बन्धः प्रदर्शितः ॥
स्कन्दस्वामी

२—अश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभस्तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येके—ऽहोरात्रावित्येके सूर्याचन्द्रमसावित्येके राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः ॥ नि० १२।१

३—राजानौ पुण्यकृतावित्यौर्णवाभमतेन। अश्वैस्तद्वन्तौ इत्यौर्णवाभो मन्यत इति शेषः।
स्कन्दस्वामी

४—सविता सूर्यां प्रायच्छत सोमाय राज्ञे प्रजापतये वेति च ब्राह्मणम्। वृषाकपायी वृषाकपेः पत्न्येवैवाभिसृष्टकालतमा तस्या एषा भवति ॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दुहिता सूर्या को प्रदान किया । यह वृषाकपि की पत्नी वृषाकपायी है और अभिसृष्टकालतमा होने से यही सूर्या है जिसके सम्बन्ध में ऋ० १०।८६।१३ का मंत्र हैं । यास्क ने यहां पर इतिहास शब्द का प्रयोग नहीं किया है फिर भी स्कन्द और दुर्ग [1] यहाँ पर उसका आशय इसी प्रकार का लेते हैं ।

स्कन्द यहाँ पर विशदीकरण करते हुये लिखते हैं "[2] अनैरुक्त पक्ष (ब्राह्मणपक्ष) में सविता अपनी पुत्री सूर्या को सोम राजा के लिए प्रदान करता है अथवा प्रजापति के लिए देता है । वही यहाँ पर विवाहित हुई कही गयी है" । तथा नैरुक्त पक्ष में सविता सुषुम्णा नाम की सूर्यरश्मि है । उससे पैदा होने वाली पुत्रीरूप ज्योत्स्ना को वह सोम राजा अर्थात् चन्द्रमा को देता है। जब प्रजापति पक्ष में अर्थ किया जावेगा तब मध्यम योषा की योजना कई लोग करते हैं । यहाँ पर विशेष बात यह दिखलायी पड़ती है कि अनैरुक्त शब्द ब्राह्मण पक्ष के लिए प्रयुक्त है और वे ही कुछ लोग ऐतिहासिक भी हैं । साथ ही ब्राह्मणपक्ष जिस आख्यान का वर्णन कर रहा है—वह दो पक्षों में है—सोम राजा के पक्ष में और प्रजापति के पक्षु में । नैरुक्त पक्ष भी इस ब्राह्मणवाक्य के अनुसार ही है और वह भी दोनों पक्षों में हैं । एक पक्ष में सुषुम्णा रश्मि से उत्पन्न ज्योत्स्ना का अर्थ सूर्या है और दूसरे पक्ष में मध्यम योषा विद्युत् सूर्या है । दोनों ही पक्षों की यहाँ पर एकता है । एक विशेष बात यह यहाँ पर प्रकट होती हैं कि ब्राह्मणों में ही इतिहास पक्ष भी है ।

यास्काचार्य ने निरुक्त १२।१० पर "सरण्यू" के विषय से सम्बन्ध रखते हुये ऋग्वेदीय (१०।१७।२) मंत्र की व्याख्या नैरुक्त प्रक्रिया में भी की है और इतिहास पक्ष को भी वहाँ पर दिखलाया है । उसके वाक्य दोनों अर्थों पर बल देते हैं । इससे जहाँ यह सिद्ध होता है कि यास्क ने इतिहास-प्रकरण में व्याख्यान किया है वहां साथ ही यह भी निश्चित हो जाता है कि नैरुक्त और ऐतिहासिक अर्थ एक ही हैं । दोनों ही एक ही भाव को दिखलाने के लिए कहे जा रहे हैं। कभी कभी प्राकृतिक दृश्यों की इतनी सूक्ष्मता वेदमंत्रों में उपस्थित दीख पड़ती है कि शब्दों में उसको प्रकट करने में बड़ी कठिनाई मालूम पड़ती है । ऐसी परिस्थिति में अर्थ को ऐतिहासिक ढंग पर भी प्रकट करना पड़ जाता हैं । यहां पर लगभग वैसी ही स्थिति है । वेद में सूर्य को सविता, वृषाकपि, यम, आदित्य और विवस्वान् आदि अनेक नाम दिये गये हैं । ये शब्द कभी तो एक ही सामान्य अर्थ के वाचक होते हैं और कभी भिन्न भिन्न स्थितियों में होने वाले स्वरूप के वाचक होते हैं । जैमिनीय

१—केचिदितिहासपक्षे इच्छन्ति । तेषामितिहासं शृणु कथमेतदिति । वृषाकपायी वृषाकपेः पत्नी । वृषाकपिरादित्यः । तस्य पत्नी तद्विभूतिः उषःकाले यदवश्यायान् वर्षति कम्पयति च तद्गुणयोगात् । सा पुनः "एषैव सूर्या"—"अभिसृष्टकालतमा" वृषाकपायीत्युच्यते । दुर्गाचार्य; ॥

२—अनैरुक्तपक्षे सविता स्वदुहितरं सूर्यां प्रायच्छत् सोमाय राज्ञे प्रजापतये वा । सोह्यमानोच्यते । नैरुक्तपक्षे च सविता सुषुम्नाख्यः सूर्यरश्मिस्तत्कृतां ज्योत्स्नां दुहितृभूतां सोमाय राज्ञे प्रायच्छत् । यदा प्रजापतये तदा मध्यमा योषा उदकप्रदपक्षो न दीयत इति योजयन्ति केचित् ॥ स्कन्दस्वामी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उपनिषद् ४।१०।१० में इसका एक सुन्दर प्रमाण मिलता है। वहाँ पर लिखा है कि [1]"हे आदित्य' तू उषा से पूर्व सविता होता है, उदित होने का व्यापार करते हुये विष्णु कहा जाता है। उदित होता हुआ विष्णु और उदित हो जाने पर बृहस्पति कहा जाता है। चढ़ते हुये तुम्हारा नाम मघवा इन्द्र और इन्द्र वैंकुण्ठ है। दोपहर के समय में तुम्हें भग कहा जाता है। अपराह्ण में तुम्हारा नाम उग्रदेव है और लाल होकर अस्त होते हुये तू यम है। गोधूलि में तू ही सोम राजा और रात्रि में पितृराज है। स्वप्नकाल में मनुष्यों में प्रविष्ट होते हो और जल से पशुवों में प्रविष्ट होते हो। विरात्र में तू भव होता है, अपरात्र में अङ्गिरा और अग्निहोत्र वेला में तू ही भृगु होता है।" इसी प्रकार बृषाकपायी सूर्य की पत्नी का नाम है। इसी को सूर्या कहा जाता है। जब वही सूर्य के साथ चलती हुई प्रतीत होती है तब उसे ही सरण्यू कहा जाता है। यमी भी रात्रि अर्थ में और इससे मिलते जुलते अर्थ में प्रयुक्त होती है। इन पदार्थों में परस्पर पति, पत्नी, पिता, पुत्री आदि का व्यवहार कालानन्तर्य, रसाहरणसाहचर्य और कर्म के कारण पाया जाता है। यह सारा व्यवहार औपचारिक है। उदाहरण के रूप में ऋग्वेद ६।५५।५[2] मंत्र को ही लिया जा सकता है। यदि इसका निरुक्त और वैंदिक शास्त्रों की परिपाटी को छोड़कर अर्थ किया जावे तो अनर्गल अर्थ बन जावेगा और मालूम पड़ेगा कि इसमें गालियाँ दी गई हैं। परन्तु निरुक्त आदि के अनुसार इसका बड़ा ही सुन्दर अर्थ निकलता है। निरुक्तकार नि० ३।१६ [3]पर "जार" पद की व्याख्या करते हुये लिखता है कि "आदित्य ही जार हैं। वही रात्रि का और प्रकाशों का जरयिता हैं इसलिए उसे जार कहा जाता है। वैसा भी निगम पाया जाता है। स्वसुर्जारः शृणोतु नः—इस मंत्र में उषा को आदित्य की स्वसा (बहिन) कहा गया हैं। यह व्यवहार-साहचर्य के कारण अथवा रसाहरणरूप साहचर्य के कारण है।"

यहाँ पर यास्क इस ऋ० ६।५५।५ मंत्र की प्रतीक दे रहा हैं। यहाँ पर मंत्र का देवता पूषा है। पूषा सूर्य और वायु दोनों का नाम है। परन्तु यहाँ पर वह इन्द्र कहा गया है अतः वायु ही "पूषा" से अभिप्रेत है। आदित्य को मंत्र में माता (रात्रि) का दधिषु कहा गया है। माता शब्द

१—(हे आदित्य) व्युषि सविता भवस्युदेष्यन् विष्णुरुद्यन्पुरुष उदितो बृहस्पतिरभिप्रयन्मघवेन्द्रो वैकुण्ठो माध्यन्दिने भगोऽपराह्ण उग्रो देवो लोहितायन्नस्तमिते यमो भवसि। अस्तमसु सोमो राजा निशायाम्पितृराजस्स्वप्ने मनुष्यान् प्रविशसि पयसा पशून्। विरात्रे भवो भवस्यपरात्रेऽङ्गिरा अग्निहोत्रवेलायाम्भृगुः ॥
जै० उ० ४।५।१—३

आदित्यो वै वृषाकपिः—गो० उ० ६।१२

२—मातुर्दधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः। भ्रातेन्द्रस्य सखा मम।
ऋ० ६।५५।५

३—जार आ भगम्।............आदित्योऽत्र जार उच्यते रात्रेर्जरयिता स एव भासां तथापि निगमो भवति। स्वसुर्जारः शृणोतु न इत्युषसमस्य स्वसारमाह साहचर्याद्रसहरणाद्वा ॥ नि० ३।१६

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

का प्रयोग यहाँ पर रात्रि के लिए है। वह माता इसलिए हैं कि प्रातःकाल का सूर्य रात्रि के बाद ही होता है। अथवा माता पद का अर्थ पृथ्वी है। आदित्य उसका धारक होने से उसका दधिषु है। दधिषु शब्द का अर्थ नियुक्त पति होता है परन्तु यहाँ पर आदित्य को ही रात्रि का दधिषु कहा गया है। उषा को स्वसा शब्द से व्यवहृत किया गया है। पुनः उसका जार आदित्य को ही कहा गया है। कारण यह है कि उषा का वह जहाँ रसाहरण आदि साहचर्य से भाई है वहां उसका जरयिता होने से जार भी हैं। वह आदित्य वायु का भ्राता है और सखा भी है। यहां मंत्र में सारे सम्बन्ध इन जड़ पदर्थों में दिखलाये गये हैं। परन्तु ये सारे सम्बन्ध औपचारिक हैं। ऐसे ही यम-यमी नामों में भी समझना चाहिए। ऐतिहासिक लोग यम-यमी की कल्पना पर इतिहास खड़ा करते है अतः ये आख्यानपक्षीय पद बन गये हैं। सूर्या जिसका हो नाम सरण्यू है—उस सम्बन्धी पूर्वोक्त ('ऋ० १०।१७।२) मंत्र की व्याख्या करते हुये कहता है कि "किरणों ने अरुणोदय काल की उषःप्रभा को (जिसे वृषाकपायी कहा जाता है) मनुष्यों के दृष्टिपथ से छिपा लिया। पुनः अरुणोदय काल में सवर्णा सरण्यू बनाकर उदित होते हुये विवस्वान् (सूर्य) को दे दिया। वह दी हुई सरण्यू अश्विनी अर्थात् तमोभाग और ज्योतिर्भाग को पैदा करती हैं। इससे वह अपने पूर्व रूप अर्थात् वृषाकपायी पने को छोड़ देती है। तथा प्रकाश के प्रकर्ष को प्राप्त होकर तम और रात्रि के सन्नाटे रूप दो जोड़ों को पैदा करती है। ये दो मिथुन मध्यम और माध्यामिक वाक् हैं—ऐसा नैरुक्त लोग मानते हैं। ये मिथुन यम और यमी हैं ऐसा ऐतिहासिक लोग मानते हैं। त्वाष्ट्री सरण्यूने आदित्य के संपर्क से युगल को पैदा करके अपने समान वर्णा वाली को प्रतिनिधि रूप में रखकर स्वयं अश्व के रूप को धारण करके भग गयी। उस विवस्वान् ने आश्व रूप धारण कर उसका पीछा किया और उसके साथ होगया। उससे इस सवर्णा में अश्विनी पैदा हुये। उसको बतलाने वाली यह ऋग्वेद की १०।१७।१ ऋचा है" इत्यादि।

यहाँ पर यास्क ने इस मंत्र का ऐतिहासिक व्याख्यान किया और साथ ही आख्यान बताकर पुनः उससे आगे ऋग्वेद के १०।१७।१ मंत्र की ओर संकेत किया। इसका स्पष्ट भाव यह हुआ कि इस मंत्र में सरण्यू का यह इतिहास वर्णित है। यास्क नैरुक्त मत में दो मिथुन का अर्थ मध्यम तम और माध्यामिक वाक् अर्थात् रात्रि का सन्नाटा कर रहा है। उसे ही वह इतिहास पक्ष में यम और यमी बतला रहा है। यम और यमी ऐतिहासिक पक्ष हैं और मध्यम तथा माध्यामिक वाक् नैरुक्त

१—अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते। उताश्विनाभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः। ऋ० १०।१७।२ अप्यागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वतेऽप्यश्विनावभरद्यत्तदासीदजहाद् द्वौ मिथुनौ सरण्यूर्मध्यमं च माध्यमिकां च वाचमिति नैरुक्ता यमं च यमीं चेत्यैतिहासिकास्तत्रेतिहासमाचक्षते त्वाष्ट्री सरण्यू विवस्वत आदित्याद्यमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार सा सवर्णामन्यां प्रतिनिधायाश्वं रूपं कृत्वा प्रदुद्राव। स विवस्वनादित्य आश्वमेव रूपं कृत्वा तामनुसृत्य सम्बभूव ततोऽश्विनौ जज्ञाते सवर्णायाम्। इसको बताने वाली यह अगली "त्वष्टा दुहित्रे" आदि ऋचा है। नि० १२।१०

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पक्ष है। परन्तु भाव दोनों का एक ही है। एक ही वर्णनीय विषय को दोनों प्रकार से वर्णन किया गया है जो आगे चलकर और भी स्पष्ट हो जावेगा।

यास्क इस "त्वष्टा दुहित्रे" आदि ऋचा की व्याख्या करते हुये लिखता है "[1]त्वष्टा अपनी दुहिता सरण्यू का विवाह करता है। सारे भूत एकत्र होते हैं। अथवा जानते है। विवाही जाती हुई यह सरण्यू यम की माता है और विवस्वान् की जाया है। यह प्रनष्ट हो जाती है। रात्रि सूर्य के उदय होने पर अन्तर्हित हो जाती है"। यास्क यहाँ पर पूरा इतिहास दिखला देता है। यह इतिहास क्या है—एक रहस्यमय प्राकृतिक वर्णन है। सूर्य, उषा, रात्रि और पुनः सूर्य का कितना सुन्दर वर्णन इन मंत्रों से मिलता है। यास्क के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए यहाँ पर प्रथम "त्वष्टा" पद पर विचार करना अपेक्षित है। 'सरण्यू' का अर्थ पूर्व बतला दिया गया है। वह उषा है। त्वष्टा सूर्य का नाम है, यह बहुत प्रसिद्ध अर्थ है। परन्तु किस सूर्य को त्वष्टा कहा जावे—यह विचारने की वस्तु है। वृत्र जो मेघ है और आच्छादक होने से अन्धकार मय है—उसे त्वष्टा का पुत्र कहा जाता है। ऐसी स्थिति में 'त्वष्टा' भी ऐसा ही सूर्य होगा जिसमें आवरण हो। द्वादश आदित्यों में त्वष्टा भी एक है। वृत्र शब्द पर भागवत ६।९ में लिखा है कि "[2]त्वाष्ट्रमूर्ति जिस तम से यह समस्त लोक अच्छादित हो जाते हैं उसी को वृत्र कहा गया है और परम दारुण एवं पापरूप हैं"। मत्स्य-पुराण[3] ११।५ में लिखा है कि "त्वाष्ट्री स्वरूप से छाया है"। इसी प्रकार महाभारत १।६६।३५ [4]में भी लिखा है कि "त्वाष्ट्री सविता की भार्या है"।

इन प्रमाणों से वृत्र मेघ है और वह तमोरूप है तथा त्वष्टा का पुत्र है—यह सिद्ध है। साथ ही त्वाष्ट्री छाया ही सविता की भार्या है। ऐसी स्थिति में त्वष्टा भी आवृत सूर्य ही हो सकता है। वह होगा रात्रिगत आदित्य अथवा उस समय में छाया हुआ मध्यम तमोभाग। सूर्य रात्रि में अस्त होता है और मध्यम भाग अन्तरिक्ष में तमोऽन्धकार छा जाता है। उस छाया से सम्बन्ध रखने वाला आदित्य भी त्वष्टा कहला सकता है। आदित्य न तो अस्त होता है और न उदित। पृथ्वी की गति के कारण ही यह सब व्यवहार होता है। रात्रि में भी सूर्य आकाश में रहता है परन्तु पृथ्वी के विभिन्न भागों में वह दिखायी पड़ता है जब कि किन्हीं भागों में नहीं दिखायी पड़ता। जिन भागों में नहीं दिखायी पड़ता वहां पर अन्धकार होता है परन्तु इसका सम्बन्ध सूर्य से प्रत्यक्ष न रहकर अप्रत्यक्ष रूप में बना रहता है। यास्क ने मंत्रस्थ पदों के अनुसार सरण्यू को यम की माता कहा है और विवस्वान् की जाया कहा

१—त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति। यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश। (ऋ० १०।१७।१) त्वष्टा दुहितुर्वहनं करोतीदं विश्वं भुवनं समेतीमानि च सर्वाणि भूतान्यभिसमागच्छन्ति यमस्य माता पर्युह्यमाना महतो जाया विवस्वतो ननाश रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते। नि० १२।११

२—येनावृता इमे लोकास्तमसा त्वाष्ट्रमूर्तिना। स वै वृत्र इति प्रोक्तः पापः परमदारुणः॥ भागवत ६ स्कन्द ९ वाँ अध्याय

३—त्वाष्ट्री स्वरूपेण नाम्ना छायेति भामिनी। मत्स्य० ११।५

४—त्वष्ट्री सवितुः भार्या—महाभारत १।६६।३५

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है। वह और भी स्पष्ट करता है "रात्रिरादित्यस्य" अर्थात् रात्रि (उषा) आदित्य की जाया है। वह तर्क देता है कि "आदित्योदयेऽन्तर्धीयते" अर्थात् आदित्य के उदय होने पर रात्रि अन्तर्हित हो जाती है। यास्क के "रात्रिरादित्यस्य" पद यह सिद्ध कर रहे हैं कि सरण्यू छाया अथवा रात्रि की वाचक है। यह ही अर्थ पूर्वोक्त मत्स्य पुराण के प्रमाण में स्फुट किया गया है। वह सविता अर्थात् सूर्य की भार्या है—यह बात ही महाभारत के प्रमाण में कही गयी है। वह भी यास्क के "जाया विवस्वतः" पदों की छाया मात्र है। इसी भाव को लेकर इतिहास दर्शाया गया है। यास्क ने इतिहास पक्ष में यम और यमी को युगल माना है। नैरुक्त पक्ष में मध्यम तमोभाग और रात्रि के सन्नाटे को युगल माना है। रात्रि में तम होता ही है। साथ ही रात्रि में सन्नाटा भी साँय साँय करता हुआ मालूम पड़ता है। नैरुक्त अर्थ ही यहाँ पर इतिहास में भी कहा गया है इसके स्पष्टीकरण के लिए दोनों मंत्रों के दोनों प्रकार के अर्थों को दे देना समुचित होगा। नैरुक्त प्रक्रिया में दोनों मंत्रों का अर्थ निम्न प्रकार होगा—

त्वष्टा दुहित्रे—मध्यमतमोभाग उषा को आदित्य में प्रविष्ट कर देता है। इस कारण से उषा के उदयकाल में अब तम जा रहा है और आदित्य उदित होगा—ऐसा समझकर समस्त प्राणी अपने कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं। वह उषा भी साहचर्य अथवा रसाहरण से आदित्य की माता हुई कालान्तर से महान् विवस्वान् की जाया होती हुई विश्वरूपेण नष्ट हो जाती है। क्योंकि आदित्य के उदय होते ही उषा समाप्त हो जाती है। आदित्य उदय वेला' में उषा के बाद उदित होता है अतः वह उसकी माता है परन्तु उदय के समय एक काल में दोनों विराजमान हो जाते हैं अतः उषा को उसकी जाया कहा गया है।

अपागूहन्—किरणें अमृतधर्मिणी वृषाकपायी नाम वाली अरुणोदय काल की उषा की प्रभा को मनुष्यों से छिपा लेती हैं। पुनः उसे अरुण के उदय होने पर सरण्यू नाम की सवर्ण प्रभा के रूप में आदित्य के समीप कर देती हैं। दी हुई यह सरण्यू तमोभाग और ज्योतिर्भाग (आश्विनी) को धारण करती है। इस प्रकार वृषाकपायी अवस्था में जो लाल रूप था उसको छोड़ देती है और प्रकाश के प्रकर्ष से युक्त हो जाती है। वह ही पुनः आदित्य के सहारे रात्रि में मध्यम तमोभाग और सन्नाटे को पैदा करती है।

दोनों मंत्रों का ऐतिहासिक अर्थ निम्न प्रकार है—

त्वष्टा दुहित्रे—

त्वष्टा अपनी दुहिता सरण्यू का विवाह करता है। समस्त प्राणी इसको देखते हैं एवं जानते हैं। वह विवाहित होती हुई सरण्यू यम और यमी की माता है तथा महान् विवस्वान् की जाया है। अतः यम और यमी को पैदा करके नष्ट हो जाती है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अपागूहन्—

देवों ने अमृतरूपी सरण्यू को मनुष्यों से छिपा लिया। दूसरी सवर्णा को बनाकर विवस्वान् को दे दिया। उस सरण्यू ने अश्व का रूप करके अश्वरूप वाले विवस्वान् से आश्विनी को पैदा किया। इसने पुनः अपने अश्वरूप को छोड़ दिया और विवस्वान् के सम्पर्क से यम और यमी दो जोड़ों को पैदा किया।

वस्तुतः तैत्तिरीय ३।६।२३।२ तथा शतपथ ७।३।२।१० में क्रमशः—"असौ वा आदित्य एषोऽश्वः" आदि वाक्यों से आदित्य को अश्व कहा गया है। अरुणोदय काल में जब तमोभाग और ज्योतिर्भाग का पृथक्-करण सा दीख पड़ता है वही अश्विनी हैं और उससे पूर्ववर्त्ती आदित्य अश्व है तथा तात्कालिकी उषा अश्वरूप वाली सरण्यू है। यह सारा प्रपंच वेदमंत्रों से ही आया और दोनों प्रक्रियावों में एक ही विषय का प्रतिपादन दृष्टिभेद से किया गया। यास्क के इस स्थल का भाष्य स्कन्द ने दोनों प्रक्रियावों में दिखलाया है। बहुत विस्तार के साथ उसने यास्क के मत को प्रकट करने का प्रयत्न किया है। वह "त्वष्टा दुहित्रे" का अर्थ निम्न प्रकार करता है:—

इतिहासपक्ष—

त्वष्टा देवः दुहित्रे षष्ठ्यर्थे चतुर्थी स्वस्या दुहितुः सरण्यूनाम्नयाः। वहतुं विवाहं कृणोति करोतीति। एतेन कारणेन संपरिहारार्थम्। इदं विश्वं भुवनं सर्वं भूतजातं समेति समित्येष आ इत्यस्य स्थाने। भूते च लट् समागच्छति स्म। सा च पर्युह्यमाना ऊढा च सती यमस्य यम्याश्च माता महो महतो विवस्वतो जाया भार्या तस्माद् यमं च यमीं च जनयित्वा त्यक्त्वा ननाश नष्टा।

अपागूहन्—

ऐतिहासिकपक्षे [तु] सारण्यूर्नाम त्वष्टुर्दुहिता। तां देवता—रूपत्वाद् अमृतामगृत-धर्मिणीं मर्त्येभ्यः सर्वमनुष्येभ्यो [देवा] अपागूहन् नाशितवन्तः इत्यर्थः। कृत्वा चान्यां तद्वर्णामददुर्विवस्वते। सा च तदाश्वं रूपं कृतवतत्युत्तरेषु कुरुषु विवस्वतोऽश्वरूपादश्विनावात्मनि-गर्भभूतावभरत धारितवती जनितवतीत्यर्थः। यत्तदासीदाश्वं रूपमस्यास्तत् स्वेन रूपेणाजहात् त्यक्तवती च विववस्त एव सकाशाद् द्वौ मिथुनौ स्वपुत्रौ यमं च यमीं च सरण्यू इति।

नैरुक्त पक्ष में—

"नैरुक्तपक्षे त्वस्यामृचि त्वष्टा मध्यमस्तमोभागस्तस्य दुहिता उषाः तेन रात्रिरूपेण स्वैरुदये जन्यमानत्वात्तस्या वहनं प्रापणमनुप्रवेश आदित्ये तं स मध्यमस्त्वष्टा रात्रिरूप आत्मापगमनेन करोति। एतेन कारणेनेदं सर्वं भूतजातं समेति संगच्छते स्वैः कर्मभिः संबध्यते। उदितायां हि उषसि अपैतीदानीं तम उदेत्यादित्य इत्येवं मन्यमानाः सर्वप्राणिनः स्वकर्माणि कर्त्तुं प्रारभन्त इत्यर्थः। सापि यम आदित्यस्तस्य माता साहचर्याद्रसहरणाद्वा मातृभूता। किं तर्हि? महो महतो विवस्वतो ऽभिगमनसामान्याज्जायाभूता विश्वरूपेण ननाश नश्यति। उदयत्यादित्ये लीयते तदात्मकैवेत्यर्थः। अभिगच्छति स्वैः कर्मभिरिति वाक्यशेषः। रात्रिरादित्यस्येति च रात्रिशब्देन रात्रेरेकदेशत्वादुषा दृएवोच्यते सम्बन्धत्वा। सा च देवधर्मेणादित्यस्य माता।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अपागूहन्—

अपागूहन्ते रश्मयोऽपनयन्तीत्यर्थः। काम् ? अमृताममृधर्मिणीं वृषाकपायीशब्दवाच्यामरुणोदयावस्थामुषसः प्रभाम्। कुतोऽपागूहन्? मर्त्येभ्यो मनुष्याणां दृष्टिपथादित्यर्थः। कृत्वी कृत्वा वान्यां तत्सवर्णां सरण्यूनाम्नीमुदितेऽरुणे यस्याः प्रभा तामददुर्ददति विवस्वत उद्यत आदित्यस्य सन्निकृष्टतरां कुर्वन्तीत्यर्थः। सा च दत्ता सती उत अपि च। अश्विनावभरत्। विभर्तेरिदं रूपं न भरतेः। अश्विनावात्मनि धारयति तमोभागं ज्योतिर्भागञ्चेत्यर्थः। यत्तदासीद् वृषाकपाय्याः रक्तं रूपं तच्च क्रमेणोपजायमानप्रकाश-प्रकर्षा अजहाज्जहाति। उकारः पादपूरणः। द्वा मिथुना द्वौ मिथुनौ स्त्रीपुंसौ मध्यमञ्च तमोभागं तदन्तर्गतां च माध्यमिकां वाचं च।

यहां पर स्कन्दस्वामी ने और अपने भाष्य में दुर्ग ने भी जो ऐतिहासिक पक्ष में उत्तर कुरु की कल्पना की है वह उनकी निजी है। इसका यास्क के वाक्यों से कोई सम्बन्ध नहीं। भारत में उषःकाल के समय यह अवस्था सूर्य के उत्तर कुरु में जाने पर भले ही होती हो। परन्तु अन्य देशों में तो ऐसा नहीं होता। वहां भी उषा तो होती ही है। अतः देश का सम्बन्ध जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। यहां भाष्यकारों ने व्यर्थ ही मार्गान्तर का ग्रहण किया। निरुक्त १२।४१ [1]पर यास्क ने साध्य देवों पर प्रकाश डालते हुये निरुक्ति की है। यास्क कहता है कि इनका नाम साध्य देव इसलिए है कि ये सृष्टि रचना की सिद्धि करते हैं। यास्क ने इस सम्बन्ध में ऋग्वेद (१०।९०।१६) का मंत्र दिया है। यास्क मत्र का अर्थ करते हुये लिखता है कि [2]देवों ने अग्नि से अग्नि का यजन किया। इसमें वह ब्राह्मणग्रंथ का प्रमाण देता है कि [3]"अग्निः पशुरासीत्तमालभन्त तेनायजन्तेति" अर्थात् अग्नि पशु था जिसको देवों ने पकड़ा और उससे यज्ञ की सिद्धि की। वह स्पष्टीकरण करते हुये लिखता है [4]कि द्युस्थानीय देवगण (सूर्यरश्मियें) ही साध्यदेव हैं—ऐसा नैरुक्तों का मत हैं। साध्यदेव से यहां पर पूर्व देवयुग का वर्णन है—ऐसा आख्यान है। यहां पर यास्क की निरुक्ति दोनों पक्षों में घटेगी परन्तु यहां पर "देवयुग" का संकेत करना यह बतलाता है कि यास्क इस अर्थ को भी उपयोगी समझता है। समझे भी क्यों न। यह भी एक ऐसा विषय है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। परन्तु "पूर्वं देवयुगम्" क्या है यह विचारणीय है। यहां पर इतिहास किसी व्यक्ति का नहीं अपितु देवों का है। देवों का इतिहास सृष्टिप्रक्रिया का वर्णन हैं। यहां पर सृष्टि-प्रक्रिया के वर्णन को ही इतिहास में दिखलाया गया समझना चाहिए।

सृष्टि-विज्ञान का वर्णन प्रकृति से प्रारंभ होता है और पृथ्वी आदि लोक लोकान्तरों तक समाप्त होता है। प्रकृति से समस्त सृष्टि पैदा होती है—ऐसा सांख्यों का मूलभूत सिद्धान्त है। सांख्यों की इस ही प्रक्रिया को रोचक बनाकर देवसृष्टि के रूप में वर्णन किया जाता है। यही आख्यानविदों की सृष्टिप्रक्रिया अथवा आख्यान है। जैसा पूर्व इसी प्रकरण में लिखा जा चुका है कि अदिति

१—साध्या देवाः साधनात्तेषामेषा भवति। नि० १२।४१

२—अग्निनाग्निमयजन्त देवाः। नि० १२।४१

३—अग्निः पशुरासीत्तमालभन्त तेनायजन्तेति—नि० १२।४१

४—द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः, पूर्वं देवयुगमित्याख्यानम्। नि० १२।४१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

को यास्क ने देवमाता कहा [1] है। तथा यह "देवमाता" अर्थ आख्यानविदों की प्रक्रिया के अनुसार है। इसके अधिक स्पष्टीकरण के लिए हम यहाँ पर स्कन्द के पूर्व कथित वाक्य को पुनः उद्धृत करते हैं। स्कन्द कहता है कि [2] दर्शनभेद से अनेकार्थता देखी जाती है। "अदिति" ऐतिहासिकों की "देवमाता" है। नैरुक्तों के मत में अदीन आदि गुण अदिति हैं। तथा अध्यात्मपक्ष में प्रकृति अदिति है। अदिति को प्रकृति मानकर उससे सृष्टि का क्रम निम्न-प्रकार वर्णन किया जाता है—

[3]
प्रकृति (अदिति)
|
प्रतिभा—अथवा अनिर्देश्य तत्व अथवा पूर्वचित्तिः
|
महत्तत्व
|
अहंकार
मन के साथ ११ इन्द्रियाँ —— पंचतन्त्रमायें शब्द, स्पर्श, रूप रस, गन्ध
|
पंचमहाभूत आकाश, वायु, अग्नि जल तथा पृथिवी
|
शरीर आदि विकार

1—अदितिरदीना देवमाता—नि० ४।२२

२—अनेकार्थत्वञ्च दर्शनभेदेन। कथम्। ऐतिहासिकानां देवानां माता उच्यते। नैरुक्तानामदीनादिगुणाः। अध्यात्मपक्षे प्रकृतिः। स्कन्दस्वामी

३—सत्वरजस्तमसां साम्यवस्था प्रकृतिः प्रकृते र्महान् महतोऽहंकारो अहंकारात्पंचतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियम्—सां० १।६१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इस ही प्रकृति का दूसरा नाम "विकुण्ठा" है। विकुण्ठा में व्यापक होने से इन्द्र (परमेश्वर) का नाम वैकुण्ठ है। वैकुण्ठ-सम्बन्धी मंत्र "अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिर-हम्"—है। प्रकृति की इस सृष्टिप्रक्रिया को देवसृष्टिक्रम में शब्दान्तर से वर्णन किया जाता है। "देवमाता" अदिति अर्थात् प्रकृति से देवसृष्टि का प्रारंभ होता है। इसका वर्णन ऋग्वेद १० म मण्डल के ७२ वें सूक्त में पाया जाता है। प्रकृति सम्बन्धी प्रक्रिया का वर्णन ऋग्वेद १० मंडल के १२९ वें सूक्त में मिलता है। इस ७२ वें सूक्त के प्रथम मंत्र में बतलाया गया है कि देवों के जन्म को बतलाया जाता है कि जिनका उत्तर युग में वर्णन होता है और यज्ञ आदि व्यवहारों में प्रयोग होता है। दूसरे मंत्र में बतलाया गया है कि प्रकृति के स्वामी परमेश्वर ने लोहार की भांति अपने तेज से प्रकृति को धौंका और देवों के पूर्व युग में असत् अर्थात् अव्यक्त से सत् अर्थात् व्यक्त पैदा हुआ। तीसरे मंत्र में वर्णित है कि अव्यक्त से व्यक्त होने की अवस्था में आते हुये प्रथम प्रलयावस्था का अंधकार भंग होकर दिशावों के चिह्न प्रकट होने लगे अर्थात् व्यक्तता के चिह्न गोचर होने लगे और पुनः प्रकाशमय पुंज (उत्तानपाद) पैदा हुआ। चौथा मंत्र बतलाता है कि उत्तानपाद से कार्यप्रकृति पैदा होती है और उससे पुनः दिशायें अर्थात् अवकाश आदि उत्पन्न होते हैं। नियमतः प्रकृति से दक्ष अर्थात् आदित्य आदि कार्य जगत् पैदा होता है और इस कार्य जगत् का प्रलय होकर पुनः अदिति अर्थात् प्रकृति हो जाती है। यहाँ पर संक्षेप में व्यक्त अव्यक्त अर्थात् सृष्टि और प्रलय की अवस्था का सामान्य प्रतिपादन है। पाचवें मंत्र में दिखलाया गया है कि जिसको दक्ष की दुहिता अर्थात् कार्यजगत् की अपेक्षा से सूक्ष्म होकर प्रलयावस्था में विद्यमान अदिति कहा जाता है उससे देव पैदा हुये जो कि अमृतबन्धु अर्थात् सूक्ष्म और कारणरूप हैं। इनकी सूक्ष्मता अभी पूरी स्थूलता में नहीं आयी है अतः ये अमृतबन्धु कहे गये हैं। अथवा मोक्ष न होने पर्यन्त ये अमर जीव के बन्धन के हेतु रहते हैं और साथ बने रहते हैं—इसलिए ये अमृतबन्धु हैं। छठे मंत्र में बतलाया गया है कि कारण प्रकृति (अदिति) में ये देव परमेश्वर की सिसृक्षागति से प्रेरित होकर स्थित होते हैं और नाचते से रहते हैं। इस अवस्था में प्रकृति (अदिति) में तीव्र परमाणु नाचने लगते हैं। सातवें मंत्र में स्पष्ट किया गया है कि "परमात्मा के निमित्त से यतियों के समान यत्नशील ये देव समस्त जगत् के बनाने की शक्तियों से अपने को पूर्ण कर लेते हैं तथा इस विद्युन्मय प्राकृतिक शक्ति के समुद्र में व्याप्त महान् शक्तियों में छिपे हुये प्रेरणा, ताप, विद्युत् और गति के महान् पुंज को प्रकट करने के लिए क्षुब्ध करते हैं। आठवें मंत्र में यह प्रदर्शित है कि अदिति अर्थात् प्रकृति के शरीर से आठ पुत्र पैदा होते हैं। वह प्रकृति इस प्रकार सात पुत्रों से तो सात देवों को प्राप्त करती है और आठवें पुत्र मार्तण्ड को ऊपर स्थापित करती है। नवें मंत्र में पुनः स्पष्ट किया गया है कि सात पुत्रों से अदिति ने पूर्व युग को प्राप्त किया और प्राणियों की उत्पत्ति एवं मरण के लिए मृत्परमाणुवों से युक्त अथवा कालगति से युक्त विराट् रूपी महद् अण्ड मार्तण्ड को धारण किया। यहाँ पर अदिति के आठ पुत्रों का वर्णन है। उन आठ पुत्रों में सात तो पूर्वयुग के क्रम हैं और आठवां विराट् अवस्था का सूचक है जब कि स्थूल लोक-लोकान्तरों की उत्पत्ति का कारण समष्टिभूत महद् अण्ड अर्थात् हिरण्याण्ड पैदा हो जाता है। यहाँ इस सूक्त में पूर्वयुग और उत्तरयुग दोनों शब्द आये हैं। अदिति से मार्तण्ड के उत्पन्न होने तक देवों का पूर्वयुग है और उसके बाद उत्तरयुग प्रारंभ होता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अथर्ववेद ११।१।१ [1] में अदिति के ओदन पकाने का वर्णन है। इस स्थल पर ओदन का ही वर्णन है। अदिति इस ओदन को पकाती है और इसको ग्रहण करके देवों को उत्पन्न करती है। अथर्व का यह मंत्र बतलाता है कि अदिति पुत्र पैदा करने की कामना से ब्रह्मौदनं पचति। सात भूतकृत् ऋषि अग्नि को प्रजा के साथ मंथन करते हैं। यह ब्रह्मौदन यहाँ पर प्रकृति की साम्यावस्था से विराट् तक आने के क्रम का पाक हैं। प्रकृति विकृति की इच्छा से ब्रह्म से ताप एवं निमित्त गति प्राप्त कर विराट् पर्यन्त आती है और इस विराट् की अवस्था में सप्तऋषि अन्य प्रजावों के साथ अग्नि का मन्थन करते हैं कि विराट् से आगे सृष्टि का क्रम चले। इस सृष्टिचक्र में अग्नि का भाग महत्व का हैं। इसीरहस्य को वेदमंत्र में खोला गया है। ऋग्वेद [2] १०।५।७ में भी बताया गया हैं कि अव्यक्त औरव्यक्त के परम व्योम दक्ष के जन्म और अदिति की साम्यावस्था के भंग में अग्नि ही प्रथम हैं।

गोपथ ब्राह्मण पूर्वार्ध २।१५ [3] पर लिखा है कि प्रजा की कामना करती हुई अदिति ने ओदन पकाया और उच्छिष्ट को खा लिया। उसने गर्भ को धारण किया और उससे आदित्य पैदा हुये। तैत्तिरीय १।१।६।१—३ में वर्णित मिलता है कि अदिति ने पुत्र की कामना वाली होकर साध्यदेवों के निमित्त ब्रह्मौदन पकाया। उसका उच्छिष्ट उसे मिला। उसे उसने खाया उससे रेत धारण किया तथा धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, अंश भग, इन्द्र और विवस्वान् पैदा हुये। यहाँ इन ब्राह्मणग्रन्थों में भी अथर्वकथित ब्राह्मौदन का ही वर्णन है। ब्रह्म की सिसृक्षाशक्ति से देवों और साध्यों आदि जगत् के पदार्थों की उत्पत्ति के लिए प्रवृत्त प्रकृति जो विकृति की अवस्था पैदा करती है और जिससे पुनः सारा जगत् होता है—वही ब्रह्मौदन है। प्रलयकाल में यह सारा ओदन अर्थात् कार्यजगत् साध्यदेवों में समाकर पुनः प्रकृति में मिल जाता है। ब्रह्म कर्त्ता धर्त्ता, हर्त्ता होने से इस ओदन में सम्मिलित है। ओदन के नष्ट हो जाने पर केवल वही शेष रह जाता है। अर्थात् प्रलयकाल में वही शेष रहता है। परन्तु जगत् को ओदन कहा गया है अतः शेष रहने वाला स्वभावतः उच्छिष्ट कहा जावेगा। इस उच्छिष्ट को जब प्रकृति निमित्त बनाकर पुनः ग्रहण कर लेती है तो देवों की उत्पत्ति होती है अर्थात् उससे पुनः सृष्टिक्रम चालू हो जाता है। अदिति (प्रकृति) आठ पुत्रों को पैदा करती है। ये ही देव भी कहे जाते हैं।

१—अग्ने जायस्वदितिर्नाथितेयं ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा।
सप्त ऋषयो भूतकृतस्ते त्वा मन्थन्तु प्रजया सहेह। अथर्व० ११।१।१

२—असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे। अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः। ऋ० १०।५।७

३—अदितिर्वै प्रजाकामौदनमपचत्तत उच्छिष्टमाश्नात् सा गर्भमधत्त तत आदित्या अजायन्त-- गो० पू० २।१५

४—अदितिः पुत्रकामा साध्येभ्यो देवभ्यो ब्रह्मौदनमपचत् तस्या उच्छेषणमददुः। तत्प्राश्नात् सा रेतोऽधत्त। तस्यै धाता चार्यमा चाजायेताम्। मित्रश्च वरुणश्चाजायेताम्। अंशश्च भगश्चाजायेताम्……इन्द्रश्च विवस्वांश्चाजायेताम्। तै० १।१।९।१-३

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सम्प्रति यह देखना शेष रह जाता है कि अदिति के आठ पुत्र कौन हैं। आठवें पुत्र का नाम मार्तण्ड तो मंत्र में ही दे दिया गया है केवल सात पुत्रों के जानने की आवश्यकता है। तैत्तिरीय आरण्यक (१।१३।३) में अदिति के आठ पुत्र निम्न प्रकार गिनाये गये हैं। वहाँ पर मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा अंश,[1] भग, विवस्वान् और आदित्य (मार्तण्ड) नाम बतलाये गये हैं। शतपथ ब्राह्मण [2] ३।१।३।३ में कहा गया है कि अदिति के आठ पुत्र हैं। इन्हीं को आदित्य और देव कहा जाता है। उनमें से सात अविकृत अर्थात् सूक्ष्म अवस्था में हैं (अर्थात् प्रकृति के सूक्ष्म कार्य हैं)। अतः आठवें मार्तण्ड को पैदा किया। पुनः ताण्ड्य ब्राह्मण [3] २४।१२।५—६ स्थल यह दिखलाता है कि अदिति के सात पुत्र पैदा हुये जो देव जाने गये और आठवाँ मार्तण्ड पैदा किया गया। ताण्डय २४।१२।४ [4] में ब्राह्मणकार कहता है कि "इन से आदित्यों ने द्वन्द्व प्रारंभ किया और मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, अंश, भग, इन्द्र और विवस्वान् (मार्तण्ड) पैदा हुये।

यहाँ पर इन प्रमाणों में जिन आठ देवों का नाम बताया गया है वे हैं—

मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, अंश, भग, विवस्वान् और आदित्य अर्थात् मार्तण्ड। पहले प्रतिभा, महत्तत्व, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध प्रकृति के क्रमिक कार्य कहे गये हैं। ये जब पैदा हो जाते हैं तो सूक्ष्मावस्था में रहते हैं। परन्तु इन में जो गन्ध तन्मात्रा है उसके व्यक्त होते हुये विराट् रूपी महान् अण्ड पैदा हो जाता है। इन में सबसे स्थूल अवस्था इस पार्थिव तत्व की होती है अतः मार्तण्ड को उस अवस्था का प्रतिनिधि बतलाया गया है। मार्तण्ड की अवस्था में विकार में स्थूलता आ जाती है। मार्तण्ड की अवस्था में काल का प्रयोग होने लगता है इसलिए उसे मरण का भी हेतु बतलाया गया है। तात्पर्य यह है कि अब तक तो प्रकृति में ऐसे पदार्थ पैदा हुये जिन्हें तत्त्व कहा जा सकता है। परन्तु अब जो पैदा होंगे वे केवल विकार कहलावेंगे। इन्हीं प्रकृति के आठ कार्यों को देवसृष्टि में अदिति के आठ पुत्र माना गया है। प्रकृति की आठ प्रकृतिविकृतियां ही ऐतिहासिकों के आठ आदित्य हैं। विराट् में उपस्थित ये ही आठ साध्य देव कहे जाते हैं।

यहां तक मार्तण्ड की सृष्टि हो चुकी। अब आगे विराट् से किस प्रकार क्रम चलता है इस पर विचार करने की जरूरत है। सांख्य-प्रक्रिया के अनुसार विराट् की अवस्था में आकाश (अवकाश) पैदा होता है। आकाश के अनन्तर वायु का क्रम आता है। वायु के बाद पुनः

१—ताननुक्रमिष्यामो मित्रश्च वरुणश्च धाता चार्यमा चांशश्च भगश्च विवस्वानादित्यश्च— तै० आ० १।१३।३

२—अष्टौ ह वै पुत्रा अदितेः। यांस्त्वेतद्देवा आदित्या इत्याचक्षते सप्त ह वै तेऽविकृतं ह्याष्टमं जनयाञ्चकार मार्तण्डम्। श० ३।१।३।३

३—तदभ्यनूक्ता। अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वं परि देवाꣳउपप्रैत् सप्तभिः परा मार्तण्डमास्यदिति—ता० २४।१२।५–६

४—एताभिर्वा आदित्या द्वन्द्वमाध्नुंवन्मित्रश्च वरुणश्च धाता चार्यमा चाꣳशश्च भगश्चेन्द्रश्च विवस्वांश्च। ता० २४।१२।४

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

स्थूल अग्नि और उसके बाद जल की उत्पत्ति होती है। जल के अनन्तर पृथ्वी पैदा होती है और फिर शरीर आदि उत्पन्न होते हैं।

परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से मार्तण्ड के बाद का क्रम पर्याप्त जटिल हो जाता है। ये देव जिनका वर्णन किया गया है विराट् में लीन रहते हैं। यह ही वस्तुतः हिरण्यगर्भ भी है। शास्त्रों में इसे हैमाण्ड भी कहा गया है। साथ ही बतलाया गया है कि यह सहस्रों सूर्यों के समान चमकीला होता है। पुनः इसके अर्धभाग से पृथ्वी और अर्धभाग से ऊपर के लोक लोकान्तर बनते हैं। नीहारिका (Nabulae) भी यही है।

विद्युत्, ताप और गति (अग्नि) को साधन बनाकर ये देवगण इस सृष्टिरूपी सत्र को चालू रखते हैं। परिणामतः सृष्टि का क्रम आगे बढ़ता है। परन्तु इसमें पर्याप्त समय लगता है। शतपथ ब्राह्मण [1] ३।५।१।१३ में लिखा है कि पहले प्रजायें दो प्रकार की थीं। वे थीं आदित्य और आंगिरस लोग। आदित्य प्रजा को बारह प्रकार की कहा गया है। इनमें आठ कारणरूप अदिति के पुत्र कार्यरूप में आये हुए और चार आदित्य मार्तण्ड की कालिक और क्रमिक विकसित अवस्था के, सब मिलाकर बारह आदित्य हुये। परन्तु ये आकाश में ही अन्तर्भूत हैं। आकाश विराट् की उस अवस्था का नाम है जिसमें प्रकाश और संवत्सर की गति आदि के लिए अवकाश हो जाता है। शक्ति, गति, प्रकाश, ताप, विद्युत् आदि अपना कार्य जिसमें प्रारंभ रखते हैं। आंगरिसगण भी अग्निमय हैं। क्योंकि ये भी विराट् रूपी अग्निपुंज से निकले हैं। परन्तु इन में स्थूलता ताप की न्यूनता आनी प्रारंभ हो जाती है। तथा इन्हीं से आगे के सृष्टिक्रम में स्थूलपना प्रारंभ हो जाता है।

बारह आदित्यों के नाम कुछ अन्तर के साथ महाभारत [2] और विष्णु पुराण आदि में मिलता है। विष्णु पुराण और महाभारत की संख्या में एक का अन्तर पड़ता है, महाभारत में बारह के स्थान में तेरह आदित्य हो जाते हैं। यद्यपि श्लोक में द्वादश शब्द पड़ा है फिर भी संख्या करने पर तेरह बन जाते हैं। पर्जन्य इसमें अधिक गिना दिया गया है। अंगिरावों की संख्या भी महाभारत उद्योग पर्व ८५।१३०।१३१ [3] में गिनायी गयी है। उसमें बृहस्पति, उतथ्य, पयस्य शान्ति,

---

१—द्वय्यो ह वा इदमग्रे प्रजा आसुः। आदित्याश्चाङ्गिरसश्च। श० ३।५।१।१३

२—धाता अर्यमा च मित्रश्च वरुणोंऽशो भगस्तथा। इन्द्रो विवस्वान् पूषा च त्वष्टा च सविता तथा॥ पर्जन्यश्चैव विष्णुश्च आदित्या द्वादश स्मृता: महाभारत-त्रिदेव निर्णय में देखें।

तत्र विष्णुश्च शक्रश्च जज्ञाते पुनरेव च। अर्यमा चैव धाता च त्वष्टा पूषा तथैव च॥ विवस्वान् सविता चैव मित्रो वरुण एव च। अंशो भगश्चादितिजा आदित्या द्वादश स्मृताः। विष्णु पुराण १३१-१३२ त्रिदेव निर्णय देखें।

३—अष्टौ चाङ्गिरसस्पुत्रा वारुणास्ते उदाहृताः। बृहस्पतिरुतथ्यश्च पयस्यः शान्तिरेव च। घोरो विरूपः सम्वर्त्तः सुधन्वा चाष्टमः स्मृतः।

महाभारत उद्योगपर्व ८५।१३०-१३१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

घोर, विरूप, संवर्त, और सुधन्वा—के नाम पाये जाते हैं। परन्तु महाभारत में इन्हें "वारुण" भी कहा गया है। वरुण ऐतेरय ६।२६ [1] और ३।४ में अग्नि का नाम है। अतः अग्निमय होने के कारण इनका "वारुण" होना ठीक ही है। तात्पर्य यह है कि इनमें अग्नि का रूप बना रहता है। ये नाम व्यक्तिविशषों के नहीं अपितु प्राकृतिक पदार्थों के ही हैं। इस दो प्रकार की सृष्टि का क्रम आगे चलकर दश विश्वसृजों के रूप में आ जाता है। विश्वसृजों का वर्णन अथर्व [2] ११।६।४ में पाया जाता है। तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१२।६।२ और ताण्डय २५।१८।२ में भी इनका उल्लेख मिलता है। विश्वसृजों के नाम भिन्न भिन्न मिलते हैं। दुर्गाचार्य ने निरुक्त १२।४१ के भाष्य में लिखा है कि "विश्वसृज ऋषयः प्राणाः—अर्थात् विश्वसृज ऋषि जो प्राण हैं वे ही साध्य कहे जाते हैं। यहाँ वह दश प्राणों को विश्वसृज ऋषि कह रहा है। तैत्तिरीय ३।१२।६।८ में तप, ब्रह्म और सत्य आदि को विश्वसृज् कहा गया है। ताण्डय ब्राह्मण २५।१८।२ में तप, ब्रह्म, इरा और अमृत को विश्वसृज् लिखा है। पुराणों आदि के अनुसार क्रतु, दक्ष, वसु, सत्य, काम, काल, ध्वनि, रोचक, अद्रिव, और पुरूरवा ही विश्वसृज् हैं। कुछ भी हो ये पदार्थ सृष्टि के निर्माण में सहायक हैं और इन्हें इसी कारण से विश्वसृज् कहा गया है। अथर्ववेद १२।१।१ में सत्य, बृहद्, ऋत, उग्र, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ को पृथ्वी का धारण करने वाला कहा गया है।

इन विश्वसृजों के बाद उस विराट् में ऋषिगण पैदा होते हैं जो इस दैवी सृष्टि के क्रम को आगे चलाते हैं। इनका उल्लेख मनुस्मृति [3] १।३४–३५ में मिलता है। ये ऋषि इसलिए हैं कि गतिशील हैं और दर्शन के साधन एवं कारण हैं। सृष्टि में इनका कार्य विविध गतियों से युक्त है। मनुस्मृति में इनके नाम—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु और नारद हैं। पुराणों में भी इन्हीं का नाम पाया जाता है। ये भी किन्हीं व्यक्तियों के नाम नहीं हैं अपितु सृष्टिगत पदार्थों के नाम हैं। यहाँ पर विराट् में सृष्टि की अन्य शाखायें भी चालू हो गयीं। पहिली शाखा दैवी और दूसरी आसुरी हुई। चमकीले प्रकाशशील पदार्थ देव कहलाये और मेघ आदि छादक पदार्थ असुर कहलाये। विराट् में आदित्य अंगिरा आदि के कार्यों से जो विकार पैदा हुआ वह प्रकाशात्मक और नीहारिकात्मक दो रूप का रहा। इस विराट् में इन महाप्रकाशमयी शक्तियों अंगिरा आदि के हो जाने पर वाष्पसमूह भी बनने लगे। त्वष्टा आदित्य से मेघ के कारण-

---

१—यो वा अग्निः स वरुणस्तदप्येतदृषिणोक्तं—

(क) त्वमग्ने वरुणो जायसे यदिति—ऐ० ६।२६

(ख) स यदग्निघोरसंस्पर्शस्तदस्य वारुणं रूपम्। ऐ० ३।४

२—दृढो दृंहस्थिरो न्यो ब्रह्मविश्वसृजो दश। नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः।

अथर्व ११।९।४

३—मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्। प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च।

मनु० १।३४–३५

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भूत वाष्प आदि का बनना प्रारम्भ हुआ। यही असुरों [1] की रचना का सूत्रपात है। असुरों के रचने के उपरान्त विराट् में पितरों की सृष्टि हुई। ये पितर अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, सोमसद, सुकालिन् आदि नामों वाले हैं। ये भी सृष्टिगत पदार्थ हैं। सूर्य को यम कहा जाता है। वह इनका राजा हुआ और ये विविध प्रकार की किरणें पितर कहीं गयीं। ये ही मध्यमस्थानी पदार्थ हैं। परन्तु ये अपने गुणों से भिन्न भिन्न नाम धारण करते हैं। ऋषि भी कहलाते हैं, देव भी कहलाते हैं और ये ही पितर भी कहे जाते हैं। आंगिरसगण, ऋभुगण, भृगुगण और अथर्वागण आदि नैरुक्तों के मत में माध्यमिक देवगण भी हैं। आख्यानविदों के मत में पितृगण हैं और इन्हीं को ऋषिगण भी कहा जाता है। नि० ११।१९ के भाष्य में ऐसा स्पष्टीकरण करके यास्क ने रहस्य को खोल दिया। इनमें पदार्थों के बाद पुनः स्थूल पदार्थों का पृथक्करण विराट् में होता गया। आंगिरसगण की उत्पत्ति तक का विकासक्रम आकाश से वायु पर्यन्त की स्थिति का सूचक है। अत्र इन्हीं से मरुत् [2] आदि इन्द्र की प्रजायें उत्पन्न होगयीं। ये मरुत् वायुयें है। इनका भेद ४९ पर्यन्त पहुँचता है। आंगिरस और मरुतों के अनन्तर पुनः अग्नि का स्थूल रूप आया। इसे ही रुद्र कहा गया। बहुवचन में रुद्र शब्द का प्रयोग १० प्राण और आत्मा के लिए होता है। परन्तु एक वचन में इस अग्नि के लिए होता है। इस रुद्र=अग्नि के रुद्र, सर्व, पशुपति उग्र, अशनि, भव, महान्देव, ईशान और कुमार आदि नव रूप हैं। शतपथ [3] १।३।१८ में ऐसा पाया जाता है। मरुत् भी सातपन, क्रीडी, स्वतवस, और स्वापि नाम वाले हैं। इसकी जानकारी के लिये श० २।५।३।२०, शतपथ २।५।३।३, गोपथ उत्तरार्ध १।२० तथा ऐतरेय ३।१६ स्थलों को देखना चाहिए। इस अग्नि और मरुतों के प्रकट होने पर असुरों के सम्पर्क से जल का प्रादुर्भाव हुआ। इससे विराट् में अग्निमय लोकों पर वराह अर्थात् मेघ का कुहर पड़ने लगा। लोक-लोकान्तरों का ठण्डा होना प्रारंभ हुआ और मेघों से पृथ्वी ठण्डी होकर विराट् से पृथक् हुई। विराट् में पृथ्वी सूर्य के साथ थी अतः अग्नि का पुंज थी। वराह (मेघों) ने इसे ठण्ढा किया अतः यह अपने रूप में आयी इसी कारण से इसे वाराही कहा जाता है। मैत्रायणी [4] १।१०।१३ में वर्णन पाया जाता है कि पहले यह पृथ्वी अग्निमय होने के कारण शिथिर थी। इन्द्र (सूर्य) ने पर्वतों (मेघों) के पक्षों को काटकर (अर्थात् वर्षा करके) इसे दृढ बना दिया। इस प्रकार पृथ्वी पर ओषधि वनस्पति आदि हुये और चेतन-सृष्टि हुई।

१—(क) उभये वा एते प्रजापतेरध्यसृजन्त। देवाश्चासुराश्च—तै० १।४।११

(ख) स (प्रजापतिः) आस्येनैव देवानसृजत.......... तस्मै स-सृजानाय दिवेवास।........अथ योऽयमवाङ् प्राणः। तेनासुरानसृजत।......तस्मै ससृजानाय तम इवास। शतपथ ११।१।६। ७–८

२—(क) मरुतो वै देवानां विशः। ऐ० १।९। ताण्ड्य ६।१०।१०; १८।१।१४

(ख) मरुतो ह वै देवविशोऽन्तरिक्षभाजना ईश्वराः—कौषीतकी ७।८

३—तान्येतान्यष्टौ अग्निरूपाणि कुमारो नवमः। श० ६।१।३।१८

४—अथा इयं तर्हि शिथिरासीत्। तेषामिन्द्र पक्षानच्छिनत् तैरिमामदृंहदिति। मै० १।१०।१३ असुराणां वा इयं (पृथिवी) अग्र आसीत्। तै० ३।२।९।६

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इस क्रम से अनेक देवों से युक्त यह सृष्टि है। परन्तु यह सब विस्तार है और इससे भी अधिक विस्तार है जिसका वर्णन करना कठिन है। इसी विस्तार को दृष्टिगत करते यजुः ३३।७ [1] में बताया गया है कि ३३३९ देवों ने अग्नि को उत्पन्न किया। इसके लिए अन्तरिक्ष का विस्तार किया और सूर्य को इस में स्थापित किया। इन देवों के अङ्ग प्रत्यङ्ग इतने देव हो जाते हैं कि सबकी गणना भी कठिन हो जाती है। सृष्टि अनन्त है अतः उसकी समस्त शक्तियों की गणना हो ही कैसे सकती है। स्थूल रूप में आये हुये इन देवों को ३३ देवों का रूप दिया गया है और ३४ वाँ महादेव है जिसकी सृष्टि के ये ३३ देव [2] अंग बने हुये हैं। ये ३३ देव—आठ वसु, १२ आदित्य, ११ रुद्र, प्रजापति, इन्द्र (विद्युत्) आदि हैं। ३४ वाँ महादेव (परमेश्वर) इन का संचालक है।

इस प्रकार साख्यों की ही सृष्टिप्रक्रिया को ऐतिहासिक लोग देव सृष्टि-प्रक्रिया के रूप में वर्णन करते हैं। अदिति देवों की माता है और आठ आदित्य उसके पुत्र हैं। उन्हीं से पुनः सृष्टि का यथाकथित विस्तार होता है। यह है यास्क द्वारा निर्दिष्ट ऐतिहासिक देवयुग की व्याख्या।

इस प्रक्रया में मंत्र की व्याख्या निम्न प्रकार होगी—

साध्यदेव अग्नि के द्वारा सृष्टिरूपी यज्ञ की संगति लगाते हैं। इस यज्ञ की संगति से जगत् के विकृति भाव को धारण करने वाले कार्य पदार्थ सिद्ध होते हैं (पैदा होते हैं)। ये साध्य देव प्रलय काल में उस विराट् में अपनी महिमा को प्राप्त करते हैं अर्थात् लीन हो जाते हैं जिसमें पूर्व कल्प के साध्य देव लीन हुये हैं। यहाँ पर यह भाव व्यक्त किया गया है कि साध्यदेव सृष्टि के कार्यों को पैदा करते हैं और प्रलय में पहले विराट् में लीन होकर प्रकृति में लीन हो जाते हैं, जिसमें कि पूर्व कल्पों में लीन होते आये हैं। इस प्रकार यह सृष्टि प्रवाहरूप से नित्य है। इस प्रकार यह सृष्टि का इतिहास हुआ। महीधर भी यजुर्वेद में इस मंत्र की व्याख्या करते हुये लिखता है कि "सृष्टेः प्रवाहनित्यतां दर्शयति—अर्थात् यह मंत्र सृष्टि की प्रवाहनित्यता को दिखलाता है।

यास्काचार्य ने निरुक्त २।२४ पर "नदी" नामों की व्याख्या का प्रकरण चलाया है। यहाँ पर ऋ० ६।६१।२ मंत्र की व्याख्या भी की है। यद्यपि यास्क ने यहाँ पर इस मंत्र की व्याख्या नैरुक्त ढंग पर की है परन्तु आगे ऋ० ३।३३।५ ऋ० ३।३३।६ और ऋ० ३।३३।१० मंत्रों के व्याख्या की भूमिका रचते हुये वह यहां पर विश्वामित्र और नदी सम्बन्धी इतिहास दिखलाता है। तीनों मंत्रों की व्याख्या भी इस स्थल पर इतिहास के प्रकार से ही करता है। वह कहता है कि "नदी अर्थ में २७ पद आये हैं परन्तु इस अर्थ में वर्णन बहुधा वेद मंत्रों में अन्य देवता सम्बन्धी मंत्रों में गौण रूप में ही आता है। नदी का मंत्र के प्रधान देवता के रूप में वर्णन कहीं कहीं पर ही मिलता है"। यद्यपि यास्क ने प्रधानदेवता के रूप में यही नदी ही माना है। नदी ही यहाँ पर उसकी दृष्टि से प्रधान विषय है फिर भी सरस्वती अर्थ जो

१—त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिꣳशच्च देवा न चासपर्यन्। औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त॥ यजुः ३३।७

२—त्रयस्त्रिंशद्देवा यस्याङ्गे गात्रा विभेजिरे। अथर्व १०।७।२७

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रसंग से आता है उसका भी वर्णन भाष्यकारों ने किया है। यह यास्क के अभिप्राय को लेकर ही किया है। यास्क यहां पर लिखता है कि जहाँ पर नदी अर्थ की प्रधानता है वहां पर यह इतिहास कहा जाता है। इतिहास को दिखलाते हुये यास्क लिखता है "कि [1] विश्वामित्र ऋषि सुदास् पैजवन का पुरोहित बना। धन को लेकर वह विपाट् और शुतुद्री के संगम पर आया। दूसरे भी उसके साथ आये और विश्वामित्र ने इस मंत्र से नदियों की स्तुति की"। यहां पर यास्क इतिहासपक्ष में व्याख्या तो कर रहा है परन्तु इसे किसी व्यक्तिविशेष का इतिहास समझना बड़ी भारी भूल होगी। क्योंकि वह विश्वामित्र, सुदास् और पैजवन तीनों पदों की निरुक्ति करता है। व्यक्तिवाचक शब्दों की निरुक्ति का कोई तात्पर्य नहीं। यास्क निर्वचन करते हुये दिखलाता है कि "विश्वामित्रः सर्वमित्रः" अर्थात् विश्वामित्र का अर्थ है सब का मित्र। वह सुदास् की व्याख्या में कहता है "सुदाः कल्याणदानः—अर्थात् कल्याणकारी दान वाला। इसी प्रकार पैजवन की निरुक्ति में स्पष्ट करता है कि पैजवनः पिंजवनस्य पुत्रः पिजवनः पुनः स्पर्धनीय जवो वा मिश्रीभावगतिर्वा—अर्थात् पैजवन पिजवन का पुत्र। पिजवन का अर्थ है जिसका वेग स्पर्धा करने वाला हो—स्पर्धनीय वेगवाला। अथवा शीघ्रता में दूसरे जिसका मुकाबला न कर सकते हों ऐसी गति वाला। यहां यास्क की निरुक्ति इस बात को प्रकट कर रही है कि वह याज्ञिक-प्रक्रिया के व्यावहारिक अर्थ राजा के कर्तव्य की इतिहास द्वारा संगति लगा रहा है। तथा विश्वामित्र और नदी का वार्तालाप दिखलाकर यह जतलाना चाहता है कि अत्यन्त साहसी और कल्याण-दानी राजा और सर्वप्रिय पुरोहित को धन आदि लेकर नदी पर आकर उसके प्रवाह को बांधने के लिए यत्न करना चाहिए और पुल बनाकर इस प्रकार की सुविधा कर देनी चाहिए कि गाड़ी आदि भी उस पर से गुजर सकें क्योंकि अंतिम मंत्र (ऋ० ३।३३।१०) में निरुक्त २।२७ पर "यायाथ दूरादनसा रथेन" पद ही पड़े हैं, जिनका अर्थ यह है कि गाडी और रथ से आप इस पर होकर जावें। पराक्रमी राजा वस्तुतः ऐसे काम करें इस बात की मंत्रों में शिक्षा दी गयी है। मंत्रों में पुरोहित और नदियों के वार्तालाप द्वारा राजा और पुरोहित के पराक्रम की परीक्षा दिखलायी गयी है। पराक्रमी राजा और सर्वप्रिय पुरोहित के पराक्रम और उद्योग के सामने नदी को भी झुकना पड़ता है। यह पराक्रम की विशेषता का प्रदर्शन है।

आगे इसी प्रसंग में निरुक्त २।२५ पर विश्वामित्र के इतिहास की संगति लगाने के लिए ऋग्वेदीय (३।३।५) मंत्र में आये "कुशिकस्य सूनुः" पदों की व्याख्या यास्क पुनः प्रीतिवादी इतिहास के रूप में करता है। वह मंत्र के शब्दों से यह दिखलाता है कि "कुशिक का मैं पुत्र तुम नदियों से ऐसा कह रहा हूँ कि तुम अपने प्रवाह को रोक कर शान्त हो जावो"। परन्तु "कुशिक" भी व्यक्तिविशेष नहीं है। कुशिक की निरुक्ति करते हुए यास्क लिखते हैं कि [2] कुशिक शब्द

१—तत्रेतिहासमाचक्षते विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव ....स वित्तं गृहीत्वा विपाट्छुतुद्र्योः संभेदमाययावनुययुरितरे स विश्वामित्रो नदीस्तुष्टाव।
नि० २।२४

१—क्रोशतेः शब्दकर्मणः क्रंशतेर्वा स्यात्प्रकाशयतिकर्मणः साधुविक्रोशयितार्थानामिति—
नि० २।२५

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शब्द करने अर्थ में क्रुश् धातु से बना है अथवा "क्रंश्" प्रकाशार्थक धातु से बना है अथवा साधुजनों में अर्थों का दाता है यह उसका अर्थ है।" यास्क की की हुई निरुक्ति के अनुसार अच्छे कर्म का प्रेरक, प्रकाश करने वाला और पात्रों को दान देने वाला—आदि अर्थ कुशिक पद के बनेंगे। प्रथम. प्रकरण में यह बतलाया जा चुका है कि भूतकालिक "बभूव" क्रिया का प्रयोग यास्क इतिहास कल्पना की दृष्टि से करता है। अतः उसके आधार से वैयाक्तिक इतिहास की स्थापना नहीं करनी चाहिए। यहां पर कुशिक शब्द ऐतिहासिक विश्वामित्र के पिता कुशिक के अर्थ में नहीं प्रयुक्त है। यहाँ पर प्रोतिवादी इतिहासपक्ष में "कुशिक" दानी और उत्तम कर्मों को करने वाले के लिए तथा नैरुक्त पक्ष में प्रकाश के लिए आया है। विश्वामित्र का अर्थ जब सर्वमित्र, सर्वप्रिय मनुष्य पुरोहित आदि होगा तब कुशिक का अर्थ दानी और उत्तम कर्म करने वाला होगा। जब विश्वामित्र का अर्थ आदित्य होगा तब कुशिक का अर्थं प्रकाश होगा। किसी भी स्थिति में यहाँ पर कुशिक व्यक्तिविशेष नहीं। पहले यह भी दिखलाया जा चुका है कि अपत्य और सूनु आदि पदों का व्यवहार वेदों में जड़ पदार्थों में भी होता है। यहाँ पर विश्वामित्र के साथ नदियों का वार्तालाप भी औपचारिक ही है। नदी मनुष्यवत् वार्तालाप तो कर नहीं सकती। यहाँ पर शंका उठ सकती है कि मंत्र में तो इस स्थल पर विपाट्—शुतुद्री का नाम है ही नहीं। फिर यास्क ने ये नाम क्यों लिए। उत्तर यह होगा कि जिस सूक्त से ये मंत्र यास्क ने व्याख्या के लिए लिये हैं उस सूक्त (ऋ० [1]३।३३।१) के पहले मंत्रमें विपाट् और शुतुद्री का नाम आया है। अतः यास्क ने संगति लगाने की दृष्टि से यहाँ पर उनका नाम लिया है। ये कोई नदीविशेष नहीं है। बाढ़ से कूलों को तोड़ने वाली नदी विपाट् है और तीव्र बहाव वाली नदी शुतुद्री है। थे दोनों ही नदीसामान्य हैं। इस विषय में प्रथम प्रकरण में नदियों के इतिहास के निराकरण में लिखा जा चुका है।

स्कन्दस्वामी इस स्थल का भाष्य करते हुये लिखते हैं कि—[2] माध्यमिक अर्थ को कहने वाले पक्ष में गिरि का अर्थ मेघ, उर्मियों का अर्थ स्तनयित्नु और पारवते का अर्थ द्यावापृथिवी होगा। हन्ति गत्यर्थक है और गमन का अर्थ यहाँ पर पूरण होगा। द्यावापृथिवी को शब्द से पूर्ण करने वाली। शेष की संगति दोनों पक्षों में समान है। पदों के व्यापक अर्थ वाला होने से अनेकों अर्थ निकलते हैं परन्तु अर्थ का भेद प्रकरण से किया जाता है"। यहाँ पर स्कन्द के नित्य पक्ष अर्थात् माध्यमिक वाक् सरस्वती अर्थ में अर्थ दिखाने से ज्ञात होता है कि यास्क ने इतिहासपक्ष में अर्थ किया है। तथा वह अर्थ भी वेद से प्रतिपादित नित्येतिहास को लेकर ही किया है।

१—गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते। ऋ० ३।३३।१

२—माध्यमिकाभिधानपक्षे गिरयो मेघा ऊर्मयः स्तनयित्नवः, पारवते द्यावापृथिव्यौ। हन्तिर्गतिकर्मा। गमनेन पूरणं लक्ष्यते। द्यावापृथिव्यौ शब्देन पूरयित्रीम्। शेषं समानम्। विभूनामत्र पदार्थानामनेकार्थाभिधानसामर्थ्ये सति प्रकरणशोऽर्थविभागः। स्कन्दस्वामी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इसी प्रकरण में "आते कारो[1] शृणवामा वचांसि" पर स्कन्द लिखते हैं कि—नित्य पक्ष में वर्षाकाल में दोनों कूलों को बहा देने वाली नदी यहाँ पर विपाट् है। सबके मित्र भगवान् सूर्य यहाँ पर विश्वामित्र हैं। वह नदी से रूपक से कह रहे हैं कि देश को मत बहावो। तुम जगत् की पालन कामना वाली होकर यज्ञादि कार्यों के व्यवहार के योग्य बनो। उषा का प्रकाश ही कुशिक है। अर्थात् प्रकाश का पुत्र मैं आदित्य उसके पुत्र के स्थान में हूँ।

तीनों प्रक्रियावों में अर्थ दिखलाना भी इतिहास है—ऐसा दुर्ग मानता है, मैं यह पूर्व लिख चुका हूँ। यास्काचार्य ने निरुक्त[2] १०।२६ पर ऋग्वेदीय (ऋ० १०।८२।२) मंत्र से विश्वकर्मा के यज्ञ की व्याख्या की है। यहाँ पर यास्क ने मध्यम अर्थात् वायु अर्थ करके मंत्र का अधिदैव प्रक्रिया में अर्थ दिखलाया है। पुनः विश्वकर्मा का आत्मा अर्थ मान कर पुनः इस ऋचा का अर्थ अध्यात्म में दिखलाया है। पुनः लिखता है कि इस अध्यात्मविषय में आत्मविद् लोग इतिहास कहते हैं कि "विश्वकर्मा भौवन ने मेध में समस्तभूतों का हवन कर दिया और अन्त में आत्मा का भी हवन किया। इस अर्थ को बताने वाली ऋ० १०।८१।१ ऋचा है।" यहाँ भी यास्क ने इतिहास की उपेक्षा नहीं की है। परन्तु यह इतिहास आध्यात्मिक अर्थ का ही स्पष्टीकरण है। यहाँ विश्वकर्मा को भौवन अर्थात् भुवन में व्यापक कहा गया है। भुवन का अर्थ समष्टिजगत् है। समष्टिजगत् में व्यापक होने से अथवा रहने से आत्मा ही भौवन है। आत्मा से अभिप्राय दोनों आत्मावों का है। शरीरवर्ती आत्मा और विश्वात्मा। प्रलय रूपी यज्ञ का वर्णन करने पर यह विश्वकर्मा विश्वात्मा ही माना जावेगा। यास्क ने यहाँ इतिहासपरक अर्थ करके अध्यात्म, अधिदैव और नित्येतिहास तीनों प्रक्रियावों में अर्थ कर दिया। यहाँ पर सृष्टिप्रक्रिया रूपी यज्ञ का वर्णन है अतः वही यहाँ पर आधियाज्ञिक अर्थ भी है।

त्रित के सम्बन्ध में पर्याप्त चर्चा की जाया करती है। वैदिक इण्डेक्स के कर्त्ता ने बड़ी कृपा करके त्रित को वैदिक साहित्य में "देव" माना है। परन्तु यास्क के २।६ का हवाला देकर वह कहता है कि यास्क ने ऋषि माना है। यहाँ पर वह भी एक प्रकार से यास्क पर ही दोष मढ़ रहा है। मैकडानल ने भी वैदिक माइथालोजी में त्रित को "देव" ही माना है। इन विद्वानों ने यास्क की ओर संकेत दिया परन्तु इनके अनुयायी भारतीयों ने इस पर पर्याप्त बखेड़ा खड़ा कर रखा है। इस अवसर पर थोड़ा सा विचार यास्क के इस स्थल से सम्बन्ध रखकर किया जाता है। वस्तुतः यास्क ने ऋग्वेद (१।१०५।८) के मन्त्र की व्याख्या "मूष" का अर्थ दिखलाने के लिए दी है जो नि० ४।६ पर अंकित है। चूँकि यह मन्त्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १०५ वें सूक्त

१—नित्यपक्षे प्रावृषि प्लावितोभयकूला नदीः। सर्वमित्रो भगवान् आदित्योऽप्येपतीव "रमध्वं मे" इत्यादि। देशप्लवनं मा कार्ष्ट। यज्ञानां सर्वव्यवहार्या भवतेति जगतः पालनकामाः। क्रंशतेः औषसः प्रकाशः कुशिकः कुशिकस्य प्रकाशस्य सूनुरहमादित्यः पुत्रस्थानीय इत्यर्थः। स्कन्दस्वामी

२—तत्रेतिहासमाचक्षते विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवांचकार स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार—नि० १०।२६

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

का है और वह सूक्त त्रित के नित्य इतिहास से सम्बन्ध रखता है अतः उन्होंने त्रित की भी व्याख्या की है। साथ ही मंत्र की संगति भी उसी प्रकार लगायी है। त्रितसम्बन्धी विषय से छूते हुये विवेचन को मैं पूर्व दिखला चुका हूँ परन्तु यहाँ पर विशदीकरण करना चाहता हूँ। यास्क का व्याख्यान यहां पर इतिहास पक्ष में है। परन्तु वह इतिहास नित्य इतिहास है। यास्क देव इस स्थल पर लिखते हैं कि कूप[1] में पड़े हुए त्रित को यह सूक्त प्रतिभासित हुआ। जिस सूक्त का यह मंत्र है उसमें ऋचायें गाथा, परिदेवना और नित्येतिहास से मिश्रित हैं। मेधा से जो तीर्णतम हो उसे त्रित कहा जाता है। अथवा संख्या से होने वाला नाम भी यहाँ पर अभिप्रेत हो सकता है—एकत, द्वित और त्रित ये तीन हुये।

यहाँ पर यास्क ने दो प्रकार से त्रित की व्याख्या की है। पहली व्याख्या के अनुसार त्रित वह है जो मेधा में तीर्णतम अर्थात् अत्यन्त मेधावी है। दूसरी व्याख्या के अनुसार त्रित वह है जो तीन स्थानों में रहने वाला हो। एक स्थल में होने से एकत, दो में होने से द्वित और तीन में होने से त्रित है। यास्क की त्रितसम्बन्धी व्याख्या को यदि ध्यान से पढ़ा जावे तो ज्ञात होगा कि यास्क की निरुक्ति सभी प्रक्रियावों के अर्थों को स्पर्श कर रही है। तीन स्थानों में होने से त्रित है—इसकी साक्षी के रूप में यास्क के नि० ६।२६ के वचन को प्रमाण रूप में उपस्थित किया जा सकता है। यास्क ने वहाँ पर "त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रः" अर्थात् त्रित त्रिस्थान इन्द्र है— ऐसा ही अर्थ त्रित का किया है। यह अर्थ संख्या के अनुसार है। जब त्रित का अर्थ तीर्णतम होगा तब संख्या की अपेक्षा से न होकर केवल यौगिक प्रक्रिया के बल से ऐसा होगा। अर्थात् "त्रि" का अर्थ तीन नहीं है अपितु तृ॒ तरणे का रूप होकर "तरने वाले" अर्थ को देने वाला है। तीर्णतम होने से त्रित है। यास्क का "अपिवा" शब्द यह बतला रहा है कि अत्यन्त मेधावी अर्थ तो त्रित का है ही परन्तु संख्यासम्बन्धी अर्थ भी ठीक ही है। यह संख्यासम्बन्धी अर्थ तीनों प्रक्रियावों में लग सकता है। जब कि "मेधया तीर्णतमः" वाला अर्थ केवल इतिहास और अध्यात्म प्रक्रिया में ही लगाया जा सकता है।

यहाँ पर यह विशेष ध्यान देने की बात है कि यास्क ने "त्रित" के साथ इस सारे स्थल में कहीं भी ऋषि पद का प्रयोग नहीं किया है। अतः वैदिक इण्डेक्स और मैकडानल का यह कहना सरासर कल्पनामात्र है कि यास्क त्रित को एक ऋषि मानता है। मेधया तीर्णतमः से किसी ऋषि-विशेष अथवा व्यक्तिविशेष की कल्पना कर लेना समुचित नहीं।

एक आपत्ति यह खड़ी की जा सकती है कि यदि यास्क को यहाँ पर किसी व्यक्तिविशेष का इतिहास नहीं अभिप्रेत है तो फिर वह "कूप में गिरे हुये त्रित को यह सूक्त प्रतिभासित हुआ— ऐसा वर्णन कर कूप आदि की कल्पना क्यों करता है ? इस आपत्ति का निराकरण इस प्रकार हो सकता है कि यास्क ने यहाँ पर जो ऐतिहासिक कल्पना की है वह ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के

१—त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रति बभौ तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति। त्रितस्तीर्णतमो मेधया बभूवापि वा संख्यानामैवाभिप्रेतं स्यादेकतो द्वितस्त्रित इतित्रयो बभूवुः। नि० ४।६

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

१०५ वें सूक्त में दृष्टिगोचर होने वाले नित्येतिहास को लेकर ही की है। उसी को आधार बनाकर प्रीति से नित्येतिहास दिखलाया है। किसी व्यक्तिविशेष का इतिहास यहाँ पर उसे अभिप्रेत नहीं हैं। ऋग्वेद के इस मन्त्र वाले सूक्त के [1]१७ वे मंत्र (ऋ० १।१०५।१७) में त्रित के कूप में पड़ने की बात आयी है। यास्क ने उसे ज्यों का त्यों रख दिया। इसीप्रकार त्रित को "आप्त्यः" कहा गया है। उसका भी मूलऋग्वेद [2]१।१०५।९ में आया हुआ "आप्त्यः" शब्द है।

"आप्त्य" शब्द के दो अर्थ होते हैं। पहला अर्थ आपः से उत्पन्न होने वाला। दूसरा अर्थ है "आप्ति" से युक्त। "आपः" का अर्थ जल है। अतः ब्राह्मण ग्रन्थों में त्रित की उत्पत्ति उससे दिखलाकर इसे "आप्त्य" कहा गया है। परन्तु आप्ति पद का अर्थ ज्ञान है। अतः उससे युक्त को आप्त अथवा आप्त्य दोनों कहा जाता है। "मेधया तीर्णतमः" से व्यक्त होने वाला यास्क का भाव इसी आधार पर हैं। इस प्रकार त्रित के दो अर्थ इस आधार पर कल्पित हुये।

यहाँ पर त्रित शब्द के विविध अर्थों को भी देखना आवश्यक प्रतीत होता है। ऐसा करने से यास्क के अर्थ और उसके द्वारा प्रदर्शित इतिहास को समझने में सहायता मिलेगी। ऋग्वेद २।११।१९ में त्रित शब्द मेधावी अथवा मेधा से तीर्णतम के लिए ही प्रयुक्त है। ऋग्वेद ६।४४।२३ में त्रितेषु पद आया है। इसका अर्थ तीन स्थानों में विद्यमान देव लोग हैं। अथर्ववेद[3] ५।१।१ में लिखा है "ऋद्धि को प्राप्त होने वाला मननशील, अमर प्राण वाला माता के गर्भ में प्रकट हुआ, सुन्दर जन्म वाला जीव माता के गर्भ में आकर प्रकट होता है। वह दृढ़ प्राणों वाला चेतना से प्रकाशमान होकर त्रित कहलाता है क्योंकि तीन शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) को धारण करता है। यहाँ पर तीन शरीरों में विद्यमान जीव को त्रित कहा गया है। महीधर ने यजुः १९।१२ पर त्रित का अर्थ "त्रिस्थानो वायुः" तीन स्थानों पर रहने वाला वायु किया है। यजुः ३४।७ पर त्रित का अर्थ उवट और महीधर दोनों ही ने "त्रिस्थान इन्द्रः" अर्थात् त्रिस्थान इन्द्र किया है। ऋग्वेद १०।८।७,८,९ में इन्द्र का सहायक त्रित को कहा गया है। साथ ही उसे त्वष्टा के विश्व रूप मेघ का मारने वाला बतलाया गया है। इन्द्र नाम विद्युत् का है अतः त्रित भी यहां पर वायु ही है। ऋग्वेद १।५२।५ में त्रित त्रिभुज के लिए आया है। ऋग्वेद ८।१२।१६ में आप्त्य त्रित वायु के अर्थ में आया है। ऋग्वेद ८।४१।६ में त्रित में समस्त काव्यों का रथचक्र में नाभि के समान आश्रय माना गया है, इसलिए यहाँ पर त्रित का अर्थ परमात्मा होगा। सायण ने त्रिस्थान वरुण अर्थ किया है। ऋग्वेद १।१६३।२ में त्रित का अर्थ त्रिस्थान वायु है। सायण ने भी ऐसा ही अर्थ किया है। यजुर्वेद १।२३ मंत्र में त्रित, द्वित और एकत पद आये हैं। यहाँ पर भी ये वायु के लिए प्रयुक्त हैं। यास्क ने जो "संख्या नामैवाभिप्रेतं स्यात्" कहा है वह इस यजुः मंत्र और ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर ही कहा होगा। ब्राह्मण ग्रन्थों की कथा का भी आधार यही मंत्र होगा। इस

१—त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये। ऋ० १।१०५।१७

२—त्रितस्तद्वेदाप्त्यः। ऋ० १।१०५।९

३—ऋधङ् मन्त्रो योनिं य आ बभूवामृतासुर्वर्धमानः सुजन्मा। अदब्धासुर्भ्राजमानो हैव त्रितो धर्ता दाधार त्रीणि।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रकार त्रित के विविध अर्थ मिलते हैं परन्तु इनमें किसी से भी व्यक्तिविशेष त्रित है—ऐसी झलक नहीं आती। इसलिए यह यहां पर भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि यास्क का त्रित कोई व्यक्तिविशेष नहीं।

त्रित तीन भाई थे इस कल्पना का आधार ऋग्वेद (१।१६४।२)[1] का मंत्र है। इसमें वायु को आदित्य का दूसरा भाई और अग्नि को तीसरा भाई कहा गया है। मंत्र की व्याख्या यास्क ने भी निरुक्त ४।२६ में की है। यहां यह रहस्य प्रकट किया गया है कि अग्नि तीन स्थानों में है पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में। पृथिवीस्थानी अग्नि प्रथम भाई है। अन्तरिक्षस्थानी वायु द्वितीय भाई है और सूर्य तृतीय भाई है। ये वस्तुतः एकत, द्वित और त्रित हैं। नैरुक्त प्रक्रिया में अग्नि, वायु और आदित्य ही मुख्य देव हैं। ये ही त्रित शब्द से गृहीत किये जावेंगे जब इनका संख्या की दृष्टि से अर्थ किया जावेगा। निरुक्त ६।२५ पर त्रित का अर्थ त्रिस्थान इन्द्र किया गया है। इस पर व्याख्या करते हुये स्कन्दस्वामी लिखते हैं [2]कि त्रिस्थानत्व वायु स्वरूप से, अथवा बलकृति रूप से, अथवा सवन सम्बन्ध से है। यह वस्तुतः एकतः, द्वितः और त्रितः के क्रम से व्याख्यान है।

यह त्रित कोई ऐतिहासिक व्यक्ति-विशेष नहीं है, इस विषय में एक और भी अकाट्य प्रमाण यह है कि त्रित के सम्बन्ध की जितनी कथायें हैं सब एक दूसरे से मिलती नहीं। यदि ये इतिहास होतीं तो फिर सबको परस्पर मिलना चाहिए था। परन्तु इनमें परस्पर भेद है अतः यह स्पष्ट है कि प्रीति से कल्पित आख्यान हैं। जिसने मंत्र के भाव को समझाने का जैसा सरल उपाय देखा वैसा ही आख्यान गढ़ लिया। इसके स्पष्टीकरण के लिए यहां पर त्रितसम्बन्धी सभी कथावों का विवेचन किया जावेगा।

तैत्तिरीयब्राह्मण में त्रित की कथा निम्न प्रकार से पायी जाती है—

[3]"देवों ने हवि बनकर कहा कि हम किसमें इसको स्वच्छ करें। अग्नि बोला कि तुम लोग मुझ में अपने शरीरों को रखो। मैं तुम्हारे लिए उस पदार्थ को पैदा करूँगा जिस में तुम हवि स्वच्छ कर सको। उन देवों ने अग्नि में अपने शरीर को धारण किया। इसीलिए ज्ञानी जन कहते हैं कि "अग्नि ही सर्व देव है। अग्नि ने अंगार से जलों को गिराया तो एकत पैदा हुआ। जब दूसरे को गिराया तो द्वित पैदा हुआ। उसने तृतीय को गिराया तो त्रित पैदा हुआ।

१—अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥ ऋ० १।१६४।२

२—त्रिस्थानत्वं च वाय्वात्मना बलकृतिरूपेण वा सवनसंबधेन वा। स्कन्दस्वामी

३—देवा वै हविर्भूत्वा अब्रुवन्। कस्मिन्निदं म्रक्ष्यामह इति। सोऽग्निरब्रवीत्। मयि तनूः संनिदध्वम्। अहं वस्तं जनयिष्यामि। यस्मिन् म्रक्ष्यध्व इति। ते देवा अग्नौ तनूः सम्न्यदधत। तस्मादाहुः। अग्निः सर्वा देवता इति। सोऽङ्गारेणापः अभ्यपातयत्। तत एकत अजायत स द्वितीयमभ्यपातयत्। ततो द्वितोऽजायत। स तृतीयमभ्यपातयत् तत त्रितोऽजायत। यदद्भ्योऽजायन्त तदाप्त्यानामप्त्यत्वम्। यदात्मभ्योऽजायन्त तदात्म्यानामात्म्यत्वम्। तै० ब्रा० ३।२।१०

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

चूँकि ये जलों से पैदा हुये अतः यही इन का आप्त्यत्व है। जो ये आत्मा से पैदा हुये इसलिए यही आत्म्यत्व है। उन देवों ने भी इन में हवि शुद्ध की।"

शतपथब्राह्मण में इस का प्रकार निम्न है—

[1]"पूर्वकाल में अग्नि चार भागों में विभक्त था। जिस अग्नि को देवों ने प्रथम होत्रकर्म के लिये चुना वह भग गया। पुनः जिस द्वितीय अग्नि को चुना वह भी भाग निकला। फिर जिस तृतीय अग्नि को चुना वह भी निकल भागा। तथा आज कल का जो अग्नि है वह डरकर कहीं छिप गया। वह जल में जा बैठा। उसे देवगण ने ढूंढा और जल से निकाल कर लाये। उस अग्नि ने पानी पर थूक दिया और कहा कि आप (जल) थूकने के योग्य हो क्योंकि आप सुरक्षित स्थान नहीं हो कि इन आप लोगों में से मुझको जबर्दस्ती देवगण ले जा रहे हैं। उस जल से त्रित, द्वित, और एकत आप्त्य उत्पन्न हुये। ये तीनों ही इन्द्र के साथ विचरने लगे। जैसे आजकल ब्राह्मण राजा के पीछे चलता है। इन्द्र ने जब त्रिशीर्षा त्वाष्ट्र विश्वरूप का बध किया तब इन्होंने भी उसे वध्य समझा। झटिति उसको त्रित ने मार दिया। निश्चय तब उस दुःख से इन्द्र छूट गया क्योंकि वह देव है।"

मैत्रायणी ४।१।९ में यह कथा इस रूप में पायी जाती है—

[2]"उन देवों ने नही जाना कि किस में यज्ञ की क्रूरता को धोवें। उस अग्नि ने कहा कि तुम्हारे लिए मैं उसे पैदा करूँगा जिसमें तुम यज्ञ की क्रूरता को धो सको। उसने अंगारे से जल को गिराया। उससे एकत पैदा हुआ। दूसरी बार गिराया तो द्वित पैदा हुआ और तीसरी बार गिराया तो त्रित पैदा हुआ। चूँकि इन को जल से पैदा किया उसलिए यही इन आप्यों का आप्यत्व है। इन्हें आत्मा से पैदा किया अतः यही इन का आत्मेयत्व है।"

१—चतुर्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास। तमग्रे अग्निं होत्राय प्रावृणत स प्राधन्वद्। यं द्वितीयं प्रावृणत स प्रैवाधन्वद्। यं तृतीयं प्रावृणत स प्रैवाधन्वद्। अथ योऽयमेतर्ह्यग्निः स भीषा निलिल्ये। सो अपः प्रविवेश। ते देवा अनुविद्य सहसैवाऽद्भ्य आनिन्युः। सोऽपोऽभितिष्ठन्नेवावष्ठ्यूता स्थ अप्रपदनं स्थ याभ्यो वो मामकामं नयन्तीति तत आप्त्याः सम्बभूवुः—त्रितो द्वित एकतः। ते इन्द्रेण सह चेरुः। यथेदं ब्राह्मणो राजानमनुचरति। स यत्र त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रं विश्वरूपं जघान तस्य हैतेऽपि बध्यस्य विदाञ्चक्रुः। शश्वद्धैनं त्रित एव जघानेत्याह तदिन्द्रोऽमुच्यत देवो हि सः।

शतपथ १।२।३।१-२

२—ते देवास्तं नाविन्दन्यस्मिन्यज्ञस्य क्रूरमाक्ष्यामहा इति सोऽग्निरब्रवीद् अहं वस्तं जनयिष्यामि यस्मिन्यज्ञस्य क्रूरंमाक्ष्यध्वा इति सोऽपोऽङ्गारेणाभ्यपातयत्तत एकतोऽजायत, द्वितीयं ततो द्वितस्तृतीयं ततस्त्रितः। यदद्भ्योऽधिनिरमिमीत तदाप्येयानामाप्येयत्वं यदात्मनोऽधि निरमिमीत तदात्मेयानामात्मेयत्वम्—मै० ४।१।९

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

महीधर यजुः १।२३ पर इस प्रकार वर्णन देता है—

[१] पहले कहीं से डरा हुआ अग्नि जलों में प्रविष्ट हो गया। तब देवों ने उसे जान कर जल से निकाल लिया। अग्नि ने अपने वीर्य को जल में छोड़ दिया। उससे त्रित, द्वित, एकत नाम के आप्त्य पैदा हुये। उन्होंने देवों के साथ विचरण करते हुये यज्ञ में पात्री-प्राच्छालन के जल के रूप में अपने भाग कोप्राप्त किया। १।२।३।१ इस श्रुतिकथा का यहां पर समन्वय रखना चाहिए।"

सामवेद के प्राचीन भाष्यकार भरत स्वामी सामवेद ४।८।६ मन्त्र के भाष्य में त्रित की कथा का अन्य ही प्रकार दिखलाते हैं—

"आप्त ऋषि के तीन पुत्र हुये—एकत, द्वित और त्रित। उन्होंने यज्ञ की कामना से यह करने वाले यजमानो से गायें माँगी और प्राप्त कीं। उन गायों को लेकर घर को चल पड़े। रास्ते में जाते हुये सरस्वती नदी के दूसरे किनारे पर बैठे हुये गोभक्षक जानवर ने उन्हें देखा। देखकर उठकर सरस्वती नदी को तैरकर रात्रि में उन्हें तंग किया। इस डर से भयभीत हुये इन लोगों में त्रित निर्जल एवं तृण, बल्ली आदि से भरे हुये कुयें में गिर पड़ा। उस कुयें में पड़े हुये इसको विचार पैदा हुआ। याग का संकल्प करने के बाद विना याग किये मेरी मौत श्रेयस्कर नहीं है। तो किसी प्रकार यहाँ पर पड़ा हुआ ही मैं सोमपान करूँ।"[२]

भरत स्वामी आगे कहता है कि दूसरे लोग इसी ही इतिहास को दूसरे रूप में कहते हैं। वह इस प्रकार है—

१—पूर्वं कुतश्चितद्बिभ्यतोऽग्निरपः प्राविशत्ततो देवास्तं ज्ञात्वा जगृहुस्तदाग्निर्वीर्यमप्सु मुमोच ततः आप्त्या उत्पन्नास्त्रितद्वितैकतसंज्ञास्ते देवैः सह चरन्तो यज्ञे पात्रीप्रक्षालनजललक्षणं भागं लेभिरे। १।२।३।१ इति श्रुतिकथा संधातव्या।

२—अत्रेतिहासमाचक्षते। आप्तस्य ऋषेः त्रयः पुत्रा बभूवु एकतः द्वित त्रितः इति। ते यष्टुकामा याज्यान् यजमानान् गा याचिरे लेभिरे च। आदाय गृहं जग्मुः। तद्गच्छतः पथा सरस्वत्यास्तीरेण परस्मिन् कूले निषण्णो गवादकः ददर्श। दृष्ट्वा चोत्थाय अभिमुखः सारस्वतीरप अवतीर्य रात्रौ त्रासयामास। तेषां त्रासात् त्रस्यतां त्रितः कूपे निर्जले तृणैर्वल्लीभिश्चावकीर्णे पपात। तस्य तत्रस्थस्यैवं मन प्रादुरभूत्। कृतयागसङ्कल्पस्य अकृतयागस्य मम मृत्युर्न श्रेयसे। तत्कथमिहस्थ एवाहं सोमं पिबेयमिति। अन्ये तु पुनः एतदेवेतिहासमन्यथा व्याचक्षते। एकतद्विताभ्यां स्वल्पा गावो लब्धाः त्रितेन च बह्वयः। तत ईर्ष्यया ताभ्यां कूपे प्रक्षिप्तः। सः एवं चिन्तयानः एता गावो भ्रातृभिः गृहीता न पूर्वं मम ऋत्विजः। एवं चिन्तयन् यदृच्छया तस्मिन् कूपे वीरुधमुत्तीर्णां ददर्श। स तामादाय सोमोऽयमिति मनसा संकल्प्य शर्करा अभिषवग्राव्णः कृत्वा तां वीरुधमभिसुषाव। अभिषुत्य च देवानाजुहाव। ते देवाः आहूताः सन्तः आह्वानकारणमनवबुद्धमानाः आविग्ना बभूवुः। तद्बृहस्पतिः शुश्राव श्रुत्वा च देवानुवाच त्रितस्य यज्ञो वर्तते तत्र गच्छामः इति। ततस्ते देवा आजग्मुः। तानागतान् कूपादुत्तरणार्थी तुष्टाव उपालब्धवांश्च। अमी ये देवास्थन भवथ। भरतस्वामी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"एक ओर द्वित को थोड़ी गायें मिलीं। त्रित को बहुत सी मिली थीं। ईर्ष्या से उन्होंने त्रित को कूप में डाल दिया। इन गायों को भाइयों ने ले लिया, मेरे ऋत्विजों को कुछ नहीं मिलेगा इस बात की उसको चिन्ता हुई। ऐसा विचार करते हुये कुयें में उसने उगी हुई लता को देखा। उसने उस लता को लेकर यह सोम है ऐसा मन से मानकर याग के ऐश्वर्य और अन्य भी यागसाधनों का मनसा संकल्प कर कंकड़ियों को सोम कुचाने का पत्थर मानकर उस लता का रस निकाला। उसका रस निकालकर देवों को पुकारा। बुलाने के कारण को न जानते हुये देव लोग वहाँ आकर बहुत ही व्याकुल हुये। बृहस्पति ने सुना। सुनकर देवों से कहा कि त्रित के यज्ञ हो रहा है। वहाँ पर चलते हैं। फिर देव लोग गये। वहाँ पर आये हुये देवों की कूप से निकलने के इच्छुक त्रित ने स्तुति की और उन्हें उपालम्भ दिया। "अमी ये देवा स्थन"—इत्यादि।

पुनः सामवेद ५।३।९ का भाष्य करते हुये भरत स्वामी ने त्रित का जो इतिहास दिया है वह निम्न प्रकार है और उसमें पूर्व कथित इतिहास से पर्याप्त शब्दान्तर पाया जाता है। भाव लगभग एक सा है—

[1]'इस विषय में इतिहास कहते हैं। आप्त ऋषि के तीन पुत्र थे। वे एकत, द्वित और त्रित थे। उन्होंने यज्ञ की कामना करते हुये, अपने याज्यों से गायों की याचना की और प्राप्त किया। गायों को लेकर सरस्वती के किनारे रास्ते से जाते हुये उन्हें दूसरे किनारे पर बैठे हुये एक भेड़िये ने देखा। देखकर उठकर चला और पकड़ने का यत्न किया। उससे डरे हुये ऋषि और गायें भाग निकले। उन डरे हुवों में से त्रित तृण, वीरुध और धूल, से संकुल निर्जल अन्ध-कूप में गिर पड़ा। एकत और द्वित गायों को लेकर भाग गये। उस समय त्रित को चिन्ता हुई। यज्ञ का संकल्प किये हुये की बिना यज्ञ मृत्यु श्रेयस्कर नहीं इसलिए कौन सा उपाय है कि जिससे सोमपान करूं। इस प्रकार चिन्ता करते हुये उसने

१—अत्रेतिहासमाचक्षते। आप्तस्य ऋषेः त्रयः पुत्रा आसन् एकतो द्वितः त्रित इति। ते यष्टुकामा स्वान् याज्यान् गा ययाचिरे लेभिरे च। ता आदाय सरस्वत्यास्तीरेण पथा गच्छतः तान् परस्मिन् कूले निषण्ण एको वृको ददर्श। दृष्ट्वा चोत्थाय अभ्यपद्यत ग्रहीतुं चोपचक्रमे। ततस्ते ऋषयः गावश्चोद्विग्नाः गाश्च पलाययांचक्रिरे। तेषां त्रस्तानां त्रितो निर्जले पांसुभिः वीरुद्भिः तृणैश्चाच्छादिते अन्धकूपे पपात। एकतद्वितौ गा आदाय पलायांचक्राते। तदा त्रितस्य चिन्ता बभूव। कृतसंकल्पस्य अकृतसोमस्य मृत्युर्न श्रेयसे। तत् कोऽभ्युपायः स्यात् येनाहं सोमं पिबेयमिति। स एवं चिन्तयानः ततो लम्बमानां वीरुधं ददर्श। तां सोम इति संकल्प्य योगैश्वर्यादुदकं तत्र चकार। अग्न्याधानादीनि यागसाधनानि च। शर्करा ग्राव्णः स्थाने परिकल्प्य ताभिः तां वीरुधमभिषुषाव। वीरुधमभिषुत्य यागार्थं देवानाजुहाव। ते आह्वानकारणमनवबुध्य देवा आविग्ना बभूवुः। तदाह्वानं बृहस्पतिः शुश्राव। स देवानुवाच। अस्मिन् कूपे त्रितस्य वर्तते यज्ञः। तत्र गच्छामः। अथ तत्र सर्वे देवा आजग्मुः। तानागतान् कूपादुत्तरणार्थी त्रितः क्रमेण अनुतुष्टाव—"चन्द्रमा अप्स्वन्तरा—

भरतस्वामी।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

लटकी हुई लता को देखा। उसे सोम मानकर योगैश्वर्य से वहाँ पर पानी कर लिया। अग्न्याधान आदि यज्ञसाधनों को भी कर लिया। कंकड़ियों को पाषाण के स्थान में करके उनसे उस लता को कूटकर रस निकाला। लता से रस निकालकर देवों को बुलाया। उसके बुलाने के कारण को न जानकर देव उद्विग्न हुये। बृहस्पति ने उसके आह्वान को सुना। उसने देवों से कहा कि इस कूप में त्रित का यज्ञ हो रहा है। वहाँ पर चलें। सभी देव वहाँ पर गये। कूप से निकलने के इच्छुक त्रित ने सत्र की क्रम से स्तुतिकी—"चन्द्रमा अप्स्वन्तरा" इत्यादि।

सामवेद के इसी मंत्र पर भाष्य करते हुये माधव ने त्रित की कथा का और ही रूप में वर्णन किया है जो नीचे लिखे अनुसार है।—

[1]"आप्त के तीन पुत्र थे—एकत, द्वित और त्रित। उन्होंने यज्ञ कराकर सब गायों को लेकर वापसी का मार्ग लिया। मरुस्थल में प्यास से व्याकुल हुये एक कूप को देखकर उस पर बैठ गये। उसमें नीचे उतरने की इच्छा से त्रित उतरा। दूसरे दोनों ने बाहर से ही पानी पीकर तृप्ति प्राप्त की तथा कूप को ऊपर से ढक कर गायों को लेकर भाग गये। कूप में पड़ा हुआ त्रित देवों को "मेरी सुनो" कहकर पुकारने लगा। वह कूप जिसमें त्रित प्यास से गिरा था निर्जल था। रात्रि में चन्द्रमा को देखते हुये उसकी यह परिदेवना है।"

सायणाचार्य ऋग्वेद (१।१०५।१) में इसी मंत्र के व्याख्यान के अवसर पर शाट्यायिन् लोगों द्वारा कहे गये इतिहास को निम्न प्रकार उद्धृत करता है—

[2]"पहले समय में एकत, द्वित और त्रित तीन ऋषि हुये। वे किसी समय जंगल में मरुस्थल में प्यास से संतप्त शरीर होकर एक कूप पर पहुँचे। उनमें त्रित नामक एक कूप

१—एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चाप्तस्य सूनवः।
ते याजयित्वा सर्वा गा निवृत्ता मरुधन्वसु॥

पिपासयार्तास्तत्रैकं कूपं लब्ध्वा हि तत्स्थिताः।
आरोढुं तमिच्छन्तस्त्रितस्तत्रावरूढवान्॥

इतरौ तु बहिर्लब्ध्वा पीतोदकमतृप्यताम्।
कूपं पिधाय चक्रेण तं गा आदाय जग्मतुः॥

त्रितस्तु कूपे पिहितो देवान् स्तौति नः श्रुतम्।
स कूपो निर्जलो नूनं यत्रासौ पतितस्तृषा॥

तस्य चन्द्रमसं रात्रौ पश्यतः परिदेवना। —माधव

२—अत्र शाट्यायनिन इतिहासमाचक्षते—एकतो द्वितस्त्रित इति पुरा त्रय ऋषयो बभूवुः। ते कदाचिन्मरुभूमावरण्ये वर्तमानाः पिपासया संतप्तगात्राः सन्तः एकं कूपमविन्दन्। तत्र त्रिताख्यः एको जलपानाय कूपं प्राविशत्। स्वयं पीत्वा इतरयोश्च कूपादुदकमुद्धृत्य प्रादात्। तौ उदकं पीत्वा त्रितं कूपे पातयित्वा तदीयं धनं सर्वमपहृत्य कूपं च रथचक्रेण पिधाय प्रास्थिषाताम्। ततः कूपे पतितः स त्रितः कूपादुत्तरीतुमशक्नुवन् सर्वे देवा मामुद्धरन्त्विति मनसा सस्मार। ततस्तेषां स्तावकमिदं सूक्तं ददर्श।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

में नीचे उतरा। स्वयं पानी पीकर कूप से पानी निकालकर औरों को पानी दिया। एकत और द्वित ने उस जल को पीकर त्रित को कुयें में ढकेल के उसके समस्त धन को लेकर कुयें को रथचक्र से बन्द करके प्रस्थान किया। तब कूप में पड़े त्रित ने कुयें से बाहर निकलने में असमर्थ होकर "सारे देव मेरा उद्धार करें" ऐसा मन से स्मरण किया। उनकी स्तुतिसम्बन्धी इस सूक्त को देखा।

त्रित के विषय की ये सारी कथायें नीचे लिखे परिणाम पर पहुँचाती हैं।

१—त्रित आप्त ऋषि का पुत्र है और एकत और द्वित इसके भाई हैं।

२—त्रित अग्नि द्वारा जलों से पैदा हुआ और एकत और द्वित उसके भाई हैं।

३—एकत, द्वित और त्रित तीन ऋषि हुये और मरुभूमि में कूप में त्रित को ढकेल कर एकत और द्वित चले गये।

यहाँ पर प्रथम कल्पना "आप्त" पद पर आधारित की गई। आप्त्य का व्याकरण-प्रक्रिया से आप्त का पुत्र अर्थ करके यह कल्पना कर ली गई। दूसरी कल्पना दैविक प्रक्रिया को समझाने के लिए है। जिसके अनुसार त्रित अर्थात् वायु एवं प्राण की उत्पत्ति का विषय समझाया गया है। तीसरी कल्पना विनियोग को यज्ञ में संगत करने के लिए की गयी है। इस सूक्त का विनियोग मानस यज्ञ एवं अन्य जिस यज्ञ में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार माना गया उस अर्थ को दिखाने के लिए प्रीति से इतिहास कल्पित कर लिया गया। इस प्रकार इन कथाओं का भेद यह सिद्ध करता है कि ये किसी व्यक्ति के इतिहास नहीं। यदि व्यक्तिविशेष के इतिहास होते तो इतनी भिन्न कल्पित कथायें नहीं खड़ी होतीं।

यास्क ने इस मंत्र का नित्य-इतिहाससूचक अर्थ किया—यह पहले कहा जा चुका है। स्कन्द स्वामी भी इस बात की ही पुष्टि करते हुये दिखायी पड़ते हैं। स्कन्द स्वामी इस स्थल पर भाष्य करते हुए लिखते हैं कि "नित्य पक्ष में त्रित वस्तुतः शुक्ल-लक्षण क्षेत्रज्ञ (जीव) है जो कर्मपाशों से स्वर्ग, नरक और मर्त्य लोक में बँधा हुआ कर्म, ज्ञान के समुच्चय के अभाव से अपवर्ग को न प्राप्त करता हुआ घटीयन्त्र के समान चक्र के रूप में चलने वाले इस संसार में नरक में घूमता परिदेवना कर रहा है। पुरीष-तन्तु के गृहसम, अपवित्र प्रस्तर के समान विद्यमान माता के गर्भ में मग्न, यकृत, क्लोमावष्टम्भ आदि विभक्त उच्छ्वासयुक्त एवं बीभत्सा का अनुभव करते हुए रक्त के कीचड़ में शयन करने वाले मुझ को ईंटों के समान उदार की ईंटें तंग करती हैं। उस गर्भ में रहते हुये मुझको सम्यक् दर्शन की कामनायें पूर्ण न हुई वैसे ही सता रही हैं जिस प्रकार अपनी पूंछ को चूहे काटते[1] हैं।

१—नित्यपक्षे त्रितो नाम शुक्ललक्षणः कर्मपाशैस्त्रिभिः स्वर्गनरकमर्त्येषु बद्धः कश्चित्क्षेत्रज्ञः कर्मज्ञानसमुच्चयाभावादपवर्गमनाप्नुवन् नरके घटितयंत्रघटितसंसारे बम्भ्रम्यमाणः परिदेवयाञ्चक्रे। सन्तापयन्ति मां पुनर्मातुरुदरे मग्नमशुचिप्रस्तरके पुरीषतन्तुजालये यकृत्क्लोमावष्टम्भादेर्विभक्तोच्छ्वासो बीभत्समानमसृक्पंकमध्यशायिनं तमसि निरालोके संवर्तमानमभितो मातुः पर्शव इव तत्रस्थस्य च मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः सम्यग्दर्शनविषया कामा असम्पद्यमानाः। स्कन्दस्वामी नि० ३।२८

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यहाँ पर स्कन्द ने अध्यात्मपरक अर्थ दिया है। यास्क ने जो इतिहास दिखलाया है वह इस अर्थ को भी खोलने वाला है। मेधा से युक्त व्यक्ति इस संसार-कूप में अपने को दुःखी पाता है। उस दुःख को वह व्यक्त कर रहा है और संसार से उद्धार चाहता है। यहां मंत्र में उपमायें बहुत ही सार्थक हैं। संसार को कूप कहने में अलंकार का प्रयोग है, अन्य कुछ नहीं। महाभारत स्त्रीपर्व ६।७ में अनेकों प्रकार के आलंकारिक उदाहरण मिलते हैं। जिन को देखने के बाद यह मंत्रस्थ अलंकार बहुत ही हृदयग्राही मालूम पड़ेगा। वहाँ पर धृतराष्ट्र को अलंकार सुनाते हुये विदुर ने संसार को कान्तार, व्याधियों को सर्प, देह को कूप, संवत्सर को छः मुखों वाला कुँजर, दिन और रात्रि को मूषिका और पन्नग तथा मधुकरों को काम कहा है।

ऐसे भी स्थल दृष्टिगत होते हैं जिनमें निरुक्तकार ने इतिहास नहीं दिखलाया है फिर भी स्कन्दस्वामी ने वहाँ पर इतिहास दिखलाया है। उदाहरण के रूप में निरुक्त २।२८ स्थल को लिया जा सकता है। इस स्थल पर यास्क ने अश्ववाची नामों में आये दधिक्रा पद का उदाहरण दिया है। यहाँ पर यास्क कहता है कि बाद वाले १० अश्ववाची नाम ऐसे हैं कि जो अश्व अर्थ में भी हैं और वेदमन्त्रों के देवतारूप में भी हैं। जब ये नाम देवता के रूप में प्रयुक्त होते हैं तब आचार्य लोग इन्हें "आदिष्टोपयोजन"[1] के रूप में मानते हैं। अर्थात् इनका जैसा इन्द्र, अग्नि और आदित्य के साथ वर्णन है वैसा ही इनका सङ्गत अर्थ लगाया जाता है। इस पर स्कन्द लिखता है कि "[2]इतिहास-पक्ष और नैरुक्तपक्ष दोनों में ही पूर्वपक्ष और अपरपक्ष अर्थात् शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष अथवा अहोरात्र ही इन्द्र के हरी अर्थात् घोड़े हैं। क्योंकि ये सोमपानक्रिया के साधन हैं। अग्नि के रोहित उसकी व्याप्तिमान ज्वालायें हैं। प्रातःकाल में आदित्य के हरितवर्ण भी उसके रोहित हैं। आश्विन काल में वे रासभवर्ण होते हैं। उस काल में दिखलाई पड़ने वाले उचित श्यामल वर्ण से उनको ऐसा कहा गया है। अज नाम उनका इसलिए है कि पूषा के समय में किरणें चारों तरफ चलती हुई होती हैं। वर्षाकाल में चत्ते वाली विचित्र मेघमाला हुआ करती है। उषा के समय में तमोमयी रश्मिमाला चलती हुई होती है। सविता के समय में वही श्यामवर्ण वाली हो जाती हैं। छन्द ही विश्वरूप हैं—ऐसा बृहस्पति का कथन है। वायु के व्यापार काल में तृण, धूलि आदि के संचार और मिश्रण से इन्हें नियुत् कहा जाता है"। इस प्रकार स्कन्द ने यहाँ पर दोनों पक्षों की चर्चा की है। इतिहासपक्ष में जो इन्द्र, अग्नि और सूर्य के घोड़े माने गये हैं वे ही नित्यपक्ष अथवा नैरुक्तपक्ष में किरणें आदि हैं।

१—दशोत्तराण्यादिष्टोपयोजनानीत्याचक्षते साहचर्यज्ञानाय।

२—इतिहासपक्षे नैरुक्तपक्षेऽपि पूर्वपक्षापरपक्षौ (शुक्ल-कृष्णपक्षौ) अहोरात्रे वा इन्द्रस्य हरी सोमपानक्रियासाधनभूतत्वात्। रोहितोऽग्नेः नित्यपक्षे ज्वाला अश्वाः व्याप्तिमत्यः, हरितवर्णाः प्रातरादित्यस्य। आश्वकाले रासभवर्णो तत्कालोचितेन श्यामतेन वर्णेनापदेशः। अजाः अजनात् पूष्णः काले रश्मयो गच्छन्ति सर्वतः। प्रावृषि पृषत्यो विचित्रा मेघमाला महताम्। उषसः काले तमोरूपा रश्मिमाला रान्त्यः। सवितुः काले श्यामवर्णा भवन्ति। छन्दांसि वै विश्वरूपाणि इति बृहस्पतेः। वायोः प्रवृत्तौ तृणपर्णपांस्वादेः संचरणान्मिश्रणान्नियुतः। —स्कन्दस्वामी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यास्क ने निरुक्त १२।१६ में "इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्" मंत्र की व्याख्या करते हुए निरुक्तकारों के ही द्वारा माने गये अर्थान्तरों को दिखलाया है। शाकपूणि आचार्य के मत में विष्णु के तीन पद पृथ्वी पर अग्नि, अन्तरिक्ष में विद्युत् और द्युलोक में दिव्यादित्य हैं। और्णवाभ के मत में उदय, मध्याह्न और अस्त (समारोहण, विष्णुपद और गयाशिरः)—ये तीन पद हैं"[1]। यहाँ पर यास्क ने अपना मत नहीं दिया है। प्रथम तो यह हो सकता है कि यास्क को इन दोनों नैरुक्तों का ही अर्थ अभिप्रेत हो अतः अपना मत देने की उसने ज़रूरत नहीं समझी। दूसरी यह बात हो सकती है कि इन में किसी एक मत को ही उसने अपना स्वीकार कर लिया हो। स्कन्द यहाँ पर तनिक सा संकेत करता है।[2]वह कहता है कि नैरुक्तपक्ष में देवादि (सूर्य किरणें) ही समारोहणादि शब्दों से कही गयी हैं। इस प्रकार या तो और्णवाभ मत ही निरुक्तकार को अभिप्रेत होगा या सूर्य की किरणों के जो तीन भेद दिन में बनेंगे वे यहाँ अभिप्रेत होंगे। यद्यपि यास्क ने यहाँ पर इतिहास की ओर कोई इंगित भी नहीं किया है फिर भी स्कन्द यहाँ पर इतिहास [3]दिखलाता है। वह लिखता है कि बलिवध काल में विष्णु अर्थात् भगवान् नारायण का जो विक्रमण है वह यहाँ पर कहा गया है। ऐतिहासिक पक्ष में विष्णुपद में जो पद है वह नहीं दिखलाई पड़ता।" विष्णु के विषय में इतिहास का दो प्रकार पाया जाता है। पहला प्रकार [4]शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है। विष्णु नाम यज्ञ का है। इस यज्ञ ने विक्रान्ति की। समस्त पृथ्वी को ले लिया। देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तानों ने युद्ध किया। देव हार गये और असुर जीत गये। असुरों ने समस्त पृथ्वी पर कब्ज़ा कर लिया। देवों ने असुरों से कहा कि तुम लोग एक बालिश्त भूमि हमें दे दो जिसमें हम अपने वामन विष्णु को बैठा सकें। असुरों ने मान लिया और उतनी भूमि दे दी। इस प्रादेशमात्र भूमि में देवों ने यज्ञ वेदी बनाई। इसका मुख ऊपर को चौड़ा और नीचे को उसका चौथाई था। यज्ञ वेदी के चारों तरफ जल छिड़क कर गायत्री त्रिष्टुब् और जगती आदि छन्दों से यज्ञ वेदी को घेर दिया। इस वामन विष्णु=यज्ञ ने बढ़ना शुरू किया और समस्त भूमि पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। इसलिए पृथ्वी को वेदी कहा[5] गया है। तथा जितनी यह पृथ्वी है उतनी वेदी है। शतपथ ब्राह्मण की यह कथा वस्तुतः वेदि

१—यदिदं किञ्च तद्विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदं पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः। नि० १२।१९

२—नैरुक्तपक्षे देवादय एव समारोहणादिभिः शब्दैरुच्यन्ते। स्कन्दस्वामी॥

३—अथवा बलिबन्धकाले विष्णोर्भगवतो नारायणस्य यद्विक्रमणं तदत्रोच्यत इत्यैतिहासिकाः।..........................ऐतिहासिपक्षे विष्णुपदे यत्पदं तन्न दृश्यते।
—स्कन्दस्वामी

४—यज्ञो वै विष्णुः स देवेभ्यः इमां विक्रान्तिं विचक्रमे यैषामियं विक्रान्तिरिदमेव प्रथमेन पदेन पस्पाराथेदम् अन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेनैतास्वेवैष एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विक्रान्तिं विक्रमते। श० १।१।२।१३।, पुनः १।९।३।९

५—तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथ्वी॥ श० १।२।५।७ पुनः श० ३।७।२।१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

की व्याख्या करती है और यज्ञ के महत्व को बता रही है। यजुर्वेद[1] २३।४९-५० में विष्णु के तीन पदों का ज़िक्र है और[2] २३।६२ में पृथ्वी को वेदी कहा गया है। इनकी ही वस्तुतः यह व्याख्या है। प्रसङ्ग से "इदं विष्णुः" मन्त्र की भी यज्ञ-प्रक्रियानुसार सङ्गति इसमें लग जाती है।

दूसरा प्रकार इस कथा का यह पाया जाता है कि कश्यप से[3] अदिति में वामन विष्णु पैदा हुआ। उसने बलि के साथ छल किया। दो क़दमों में सारे लोकों को नाप लिया और जब कुछ शेष न रहा तो बलि को पाताल भेज दिया और उसके शरीर को तीसरे क़दम में माप लिया। यह कथा पौराणिक है। परन्तु इससे भी तात्पर्य वही निकलता है जो मंत्र से दैवत, याज्ञिक और अध्यात्म-प्रक्रिया में निकलता है। तीनों प्रकार के अर्थों की संगति इससे लग जाती है। दैवत प्रक्रिया में विष्णु का अर्थ सूर्य है। सूर्य तीन कदमों में प्रातः, मध्याह्न, और अस्तमन के द्वारा समस्त विश्व को मापता है। अथवा यह पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौः तीनों लोकों को मापता है। चौथा विद्युन्मय पद नहीं दिखायी पड़ता है। कश्यप अर्थात् परमेश्वर की शक्ति से अदिति में उत्पन्न सूर्य यह विक्रमण करता है। अदिति नाम प्रकाश और देवमाता अर्थात् प्रकृति का है। सूर्य उससे पैदा होता है। कश्यप नाम परमेश्वर का है। यह विष्णु तीन कदमों में विश्व को क्रान्त कर लेता है। दो कदमों में विश्व की समस्त वस्तुवों को क्रान्त करना और तीसरे में बलि को मापना—यह भी ठीक है। दो क़दम में तो कथा में समस्त लोक का मापना दिखलाया है परन्तु तीसरे क़दम में बलि का मापना आता है। वेद में बल का अर्थ मेघ है। ऋग्वेद २।११।२० में भिनद्वलमिन्द्रो अङ्गिरस्वान् पाठ मिलता है। यहां पर बल मेघ के लिए प्रयुक्त है। पुनः ऋ० ६।१८।५ में भी बल का मेघ अर्थ में प्रयोग पाया जाता है। निघण्टु १।१० में बल मेघ नाम में पठित है। इस बल को ही बलि कहा गया मालूम पड़ता है। सूर्य मेघ को पाताल भेजता रहता है। क्योंकि वह वर्षा करके उसे नीचे गिराता है। यदि बलि शब्द ही मान लिया जावे तो दो अर्थ बनेंगे। एक मेघ और दूसरा बलि अर्थात् आहुति। वेद में मेघ के अर्थ में "बलिशान" पद का प्रयोग है। इसलिए बलि की कल्पना इससे ही की गयी मालूम पड़ती है। दूसरा अर्थ आहुति अति प्रसिद्ध है। मेघ अर्थ मानने पर सूर्य के अर्थ के साथ संगति लगेगी और आहुति अर्थ मानने पर यज्ञ के साथ संगति लगेगी। यज्ञ भी कश्यप के द्वारा अदिति अर्थात् अग्नि में ही होता है। कश्यप नाम परमेश्वर का है और अदिति प्रकृति को कहते हैं। उस प्रकृति में जन्म धारण करने वाला सूक्ष्म जीव वामन है। तीन अवस्थावों में क्रमण करता रहता है। बल नाम अंधकार का भी है। अतः तमोमयी स्थिति ही बल है। उसमें भी वह प्रवेश करता है। इस

१—येषु विष्णुस्त्रिषु पदेष्वेष्टस्तेषु विश्वं भुवनमाविवेश। यजु० २३।४९

२—इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः। यजु० २३।६२

३—मन्वन्तरे तु संप्राप्ते तथा वैवस्वते द्विज। वामनः कश्यपाद्विष्णुरदित्यां संबभूव ह।
त्रिभिः क्रमैरिमाँल्लोकाञ्जित्वा येन महात्मना। पुरन्दराय त्रैलोक्यं दत्तं निहतकण्टकम्॥
विष्णुपुराण ३।१।४२-४३

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रकार सूर्य, यज्ञ और आत्मा—इन तीनों अर्थों में यह इतिहास घटित किया जा सकता है। केवल बल और बलि पदों में थोड़ी बुद्धि लगानी पड़ती है। इस इतिहास में कल्पना करने में त्रुटि भले ही रह गई हो परन्तु छाप इसमें तीनों प्रक्रियावों के अर्थों की है।

निरुक्त में अन्य अनेक स्थलों पर भी छोटे मोटे निदर्शन इतिहास के मिलते हैं। परन्तु ये सभी नित्येतिहास के पोषक हैं किसी व्यक्ति का इतिहास इसमें नहीं पाया जाता है। उन स्थलों का भी यहाँ पर इस दृष्टि से विचार किया जाता है कि इससे जहाँ इतिहास के स्वरूप-निर्णय पर प्रकाश पड़ता है वहाँ वेद के अनेक रहस्य भी पाठकों के सामने आ जावेंगे।

यास्क ने ऋग्वेदीय (३।५३।२३)[1] मंत्र का सांकेतिक व्याख्यान निरुक्त ४।१४ पर किया है। यहाँ पर यास्क मुनि मंत्रस्थ "लोध" पद की व्याख्या करते हुये[2] "लुब्धमृषिम्" अर्थात् लुब्ध ऋषि अर्थ दिखलाते हैं। यास्कवचन यहाँ पर इतिहास की झलक दिखला रहा है। यह लुब्ध ऋषि न तो वेद मंत्रों के द्रष्टा ऋषियों में ही है और न मंत्र में ही ऐसा कोई पद आया है जिसका अर्थ ऋषि हो। यह लोध शब्द इस स्थल के अतिरिक्त चारों वेदों में और कहीं मिलता भी नहीं। साथ ही कोई ऐसा ऋषि हुआ हो—यह भी नहीं है। फिर भी यास्क यहाँ पर "लुब्ध ऋषि" कहकर मंत्रार्थ को ऐतिहासिक रूप दे रहा है। जिस इतिहास का वह संकेत कर रहा है वह ऋग्वेद के उस सूक्त के देखने से ज्ञात होता है जिस सूक्त में यह मंत्र आया है। ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के ५३ वें सूक्त में यह मंत्र पाया जाता है। इससे पूर्व इस मंडल के ५० वें सूक्त में इन्द्र देवता होने से यज्ञ प्रक्रिया में उसका प्रयोग वर्णित है और इन्द्र के विविध कार्यों और गुणों का वर्णन है।

पुनः ५२ वें सूक्त में इन्द्र देवता तथा अंगभूत यज्ञ के देवतावों के साथ विशेष सामग्री तथा अन्य यज्ञाङ्गों का वर्णन है। इस सूक्त में सब आठ मंत्र हैं। इनमें इन्द्र को प्रधान देव मान कर उसे पुरुष्टुत ऋभुमन्त, पूषण्वन्, हरिवान्, और हर्यश्व, कहा गया है। साथ ही धान, करम्भ, अपूप, पुरोडाश, प्रातःसाव, माध्यंदिन सवन, तृतीय सवन, और सोम आदि यज्ञ सम्बन्धी साधनों एवं अंगों का वर्णन है। इसके बाद ५३ वां सूक्त आता है। इसमें आदि मंत्र के इन्द्र-पर्वत देवता हैं। १५ वें और सोलहवे मंत्रों की वाग् देवता है। उसके बाद चार मंत्रों के रथाङ्ग देवता कहे जाते हैं। शेष मंत्रों का इन्द्र देवता है। इस सूक्त के सातवें मंत्र का भाव है कि[3] ये दानशील नानारूप अंगिरस्, द्यु लोक के पुत्र एवं मेघ के साथ वीरोचित कर्म करने वाले मरुत् लोग अश्वमेघ में सर्व-मित्र विद्वान् पुरोहित को धन और यश को देते हुये दीर्घ आयुः प्रदान करें"। यहां पर अंगिरा लोग मध्यमस्थानी दिव्य शक्तियां हैं। मरुत् लोग जहां द्यु लोक से उत्पन्न हुये है वहां असुर अर्थात् मेघ को छिन्न भिन्न करने वाले है। इन्द्र और वृत्र के युद्ध में ये सहायक हैं। इन्द्र और वृत्र क्या

१—लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः। ऋ० ३।५३।२३

२—लुब्धमृषिं नयन्ति पशु मन्यमानाः। नि० ४।१४

३—इमे भोजा अङ्गिरसो विरूपा दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।
विश्वामित्राय ददतो मघानि सहस्रसावे प्रतिरन्त आयुः॥ ऋ० ३।५३।७

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हैं यह प्रथम बतलाया जा चुका है। पुनः नवें मंत्र में ऐसा भाव व्यक्त किया गया है "महान् अतीन्द्रिय[1] पदार्थों का द्रष्टा, दिव्यशक्तियों से उत्पन्न, देव कार्य का करने वाला अर्थात् याज्ञिक, लोगों को मार्ग दिखलाने वाला, विश्वामित्र अर्थात् सबका मित्र सर्वप्रिय पुरोहित जल से परिपूर्ण नदी को भी बांधकर अवरुद्ध कर देता है। ऐसा सर्वमित्र पुरोहित जब दानी एवं प्रजा का हित चाहने वाले राजा के यज्ञ कार्य को कराता हैं तो यज्ञ का देव इन्द्र समस्त प्रकाशक शक्तियों के साथ उसका कल्याण करता है। अर्थात् इन्द्र के साथ समस्त देव यज्ञ को सफल करते हैं। यहां पर "सुदास" और विश्वामित्र शब्द मंत्र में ही पड़े हुये हैं। नदी और विश्वामित्र से सम्बद्ध मंत्र में इसी प्रकरण में सुदास और विश्वामित्र तथा कुशिक का अर्थ दिखलाया जा चुका है। आधिदैवत प्रक्रिया में विश्वामित्र का अर्थ आदित्य है, यह भी पूर्व बतलाया जा चुका है। यहाँ भी आधिदैवत में वही अर्थ निकलेगा। इस सूक्त के दशवें मंत्र में याज्ञिकों द्वारा मंत्र के सुष्ठु उच्चारण का विधान है। उपमा हंसों की दी गयी है। जैसे हंस सम्यक् शब्द करते हैं वैसे ही यज्ञ में याज्ञिकों का उच्चारण ठीक होना चाहिए। ११ वें मंत्र में सुदास् अर्थात् दानशील और आश्वमेधिक अश्व का वर्णन है। १४ वें मंत्र में यज्ञ के उपयोग में न आने वाली नास्तकों की गायों आदि के हरण की बात की गई है। इसका वर्णन में मैंने पहले प्रकरण में "कीकट" की व्याख्या करते हुये कर दिया है। १५ वें और १६ वें मंत्र में "ससर्परी[2]" वाणी का वर्णन है। इसी को ब्राह्मी एवं सौरी वाक् भी कहा गया है। यज्ञ में जो मंत्र बोले जाते हैं वे वाणीमय हैं। इन का ब्रह्माण्डगत वाणी से सम्बन्ध होता है। सौरी वाक् वह है जो परा वाक् का अंश है। यह द्युलोक में स्थित है। अन्तरिक्ष मध्यम का स्थान है। यज्ञ में बोली गई मंत्रवाणी जो कि पश्यन्ती है का जब तक ब्रह्माण्डगत वाणी के साथ सम्बन्ध नहीं होता तब तक ऋत्विज चेतनाहीन हैं क्यों कि उनका यज्ञ सफल नहीं होता। अतः यज्ञ में उच्चारण की गई वाणी का द्युलोकस्थ वाणी से सम्बन्ध मिलना चाहिए। यही कारण है कि तीनों लोकों की वाणियों का तीनों सामों के साथ बतलाया गया है। सा+अम = साम का भी यही अर्थ है।

सूक्त का १५ वाँ मंत्र निम्न प्रकार इसका वर्णन करता है—

"अज्ञान को दूर करने वाली, अग्नियों को प्रज्वलित करने वाले महातपस्वी यज्ञविद्याचतुरों के द्वारा ही दी हुई ससर्परी वाक् नभ में महान् शब्द करती है। यह सूर्य की पुत्री के समान है और इन्द्र आदि देवों में क्षयरहित अमृत शब्द कम्पनों को विस्तृत करती रहती है।"

१६[3] वाँ मंत्र इस विषय को निम्न प्रकार से स्फुट करता है—

१—महाँ ऋषिर्देवजा देवजूतोऽस्तभ्नात्सिन्धुमर्णवं नृचक्षाः।
विश्वामित्रो यदवहत्सुदासमप्रियायत कुशिकेभिरिन्द्रः॥ ऋ० ३।५३।९

२—ससर्परीरमतिं बाधमाना बृहन्मिमाय जमदग्निदत्ता।
आ सूर्यस्य दुहिता ततान श्रवो देवेष्वमृतमजुर्यम्॥
ऋ० ३।५३।१५

३—ससर्परीरभरत्तूयमेभ्योऽधि श्रवः पाञ्चजन्यासु कृष्टिषु।
सा पक्ष्या नव्यमायुर्दधाना यां मे पलस्तिजमदग्नयो ददुः॥ ऋ० ३।५३।१६

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"यह ससर्परी वाक चार वर्णों और पाँचवें अवर्ण मनुष्यों में अन्न आदि प्रदान करती है। पलस्ति = वृद्ध, परिपक्व जमदग्नि = तपस्वी यज्ञविद्यानिपुण विद्वान् अथवा दिव्यशक्तियें इस वाणी को सूर्य से लाकर यज्ञ कर्ता को देती हैं। नवीन जीवन को देने वाली यह वाणी उस का कल्याण करती है।

इन ५१वें ५२ वें और ५३ वें सूक्तों के मंत्रों की उपयुक्त प्रकार से छानबीन करने पर परिणाम यह निकलता है कि प्रक्रियान्तर में अर्थान्तर को देते हुए भी इन मंत्रों में एक यज्ञप्रक्रिया स्पष्ट भासित हो रही है। साथ ही सुदास्, विश्वामित्र और ससर्परी आदि शब्दों के आजाने से यह भी दिखलायी पड़ रहा है कि सुदास् अर्थात् कल्याणकारी राजा के यज्ञ का विश्वामित्र = सर्वंमित्र पुरोहित के द्वारा इस प्रकार से संपादन किया जाना चाहिए कि इसमें कोई त्रुटि न रह जावे और मंत्रवाणी का सौरी एवं ससर्परी वाणी से संबन्ध जुड़ जावे। वस्तुतः इस यज्ञ की प्रक्रिया को समझाने के लिए इन सूक्तगत शब्दों को लेकर एक इतिहास गढ़ा गया जो निम्न प्रकार है—

"[1]सुदास् नृप के यज्ञ में वसिष्ठात्मज शक्ति से विश्वामित्र की वाणी और बल सर्वथा अभिभूत हो गये। विश्वामित्र इस से चेतनाहीन हो गये। जमदग्नियों ने उस सौरी वाणी को सूर्य के गृह से लाकर दिया। इससे उनकी बुद्धि उद्बुद्ध हो गयी।"

यह इतिहास सर्वानुक्रमणी (अनु० भा० ३।५३) में पाया जाता है। यह उस पूर्वोक्त याज्ञिक प्रक्रिया को ही समझा रहा है।

इसी प्रकार यदि यज्ञ में पुरोहित एवं ऋत्विज् किसी लोभ एवं लालच से कर्म के संपादन में त्रुटि करते हैं तो उन्हें विज्ञ पुरुषों के सामने तिरस्कृत होना पड़ता है। अथवा योग्य ऋत्विज् को अयोग्य समझकर यदि किसी गलती पर कोई अपमानित करता है तो वह प्रतीकार की भावना का प्रदर्शन करता है। अतः यज्ञ के ऋत्विज् बहुत योग्य होने चाहिए और यज्ञ में एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी नहीं होने चाहिए। वेद यह शिक्षा दे रहा है। इस ५३ वें सूक्त के २१ वें मंत्र में इन्द्र से शक्ति मांगी गयी है, द्वेष के निराकरण की प्रार्थना की गई है। २२ वें मंत्र में योग्य पुरोहित अपनी शक्ति का वर्णन निम्न प्रकार करता है—

हे [2] इन्द्र जैसे कुठार से वृक्ष नष्ट हो जाता है, जैसे शिम्बल पुष्प स्पर्श मात्र से नष्ट हो जाता है, जैसे पकती हुई डेगची फेन उगलती है उसी प्रकार मेरा प्रतिस्पर्धी तिरस्कृत होगा।"

१—ससर्परीद्वृचे प्राहुरितिहासं पुराविदः। सौदासनृपयज्ञे वै वसिष्ठात्मजशक्तिना॥
विश्वामित्रस्याभिभूतं बलं वाक् च समन्ततः। वसिष्ठेनाभिभूतः स ह्यवासीद्गाधिजः।
तस्मै ब्राह्मी तु सौरीं वा नाम्ना वाचं ससर्परीम्। सूर्यवेश्मन आहृत्य ददुर्वै जमदग्नयः॥
कुशिकानां मतिः सा वागमतिं तामपानुदत्॥ अनु० भा० ३।५३

२—परशुं चिद्वितपति शिम्बलं चिद्वि वृश्चति।
उखा चिदिन्द्र येषन्ती प्रयस्ता फेनमस्यति॥
ऋ० ३।५३।२२

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पुनः २३ वें मंत्र में वह कहता है कि—

"१ लोग मेरे इस अभिभवकारी प्रभाव को नहीं जानते हैं और मुझे लोभी मंत्रदृक् समझकर पशु की भांति मानते हुये इस रूप में लोगों तक पहुँचाते हैं। वागीशजन मूर्ख से अपना उपहास नहीं कराते अथवा उससे स्पर्धा नहीं करते। घोड़े से आगे गधे को नहीं जोतते।"

ये वस्तुतः प्रतिस्पर्धी जनों से तिरस्कृत किये हुये पुरोहित के वचन है। इनसे यह शिक्षा मिलती है कि पुरोहित योग्य होना चाहिए। साथ ही प्रतिस्पर्धी ऋत्विजों को यज्ञ में नहीं बैठाना चाहिए। यदि कोई प्रतिस्पर्धी विद्वान् त्रुटि पर योग्य व्यक्ति को अपमानित करता है तो वह गर्वोक्तिपूर्वक ऐसे ही उद्‌गार निकालता है। कभी कभी पुरोहित के चुनने में भी ऐसा किया जाता है कि उसकी योग्यता की परीक्षा के लिए किसी दूसरे विद्वान् से छेड़खानी करा दी जाती है। उस उबाल में आकर वह अपनी योग्यता का वर्णन कर देता है। उससे भी योग्य पुरोहित का निर्णय हो जाता है। वहाँ पर ऐसा ही वर्णन दृष्टिगोचर होता है। उस भाव को समझाने के लिये ऊपर कहे गये सुदास् और विश्वामित्र के इतिहास को और भी बढ़ा दिया गया और कल्पना खड़ी कर दी गयी कि—तपस्या का कहीं भंग न हो—इस लोभ से युक्त तप में मौन बैठे हुये विश्वामित्र को वसिष्ठ के आदमी पशु की भांति बांधकर ले जाते हैं। उनके प्रति विश्वामित्र ने इस मन्त्र में वर्णित शेष बातों को कहा। यहाँ पर पूर्वोक्त कहे गये विचार को ही इतिहास भी समझा रहा है। शब्दों का अन्तर भले ही हो परन्तु भाव वही है। इस प्रकार ५३ वां सूक्त जब यज्ञ प्रक्रिया में लगाया जावेगा तो उसका अर्थ कल्याणकारी राजा के अश्वमेघ यज्ञ में घटेगा। इतिहास से उसी अर्थ को समझाया गया है। परन्तु यह इतिहास किसी व्यक्तिविशेष का नहीं है—यह यहाँ भली प्रकार समझना चाहिए। सर्वानुक्रमणी के इतिहास में "गधिसुत" आदि कल्पना उसकी अपनी है। यास्क का इससे कोई भी सम्बन्ध नहीं।

इस सूक्त में जिस यज्ञ प्रक्रिया को दिखलाया गया है उसमें सुदास् और विश्वामित्र शब्द हैं। साथ ही सुदास् और विश्वामित्र की याज्ञिकप्रक्रिया के सम्बन्ध का इतिहास यास्क पहले नदी के प्रकरण में दिखला चुका है अतः यहाँ पर भी उस नित्य इतिहास की सङ्गति से यज्ञप्रक्रिया को समझाना चाहता है। इसलिए "लोध" शब्द को "विश्वामित्र" की उक्ति में अपने लिए मन्त्र में प्रयुक्त हुआ देखकर वह "लुब्धमृषिम्" पद का प्रयोग कर रहा है। यह 'ऋषि' शब्द ही सूक्तस्थ भाव को समझाने के लिए नित्येतिहास-कल्पना का संकेतक है। इस भाव को रखकर ही यास्क ने "ऋषि" शब्द का प्रयोग किया है।

आधिदैवत प्रक्रिया में विश्वामित्र आदित्य का वाचक होगा। उस अवस्था में इस मन्त्र का अर्थ भिन्न होगा। ध्रुव के पास रात्रि में दिखायी पड़ने वाले सप्तर्षिमण्डल के सात तारे भी खगोल-विद्या में सप्तर्षि हैं। ये दर्शनीय हैं एवं दृष्टि के साधन हैं अतः ये भी ऋषि हैं। ये

१—न सायकस्य चिकिते जनासो लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः।
नावाजिनं वाजिना हासयन्ति न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति॥
३।५३।२३

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सात तारे जिन्हें सप्तर्षि कहा जाता है—क्रतु, पुलह, पुलस्त्य, अत्रि, अङ्गिरा, वसिष्ठ और मरीचि नाम से प्रसिद्ध हैं। मृगशीर्ष नक्षत्र के पीछे एक तारा है जिसका नाम मृगयु अथवा मृगव्याध है। उसे भी लुब्धक कहा जा सकता है। वह लुब्धक तारा भी सप्तर्षियों की भांति ऋषि कहा जा सकता है।

यास्क निरुक्त [1]४। १९ पर च्यवन की निरुक्ति करते हुये लिखते हैं कि "च्यवन का अर्थ ऋषि है। वह स्तुतियों का च्यावयिता अर्थात् करने वाला है। "च्यवान" के निगम पाये जाते हैं जैसा कि ऋग्वेद १०।३९।४ में वर्णित है। यहाँ पर यास्क ने यह बतलाया कि च्यवन शब्द से वेदमन्त्रों का च्यावयिता अर्थात् ऋषि अभिप्रेत है और च्यवान शब्द से उसका वर्णन पाया जाता है। यास्क का यह "च्यवन" कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। प्रत्येक स्तुतिप्रयोक्ता ऋषि च्यवन कहला सकता है। परन्तु यह आधियाज्ञिक प्रक्रिया में विशेषप्रकार से घटेगा। यास्क का अभिप्राय नित्येतिहास का द्योतक है। परन्तु लोगों ने च्यवन ऋषि के नाम पर अनेक कहानियाँ गढ़ रखी हैं जो उनकी कल्पनामात्र हैं। यहाँ पर पौराणिक कहानियों से कोई मतलब नहीं है।

प्रश्न यह होता है कि यास्क यहाँ पर ऋषि पद का प्रयोग च्यवन के साथ क्यों कर रहा है? परन्तु उत्तर भी उसकी निरुक्ति में ही मिल जाता है। क्योंकि मन्त्रों का प्रयोक्ता च्यवन है और वह ऋषि ही कहलावेगा। यहाँ पर इस पर कुछ विचार अपेक्षित है। च्यवन का सम्बन्ध बहुधा अश्विनी देवतावों से देखा जाता है। जिस मन्त्र का यास्क प्रमाण उपस्थित कर रहा है वह भी आश्विन सूक्त का है और ऋग्वेद १०।३९ का चतुर्थ मन्त्र है। यहाँ पर यह अर्थ यास्क ने लिया है कि अश्विनी लोग मन्त्र के प्रयोक्ता विद्वान् ऋषि को युवा बना देते हैं। परन्तु सूक्त में अश्विनियों को मध्यम पुरुष में सम्बोधित किया गया है अतः उससे एक नित्येतिहास भी निकल आता है। उसी के आधार पर यह च्यवन का इतिहास खड़ा किया गया है जो सर्वथा मन्त्र के अर्थ को बतलाने के लिए प्रीति से कल्पित है। जब यह दिखलायी पड़ता है कि च्यवन का सम्बन्ध अश्विनी कुमारों से है तो यह भी सुतराम् सिद्ध है कि त्रिविध प्रक्रिया में अश्विनी के अर्थों के समान च्यवन का भी अर्थ निकलेगा। परन्तु यास्क को यहाँ पर आधियाज्ञिक अर्थ को इतिहासगर्भित रूप में दिखलाना है। इसलिए वह च्यवन के साथ ऋषि शब्द का भी समावेश कर देता है। अश्वि शब्द का वेद में व्यापक अर्थ में प्रयोग है। स्वयं यास्क ने निरुक्त में [2](१२।१) द्यावा-पृथ्वी, अहोरात्र, सूर्याचन्द्रमसौ और पुण्यकृत दो राजा—इतने अर्थ तो अश्विनी के दिखला दिये हैं। निरुक्ति करते हुये और भी अर्थभिन्नता प्रकट कर दी है। वह विविध अर्थों में घट सकती है। यास्क लिखते हैं कि नासत्य शब्द से अश्विनी अभिप्रेत हैं। ये

१—च्यवन ऋषिर्भवति च्यावयिता स्तोमानाम्। च्यवानमित्यप्यस्य निगमा भवन्ति।
युवं च्यवानं सनयं यथारथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः। ऋ० १०।३९।४
युवां च्यवनं सनयं पुराणं यथा रथः पुनर्युवानं चरणाय ततक्षथुः।
नि० ४।१९॥

२—तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यौ इत्येके। अहोरात्रौ, इत्येके। सूर्याचन्द्रमसौ इत्येके। राजानौ पुण्यकृतौ इत्यैतिहासिकाः। निरुक्त १२।१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सत्य हैं [1] असत्य नहीं इसलिए इनको नासत्य कहा जाता है—ऐसा और्णवाभ का मत है। ये सत्य के प्रणेता हैं—ऐसा आग्रायण मानते हैं। ये नासिका से उत्पन्न हुये—ऐसा भी है। बृहद्देवता अध्याय ७ [2] में भी विविध अर्थ दिखलाये गये हैं। वहाँ लिखा कि और्णवाभ इन दोनों ऋचावों में अश्विनी का वर्णन मानता है। सूर्य और चन्द्रमा तथा प्राण और अपान भी इन्हें कहा जाता है। ये अहोरात्र और द्यावा-पृथिवी भी हैं।" इस प्रकार अश्विनी के अनेकार्थ हैं। इतना ही नहीं प्रक्रियानुरोधेन समस्त आश्विन मन्त्रों की छानबीन करने पर और भी अर्थ निकल सकता है। आत्मा-परमात्मा, उपदेष्टाध्यापक, गुरुशिष्य, वैद्यवैज्ञानिक वास्तुविद्याविज्ञ और नौकाविज्ञानविज्ञ, आदि अनेकार्थ हो सकते हैं। इन सम्बन्धी सूक्तों को देखने पर इनसे अनेक कर्मों का सम्पादन देखा जाता है। सब प्रकार की कुशलता का इन्हें प्रतिनिधि सूचित किया गया है।

ऋग्वेद १।११६।२ में अश्विनी लोगों को यम अर्थात् सूर्य के संग्राम में जीतने वाला कहा गया है। ऋग्वेद १।११६।३ में इन्हें अन्तरिक्ष में चलने वाली नौकावों वाला बतलाया गया है। ऋग्वेद १।११६।५ में अश्विनी लोग सौ अरित्रों वाली नौका के बनाने वाले कहे गये हैं। ऋग्वेद १।११६।९ मन्त्र इन्हें मरुभूमि में भी जल निकालने वाला कहता है। १।११६।१० में क्षीण होते व्यक्ति की जारावस्था को हटाकर युवा बनाना और आयु प्रदान करके सुन्दर स्त्रियों में किसी एक के पति बनने योग्य कर देना अश्विनी के कर्म बताये गये हैं। ऋग्वेद १।११६।१२ में ये अश्विनी लोग शिर को जोड़ने वाले बतलाये गये हैं। पुनः ऋग्वेद १।११६।१३ में इन्हे स्वर्ण का-हाथ बनाकर लगाने वाला दिखलाया गया है। ऋग्वेद १।११६।१५ में लोहे की जांघ जोड़ देने वाले विशेषज्ञ के रूप में ये पाये जाते हैं। ऋग्वेद १।११६।१६ वाँ मन्त्र यह बतलाता है कि वैद्य अश्विनी अन्धे को आँख प्रदान करते हैं। इसके आगे सत्तरहवाँ मन्त्र बतलाता है कि ये वृषभों और मकरों से चलने वाले रथ के भी निर्माता हैं। ऋग्वेद १।११७।७ में अश्विनी लोग स्त्री रोग के विशेषज्ञ के रूप में मिलते हैं। १।११७।१३ इन्हें मन्त्रवेत्ता विद्वान् को अपनी बुद्धि से युवा बनाने वाला कहा गया है और साथ ही यह तथ्य भी बतलाया गया है कि सूर्या (उषा) इनके रथ पर सवार रहती है। ऋग्वेद १।११६।१७ मंत्र कहता है कि सूर्या आश्विनियों के वेगवान् रथ पर

१—नासत्यौ चाश्विनौ। सत्यावेव नासत्यौ, इत्यौर्णवाभः।
सत्यस्य प्रणेतारौ इत्याग्रायणः। नासिकाप्रभवौ बभूवतुः॥
नि० ६।१३

२—और्णवाभो द्वृचे त्वस्मिन् अश्विनौ मन्यते स्तुतौ। १२५
सूर्याचन्द्रमसौ तौ हि प्राणापानौ च तौ स्मृतौ॥
अहोरात्रौ च तावेव स्यातां तावेव रोदसी। १२६
अश्नुवाते हि तौ लोकान् ज्योतिषा च रसेन च।
पृथक् पृथक् च चरतो दक्षिणेनोत्तरेण च॥ १२७
बृहद्देवता ७ वाँ अध्याय

अभन्तावश्विना—ऋग्वेद ८।५।३१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आरूढ़ हुई और सभी देवों ने इसका अनुमोदन किया। पुनः ऋग्वेद १।११७।२२ में इन्हें वायु के लिये प्रकाशयुक्त किरणमय शिर बनाने वाला कहा गया है। तथा यह भी लिखा गया है कि इन्होंने इन्द्र को मधुविद्या का उपदेश दिया। आगे चलकर २५ वाँ मंत्र स्पष्ट शब्दों में कह देता है कि मनुष्य लोग अश्विनियों के विविध कर्मों का वर्णन करते हैं। ऋग्वेद १०।४१।१४ मंत्र में अश्विनी को प्रश्न से दर्शनीय, शुभस्पति = उदक का स्वामी, यजमान के गृह पर जाने वाला और मेधावी का विषय कहा गया गया है। वस्तुतः यहाँ पर तीनों प्रक्रियावों का दिग्दर्शन करा दिया गया है। ऋग्वेद १०।३९।१२ वाँ मंत्र यह सूचना देता है कि अश्विनी लोगों का रथ (किरणजाल) ऐसा है कि मन से भी वेगवाला है और ऋभु अर्थात् सूर्य किरणें उसे बनाती हैं। उसी से द्युलोक की पुत्री उषा पैदा होती है और उसी से सूर्य से होने वाले दिन रात्रि शुभ प्रकार वाले होते हैं। यास्क ने जिस मंत्र की व्याख्या प्रसंगतः निरुक्त में की है और च्यवन को ऋषि कहा है उससे पूर्ववर्त्ती (ऋग्वेद १०।३९।३) मंत्र में यह वर्णित है कि अनशन करने वाले की रक्षा अश्विनी करते हैं। अन्धे की भी रक्षा वही करते हैं। दुर्बल की रक्षा भी करते हैं तथा ये ही यज्ञ के भी वैद्य हैं।

उपर्युक्त इतने वर्णनों से पता चल गया कि अश्विनी विविधकर्मा और विविध अर्थों में ग्रहण किये जाने वाले पदार्थ हैं। इन के प्रक्रियानुरोध से व्यापक अर्थ हैं—यह मूलमंत्रों से ही भासित हो जाता है।

अश्विनी का इस प्रकार परिज्ञान होने पर अब च्यवन का विचार करना चाहिए। साथ ही यास्क के ऋषि पद का भी समन्वय होना चाहिए। अश्विनी के विचार कर लेने पर इतना तो मालूम ही हो जाता है कि च्यवन भी कोई व्यक्तिविशेष नहीं—अपितु सामान्य पदार्थ है। ऋग्वेद २।२१।३ में इन्द्र को च्यवन कहा गया है। सायण ने इसका अर्थ "शत्रूणां च्यावयिता इन्द्रः" किया है। ऋग्वेद ६।१८।२ में च्यवन का अर्थ सायण ने "अभिगन्ता इन्द्रः" अर्थात् चढ़ाई करने वाला इन्द्र किया है। ऋ० ८।३३।६ स्थल पर सायण ने च्यवन का अर्थ—"स्तोमानां च्यवयिता इन्द्रः" माना है। पुनः ऋग्वेद ८।९६।४ में "च्यवनमच्युतानाम्" वाक्य का अर्थ सायण ने "च्युतिरहितानां च्यवनं च्यावयितारं वज्रेणापि" अर्थात् च्युतिरहित पर्वतों का वज्र से च्यावयिता—किया है। अथर्व ७।१२१।१ मंत्र में च्यवन रूर ज्वर का विशेषण है। इसीलिए सायण ने इसका अर्थ च्यावयिता रूर = उष्णज्वर किया है (च्यवनाय च्यावयित्रे रूराय उष्णज्वराय)। ऋग्वेद १०।६९।६ में अग्नि को जनों का च्यावयिता कहा गया है। सायण लिखता है—जनानां च्यवनः अग्ने त्वम्—अर्थात् हे जनों के च्यावयिता अग्ने!

च्यवन को ऋषि क्यों कहा? अब इसका समाधान करना आवश्यक है। आश्विन सूक्तों के देखने से उनमें नित्येतिहास दिखलायी पड़ता है। अश्विनी सम्बन्धी कोई भी ऐसा सूक्त नहीं जिसमें नित्य इतिहास की झलक न हो। यह इतिहास भौतिक पदार्थों का है। ऋग्वेद प्रथम मण्डल के ११६ वें से ११९ सूक्त तक अश्विनी देवता वाले मन्त्र हैं। इनमें कठिनता से कोई मन्त्र होगा जिसके गर्भ में नित्येतिहास न हो। अत्यधिक मन्त्र इतिहास की कल्पना को अपने अन्दर लिए हुये हैं। इस ११६ वें सूक्त में प्रथम मन्त्र से लेकर २५ वें मन्त्र तक विमद, यम, भुज्यु,

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पैद्व, कक्षीवान्, अत्रि, गोतम, च्यवान, वन्दन, दध्यङ् अथर्वा, वध्रिमती, वर्त्तिका, विश्पला, ऋज्राश्व, दिवोदास, जह्नावी, वश, शयु विश्वक, तथा रेभ, आदि पद आये हैं जिन पर इतिहास प्रीतित्रश गढा जा सकता है और गढा भी गया है। ११७ वें सूक्त में अत्रि, रेभ, वन्दन, पज्रिय कक्षीवान्, घोषा, विश्वक, नार्षद, कण्व, श्याव, पेदु, अगस्त्य, विश्पला, च्यवान, तुग्र, भुज्यु, वर्तिका, ऋज्राश्व, शयु, विमद, पुरुमित्र, आथर्वण दधीच, वध्रिमती, श्याव आदि पद आये हैं जो पूर्व सूक्त के शब्दों से मिलते जुलते हैं। सूक्त ११८ और ११९ में सूर्यदुहिता, वन्दन, रेभ, तौग्र्य, च्यवान, अत्रि, कण्व, वर्तिका, विश्पला, शयु, पेदु, भुज्यु, दिवोदास, रेभ, अत्रि, वन्दन, औशिज, तथा दधीच पद आये हैं। ये सारे पद यहाँ सभी सूक्तों में लगभग एक से मिल रहे हैं। ये जहाँ भौतिक पदार्थ हैं और अश्विनी से इनका सम्बन्ध है वहाँ ये नित्येतिहास के भी सूचक हैं। इतना ही नहीं, ऋग्वेद दशम मण्डल के ३९ वें और ४० वें सूक्त भी अश्विनी देवता वाले हैं। यहाँ भी ३९ वें सूक्त में च्यवान, तौग्र्य, विमद, पुरुमित्र, वध्रिमती, कलि, विश्पला, अत्रि, सप्तवध्रि, पेदु, वर्तिका, भृगु गण—पद आये हैं। ४० वें सूक्त में घोषा, भुज्यु, वश और शयु पद आये हैं। ये भी पूर्ववत् परस्पर मिलते हैं। इस समता और सम्मिलन से यह मालूम पड़ता है कि अश्विनी के साथ इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये तीनों प्रक्रियावों में भिन्न भिन्न अर्थ देते हैं। परन्तु जब ऐतिहासिक प्रक्रिया में इन्हें लगाया जाता है तब ये काल्पनिक वस्तु या प्राणी के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। इतिहास की कल्पना करने वालों ने अर्थ समझाने के लिए इन्हें ऋषि कल्पित किया है।

विशेषता की बात यह है कि इन शब्दों को जहाँ भी कल्पित इतिहास में लगाया गया है वहाँ पर इन्हें ऋषि कल्पित किया है। जैसा मैं पूर्व कह चुका हूँ—इन सब प्रकरणों के गम्भीर अध्ययन के बाद परिणाम यही निकलता है कि आश्विन सूक्त बहुधा नित्येतिहासों से गर्भित हैं। स्कन्दस्वामी ने भी यही परिणाम निकाला है। वह नि० ४।१९ पर "तौग्र्य[1]" पद की व्याख्या करते हुये ऋग्वेद ७।६७।७ मन्त्र का हवाला देकर कहता है कि यह इतिहास "उतत्यं भुज्युमश्विना सखायौ" आदि आश्विन मन्त्रों में बहुधा देखा जाता है। यास्क ने जो यहाँ पर च्यवन के इतिहास की कल्पना की वह इसी आधार पर हो सकती है और वह सर्वथा नित्येतिहास है। बाद में लोगों ने उसे बिगाड़ दिया। यास्क का यह वाक्य कि "च्यवन ऋषिर्भवति" आधारसहित है। ऋग्वेद १।११७।३ मन्त्र में अत्रि के वर्णन के साथ ऋषि पद भी आया है। इतिहासप्रक्रिया में उसी को आधार मानकर सब के साथ "ऋषि" पद लगता गया और वही व्यवस्था यास्क ने च्यवन के साथ भी लागू की है। ऋग्वेद[2] १।११७।१३ में तो स्पष्ट ही कह दिया है कि हे अश्विनी लोग आप अपनी बुद्धि और कर्म से

१—भयमितिहास ऋग्वेदे (७।६८।७) उतत्यं भुज्युमश्विना सखायो मध्ये जहुर्दुरेवास समुद्रे। तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे—इत्यादिषु भूय आश्विनेषु दृश्यते ॥

—स्कन्दस्वामी

२—युवं च्यवानमश्विना जरन्तं पुनर्युवानं चक्रथुः शचीभिः ॥

ऋ० १।११७।१३

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

बूढ़े होते हुये च्यवन को युवा कर देते हो। यास्क ने यही संगति अपनी कल्पना में भी लगा दी। च्यवान प्रयोग बाहुल्य से पाया जाता है अतः च्यवन से च्यवान का ग्रहण करना भी ठीक ही है। यास्क जिस मंत्र पर यह कथा कल्पित कर रहा है उसमें अश्विनी का अर्थ प्राण और अपान लेना चाहिए जैसा कि बृहद्देवता के प्रमाण से पूर्व दिखलाया जा चुका है। प्राण और अपान नासापुट से उत्पन्न होते हैं अतः ये नासत्य अर्थात् नासिकोत्पन्न कहे जाते हैं और इसीलिये ये नासिकाप्रभव हैं। शरीर में रहने वाले समस्त इन्द्रिय आदि देवों की ये ही चिकित्सा करते हैं। जब तक ये ठीक हैं शरीर में स्वास्थ्य है। इसीलिए ये वैद्य हैं। बाह्य जगत् में भी इन प्राणों का स्थान ऐसा ही है। इस यास्क के द्वारा संकेतित मंत्र के पूर्व ऋग्वेद १०।३९।३ मंत्र है जिसमें अश्विनी को जीर्णता को हटाकर शोभा देने वाला, अनशन करने वाले की रक्षा करने वाला, अन्धे को दृष्टि देने वाला और दुर्बल एवं कृश को बल देने वाला कहा गया है। यह लक्षण वैद्य का है और अश्विनीकुमारों में यह घटता है जो प्राणापान में भली प्रकार संगत हो सकता है। इस अर्थ को समझाने के लिये च्यवन का इतिहास गढ़ा गया है।

कई लोग यहाँ पर यह शंका उपस्थित कर सकते हैं कि ऋग्वेद १।११६।१० में "कनीनाम्" बहुवचन का प्रयोग हुआ है। फिर तो यह मानना पड़ जावेगा कि च्यवन को ऐसा बना दिया कि वह बहुत सी कन्यावों का पति बन सके। इससे फिर बहुपत्नी-प्रथा भी वेदविहित हो जावेगी। इसका उत्तर यह है कि बहुवचन का प्रयोग बहुपत्नी की प्रथा को नहीं सिद्ध करता है। वह अश्विनी की वैद्यक विद्या की कुशलता और च्यवन की यौवनावस्था पर विशेष बल दे रहा है। लोक में भी लोग कहते हैं कि मेरा पुत्र इतना सुन्दर है कि उसे अनेकों कन्यायें अपने योग्य समझती हैं। क्या इसका अर्थ यह लिया जावे कि वह सभी कन्यावों का युगपत् पति बनने वाला है। यदि नहीं तो यहाँ भी वैसा ही है। भाव यह है कि अश्विनी लोग वृद्ध को भी इतना युवा बना देते हैं कि अनेकों कन्यायें पति के रूप में उसकी इच्छा करने लगें। इसका यह अर्थ नहीं कि वह अनेकों कन्यावों का पति बने। वह अनेकों कन्यावों में किसी का भी पति बन सके—इस योग्य बना देते हैं। शतपथ ४।१।५।१५ में जो कथा इस विषय को लेकर लिखी गयी है वह वेद के भाव को बतलाने के लिए है परन्तु उसमें लालित्य लाने के लिए अनेक शृंगारिक कल्पनायें भी की गयी हैं जो केवल मनोहरता लाने के लिये हैं। अन्य अनेक कथायें जो इस सम्बन्ध में पुराणों आदि में मिलती हैं वे विकृत हैं और उनका इस तथ्यभूत विषय से कोई सम्बन्ध नहीं। यास्क ने निरुक्त ६।१० पर ऋग्वेदीय (१।१८।१) मंत्र की व्याख्या करते हुये कक्षीवान् और औशिज की निरुक्ति की है। उसने लिखा है कि "[1]कक्षीवान् कक्ष्यावान् है और औशिज उशिग् का पुत्र है"। यास्क के इस कथन से प्रीतिवादी इतिहास की कल्पना हो सकती है परन्तु ये व्यक्तिविशेष के नाम नहीं और न इनमें व्यक्ति-विशेष के इतिहास की कोई गन्ध ही है। यास्क उशिग् पद की निरुक्ति कर वस् कान्त्यर्थक धातु से उसे सिद्ध करता है और कक्ष्यावान् के विषय में कहता है कि यहाँ पर मनुष्यकक्ष्या का भी ग्रहण किया जा सकता है। कक्ष्या कोख को कहा जाता है। कक्ष्या का अर्थ पार्श्व भी होता है। प्रत्येक

१—कक्षीवान् कक्ष्यावान् औशिजः उशिजः पुत्रः। उशिग्वष्टेः कान्तिकर्मणः। अपित्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात्। नि० ६।१०

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मनुष्य कोख से पैदा होने और कक्ष वाला होने से कक्षीवान् कहा जा सकता है। दुर्ग यहाँ पर लिखता है कि [1] "मनुष्यकक्ष ही यहाँ पर अभिप्रेत है क्योंकि वह कक्ष से उत्पन्न होता है और इसके कारण वह कक्षीवान् है। स्कन्द स्वामी ने कक्ष का अर्थ [2] हस्ती और अश्व किया है। इनसे युक्त को कक्षीवान् कहा जाता है। ऋग्वेद में [3] ४।२६।१ में इन्द्र को कक्षीवान् कहा गया है। इन्द्र कहता है कि मैं ही मनु हूँ, मैं ही सूर्य हूँ, मैं ही कक्षीवान् ऋषि और मेधावी हूँ। मैं ही आर्जुनेय कुत्स हूँ और मैं ही कवि उशना हूँ। इस मंत्र ने सारे ही रहस्य को खोल दिया। इन्द्र का अर्थ यदि आत्मा है तो वह कक्षीवान् है ही क्योंकि कक्ष अर्थात् माता की कुक्षि से उत्पन्न होता है। यदि इन्द्र का अर्थ सूर्य, वायु अथवा विद्युत् है तब भी ठीक ही है क्योंकि ये भी आकाश की कक्षा, अन्तरिक्ष की कक्षा और मेघ की कक्षा में ही रहते हैं। यदि इन्द्र का अर्थ परमेश्वर है तो भी उचित ही है क्योंकि कारण प्रकृति और कार्य जगत् उसके कक्ष हैं और उनके सम्बन्ध से वह कक्षीवान् है। उशिग् निघण्टु ३।१५ में मेधावी अर्थ में पढ़ा गया है। इस प्रकार औशिज का अर्थ उशिक् का पुत्र अर्थात् अत्यन्त मेधावी होगा।

ऋग्वेद ३।३४।४ में इन्द्र = सूर्य का उशिग् = प्रकाश किरणों से अन्धकार का संग्राम जीतना वर्णित है। ऋ० १०।४५।७ में अग्नि को उशिक् विशेषण दिया गया है। इस प्रकार यास्क प्रदर्शित रीति से मंत्र का अर्थ निम्न प्रकार होगा—हे वेदवाणी के स्वामिन् मेधावी के पुत्र अत्यन्त बुद्धिशाली मनुष्य के समान हमें प्रकाशमान एवं विविध विज्ञानों का संपादन करने वाला बना।

निरुक्त ९।६ [4] पर यास्क ने मण्डूक का वर्णन किया है। ऋग्वेद ७।१०३।१ में मण्डूक का वर्णन भी आया है। यह सारा सूक्त वर्षा काल का वर्णन करता है। यास्क ने मण्डूक की विविध प्रकार की निरुक्तियाँ दिखलायी हैं। वह कहता है कि जल में मज्जन करने से मज्जूक होते हुये ये मण्डूक हैं अथवा मण्डूक पद मद् धातु से निष्पन्न है। मण्डूक हर्ष में रहने वाला होने से मण्डूक कहलाता है अथवा तृप्ति अर्थ के देने वाली मद् धातु से इस शब्द की सिद्धि करनी चाहिए। वैयाकरण लोग भूषार्थक मडि धातु से मण्डूक शब्द बनाते हैं। अथवा मण्ड

१—स हि कक्षे उत्पन्नः, तदुत्पत्तिसंयोगात्तु कक्षीवान्। दुर्गः।

२—अथवा हस्त्यश्वश्च कक्ष्यादिस्तद्वान् ईश्वर इत्यर्थः। —स्कन्दस्वामी

३—अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥

ऋ० ४।२६।१

४—वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव। तं मण्डूका अन्वमोदन्त। स माण्डूकाननुमोदमानान् दृष्ट्वा तुष्टाव। तदभिवादिन्येषर्भवति मण्डूकाः मज्जूकाः। मज्जान्मदतेर्वा मोदतिकर्मणो मन्दतेर्वा तृप्तकर्मणः। मण्डतेरिति वैयाकरणः। मण्ड एषामोक इतिवा।
नि० ९।७

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

का अर्थ जल है और ओकः का अर्थ गृह है। जल जिसका गृह हो उसका नाम मण्डूक है। यहाँ पर यास्क वर्षकामेष्टि में मंत्र के अर्थ को संगत करने के लिए नित्येतिहास कल्पित कर मंत्र के भाव को स्पष्ट करना चाहते हैं। वह लिखते हैं कि वर्षा की कामना करते हुये वसिष्ट ने मेघ की स्तुति की। उसका मेढकों ने अपनी बोली में अनुमोदन किया। माण्डूकों के द्वारा अनुमोदन किया जाता देख वसिष्ट ने स्तुति की। उसी को यह ऋचा बतलाती। यहाँ वसिष्ट कोई व्यक्ति-विशेष नहीं अपितु प्रीति से कल्पित वस्तु है। चूंकि इस सूक्त का ऋषि वसिष्ठ है अतः यह भ्रम हो जाता है। पहले दिखलाया जा चुका हैं कि वसिष्ठ का अर्थ जल है। यहाँ पर वसिष्ठ की कल्पना यदि की गयी तो उपयुक्त ही है। वह भी मंत्रार्थ को संगत करने की अवतरणिका जोड़ने के लिए। जिस सूक्त का का मंत्र, यास्क ने दिया है उस सूक्त में वर्षा काल का सुन्दर स्वाभाविक वर्णन है। वर्षा में मेघ गरजते हैं, मेढक बोलते हैं और उनकी टर्र टर्र की आवाज़ होती है। सूक्त के ६ मंत्र [१] में गमोयु, अजमायु, पृश्नि और हरित आदि नाना रूप मण्डूकों का वर्णन है। पुनः १० वें मंत्र में ये धन के देने वाले कहे गये हैं। मण्डूक पद जहाँ मेढक के लिए है वहाँ मेघ और मानसून के लिये भी घट सकता है। यह अर्थ श्लेष से निकलेगा। अथवा यौगिक प्रक्रिया से भी निकल सकेगा। मेढक भी वर्षा में बोलते है और उन की आवाज़ के साथ मेघ मानसून की भी गर्जना होती है। यह एक प्रकार के अनुमोदन प्रति अनुमोदन के समान होजाता है। परन्तु इस सूक्त में वेदपाठी और व्रतधारी ब्राह्मणों द्वारा वेदपाठ किये जाने पर होने वाली ध्वनि की उपमा मेढक की वाणी से दी गयी है। इस सूक्त के पांचवें मंत्र में बतलाया गया है कि जिस प्रकार एक मेढक की वाणी को दूसरा मेढक दोहराता है वैसे ही गुरु की वाणी को शिष्य दोहराता है। इस प्रकार वर्षा में चतुर्मास्य चालू रहने ने वेदज्ञों के वेद पाठ चालू रहते हैं। इस वेदपाठ का उपमान मेढक की आवाज़ है। यास्क के द्वारा उद्धृत ऋग्वेदीय [३] (७।१०।३।१) मंत्र में उपमा से भी अर्थ संगति लग सकती है और विना उपमा के भी अर्थ संगति लग सकती है। यास्क का संकेत भी ऐसा ही मालूम पड़ता है। उसने लिखा भी है—द्यपि वोपमार्थे स्यात्—अर्थात् उपमार्थक भी हो सकता है। उपमा लगाने पर लुप्तोमा होने से दोनों पक्षों में अर्थ बन सकता है। "ब्राह्मणाः" पद को "मण्डूकाः" का उपमान बनाया जा सकता है और "मण्डूकाः" को ब्राह्मणाः का उपमान भी बनाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में एक अर्थ तो यह होगा कि साल भर सोये हुये व्रतधारी ब्राह्मणों के समान मेढकों ने वर्षा की प्रेरक वाणी बोलना प्रारंभ कर दिया। दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि वर्ष भर चुप रहने वाले मण्डूकों के समान ब्राह्मणों ने वृष्टिप्रेरक वेदवाणी का पाठ करना प्रारंभ कर दिया। यास्क का यह कहना कि

१—गोमायुरेको अजमायुरेकः पृश्निरेको हरित एक एषाम्—ऋ० ७।१०३।६

२—यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः। ऋ० ७।१०३।५

३—संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः॥
ऋ० ७।१०३।१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वसिष्ठ ने वर्षकामना से मेघ की स्तुति की, उसका अनुमोदन मेंढकों ने किया और उनको अनुमोदन करते देखकर वसिष्ठ ने स्तुति की—इस भावना का द्योतक है। यहाँ पर यह कल्पना इस उपमागर्भित व्यर्थता के ऊपर आधारित है।

तीसरा अर्थ जो उपमा के विना घटित होगा वह निम्न प्रकार होगा:—

संवत्सर पर्यन्त चुप रहने वाले व्रतचारी ब्राह्मणों ने मेघ की प्रेरक वाणी को पढ़ना प्रारम्भ कर दिया और सवत्सर पर्यन्त चुप रहने वाले व्रतचारी मेंढकों ने मेघ की प्रेरक वाणी बोलनी प्रारम्भ कर दी।

इस प्रकार का यास्क का यह इतिहास यहाँ पर अर्थ-सङ्गति लगाने के लिए है। वह किसी व्यक्ति का इतिहास नहीं।

ऋग्वेद [1] ८।४१।२ मन्त्र में नाभाक पद आया है। इस मन्त्र की व्याख्या करते हुये निरुक्त १०।५ पर यास्क लिखते हैं कि नाभाक ऋषि है। यास्क ने "बभूव" क्रिया का व्यवहार किया है। यह इस बात का द्योतक है कि वह यहाँ पर प्रीतियुक्त इतिहास दिखलाना चाहता है। मन्त्र का देवता वरुण है और उसमें "नाभाकस्य प्रशस्तिभिः" पद भी पड़े हैं। यह नाभाक पद रूढ़ि नाम नहीं है। यह यौगिक और सामान्य विद्वान् अर्थ को देने वाला है। जिस सूक्त में यह मन्त्र आया है वह ऋग्वेद के अष्टम मण्डल का ४१ वाँ सूक्त है। इसके पूर्व ४० वें सूक्त के ४ थे और पाँचवें मन्त्र में "नभाक" पद आया है। इसका अर्थ विद्वान् है। नभाक का पुत्र नाभाक होगा। अतः नाभाक का अर्थ हुआ मेधावी का पुत्र अत्यन्त मेधावी। इसी दृष्टि से यास्क ने नाभाक को ऋषि कहकर इतिहास के द्वारा याज्ञिक अर्थ को समझाया है। इस मन्त्र में एक विशेषता यह है कि यहाँ पर 'वरुण' को "मध्यम" कहा गया है। निरुक्त में मध्यम और मध्यमस्थान आदि जो देवों के विषय में मिलते हैं वे इसी आधार पर हैं।

यास्क ने निरुक्त ९।४ पर "शकुनि" पद की निरुक्ति करते हुये ऋग्वेद २।४२।१[2] का उद्धरण दिया है। इस मन्त्र में कहा गया है कि हे शकुने! तू सुमङ्गल हो।

शकुनि की निरुक्ति करते हुये यास्क यह बतलाता है कि [3]उसे शकुनि इसलिए कहा जाता है कि वह अपने को ऊपर उड़ाती है। अथवा बोलने में समर्थ है इसलिए वह शकुनि है। अथवा वह बोलता है—इसलिये शकुनि है। अथवा यह सर्वतः अपना शंकर=कल्याण कर हो इसीलिए इसे शकुनि कहा जाता है। अथवाशंका करने योग्य होने से इसका नाम शकुनि है। इस शकुनि के उदाहरण में

१—तमूषु समना गिरा गीत्या स्तुत्या पितॄणां च मन्मभिः। नाभाकस्य प्रशस्तिभिर्यः सिन्धूनामुपोदये सप्तस्वसा स मध्यमो नभन्तामन्यके समे॥ ऋ० ८।४१।२

२—कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाणा इयर्त्ति वाचमरितेव नावम्।
सुमङ्गलश्च शकुने भवासि मा त्वा काचिदभिभाविश्व्या विदत्॥
ऋ० २।४१।१

३—शकुनिः शक्नोत्युन्नेतुमात्मानं, शक्नोति नदितुमिति वा। शक्नोति तकितुमिति वा सर्वतः शङ्करोऽस्त्विति वा शक्नोतेर्वा॥ नि० ९।४

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यास्क ने पूर्वोक्त मन्त्र दिया है। मन्त्र में आये "सुमङ्गल" पद की व्याख्या करते हुये वह आगे लिखता है कि—[1]मङ्गल इसलिए कहा जाता है कि यह स्तुत्य है और गृ धातु से बना है। अथवा अनर्थों को खा जाता है इसलिए इसे मङ्गल कहा जाता है। अथवा अंगवत् से ही मङ्गल बन गया है। पाप को नष्ट कराता है, इसलिए इसको मङ्गल कहा जाता है—ऐसा नैरुक्तों का मत है। अथवा "मुझे प्राप्त हो" ऐसा होने से इसका नाम मङ्गल है।

इतने विवरण के बाद यास्क [2]"भद्रं वद" आदि खिल मन्त्र की व्याख्या की उपक्रमणिका रचते हुये कहता है कि "उठते [3] हुये" गृत्समद को कपिञ्जल बोला। यहाँ यास्क मन्त्रद्रष्टा गृत्समद ऋषि को कल्पित ऐतिहासिक व्यक्ति बनाकर मन्त्र की सङ्गति लगता है। यह सङ्गति याज्ञिक प्रक्रिया के व्यावहारिक अर्थ से सम्बन्ध रखती है। यहाँ गृत्समद से यास्क को गृत्समद नामी व्यक्तिविशेष अभिप्रेत हो यह बात नहीं। वह तो अपनी प्रक्रिया के लिए एक पात्र कल्पित कर रहा है। गृत्समद व्यक्तिविशेष हो—ऐसी बात नहीं है। क्योंकि स्वयं यास्क ही इसी स्थल पर इसकी निरुक्ति भी कर देता है। वह कहता है कि [4]चूँकि वह गृत्स = मेधावी और मदन = हर्षालु है इसलिए उसे गृत्समद कहा जाता है। गृत्स मेधावी नाम में है और स्तुति अर्थ वाली गृ धातु से बना है।" ऐतरेय आरण्यक [5]२।२।१ में गृत्स प्राण को, और अपान को मद कहा गया है। इस प्राकर यह सामान्य नाम है। रूढि शब्द नहीं।

परन्तु यास्क को कल्पित इतिहास द्वारा मन्त्रार्थ की सङ्गति लगानी है अतः उसने यह प्रपञ्च उस उद्देश्य से रचा। पक्षी चारों तरफ से मङ्गल वचन बोलें वेद में इस भाव का प्रतिपादन किया गया है। तात्पर्य यह है कि सर्वतःभद्र ही भद्र सुनायी पड़े। कुछ पक्षी ऐसे हैं जिन्हें आसन्न मृत्यु का भी ज्ञान होता है। उनकी वाणी मृत्यु की सूचना देती है। ऋग्वेदीय [6]१०।१६५।४ मन्त्र इस बात की पुष्टि करता है। मन्त्र में लिखा है—उल्लू जो अशुभ सूचक वचन बोलता है वह व्यर्थता को प्राप्त होवे, कपोत अपने पैर को अग्नि में डालता है—यह भी निष्फल हो। जिसका

१—मङ्गलं गिरतेर्गृणात्यर्थे, गिरत्यनर्थानिति वा। अङ्गलमङ्गवत्। मज्जयति पापकम्। इति नैरुक्ताः। मां गच्छत्विति वा। नि० ९।४

२—भद्रं वद दक्षिणतो भद्रमुत्तरतो वद। भद्रं पुरस्तान्नो वद भद्रं पश्चात्कपिंजल॥ नि० ९।५

३—गृत्समदमभ्युत्थितं कपिञ्जलोऽभि ववाशे। नि० ९।५

४—गृत्समदो गृत्समदनः। गृत्स इति मेधाविनाम गृणातेः स्तुतिकर्मणः। नि० ९।५

५—प्राणो वै गृत्सोऽपानो मदः, स यत्प्राणो गृत्सोऽपानो मदस्तस्माद्गृत्समदस्तस्माद्गृत्समद इत्याक्षते एतमेव सन्तम्॥ ऐ० आ० २।२।१

६—यदुलूको वदति मोघमेतद् यत्कपोतः पद अग्नौ कृणोति।
यस्य दूतः प्रहित एष एतद् तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥
ऋ० १०।१६५।४

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यह भेजा हुआ दूत है उस मृत्यु यम को नमस्कार हो"। यहाँ पर इन पक्षियों को मृत्यु की सूचना देने वाला कहा गया है। अतः पूर्वोक्त यास्क द्वारा व्याख्यात वेद मन्त्र में पक्षी शुभ सूचना देवें—ऐसी आशा अभिव्यक्त की गई है। इतिहास भी इसी अर्थ को ज्ञापन करता है।

यास्काचार्य निरुक्त[1] १०।३२ पर ऋग्वेद १०।१४९।५ मन्त्र की व्याख्या में लिखते हैं कि अर्चन् हिरण्यस्तूप ऋषि ने इस सूक्त का प्रवचन किया।" अर्चन् हिरण्यस्तूप कोई व्यक्तिविशेष नहीं हैं। फिर यास्क यहाँ पर अर्चन् हिरण्यस्तूप का इतिहास दिखलाते हैं। चूँकि मन्त्र में अर्चन् और हिरण्यस्तूप शब्द आये हैं अतः उसकी अनुक्रमणिका जमाने के लिए यहाँ पर यास्क इतिहास की कल्पना कर रहे हैं। साथ ही हिरण्यस्तूप कोई व्यक्ति नहीं है—ऐसा दिखलाने के लिए हिरण्यस्तूप की निरुक्ति भी कर देते हैं। वह लिखते हैं—हिरण्यस्तू[2] का अर्थ है हिरण्मयस्तूप वाला। स्तूप शब्द का अर्थ है संघात।" इस प्रकार "हिरण्यस्तूप" का अर्थ रश्मि अथवा ज्वालाओं का संघात होगा। यास्क ने यहाँ पर इतिहास केवल प्रक्रिया को समझाने के लिए है। किसी व्यक्ति का इतिहास नहीं। उसकी कल्पना का आधार भी मन्त्र में उपस्थित गढ़ा है। यहाँ पर यह समझ लेने की आवश्यकता है कि सर्वानुक्रमणी, बृहद्देवता और सायण के अनुसार अर्चन हैरण्यस्तूप इस सूक्त का ऋषि है।

मंत्र से हिरण्यस्तूप और "अर्चन्" दोनों ही पद पढ़े हुये हैं। इसलिए सर्वानुक्रमणी बृहद्देवता और सायण के अनुसार अर्थ यह बनेगा कि जिस प्रकार मेरे पितर आंगिरस हरिण्यस्तूप हे सवितः आप को अन्नादि की सिद्धि में आहूत करते हैं वैसे में अर्चन भी रक्षा के लिये वन्दना करता हूँ, सोम के अंशु के समान आप के प्रति जागरूक हूँ। यहां पर अर्थ करते हुये यास्क का "प्रतिजागर्मि अहम्" पद भी इसी अर्थ का समर्थन करता है। इस प्रकार संगति ऐसी लगती मालूम पड़ती है कि अंगिरा का पुत्र हिरण्यस्तूप है। हिरण्यस्तूप का पुत्र अर्चन् है। अंगिरा नाम अग्नि का है—यह पूर्व मंत्रप्रमाण से बतलाया जा चुका है। अग्नि का पुत्र हिरण्यस्तूप ज्वालासंघात अथवा किरणसंघात है। उसका भी पुत्र धूम है। इस प्रकार ये प्राकृतिक पदार्थों के नाम हुये व्यक्तिविशेषों के नहीं। परन्तु नित्येतिहास का आधार अपने आप यहां खड़ा हो जाता है। उसका कारण यह है कि अंगिरा यागिक दृष्टि से ऋषि कल्पित किया जाता है। उस हालत में यह अग्नि विद्यावित् एवं याज्ञिक तपस्वी के अर्थ में आता है। ऐतिहासिक ढंग पर उसे ऋषि मानकर उससे अर्थ सङ्गति को समझाने के लिये नित्येतिहास गढ़ा जाता है। पहले ऐसा दिखलाया भी जा चुका है। जब नित्येतिहास प्रक्रिया में अंगिरा एक कल्पित पात्र ऋषि है तो इसका पुत्र और पुत्र का पुत्र भी ऋषि कल्पित किया जा सकता है। इसीलिए यास्क ने यहाँ पर ऋषि पद का प्रयोग इनके साथ किया है। इस सूक्त का द्रष्टा भी हिरण्यस्तूप हैं। परन्तु इस हिरण्यस्तूप का मंत्रस्थ हिरण्यस्तूप और कल्पित इतिहास के हिरण्यस्तूप से कोई सम्बन्ध नहीं। मंत्र में आये पद से मंत्रद्रष्टा ने भले ही अपना नाम रख लिया हो अथवा अपनी उपाधि रखली हो। यदि हिरण्यस्तूप मंत्रस्थ हिरण्यस्तूप ही होता तो फिर इस सूक्त का ऋषि हिरण्यस्तूप नहीं हो सकता था क्योंकि ऋषि तो अर्चन् है। अतः इस दृष्टि

१—अर्चन् हिरण्यस्तूप ऋषिरिदं सूक्तं प्रोवाच। नि० १०।३२

२—हिरण्यस्तूपो हिरण्मयः स्तूपोऽस्येति वा। स्तूपः स्त्यायतेः संघातः। नि० १०।३२

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हैरण्यतूप अर्चन् का विशेषण बनता है परन्तु सूक्त को हिरण्यस्यतूप ऋषि के नाम से हैरण्यस्तूप नहीं कहा जा सकता है। दुर्ग ने जो इस स्थल पर "हैरण्यस्तूपमिदम् सूक्तम्" कहा है वह यास्क के भाव को न समझ कर लिखा है। हिरण्यस्तूप ऋषि इस सूक्त काद्रष्टा है—इस भाव से यास्क ने हैरण्यस्तूप शब्द का व्यवहार नहीं किया है। क्योंकि जहाँ कोई विशेष ज्ञापनीय न हो अथवा देवता में विकल्प की शंका न उठती हो सूक्त सामान्यतः देवता के नाम से ही होता है। यहाँ पर यह तो ज्ञात हो गया कि हिरण्यस्तूप और अर्चन् कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। वे भौतिक पदार्थ हैं। याज्ञिक प्रक्रिया के अर्थ को समझाने के लिये यास्क ने कल्पित इतिहास का संकेत किया है। साथ ही हैरण्यस्यतूप शब्द का व्यवहार हिरण्यस्तूप से दृष्ट, उक्त, रचित (सूक्त) के अर्थ में नहीं किया है। फिर प्रश्न रह जाता है कि यास्क ने किस अर्थ में "हैरण्यस्यतूपे स्तुतः" आदि वाक्यों का प्रयोग किया है। उत्तर इस प्रकार होगा कि सूक्त का नाम देवता के सम्बन्ध से पड़ता है और विशेष परिस्थिति में उस सूक्त में आये किसी प्रसिद्ध पद अथवा उससे होने वाले यज्ञ कर्म के सम्बन्ध से भी पड़ता है। उदाहरण के रूप में ऋग्वेद प्रथम मण्डल का १६४ वाँ सूक्त विभिन्न देवतावों वाला सूक्त है परन्तु ऋग्विधान १।१४४[1] में इसका नाम अस्यवामीय सूक्त लिखा है। यह इसलिए कि प्रथम मंत्र में "अस्य वामस्य" पद आये हैं। ऋग्वेद का "वृषा पावक दीदिहि—जमदग्निभिराहितः—आदि मंत्र आश्वलायन श्रौतसूत्र ८।६[2] के अनुसार छन्दोमयज्ञ में विनियुक्त है। इस यज्ञ के नाम से यास्क ने [2]७।२४ पर सूक्त का नाम ही छान्दोमिक रख दिया है। ऋग्वेद १०।८८ सूक्त का देवता सूर्य अथवा अग्नि आदि है परन्तु सूक्त के प्रथम मंत्र में हविष्पान्त शब्द आया है अतः उसको लेकर यास्क ने ७।२४ [3]पर इस सूक्त के लिए हविष्पान्तीय सूक्त प्रयोग किया है। जिस प्रकार यहाँ सूक्त के एक मंत्र के प्रसिद्ध पद लेकर सूक्त का नाम रख दिया है वैसे ही "हैरण्यस्तूप" का भी प्रयोग ठीक ही किया गया है। दुर्ग ने जो सूक्त पद जोड़ लिया है वह इसी आधार पर जोड़ लिया है परन्तु "हैरण्यूस्तूपे स्तुतः" का यदि "हैरण्यूस्तूपे सूक्ते स्तुतः" के स्थान में "हैरण्यस्तूपे मंत्रे स्तुतः", अर्थ किया जाता तो और भी स्पष्ट रहता।

अब विचारणीय प्रश्न यह रह जाता है कि यास्क ने ऐसा किया क्यों ? इसका समाधान यह है कि ब्राह्मणों के बहुभक्तिवादी होने से देवता के निर्णय में जटिलता पैदा हो जाती है। निरुक्त का एक प्रधान उद्देश्य दैवतनिर्णय का भी है। निरुक्त ७।२३ पर यह विवाद चलाया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में अग्नि, वायु, पृथ्वी, सूर्य सभी को वैश्वनर कहा गया है। परन्तु मन्त्र में वैश्वानर पद को देख लेने मात्र से इनमें से किसी एक का निर्णय कर लेना कठिन है। कई स्थानों पर वैश्वानर पद मन्त्रों में मिलेगा परन्तु वह आदित्य के लिए हो सकेगा। इस प्रकार देवतावाची नामों के दिखलायी पड़ने से भी कई स्थलों में देवतानिर्णय का काठिन्य आ जाता है। यास्क ने निरुक्त

१—सूक्तं जप्त्वास्यवामीयं क्षिप्रं मुच्यते किल्विषात्॥ ऋग्विधान १।१४४

२—यथो एतच्छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यं वैश्वानरं भवत्यस्यैव॥ नि० ७।२४

३—यथो एतद्धविष्यान्तीयं सूक्तं वैश्वानरं भवत्यस्यैव तद्भवति। नि० ७।२४

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

७।३१ पर "इममेवाग्निं सवितारमाह" से सविता का अर्थ अग्नि लिया है और बतलाया कि सविता शब्द से अग्नि अभिप्रेत है। यदि मध्यम अथवा उत्तम अर्थात् वायु वा आदित्य को लिया जावे तो वे इस भौतिक अग्नि के पिता के रूप मे हैं। यास्क ने इस विषय में प्रमाण-रूप में "देव सवितोतं त्वा वृणते ऽग्निहोत्राय सह पित्रा वैश्वानरेण" मन्त्र वाक्य को दिया है। पुनः लिखा है "मध्यमं वोत्तमं वा पितरम्"। इससे वैश्वानर और अग्नि में पिता पुत्र का सम्बन्ध पाया जाता है। ऐसा होने से दोनों पृथक् पृथक् हुये। अतः परिणाम यह निकला कि सविता का अर्थ यहाँ पर अग्नि है। यास्क कहता है कि छान्दोमिक सूक्त सौर्यवैश्वा नरीय है परन्तु उसका देवता यह अग्नि ही माना जाना चाहिए क्योंकि इसके ही कर्म उसमें वर्णित हैं। इसी प्रकार हविष्पान्तीय सूक्त सौर्य वैश्वानर है परन्तु उसमें भी इस अग्नि का ही वर्णन है और वही देवता है। अतः यह आग्नेय सूक्त है, सौर्य वैश्वानर सूक्त नहीं। ऋग्वेद १०।८८ सूक्त के प्रथम, षष्ठ, दशम, एकादश तथा १९ वें मंत्र की यास्क ने व्याख्या कर दी है और सब का देवता अग्नि माना है। तथा यह भी बतलाया है कि जो यहाँ पर सूक्त में वैश्वानर आदि शब्द हैं वे अग्नि के ही बोधक हैं। उनसे अग्नि का ही बोध होता है। यह कठिनाई इस "हिरण्यस्तूप" सम्बन्धी सूक्त में भी है। सर्वानुक्रमणी, बृहद्देवता आदि ने सूक्त का देवता सविता कहा है। इस सूक्त को वे "सावित्र" सूक्त कहते हैं। इस ऋग्वेद के १० वें मण्डल के १४९ वें सूक्त में केवल पांच मन्त्र हैं। इनमें प्रथम मन्त्र में "सविता" पद पड़ा है परन्तु यास्क ने इसका अर्थ मध्यम अर्थात् वायु किया है। वही इन्द्र भी है क्योंकि मन्त्र में जो कर्म सविता के बतलाये गये हैं वे मध्यम में ही घटते हैं। इसमें मेघ को कँपाकर वृष्टि की प्रेरणा भी है जो इन्द्र के अतिरिक्त अन्य का कर्म नहीं। इसीलिए यास्क कहता है कि "कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्" मध्यम के अतिरिक्त दूसरे किसको मन्त्र इस प्रकार कहेगा। अर्थात् यहाँ पर सविता मध्यम के लिए है। इस प्रकार यास्क, सविता अग्नि को कहते हैं ७।३१ में बतला चुके थे। अब उन्होंने यहाँ पर यह भी बतला दिया कि सविता यहाँ पर मध्यम है। इस सूक्त के चार मन्त्रों तक इस प्रकार देवता की सङ्गति लग जाती है। परन्तु पाँचवे मन्त्र का देवता यास्क के अनुसार आदित्य है। अतः इस मन्त्र में सविता से आदित्य का ग्रहण है। इसलिए यास्क निरुक्त १०।३२ पर कहता है कि "आदित्योऽपि सवितोच्यते तथा च हैरण्यस्तूपे स्तुतः" अर्थात् आदित्य सविता है और वह आदित्य सविता शब्द से हैरण्यस्तूप मन्त्र में वर्णित है। यह ही मन्त्र है जिसमें हिरण्यस्तूप पद भी आया है। यदि यास्क कह देता कि "आदित्योऽपि सवितोच्यते तथा च सावित्रे सूक्ते स्मृतः", अर्थात् आदित्य भी सविता कहा जाता है और वह सविता सम्बन्धी सूक्त में वर्णित है तो ऐसी अवस्था में कितनी कठिनाई पड़ जाती। प्रथम तो यह होता कि सभी सविता देवता वाले सूक्तों में आदित्य का ग्रहण हो जाता। जिससे सविता से अग्नि और मध्यम के ग्रहण की कोई बात भी नहीं रह जाती। सब का देवता आदित्य हो जाता। दूसरी कठिनाई यह पड़ती कि इस सूक्त का प्रथम मंत्र जो सविता देवता वाला होते हुये भी यास्क के अनुसार मध्यमस्थान इन्द्र अथवा वायु देवता वाला है उसका भी आदित्य ही देवता बन जाता। कितनी संशयापन्न और अव्यवस्थित अवस्था खड़ी हो जाती। इसलिए महाप्रतिभ यास्क ने ऋग्वेद १०।१४९ के पाँचवें मन्त्र में आये "हिरण्यस्तूप पद"

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

को देखकर उसे "हैरण्यस्तूप" कहा। इस प्रकार अब कोई सन्देह नहीं रह जाता और सभी समझ सकते हैं कि हिरण्यस्तूप शब्द वाले मन्त्र में सविता से आदित्य का वर्णन है। यास्क के इस गूढ़ रहस्य को न समझ कर लोग व्यर्थ की खींचा तानी करते हैं।

हिरण्यतूप भौतिक पदार्थ है, ऐसा समझना चाहिए। इससे मिलते जुलते अन्य शब्द भी वेदों में भौतिक पदार्थों के मिलते हैं। निरुक्त १०।२३ पर हिरण्यगर्भ शब्द उद्धृत है जो ऋग्वेद ८।७।२ में पाया जाता है। निरुक्त ८।१९ पर हिरण्यवर्ण तथा हिरण्यपर्ण पद प्रयुक्त हैं। हिरण्यवर्ण ऋग्वेद ४।१३।७ में पाया जाता है। यास्क इसका ही अर्थ हिरण्यपर्ण कर रहे हैं। यास्क ने १०।१६ पर हिरण्यरूप और हिरण्यसंदृक् पद प्रयोग किये हैं और ये पद ऋग्वेद २।३५।१० में से उद्धृत है। जिस प्रकार ये किसी व्यक्ति के नाम नहीं हैं वैसे ही हिरण्यस्तूप भी व्यक्तिविशेष नहीं हैं। शतपथ ४।३।१।२१ में लिखा है "ज्योतिर्हि हिरण्यम्" अर्थात् ज्योति का नाम हिरण्य है। यही बात गोपथ पूर्वार्ध २।२१ और ताण्डय ६।६।१० तथा १८।७।८ एवं तैत्तिरीय १।४।४।१ में भी पुष्ट की गयी है।

यास्क मुनि ने अपने निरुक्त १०।४२ पर ऋग्वेद १।१२९ की ६ ठीं ऋचा की व्याख्या का प्रस्तार किया है। वहाँ पर लिखा है कि "[1]परुच्छेप ऋषि है। उसको परुच्छेप इसलिए कहा जाता है कि उसका पर्ववान् शेप है अथवा ग्रन्थि ग्रन्थि में शेप है। यास्क ने जो कुछ यहाँ पर लिखा है वह नित्यपक्ष को स्पष्ट करने के लिए ही है परन्तु उसके आशय को न समझकर कभी कभी लोग महान् भ्रम में पड़ जाते हैं। यास्क के इतिहास और आशय को समझने में विशद् अध्ययन और आन्तरिक प्रेक्षा की आवश्यकता पड़ती है। यहां पर थोड़ा सा विचार यास्क के इस प्रकरण पर किया जाता है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १२७ वें सूक्त से लेकर १३९ वें सूक्त तक का द्रष्टा परुच्छेप ऋषि है। मंत्र में कहीं भी परुच्छेप का नाम नहीं है। परन्तु इन सूक्तों के मंत्रों की विशेषता यह है कि सभी मंत्रों मे टेक के तौर पर कुछ पदों की पुनरुक्ति पाई जाती है। उदाहरण के लिए यास्क ने जिस मंत्र को दिया है उसी को लिया जा सकता है। उसमें ही "इषवान् मन्म रेजति" रक्षोहा मन्म रेजति—आदि दो बार आये हैं। इसी प्रकार १२७ सूक्त से लेकर १३९ सूक्त में सभी मंत्रों में पुनरुक्तियाँ मिलती हैं। यास्क ने यह तो दिखलाया कि यहाँ पर अभ्यास है, [2] पुनरुक्ति नहीं तथा इस अभ्यास में वेदज्ञ आचार्य भूयान् अर्थ मानते हैं—परन्तु साथ ही यह लिख दिया कि यह [3] परुच्छेप का शील है। इससे कुछ लोग यह समझते हैं कि यह परुच्छेप का स्वभाव ही है कि वह मंत्रों में पुनरुक्ति डाल देता है। इस कथन का आशय लोग यह लगाते हैं कि परुच्छेप इन सूक्तों के मंत्रों का कर्ता है और यह एक ऐतिहासिक घटना सिद्ध होती है।

१—परुच्छेप ऋषिः पर्ववच्छेपः परुषि शेपोऽस्येति। नि० १०।४२

२—अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते यथाहो दर्शनीयाहो दर्शनीयेति।
नि० १०।४२

३—तत्परुच्छेपस्य शीलम्। नि० १०।४२

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

परन्तु यह ग़लत धारणा है। यास्क का पक्ष बहुत स्पष्ट है। यास्क वेदों में पुनरुक्ति दोष मानता ही नहीं। वह तो साफ ही कह रहा है कि अभ्यास में, जिसको लोग पुनरुक्ति समझ रहे है, विविध एवं विशेष अर्थ छिपे हैं। इस विशेषता को प्रकट करने के लिए यह अभ्यास पाया जाता है। वह इसे अपना ही मत नहीं कह रहा है बल्कि सभी वेदज्ञों का मत कह रहा है। वह कहता है "अभ्यासे भूयासमर्थं मन्यन्ते"। पुनरुक्ति पर विचार यास्क ने निरुक्त १०।१६ पर किया है। यहां पर ऋग्वेद ४।५७।२ मंत्र की यास्क ने व्याख्या की है। इस मंत्र में "मधुश्चुतम्" और "मधुमन्तम्" पद आये हैं। इस पर "जामि अजामि" का झगड़ा खड़ा किया गया है। "जामि" का अर्थ है पुनरुक्ति और "अजामि" का अर्थ है अपुनरुक्त अर्थात् निर्दोष। यहां पर पूर्वपक्ष यह उठाया गया है कि—जब एक [1] ही ऋचा में पूर्वार्ध में एकार्थक पद से जो बात कही गयी है उसी पद द्वारा उस ऋचा के उत्तरार्ध में भी वही बात कही जाती है तो "पुनरुक्ता" होती है—ऐसा एक मत है। उदाहरण के रूप में ऋग्वेद ४।५७।२ मंत्र में आये "मधुमन्तम्" और "मधुश्चुतम्" शब्द को लिया जाता है क्योंकि जो मधुमान् है वही मधुश्चुत् भी हो सकता है। दूसरा पक्ष यह है कि एक ही पाद में जब एक पद से जो अर्थ कहा गया है पुनः वही दूसरी बार पद से कह दिया जाता है तो वह पुनरुक्ति होती है—ऐसा दूसरा मत है। उदाहरण के रूप में ऋग्वेद २।३५।१० का "हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक्" पदों को लिया जा सकता है। यास्क इन पक्षों का समाधान करते हुये लिखते हैं कि "जो कुछ भी [2] विशेष अर्थ इनमें होता है उससे ही समझना चाहिए कि यह पुनरुक्त नहीं है। अर्थात् थोड़ी भी अर्थ की विशेषता इस बात की सूचयित्री है कि ये पुनरुक्तियां नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि जहां भी ऐसी पुनरुक्ति दिखलायी पड़ती है वहां कुछ न कुछ अर्थवैशिष्ट्य अवश्य है। यद्यपि यह मत दूसरे का दिखलाया गया है परन्तु इसी को यास्क भी स्वीकार करते हैं, उदाहरण के रूप में ऋग्वेद १०।१६६।५ से मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव—पदों को उपस्थित करते हैं"। यहां यदि कोई कहे कि क्या विशेषता है? तब समाधान होगा कि इन वाक्यों में अर्थ वैशिट्य यह है कि जिस प्रकार मेंढक पानी के बिना नित्य परतन्त्र वृत्ति वाले और वचनरहित होते हैं वैसे ही मेरे बिना तुम हो जावो। जैसे उदक के बिना मण्डूक नहीं रह सकते हैं वैसे ही तुम भी मेरे नहीं रह सकते हो। यहां पर प्रथम वाक्य में शत्रुवों की निर्वाक्ता में मण्डूक उपमान हैं। दूसरे वाक्य में जैसे जल बिना मेंढक नहीं होते हैं वैसे ही मेरे अभाव में तुम नहीं रह सकते—उदक उपमान है। यहां पर यास्क ने बहुत स्पष्ट शब्दों में घोषित कर दिया कि वेद में पुनरुक्तता नहीं। यदि कहीं पर एक ही शब्द आये हैं तो वे पुनरुक्त नहीं अपितु कुछ विशेषता को लिए हुये हैं। यास्क ने उसी बात को "अभ्यासे भूंयासमर्थं मन्यन्ते" से पुनः परिपुष्ट कर दिया है। कुछ भी हो यह निश्चित है कि वेद में पुनरुक्ति नहीं है। जब वेद में पुनरुक्ति नहीं है, यह यास्क का

१—यत्सामान्यामृचि समानाभिव्याहारं भवति तज्जामि भवतीत्येकं मधुमन्तं मधुश्चुतमिति यथा। स यदेव समाने पादे समानाभिव्याहारं भवति तज्जामि भवति इत्यपरं हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृगिति यथा० १०।१६

२—यथाकथा च विशेषोऽजामि भवतीत्यपरम्। नि० १०।१६

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मत है तो फिर वह यहां पर कैसे कह सकता है कि परुच्छेप का स्वभाव ही है कि वह मन्त्रों में पुनरुक्ति कर देता है। जब यास्क-मत में मन्त्रों में पुनरुक्ति मानी ही नहीं जाती तो वह पुनरुक्ति करने की कल्पना ही किस प्रकार कर सकता है।

रही यह बात कि परुच्छेप का यह शील है कि वह मन्त्रों में पुनरुक्ति कर देता है—यह भी ग़लत है। यास्क का यहाँ पर यह अभिप्राय नहीं है। क्योंकि ऋग्वेद में ऐसे अनेकों मन्त्र पाये जाते हैं जिनका ऋषि परुच्छेप नहीं फिर भी उनमें अभ्यासमयी रचना पायी जाती है। फिर तो यह ग़लत हुआ कि यह परुच्छेप का शील है। ऋग्वेद १०।१६६।५ में "मण्डूका इवोदकात् मण्डूका उदकादिव"—आदि अभ्यासमयी रचना है परन्तु उसका परुच्छेप नहीं अपितु वैराज शाक्वर अथवा ऋषभ ऋषि है। ऋग्वेद २।३५।१० में हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक्" रचना है परन्तु उसका ऋषि गृत्समद है परुच्छेप नहीं। ऋग्वेद ८।३६ सूक्त में १ से ६ मन्त्र तक मन्त्रों के प्रथम पाद को छोड़कर एक ही प्रकार की रचना है परन्तु उसका ऋषि परुच्छेप नहीं है बल्कि श्यावाश्य है। इसी प्रकार प्रथम मण्डल के ३० वें सूक्त का ऋषि आत्रेय श्यावाश्य है परन्तु १ से ६ ठें मन्त्र तक एक पाद को छोड़-कर रचना एक सी है। इसी मंडल के ३८ वें सूक्त का ऋषि श्यावाश्य है परन्तु एक से ३ मन्त्र तक "इन्द्राग्नी तस्य बोधतम्" पद दोहराये गये हैं। ४ से ६ मन्त्र तक "इन्द्राग्नी आगतं नरा" पद दोहराये गये हैं। ७ से ६ मन्त्र तक इन्द्राग्नी सोमपीतये पद दोहराये गये हैं। ऋग्वेद अष्टम मंडल के ३९ से ४२ सूक्त तक सभी मन्त्रों में अन्त में "नभन्तामन्यके समे" टेक आयी है परन्तु इनका ऋषि परुच्छेप नहीं हैं। ऋग्वेद ८।४७।२ में—"इषवान् मन्म रेजति रक्षोहा मन्म रेजति" की भांति ही "गमदा "वाजसातये गमदा मेधसातये" पद आये हैं परन्तु इस मन्त्र का ऋषि नाभाक है परुच्छेप नहीं। ऋग्वेद ८।४०।१० और ८।४०।११ में क्रमशः शुष्णस्याण्डानि भेदति जेषत्स्वर्वतीरपः" तथा "आण्डा शुष्णस्य भेदति अजैः स्वर्वतीरपः" पाठ आये हैं परन्तु इनका परुच्छेप ऋषि नहीं है। इसी प्रकार ८।४२।४,५,७, वें मन्त्र में "नासत्या सोमपीतये" पद आये हैं—लेकिन इनका भी ऋषि परुच्छेप नहीं। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि परुच्छेप ऋषि से दृष्ट मन्त्रों में ही यह कथित पुनरुक्ति हो—यह बात नहीं। अन्य ऋषियों से दृष्ट मंत्रों में भी ऐसी रचना है। फिर यह परुच्छेप का शील है—यह बात ग़लत हुई।

वस्तुतः पर्व पद का अर्थ ग्रन्थि और पूरक हुआ करता है। जहाँ छन्दोरचना में ग्रन्थि सी मालूम पड़ती है वह पर्व वाली रचना है। इन मंत्रों में ग्रन्थिमयी रचना दिखलायी पड़ती है। शेप शब्द का अर्थ जहाँ पुरुष की प्रजननेन्द्रिय है वहां संपर्क और स्पर्श भी है। क्योंकि शेप शब्द स्पर्शार्थक शप धातु से बना है। इसलिए ग्रन्थिवाली एवं पूरक पदों के प्रयोगवाली रचना का सम्पर्क अथवा स्पर्श रखने से परुच्छेप है। कौषीतकी २३।४ में इन्द्र को परुच्छेप कहा गया है। वहाँ पर वाक्य पढ़ा गया है—"इन्द्र उ वै परुच्छेपः" अर्थात् इन्द्र ही परिच्छेप है। इन्द्र नाम परमेश्वर का है। उसका व्यापार है कि वह अभ्यासमयी रचना करता है। वेदवाणी का दाता परमेश्वर है अतः उसने जैसी उपयोगी और वैज्ञानिक रचना उचित समझी की। यह उसका कर्म है कि किन्हीं मन्त्रों में अभ्यासमयी रचना की और किन्हीं में जैसी उचित समझा वैसी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रचना की। इस रहस्य को बताने के लिए यास्क ने परुच्छेप को ऋषि गढ़कर इतिहास दिखलाया। शुनःशेप में भी शेप पद पड़ा है वहाँ पर "ज्ञान का सम्पर्क रखने वाला" ही अर्थ होगा।

इन्द्र परुच्छेप क्यों है?—इस विषय में कौषीतकी २३।४ में एक वर्णन मिलता है। लिखा है कि असुरी[१] ने पर्व-पर्व में मुष्क करके इन्द्र पर आक्रमण किया इसलिये इन्द्र उसके जीतने के लिए पर्व-पर्व में शेप बनाया। वस्तुतः देखा जावे तो "मुष्क" शब्द मुष् धातु से चुराने अर्थ में बना है। मुष्क का काम छिपाना और शेप का काम स्पर्श एवं सम्पर्क प्राप्त करना है। इसलिए अलंकार यहाँ पर ठीक ही बांधा है। असुरी के अर्थ को समझने के लिए आवश्यक है कि असुर के अर्थ को समझा जावे। ऋग्वेद ३।३।२१ की व्याख्या करते हुये यास्क ने निरुक्त १०।३३ पर लिखा है कि असुरत्व का नाम प्रज्ञावत्त्व हैं। यह समस्त अनर्थों को दूर करने वाली होती है अथवा समस्त अर्थ इसमें स्थित होते है अतः "असु" का अर्थ प्रज्ञा है। निघण्टु ३।८ में असु पद प्रज्ञानाम में पठित है। यास्क भी यहाँ पर यही कहता है कि असुरिति प्रज्ञानान"। अर्थात् असु प्रज्ञा के अर्थ में है। दूसरा असुर का अर्थ मेघ होता है जो वृत्र के वर्णन में दिखलाया जा चुका है। असुर की पत्नी मध्यमा वाक् असुरी होगी। असु का अर्थ प्रज्ञा होने पर मत्वर्थ में "र" औणादिक प्रत्यय होकर असुर बनेगा। जिसका अर्थ प्रज्ञायुक्त होगा। उसका स्त्री-लिङ्ग में असुरी बन जावेगा जिसका अर्थ प्रज्ञा से युक्त होगा। प्रज्ञा से युक्त, पदों से युक्त वाणी जब अव्याकृत अवस्था में थी तब यह असुरी थी। इसने देवसृष्टि होने पर इन्द्र के चारों तरफ घेर लिया। इसमें पदों और छन्दों का स्वरूप मुष्क के रूप में छिपा था। इन्द्र ने उसको व्याकृत करके पद और छन्दों की ग्रन्थि अर्थात् पर्वों में बैठा दिया। इसमें परुषि परुषि = अर्थात् पदों और छन्दों की ग्रंथियों में इन्द्र वाणी को बैठाता है इसलिए वह परुच्छेप है। वस्तुतः इन्द्र परमेश्वर है। वही सब का ऋषि है और वही छन्दोमयी रचना करता है। उसका ही यह शील अर्थात् कर्म है कि वह छन्द की दृष्टि से कहीं अभ्यासमयी रचना करता है और कहीं दूसरे रूप की। देववाणी की रचना करना किसी और का शील नहीं हो सकता। शील शब्द व्यापार एवं कर्म का द्योतक है।

निरुक्त[२] १।६ पर यास्क ऋग्वेदीय (१।१७०।१) मन्त्र का उदाहरण देते हुये लिखते हैं कि "अगस्त्य इन्द्र के लिए हवि देने को उद्यत होकर मरुतों को देने की इच्छा करने लगा। इन्द्र ने आकर परिदेवना की।" यहाँ पर भी यास्क ने नित्येतिहास का अनुसरण किया है। जिस सूक्त का यह मन्त्र है वह वस्तुतः सम्वाद सूक्त है। सम्वाद सूक्तों में नित्येतिहास रहता है। उसी के आधार पर याज्ञिक प्रक्रिया को दिखलाने के लिये यास्क ने यहां पर यह कल्पना की है। यह अगस्त्य कोई व्यक्तिविशेष नहीं। यास्क के भाव को न समझकर लोग व्यर्थ की अन्य कल्पनायें करने लगते हैं। यास्क ने

१—असुरीन्द्रं प्रत्यक्रमत पर्वंन्पर्वंन्मुष्कान् कृ तामिन्द्र. प्रतिजिगीषन् पर्वंन्पर्वंञ्छेपांस्यकुरुत। कौ० २३।४

२—अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरुप्य मरुद्भ्यः सम्प्रदित्साञ्चकार स इन्द्र एत्य परिदेवयाञ्चक्रे। नि० १।६

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यह कल्पना क्योंकी यह विचार का विषय है। वैदिक इण्डेक्स के कर्त्ता ने अगस्त्य को "मान" का पुत्र माना है। वह समझता है कि अगस्त्य कोई व्यक्तिविशेष है परन्तु यह सुतराम् निराधार है। ऋग्वेद में ७ वें सूक्त के १० वें मन्त्र में वषिष्ठ और अगस्त्य दोनों पद हैं। वसिष्ठ नाम जल का है—यह मित्र और वरुण से उद्भूत हैं—इत्यादि बातों का निर्णय इसी प्रकरण में पहले किया जा चुका है। अगस्त्य का अर्थ यहां पर निर्दोष विद्वान् एवं निष्णात है। वह जल को प्रजावों के लिए बनाता है इसलिए उसे प्रजावों में जल का धारक कहा गया[1] है। परन्तु यह एक प्रक्रिया में होगा। अगस्त्य का अर्थ प्रक्रियान्तर से भौमोष्मा भी होगा जिसको वृक्ष चूसते हैं। क्योंकि "अग" नाम वृक्ष का है और उसको संगृहीत करने वाला अगस्त्य होगा। हेमचन्द्र ने अपने कोष में "अग" वृक्ष को कहा है। जल के साथ रहने वाली ऊष्मा भी "अगस्त्य" है। अगस्त्य एक तारे का भी नाम है। इस प्रकार अगस्त्य के अनेकों अर्थ हो सकते हैं। वर्षा के बाद जब अगस्त्य नक्षत्र उदित होता है तब रास्ते का पानी सूख जाता है और वर्षा का पानी साफ स्वच्छ हो जाता है। वैदिक इण्डेक्स वालों को यह भ्रम इसलिए हुआ कि अगस्त्य कोई ऋषि है और वह मान का पुत्र है क्योंकि उन्होंने ऋग्वेद ७।३३।१३ में आये "ततः" पद से यह सन्दर्भ निकाला। साथ ही प्रथम मण्डल के मन्त्रों में जिसका आगे वर्णन आवेगा, "मान्य" पद आया है। परन्तु यह कल्पना निराधार है। वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डाला जाता है। ऋग्वेद[2] ७।३३।१३ मन्त्र में यह भाव मिलता है कि "अदिति के पुत्र मित्रावरुण के यज्ञ में उनका उर्वशी को देखकर रेत गिर गया और वह वसतीवरी के घड़े में गिर गया। उसमें से मान उत्पन्न हुआ और उसी घड़े से वसिष्ठ ऋषि को पैदा हुआ कहा जाता है। यहाँ पर वस्तुतः "ततः" पद "उस घड़े से" ऐसा अर्थ लेने के लिए दो बार पढ़ा गया है। इसका अर्थ यह है कि उस कुम्भ से ही मान और वसिष्ठ दोनों पैदा हुये। परन्तु "मान" जब तक कोई व्यक्तिविशेष न सिद्ध हो तब तक अगस्त्य को ऋषि मानकर ऐसी धारणा बनाना ठीक नहीं। इस मन्त्र के अनुसार अगस्त्य मान का पुत्र बनता नहीं। वह और वसिष्ठ दोनों कुम्भ से उत्पन्न हो रहे हैं और दोनों ही मित्रावरुण के पुत्र हैं। फिर अगस्त्य को मान का पुत्र कहना ठीक नहीं है। मन्त्र में "सत्र" "कुम्भ" "रेतः" "मान" "ऋषि" और वसिष्ठ पद विचारणीय हैं। सत्र का अर्थ यज्ञ है। यह सत्र अदिति के पुत्र मित्रावरुण का है। अदिति देवों की माता प्रकृति है अतः उसका सत्र भी सृष्टिसत्र हुआ। मित्र और वरुण जैसा पूर्व कहा गया है प्राण और उदान हैं। जैसा पूर्व लिखा गया है अप्सरा विद्युत् है और उसी को उर्वशी भी कहा जाता है। कुम्भ का यज्ञ में प्रयोग होता है। वह वसतीवरी कहलाता है। वसतीवरी उसका नाम इसलिए है कि वह विश्वेदेवों से सम्बद्ध है। वसने वालों में श्रेष्ठ होने से वह "वसतीवर[3] है" और उस सम्बन्धी जल को "वसतीवरी" कहते हैं। जलों के अनेक नाम पाये जाते हैं जो इस प्रकार

१—अगस्त्यो यस्त्वा विश आजभार। ऋ० ७।३३।१०

२—सत्रे ह जाताविषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्।
ततो ह मान उदियाय मध्यात्ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम् ॥
ऋ० ७।३३।१३

३—तदासु विश्वान् देवान्संवेशयत्येते वै वसतां वरं तस्माद्वसतीवर्यो नाम।
श० ३।९।२।१६

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हैं—सारस्वत, उर्मीवाला, स्यन्दमान, अपयत, समुद्रिय, निवेष्य, स्थावर, आतपवर्ष्य, वैशन्त, कूप्य, प्रुष्व, मधव्य, गोरुल्व्य, पयस्य, विश्वभृत् , मरीचि। ये सत्रह प्रकार के जल हैं। शतपथ[1] ५।३।४।१२ में इनका ही निर्देश है। परन्तु जब सृष्टिसत्र का वर्णन है तो वहाँ पर तो "वसतीवर" कुम्भ अन्तरिक्ष एवं आकाश ही हो सकता है। वहाँ इस हमारे यज्ञों में प्रयुक्त लघु "कुम्भ" से क्या तात्पर्य हो सकता है। "रेतस्" पद निघण्टु में जल नाम में पढ़ा गया है अतः उसका अर्थ जल हुआ। "मान" शब्द का अर्थ यहाँ पर "माप" है एवं गुरुत्व है। अर्थात् जब मित्रावरुण का रेत मान-एवं मात्रा में रहता है तब वसिष्ठ पैदा होते हैं और तभी ऊष्मा भी पैदा होती है। अतः मान से होने के कारण मान्य कहा जाता है। ऋषि पद का प्रयोग दैवी-भौतिक पदार्थों के लिए भी होता है क्योंकि वे दृष्टि में आने वाले हैं। वसिष्ठ जल है—यह इसी प्रकरण में पूर्व कह आये हैं। यहाँ पर पूर्वोक्त मंत्र का रहस्य इस प्रकार उद्घाटित हुआ कि "प्रकृति के सृष्टि की रचनारूपी यज्ञ में कुम्भ समान आकाश में प्राण और उदान ने जब उर्वशी–विद्युत् को देखा तो उससे जल का बीज स्खलित हो पड़ा और जल पैदा हुआ और मात्रासंयुक्त हुआ हुआ ही पैदा हुआ। अथवा उसी से मात्रा गुरुत्व एवं जलीय ऊष्मा भी पैदा हुई। वायव्य वाष्पीय जल में यह ऊष्मा और गुरुत्व इस रूप में नहीं रहते हैं। अतः वसिष्ठ के पैदा होने के साथ ही साथ यह भी पैदा हो जाते हैं।

यहाँ पर मान से अगस्त्य ऋषि की कल्पना खड़ी होने का कारण बृहद्देवता का एतत्सम्बन्धी इतिहास भी मालूम पड़ता है। यद्यपि वह इतिहास किसी व्यक्तिविशेष का नहीं बनता है फिर भी भ्रम को स्थान मिल सकता है। वैदिक इण्डेक्स के कर्ताओं को भी शायद यहीं से भ्रम हुआ हो। बृहद्देवता ५।१४९-१५५ में यह आख्यायिका निम्न प्रकार से वर्णित है। "उन[2] अदिति के

१—ता वा एताः सप्तदशापः सम्भरति। श० ५।३।४।२२

२—तयोरादित्ययोः सत्रे दृष्ट्वाप्सरसमुर्वशीम्।
रेतश्चस्कन्द तत्कुम्भे न्यपतद्वासतीवरे॥
तेनैव तु मुहूर्त्तेन वीर्यवन्तौ तपस्विनौ।
अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च तत्रर्षी सम्बभूवतुः॥
बहुधा पतितं रेतः कलशे च जले स्थले।
स्थले वसिष्ठस्तु मुनिः सम्भूतः ऋषिसत्तमः॥
कुम्भे त्वगस्त्यः सम्भूतो जले मत्स्यो महाद्युतिः।
उदियाय ततोऽगस्त्यः शम्यामात्रो महातपाः॥
मानेन सम्मितो यस्मात्तस्मान्मान्य इहोच्यते।
यद्वा कुम्भादृषिर्जातः कुम्भेनापि हि मीयते॥
कुम्भ इत्यभिधानं च परिमाणस्य लक्ष्यते।
ततोऽप्सु गृह्यमाणः वसिष्ठः पुष्करे स्थितः॥
सर्वतः पुष्करे तं हि विश्वे देवा अधारयन्।

बृहद्देवता ५।१४९–१५५

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पुत्र दोनों आदित्य अर्थात् मित्र और वरुण का यज्ञ में उर्वशी को देखकर रेत गिर गया और उस वासतीवर कुम्भ में गिर पड़ा। उससे ही मुहूर्त्तमात्र में अगस्त्य और वसिष्ठ दो ऋषि पैदा हुये। यह रेत कलश में जल और स्थल में कई प्रकार से पड़ा। स्थल में वसिष्ठ ऋषिसत्तम पैदा हुये। कुम्भ में अगस्त्य पैदा हुये और जल में महाद्युति मत्स्य पैदा हुये। तब महा तपस्वी अगस्त्य शम्यामात्र आकार वाले हुये। वे मान से मापे गये है अतः उनका नाम मान्य है। अथवा कुम्भ से पैदा हुये हैं—इसलिए कुम्भ से ही उनका माप होता है। "कुम्भ" शब्द परिमाण का द्योतक है। जलों के धारण करने से वसिष्ठ पुष्कर में स्थित हुआ। समस्त विश्वे देवों ने उनसे धारण किया।"

यहाँ पर सारी गाथा आधिदैवत प्रक्रिया में घटती है। अदिति के सृष्टिसत्र में मित्र-वरुण दो वायव्य जब आकाशस्थ विद्युत् को देखते हैं उनसे जल की उत्पत्ति होती है और ऊष्मा एवं गुरुत्व की उत्पत्ति होती है। ये ऊष्मा एवं गुरुत्व ही वस्तुतः पदार्थों की माप हैं। बृहद्देवता की इस आख्यायिका का मूल उद्देश्य बहुत ही सुन्दर दीखता है परन्तु शब्दरचना में थोड़ी विपरीत गन्ध भी आ गयी है। यह ग्रन्थकार को भले ही अभीष्ट न हो परन्तु पौराणिक काल में यह रूप विकृत कर दिया गया।

अगस्त्य की इस प्रकार की अर्थ की विविधता के कारण ऋग्वेदीय (७।३३।१०) वाक्य "अगस्त्यो यत्त्वा विश आजभार" का विभिन्न प्रक्रियावों में विभिन्न अर्थ होगा।

१—हे वसिष्ठ = जल! वैज्ञानिक विद्वान् तुझे प्रजा के लिए धारण करता है।

२—हे जल! यजमान तुझे यज्ञ में प्रजा के लिए धारण करता है।

३—हे जल! उष्मा एवं गुरुत्व तुझे प्रजा के लिए धारण करते हैं।

४—हे जल! उष्मा तुझे वृक्षमयी प्रजा के लिए धारण करती हैं।

मान का पुत्र अगस्त्य ऋषि है इस कल्पना को जिन जिन मन्त्रों के आधार पर वैदिक इण्डेक्स के कर्त्तावों ने लिया है उनके सबके समझने में उन्हें ग़लती हुई है। ऋग्वेद १।१६।१५ मन्त्र में "मान्यस्यकारोः" पद आये हैं। परन्तु उसका वह अर्थ नहीं जो इन लोगों ने लिया है। मन्त्र में "मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः" पाठ है। इसका अर्थ करते हुये सायण लिखता है "स्तुतिविशेषैर्मन्दयितुः मान्यस्य वरप्रदानादिना माननीयस्य कारोः स्तोतुः" अर्थात् स्तुतिविशेष से आनन्दित करने वाले माननीय स्तोता के स्तोत्र हे मरुतो! आप के लिए हैं। यहाँ पर मान्य का अर्थ माननीय है, कोई व्यक्तिविशेष नहीं। इसी प्रकार ऋ० १।१६६।१५ मन्त्र में भी ये ही वाक्य आये हैं। यहां पर भी सायण ने "मान्यस्य" का मानार्हस्य और "कारोः" का स्तोतुः अर्थ किया है। वह कहता है कि "कारु" स्तोतृ नाम है। यही पद पुनः ऋग्वेद १।१६७।११ मन्त्र में आये हैं। यहाँ भी पूर्ववत् अर्थ है। यही पुनः ऋ० १।१६८।१० में है। यहां पर यही अर्थ अभिप्रेत है। ऋग्वेद १।१६५।१४ में "मान्यस्य मेधा" पद आये हैं। यहां पर सायण ने इसका अर्थ "माननीयस्य विदुषः बुद्धिः" अर्थात् माननीय विद्वान् की बुद्धि किया है। ऋ० १।१७७।५ में 'मान्यस्य कारोः" पदों का अर्थ सायण ने माननीय स्तोता अथवा यजमान अर्थ किया है। ऋग्वेद १।१८४।५ में "मानेभिः" पद आया है। यहाँ पर सायण ने मानेभिः का अर्थ "मानैः हविष्प्रदानरूपैः" किया है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यहां पर मन्त्र में "अगस्त्य" पद भी आया है जिसका मान के साथ कोई सम्बन्ध नहीं दीखता। यहां यजमान और विद्वान् के लिए अगस्त्य पद आया है। क्योंकि मन्त्र में पुत्र आदि के लिए प्रार्थना की गयी है। ऋग्वेद १।१८९।८ में "मानस्य सूनुः" पद आये हैं। इन का अर्थ सायण करता है कि "मापा जाता है इस लिये मन्त्र ही मान है। मन्त्र का पुत्र अग्नि है। क्योंकि मन्त्र से अग्नि उत्पन्न की जाती है। सायण के वाक्य इस प्रकार हैं—मीयते इति मानो मन्त्रः। तस्य सुनुरग्निः मंत्रेण उत्पद्यमानत्वात्। सायण ने यहां पर इसे अग्नि का विशेषण माना है। ऋग्वेद १।११७।११ में "सूनोर्मानेन" पद आये हैं। यहीं पर "अगस्त्य" पद भी आया है। इन पदों का अगस्त्य के साथ सम्बन्ध नहीं मिलता क्योंकि विभक्तियाँ ही परस्पर भिन्न हैं। यदि यह अर्थ किया जावे कि हे अश्विनी लोग "सूनोः मानेन" पुत्र के मान से अथवा पुत्र के स्तोत्र से "अगस्त्य" पर प्रवर्धित आप मेधावी के लिये अन्न देने वाले हैं" तो फिर यहां पर अगस्त्य को अश्विनी का पुत्र मानना पड़ेगा। मान का पुत्र अगस्त्य है—यह सम्बन्ध तो यहां पर किसी प्रकार भी नहीं बनता है। यहां पर "सूनोः" "मानेन" और "अगस्त्ये" भिन्न भिन्न विभक्ति वाले पद हैं इनका सम्बन्ध परस्पर नहीं जुड़ता। ऋग्वेद १०।६०।६ में "अगस्त्य' पद आया है परन्तु वहां पर भी विद्वान् अथवा यजमान अर्थ घटेगा। ऋग्वेद ८।५।२६ में भी "अगस्त्य" पद आया है वहां पर भी निर्दोष यजमान और विद्वान् अर्थ निकलता है। ऋग्वेद १।१७०।३ में इन्द्र के द्वारा "अगस्त्य" को भ्राता करके सम्बोधित किया गया है। यह संबोधन इस बात की सूचना देता है कि अगस्त्य प्रक्रियानुसार यजमान, विद्वान् अथवा प्राण और ऊष्मा रूप में कोई भौतिक पदार्थ है।

मान शब्द ऋग्वेद में आठ दश स्थानों पर आया है परन्तु कहीं पर भी वह व्यक्तिवाचक नहीं है। अनेकों प्रमाणों में ऊपर दिखला भी दिया जा चुका है। जब मान ही व्यक्तिवाचक नहीं तो फिर उसका पुत्र मान्य व्यक्तिवाचक कैसे हो सकता है। ऋग्वेद १।१७१।५ और १।१८४।५ में "मानासः" और मानेभिः पाठ आये हैं परन्तु यहां पर इनका अर्थ प्रतिष्ठायुक्त अथवा मानयुक्त है। सायण ने इन दोनों स्थलों पर क्रमशः "मान्याः त्वयाभिमानिताः" और मानैः हविष्प्रदानरूपैः" अर्थ किये हैं। ये भी इस प्रकार यहां पर व्यक्तिवाचक नाम नहीं। यहां इतने विचार के उपरान्त यह परिणाम सुतरां निकल आया कि "मान" कोई व्यक्तिविशेष नहीं, और उसका पुत्र अगस्त्य है यह भी ठीक नहीं। अगस्त्य भी कोई व्यक्तिविशेष नहीं, सामान्यवाचक शब्द है।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि यास्क ने निरुक्त में अगस्त्य के और इन्द्र के इतिहास की कल्पना क्यों की? उत्तर यह होगा कि अगस्त्य और इन्द्र सम्बन्धी जिस सूक्त का मंत्र यास्क ने उद्धृत किया है वह संवादसूक्त है। संवादात्मक वर्णन होने से इस नित्येतिहास के आधार पर यज्ञ के रूप को समझाने के लिए यास्क ने इतिहास दिखलाया। परन्तु यह नित्येतिहास है व्यक्ति-विशेष का इतिहास नहीं। दूसरी बात यह है कि ऋग्वेद ७।३३।१० में वसिष्ठ के प्रसंग में अगस्त्य के विषय का भी वर्णन है। इस मंत्र में वसिष्ठ के वर्णन में इतिहास दिखलाया जा चुका है जो देवसृष्टि के प्रसंग का है। ऐसी स्थिति में अगस्त्य का यहां भी इतिहास कल्पित करना उस प्रकरण के अनुरोध से भी हो सकता है। ऋग्वेद प्रथम मण्डल के १६६ वें सूक्त से लेकर १७० वें सूक्त

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तक मंत्रों में मरुत् और इन्द्र दोनों ही आये हैं। यज्ञ में यदि देवता के न समझने से कोई यजमान एक देवता के स्थान में दूसरे देवता को हवि दे देवे तो वही स्थिति होगी जो यास्क ने दिखलायी है। इन्द्र यज्ञ का मुख्य देव है। उसको आहुति न देकर मरुतों को दे देने पर इन्द्र की परिदेवना दिखलाकर यह बतलाया गया है कि यजमान को यज्ञ में देवता के विचार का पूरा ध्यान रखना चाहिए। यास्क इसी बात को समझाने के लिए इतिहास गढ़ रहा है। उसकी इस गढ़न्त का पात्र अगस्त्य यजमान के रूप में है। अगस्त्य यजमान है और उसका आधार भी मन्त्रों से ही मिल जाता है। अगस्त्य जहाँ भौतिक पदार्थ है वहाँ यजमान और विद्वान् भी है। ऋग्वेद १।१७९।६ में लिखा है कि [1]"प्रजा, अपत्य और बल की इच्छा करते हुये खोदने के साधनों से (यज्ञवेदी) को खनता हुआ अगस्त्य = निर्दोष मंत्रदर्शी यजमान काम और तप दोनों को प्राप्त करता है। तथा देवों में सत्य आशिषों को प्राप्त करता है"। यहाँ पर यज्ञ के प्रकार और फल का वर्णन है। अतः अगस्त्य भी विद्वान् यजमान ही है। मंत्र में "ऋषि" पद का भी प्रयोग है। जिससे अगस्त्य के ऋषि होने की कल्पना खड़ी हुई होगी। ऋग्वेद १।१८०।८ मंत्र में अगस्त्य[2] को "नरों में प्रशस्त नर" कहा गया है। इससे और भी स्पष्ट हो गया कि अगस्त्य श्रेष्ठ मनुष्य है और वह यजमान एवं विद्वान् है। इन आधारों से यास्क ने जिस नित्येतिहास की कल्पना की है वह साधार और युक्तिसङ्गत ही है।

यास्क ने निरुक्त ४।१५ पर ऋग्वेदीय (८।१९।३६) मन्त्र का संकेत "तुग्वनि" की व्याख्या करते हुये दिया है। "तुग्वनि" का अर्थ तीर्थ अर्थात् किनारा है, यह दिखलाते हुये ऋग्वेद ८।१९।३७ का भी हवाला दिया है। "सुवास्तु" का अर्थ नदी है। तुग्वनि का अर्थ तीर्थ अर्थात् किनारा है। नदी के किनारे पर राजा के द्वारा विद्वानों को दान देने का आदेश है। तात्पर्य यह है कि राजा नदी के किनारे पर यज्ञ आदि कार्यों को करे और दान आदि देवे। यास्क ने यहाँ पर लिखा है कि "[3]मुझे यह दिया, मुझे यह दिया—ऐसा गिन कर ऋषि ने कहा।" यहाँ पर भी दान जो याज्ञिक प्रक्रिया का रूप है उसको दर्शाने के लिए यास्क वस्तुतः प्रीति से इतिहास कल्पित कर रहा है। उसका इतिहास नित्य है किसी व्यक्तिविशेष का नहीं। यास्क द्वारा दिये हुये मन्त्र ऋग्वेद के ८ वें मण्डल के १९ वें सूक्त के ३६ वें और ३७ वें मन्त्र हैं। इनमें "पौरुकुत्स्य त्रसदस्यु" के दान की प्रशंसा है—ऐसा सर्वानुक्रमणी आदि का मत है। यहाँ पर यह देखना चाहिए कि क्या त्रसदस्यु कोई व्यक्तिविशेष है। निरुक्त के व्याख्यकार दुर्ग ने नि० ४।१५ पर पुरुकुत्स का अर्थ [4]बहुत शत्रुवों का काटने वाला किया है। तथा ऐसे शत्रुकर्तक के पुत्र का नाम पौरुकुत्स्य है।

१—अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः प्रजामपत्यं बलमिच्छमानः।
उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष सत्या देवेष्वाशिषो जगाम॥
ऋ० १।१७९।६

२—अगस्त्यो नरां नृषु प्रशस्तः। ऋग्वेद १।१८०।८

३—इदं च मेऽदादिदं च मेऽदादि तृषिः प्रसंख्याया। नि० ४।१५

४—पौरुकुत्स्यः बहुशत्रुकर्तितुः पुत्रः त्रसदस्युः दस्युत्रासन। दुर्गा०

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तथा त्रसदस्यु का अर्थ दुर्ग ने दस्युत्रासन अर्थात् दस्युवों को त्रास देने वाला किया है। निरुक्त के सभी भाष्यकार लगभग यही अर्थ करते हैं। इसलिए यह निश्चित है कि ये कोई व्यक्तिवाची नाम नहीं। यास्क ने जो कुछ भी लिखा है उससे नित्येयिहास दिखलाया है। यह सामान्य राजा के दान का वर्णन है परन्तु उससे इतिहास कल्पित करके उसी अर्थ को दिखला दिया गया है। ऋग्वेद ८।१९।३२ में सहस्रमुष्कं त्रासदस्यवम् सम्राजम्" पद आये हैं। ये यह सूचित करते हैं कि शत्रुवों से रहित सम्राट् के पास विद्वान् तथा ऋत्विग् दान लेने के लिए जाते हैं। यहाँ पर मंत्र में "सोभरयः" पद भी आया है जो उत्तम भरण पोषण करने वाले विद्वानों एवं ऋत्विजों का सूचक है। यदि किसी व्यक्ति का नाम होता तो बहुवचन प्रयोग बन नहीं सकता था। इसके पूर्व मंत्र ३१ में राजा के ऋत्विय और इन्धान होने का वर्णन है। ऋग्वेद ६।४६।८ में "जने" के विशेषण रूप में "तृक्षौ" "पूरौ" और 'द्रुह्यौ' पद आये हैं। यदि तृक्षि, पुरु और द्रुह्यु किसी व्यक्ति के नाम होते तो जने के विशेषण रूप में इनका प्रयोग न होता। द्रुह्यु और पूरु तो निघण्टु २।३ में मनुष्य-सामान्य नाम में पढ़े गये हैं। यास्क ने निरुक्त ७।२२ पर ऋग्वेदीय १।५९।६ में आये "पूरवः" का अर्थ पूरयितव्या मनुष्याः किया है। इस प्रकार यहाँ भी ये विशेषण रूप में अर्थ देंगे। इसलिए पाश्चात्यों ने जो तृक्षि को त्रसदस्यु का पुत्र और पूरु तथा द्रुह्यु आदि को व्यक्ति माना है—यह सर्वथा ग़लत है। ऋग्वेद ६४।६।८ में यह प्रार्थना की गई है कि हे राजन् जो बल मजबूत, पूर्ण और स्पर्धा करने वाले मनुष्य में हैं वह ऋत्विजों को दें। ऋग्वेद ८।२२।७ में त्रासदस्यवम् तृक्षिम्" पद आये हैं। यह तृक्षि त्रसदस्यु का पुत्र व्यक्तिविशेष नहीं अपितु साधारण नाम है। जिसका अर्थ होगा शत्रु को डरा देने वाले राजा का पुत्र = तेजस्वी राजपुत्र।

यदि तृक्षि त्रसदस्यु का पुत्र व्यक्तिविशेष होता तो ऋग्वेद १०।३३।४ में कुरुश्रवण को "त्रासदस्यव" क्यों कहा जाता। यदि कोई कहे कि तृक्षि और कुरुश्रवण दो पुत्र थे तो ठीक नहीं क्योंकि त्रसदस्यु ही कोई व्यक्तिविशेष नहीं तो उसके ये दोनों पुत्र कैसे व्यक्तिविशेष होंगे। कुरु नाम ऋत्विज् का है। अतः ऋत्विजों की सुनने वाला राजा कुरुश्रवण है। यहाँ पर मंत्र में "वाघताम्" पद भी पड़ा है जिसका अर्थ भी ऋत्विज् होता है। एक बात विचारणीय यह रह जाती है कि यास्क ने जिस मंत्र का संकेत किया है उस में "पञ्चाशतं त्रसदस्युर्वधूनाम्" पदों से पचास बधुवों का दान देना भी लिखा है। क्या वस्तुतः पचास बधुवों का भी दान किया जा सकता है? इस का समाधान यह है कि "वधू" शब्द से वोढव्य कन्यायें ही क्यों ली जावें, इसका अर्थ वहनीय धन भी तो हो सकता है! प्रातव्य धन को भी यहाँ पर वधू ही कहा जा सकता है। यदि "वधूनाम्" का अर्थ बधुयें ही ली जावें तो यह भी भाव हो सकता है कि राजा जो समस्त शत्रुवों का विजेता सम्राट् है वह शत्रुवों के मर जाने पर जीती गई स्त्रियों को और धन को रक्षणार्थ प्रजा के लोगों को दे सकता है! जिसको देने की बात की जा रही है वह भी "सौभरि" उत्तम भरण पोषण करने वाला है। मंत्र में आया है "मे पंचाशतं वधूनाम् अदात्"। इससे यह ही अर्थ क्यों लगाया जावे कि एक के साथ विवाह

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के लिए ही पचास स्त्रियाँ दी गईं। कई के वास्ते एक को भी दी जा सकती हैं। अगले मंत्र में "दियानां पतिः" शब्द का प्रयोग है। "दियानाम्" का अर्थ करते हुये दुर्ग लिखते हैं "दानार्हाणाम्" अर्थात् दान के योग्य वस्तुवों का। फिर वधू दान के योग्य कैसे हो सकती है। अतः "वधू" शब्द का अर्थ प्रापणीय धनादि पदार्थ हैं। जड़ पदार्थों में भी चेतन की भांति सम्बन्धों का व्यवहार होता है। निरुक्त १०।२१ में यम [1] को जात, जनित्व, कन्यावों का जार और जाया का पति कहा गया है। यास्क कहते हैं कि ऐसा हो सकता है क्योंकि यम अग्नि को कहा जाता है और विवाह में यज्ञ के सम्बन्ध से ये (वधु में) तत्प्रधान हुआ करती हैं। वह ऋग्वेद १०।८५।४० का हवाला देकर "अग्निस्ते पतिः" शब्दों से अग्नि को भी पति कहता है। जिस प्रकार ये भौतिक पदार्थ पति हो सकते हैं वैसे ही "वधू" पद जड़ पदार्थों के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है।

यहाँ पर इन सब वर्णनों से भाव यह निकला कि यास्क ने दान के भाव को समझाने के लिए प्रीति से इतिहास की कल्पना की।

यास्क ने निरुक्त ६।२७ पर ऋग्वेदीय (८।६७।५) मंत्र की व्याख्या की है। परन्तु व्याख्या करते हुये यहां पर भी लिखा है कि "ऐसा [2] जाल में फंसे हुये मत्स्यों का आर्ष जानते हैं।" यास्क के इस कथन से एक नित्येतिहास की तरफ प्रकाश तो पड़ता है परन्तु कठिनाइयां भी उपस्थित हो जाती हैं जिनका निराकरण करना आवश्यक है। प्रथम कठिनाई यह पड़ती है कि मत्स्यों का आर्ष किस प्रकार हो सकता है। क्या मछलियां भी मन्त्रद्रष्टा हो सकती हैं। वस्तुतः झगड़ा मत्स्य और आर्ष पद को लेकर खड़ा होता है। इस पर ही थोड़ा सा विचार किया जाता है। "मत्स्य" पद मछली के लिए प्रयुक्त होता है। उपाधिरूप में यह किसी मनुष्य के साथ भी लग सकता है। जिस सूक्त का यह मन्त्र है उसमें "मत्स्य" पद भी नहीं आया है। फिर भी मत्स्य का ग्रहण इस प्रकार कहां से किया गया? संसार में वरुण का जाल बिछा हुआ हैं। तथा संसार भी स्वयं एक प्रकार का जाल है। इस जाल में फँसे हुये लोग भी मत्स्य के समान हो सकते हैं। अतः इस संसारजाल में फँसा हुआ प्रार्थना कर सकता है कि हमारी इससे रक्षा हो। मन्त्रद्रष्टा इस भाव को व्यक्त करने के लिए अपनी उपाधि मत्स्य रख सकता है। यास्क मत्स्य की निरुक्ति करते हुये लिखता है कि [3]"मधु अर्थात् उदक में गति करने से मत्स्य कहलाता है अथवा एक दूसरे को खाने के लिए हर्षित होते हैं इसलिए मत्स्य हैं।"

संसार में मनुष्य फंसा हुआ संसार-सागर में घूम रहा है। साथ ही अपने स्वार्थ के लिए एक दूसरे के स्वार्थ का हनन करता है। संसार में भी एक मत्स्यन्याय चालू है। यहाँ पर बड़े छोटे का संघर्ष है। एक जीव दूसरे को हड़प करने में भी संकोच नहीं करता है। इस संसार-सागर में जाल में फंसा हुआ निर्वेद को प्राप्त मनुष्य इससे छूटने की प्रार्थना करता है। अतः यहां पर भी यह हो सकता है मंत्रद्रष्टा ऋषि ने इसी दृष्टि से देखा हो और अपनी उपाधि "मत्स्य" रख ली हो। बहुवचन होने से अनेक व्यक्तियों ने यह उपाधि प्रयुक्त करली हो। आर्ष शब्द का

१—यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम्। ऋ० १।६६।४

२—इति मत्स्यानां जालमापन्नानामेतदार्षं वेदयन्ते। नि० ६।२७

३—मत्स्या मधा उदके स्यन्दन्ते माद्यन्तेऽन्योऽन्यं भक्षणायेति। ६।२७

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अर्थ केवल ऋषिदर्शन ही हो—यह भी आवश्यक नहीं। ज्ञान भी अर्थ हो सकता है। "मत्स्याना-मार्षम्" का अर्थ यह ही क्यों लिया जावे कि यह मछलियों का देखा हुआ दर्शन है और मछलियाँ ही इस सूक्त की ऋषि हैं। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि यह मछलियों से सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान है—अर्थात् इसमें मछलियों सम्बन्धी ज्ञान का वर्णन है। जाल में फंसी मछलियाँ यह कहती हैं कि हमें बचावो। अर्थात् मछली मारना पाप है—इस विषय पर इस सूक्त में प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार दो परिणाम निकले। एक तो यह कि मंत्र-द्रष्टा ने संसार से निर्वेद प्राप्त करने की शिक्षा मंत्र में देखकर अपनी उपाधि मत्स्य रखली है और इसी कारण उसका नाम मत्स्य पड़ गया है। दूसरा यह है कि यहाँ पर इस सूक्त में मत्स्य-सम्बन्धी विषय है—अतः इसे मत्स्यों का आर्ष कहा गया है।

अब थोड़ा परम्परा से प्राप्त तथ्यों को दृष्टि में रखकर विचार किया जाता है। यास्क ने "वेदयन्ते" क्रिया का प्रयोग किया है। जिसका अर्थ यह है कि कुछ लोग ऐसा जानते अथवा मानते हैं। दुर्गाचार्य लिखते हैं कि [1] मत्स्यवधकारुण्य से युक्त हुये ऋषि का यह आर्ष है। मत्स्यों का आर्ष है—ऐसा कई लोग मानते हैं।

दुर्ग का यह कहना इस बात का द्योतक है कि यह यास्क प्रदर्शित विचार कुछ लोगों का मत है। वास्तविक विचार तो यह है कि यह मत्स्यों के वध से करुणा के वश में हुये ऋषि का दर्शन है। अर्थात् इस सूक्त का द्रष्टा ऋषि मत्स्यवध से उत्पन्न हुई करुणा से युक्त है।

सर्वानुक्रमणी [2]८।४४ में इस सूक्त के विषय में इस प्रकार का वर्णन मिलता है—"त्यान्नु क्षत्रियान् ऋ० ८।६७।१आदि २१ मंत्रों का ऋषि सांमदनामी मत्स्यराज का पुत्र है। अथवा मित्रावरुण का पुत्र मान्य इसका ऋषि है। अथवा जाल में पड़े हुये बहुत से मत्स्यों द्वारा आदित्यों की स्तुति की गयी है"।

बृहद्देवताकार शौनक लिखते हैं कि [3] इस सूक्त के देवता आदित्यगण हैं। धीवर लोगों ने सारस्वत जल में मछलियों को देखकर जाल डालकर उन्हें बाहर फेंका। शरीरपात के भय से इन्होंने अदिति के पुत्रों की स्तुति की। इत्यादि।

१—ऋषेर्वा मत्स्यवधकारुण्याभिभूतस्यैतदार्षम्। मत्स्यानां केचिन्मन्यन्ते।

२—त्यान्नु सैका मत्स्यः सांमदो मैत्रावरुणिर्मान्यो वा।
बहवो वा मत्स्या जालनद्धा आदित्यानस्तुवन्॥
सर्वा० ८।४४

३—आदित्यदेवतं सूक्तं त्यान्वित्यत्र परन्तु यत्। ८८
धीवराः सहसा मीनान् दृष्ट्वा सारस्वते जले।
जालं प्रक्षिप्य तान् बद्ध्वोदक्षिपन् सलिलात् स्थलम्॥ ८९
शरीरपातभीतास्ते तुष्टुवुश्चादितेः सुतान्।
मुमुचुस्तांस्ततस्ते च प्रसन्नास्तान् समूदिरे॥ ९०

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

बृहद्देवता (५।१४०–१५५) में एक और भी वर्णन मिलता है, जो इस प्रकार है—

[1]अदिति से मित्रावरुण पैदा हुये। इन दोनों ने सत्र में उर्वशी अप्सरा को देखा और इनका रेत गिर गया। वह रेत वासतीवर घड़े में गिरा। उससे ही क्षणमात्र में दो बलशाली तपस्वी ऋषि पैदा हुये। उनका नाम अगस्त्य और वसिष्ठ है। मित्रावरुण का रेत बहुत प्रकार से पड़ा। वह कलश में भी पड़ा और जल तथा स्थल में भी पड़ा। स्थल में वशिष्ठ ऋषि पैदा हुये। कुम्भ में अगस्त्य पैदा हुये और जल में महाद्युति मत्स्य पैदा हुआ। उससे अगस्त्य निकले जो महातपस्वी थे और शम्यामात्र थे। वे मान अर्थात् माप से मापे गये अतः मान्य कहलाये। अथवा कुम्भ से ये पैदा हैं अतः कुम्भ से ही मापे जाते हैं। कुम्भ यह परिमाण का नाम है। इससे जलों के ग्रहण करने से उनमें वसिष्ठ अन्तरिक्ष में स्थित हुये। विश्वेदेवों ने उन्हें सब तरफ से धारण किया।

शतपथब्राह्मण १३।४।३।१२ में कहा गया है कि मत्स्य सांमद राजा कहा गया है। जलचर उसकी प्रजायें थीं। मत्स्य और मत्स्यघ्न उसके पास जाते हैं। उनका उपदेश इतिहासवेद करता है। शतपथ का वचन निम्न प्रकार है—

मत्स्यः सांमदो राजेत्याह तस्योदकेचरा विशस्त इम आसत इति मत्स्याश्च मत्स्यहनश्चोप समेता भवन्ति तानुपदिशतीतिहासो वेदः सोऽयमिति। श० १३।४।३।१२

धीवराः क्षुद्भयं मा वो भूत् स्वर्गं प्राप्स्यथेति च।
उतेति माता चैतेषां तृचेनाभिष्टुतादितिः॥ ९१

—बृहद्देवता

१—तयोरादित्ययोः सत्रे दृष्ट्वाप्सरसमुर्वशीम्।
रेतश्चस्कन्द तत्कुंभे न्यपतद्वासतीवरे॥

तेनैव तु मुहूर्त्तेन वीर्यवन्तौ तपस्विनौ।
अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च तत्रर्षी सम्बभूवतुः॥

बहुधा पतितं रेतः कलशे च जले स्थले।
स्थले वसिष्ठस्तु मुनिः सम्भूतः ऋषिसत्तमः॥

कुम्भे त्वगस्त्यः सम्भूतो जले मत्स्यो महाद्युतिः।
उदियाय ततोऽगस्त्यः शम्यामात्रो महातपाः॥

मान्येन संमितो यस्मात्तस्मान्मान्य इहोच्यते।
यद्वा कुम्भादृषिर्जातः कुम्भेनापि हि मीयते॥

कुम्भ इत्यभिधानं परिमाणस्य लक्ष्यते।
ततोऽप्सु गृह्यमाणासु वसिष्ठः पुष्करे स्थितः॥

सर्वतः पुष्करे तं हि विश्वेदेवा आधारयन्।

(बृ० ५।१४९–१५५)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इन सब उद्धरणों से निम्न परिणाम निकलते हैं—

१—इस सूक्त के आदित्यगण देवता हैं। मैत्रावरुणि मान्य, अथवा मत्स्य सांमद अथवा जाल में फँसे हुये बहुत से मत्स्यों द्वारा बन्धनमोक्ष के लिए आदित्यों की स्तुति की गयी है।

२—सूक्त के देवता आदित्यगण हैं। सारस्वत जल में मत्स्यों को देखकर धीवरों ने जाल डाला और उन्हें पकड़कर बाहर निकाल लिया। भय से इन मत्स्यों ने आदित्यों की प्रार्थना की और इन्हें छोड़ दिया गया।

३—मित्रवरुण ने सत्र में अप्सरा उर्वशी को देखा और उनका रेत गिर गया। वासतीवर कुम्भ में गिरने से अगस्त्य पैदा हुये, स्थल में गिरने से वसिष्ठ पैदा हुये और जल में गिरने से महाद्युति मत्स्य पैदा हुआ।

४—मत्स्य सांमद राजा है, जलचर उसकी प्रजा हैं और उसको मत्स्य और मत्स्यघ्न प्राप्त होते हैं—ऐसा इतिहासविज्ञान बतलाता है।

इनमें प्रथम विचार से यह पता लगता है कि प्रीतिवादी इतिहास को स्वीकार कर ऋषि कल्पित करके उनकी उपाधियाँ रखली गयीं और उनके द्वारा ये मन्त्र व्यवहार में मत्स्य-रक्षा के लिए आदित्यों की स्तुति में विनियोग पक्ष पर प्रकाश डालते हैं। यदि मान्य को लेकर इस सूक्त के विनियोग की संगति लगायी जावे तब भी ऋग्वेद ७।३३।११ के अनुसार वह नित्येतिहास-बीज को लिए हुये है। यदि मत्स्य सांमद को लिया जावे तो वह भी कल्पित इतिहास को लिए हुये है जैसा कि ऊपर दिये गये प्रमाणों में मिलता है। यदि जाल में फंसे मत्स्यों को लिया जावे तब भी ये कल्पित सामान्यव्यक्ति ठहरेंगे और इस सूक्त के विनियोग-की संगति के साधक मात्र होंगे। तीसरा परिणाम इस कल्पित इतिहास की भित्ति बताता है और वह अधिदैव प्रक्रिया को गर्भ में लेकर नित्य आख्यान पर प्रकाश डालता है। देवयुग का वर्णन आख्यान से किया जाता है। उस देवयुग में सृष्टि की रचना का प्रकार ही एम सत्र है। वह सत्र देवगणों के क्षेत्र द्यु आदि लोकों में हुआ तथा अन्तरिक्ष ही उसका कुम्भ है। यह ही उस यज्ञ का वासतीवर कुम्भ है। मित्रावरुण प्राण और उदान हैं। इनसे जल कैसे बने इसका सत्र इन्होंने प्रारंभ किया। विद्युत् को देखकर इनसे जल पैदा हो गया। उसका नाम वसिष्ठ है। ऊष्मा और गुरुत्व का नाम मान्य है। जल में मित्रावरुण की जो शक्ति जीवन-धारण देती है वही मत्स्य है। विना उसके कोई प्राणी जल में जीवित नहीं रह सकता है। इसलिए जलचर प्राणी मैत्रावरुण हैं। महाद्युति मत्स्य यही शक्ति है। यही जलचर जीवों को हर्षित रखती है अतः यही सांमद है। जब जल में यह शक्ति विकृत होने लगती है बाहरी विकारों से, जिन्हें कि विकृत वायु कहा जाता है तब आदित्य जीवनशक्तियों को पुनः संचारित कर जलचरों के जीवन को बचाता है। इसी को यहाँ पर व्यावहारिक रूप में कल्पित

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इतिहास से समझाने का प्रयत्न किया गया है। चौथा परिणाम इस सांमद के स्वरूप पर प्रकाश डालता है।

तीसरे परिणाम में कल्पना गढ़े हुये इतिहास के उस अंचल पर आ गयी है जिसमें विनियोग का भाव बिल्कुल खुला हो गया है। मछली और उनके मारने वाले धीवरों को भी यहां पर दिखला दिया गया है। सारस्वत जल से सरस्वती नदी का पानी भी कल्पित कर लिया गया है। यह विनियोग को लेकर स्थूल कल्पना है। अगर सांमद मीन के इतिहास से इसको मिलाना चाहें तो मिला भी सकते हैं। सरस्वती पद का अर्थ नदीसामान्य भी है और देवता रूप में आकशस्थ वाणी एवं माध्यमिक वाणी विद्युत् भी है। जहां देवसृष्टि में ऐतिहासिक कल्पना से भिन्न भिन्न भौतिक पदार्थ ऋषि नाम से लिए गये हैं वहां सरस्वती नदी भी ऐसी भौतिकी जलधारा का नाम है जो मेघ की गर्जना से पैदा होकर अन्तरिक्ष में स्यन्दमान होती रहती है। वास्तविक रूप से यह भी वही जल धारा होगी जिसमें सांमद मीन का उत्पन्न होना बतलाया गया है। मित्रावरुण के रेत के जल में गिरने से मत्स्य की उत्पत्ति की जो बात पूर्व कही गयी है वही यहां पर भी दृष्टिगत होगी। अन्तरिक्ष में विद्यमान जल कहें अथवा सारस्वत जल कहें दोनों में कोई अन्तर नहीं। इस प्रकार वहां पर यह स्पष्ट है कि काल्पनिक इतिहास की प्रक्रिया विनियोग पर संगत की गयी। साथ ही ये इतिहास इस रूप में दिखलायी पड़ते हैं कि तीनों प्रक्रियावों में संगति लगायी भी जा सकती है। इस सूक्त के ऋषि इसी कल्पित इतिहास के अनुसार माने गये। ये ऋषि मछली आदि नहीं हैं। इन उपाधियों से युक्त व्यक्ति हैं।

एक बात यहां पर और भी विचारणीय है। वह यह है कि वसिष्ठ और अगस्त्य ऋषि तारों में भी हैं। उनके भी ये नाम हैं। वसिष्ठ भी तारा है। अरुन्धती भी तारका है। इसी प्रकार मत्स्य भी एक तारा है। मत्स्यवेध भी उसी से सम्बन्ध रखता है। ध्रुव से लेकर मत्स्यवेध तक सीधी लकीर खींचने पर सूर्योदय की दिशा का ज्ञान होता है। इसे ही पुच्छल तारा भी कहा जाता है। यदि वशिष्ठ तारा है और अगस्त्य तारा है तथा इनके नाम इतिहासप्रक्रिया वालों ने ऋषि के रूप में मनुष्यों में भी कल्पित कर लिए तो मत्स्य का नाम भी ऋषि के रूप में इसी आधार पर कल्पित किया जा सकता है। इसीलिए "मत्स्याः" पद से इस उपाधि अथवा नाम वाले ऋषि ग्रहण किये जा सकते हैं।

कुछ विशेष शब्दों के अर्थ भी यहां पर दिये जाते हैं जो यास्क की दृष्टि के समझने में सहायक होंगे—

निरुक्त ५।१५ पर यास्क ने ऋग्वेदीय (६।६८।१२) में आये वाजपस्त्यम् और वाजगन्ध्यम् का अर्थ क्रमशः "वाजपतनम्" और "प्रतिविशिष्टान्नसमानगन्धम्" इत्यादि अर्थ किये हैं। पुनः इसी स्थल पर ऋग्वेदीय (८।३।२१) मन्त्र में आये "कौरयाणः" का अर्थ कृतयानः किया है। पुनः इसी स्थल पर "तौरयाणः" का अर्थ "तूर्णयानः" किया है। वहीं पर पुनः (ऋ० ४।४।१४) के "अह्रयाणः" का अर्थ "अह्रीतयानः" तथा ऋग्वेदीय (८।२५।२२) हरयाणः का अर्थ हरमाणयानः

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

किया है। यास्क नि० ६।३० पर "शिरिम्बिठ" (ऋ० १०।१५५।१) पद का अर्थ मेघ किया है क्योंकि बिठ और वीरिट पद अन्तरिक्षवाची हैं। उसमें शीर्ण होने से 'शिरिम्बिठ' मेघ है। अथवा शिरिम्बिठ भारद्वाज अर्थात् भरद्वाज का पुत्र है। भरद्वाज अर्थात् अन्न का भरण करने वाला। अतः सूर्य भरद्वाज हुआ। उसका पुत्र मेघ भारद्वाज हुआ। वहीं पर ऋग्वेदीय (७।१८।२१) में पराशर का अर्थ पराशीर्ण का पुत्र माना है। साथ ही वसिष्ठ स्थविर का पुत्र भी इतिहास को दिखाने के लिए माना है। वसिष्ठ जल है—यह पूर्व बतलाया जा चुका है। "शतयातुः" और "वसिष्ठ" पद भी इसी मन्त्र में आये हैं जिनका अर्थ यौगिक लिया है। प्रमाणरूप में ऋग्वेद ७।१०४।२१ को भी उद्धृत किया गया है जिसमें इन्द्र को पराशर कहा गया है। मन्त्र में लिखा है—इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरः—अर्थात् इन्द्र यातुवों का शातन करने वाला है। पुनः वहीं पर ऋग्वेदीय (१।१६६।६) क्रिविर्दती का अर्थ विकर्त्तनदन्ती किया है जो विद्युत् का विशेषण है। काटने का औजार भी इसका अर्थ है। निरुक्त ६।३ पर ऋग्वेदीय (१।१६२।१) इन्द्र, ऋभुक्षा और आयु का अर्थ क्रमशः इन्द्र, अयन और उरुक्षयण अथवा ऋभुवों का राजा किया गया है। निरुक्त ११।१६ पर ऋग्वेदीय (१।११०।४) "सौधन्वना" का अर्थ करते हुये लिखा है कि—सुधन्वा आंगिरस के तीन पुत्र हैं—प्रथम (अग्नि) उत्तम (सूर्य) और मध्यम (वायु)। इनमें प्रथम और उत्तम के विषय में बहुत से निगम पाये जाते हैं, मध्यम के नहीं। परन्तु "ऋभु" के बहुवचन में ऋग्वेद में तथा चमस के संस्तवन से बहुत से सूक्त पाये जाते हैं। आदित्यरश्मियाँ भी ऋभु कही जाती हैं।

वेद से भी कुछ शब्दों के अर्थ दिखाये जाते हैं—

प्रियमेधाः द्युलोकस्थ आदित्य रश्मियाँ है। इसमें ऋग्वेद का निम्न मन्त्र है—
वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।

ऋग्वेद १०।७३।११

अत्रि का अर्थ अग्नि है और अत्रयः का अर्थ पृथिवीस्थ अग्निधारायें हैं—
इसमें ऋग्वेद का निम्न प्रमाण है—

(१) ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीतमुन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति।

ऋग्वेद १।११६।८

(२) यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः।
अत्रयस्तमन्वविन्दन् नह्यन्ये अशक्नुवन्॥

ऋग्वेद ५।४०।६

विरूपासः का अर्थ जल में रहने वाली प्रकाश शक्तियाँ है—

ये अग्नेः परिजज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि।
नवग्वोनु दशग्वो अंगिरस्तमः सचा देवेषु मंहते॥

ऋग्वेद १०।६२।६

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अंगिरसः का अर्थ अन्तरिक्ष में रहने वाली विद्युत्तरंगें हैं—

अधा मातुरुषसः सप्तविप्रा जायेमहि प्रथमो वेधसो नृन् ।
दिवस्पुत्रा अंगिरसो भवेमाद्रि रुजेम धनिनं शुचन्तः ॥

ऋग्वेदीय ४।२।१५

इस प्रकार संक्षेप में इतिहास के प्रकार का दिग्दर्शन कराया गया । यही है वास्तव में वैदिक इतिहास का स्वरूप । इससे अगले प्रकरण में मैकडानल और कीथ के द्वारा संगृहीत शब्दों पर विचार करके उनका निर्णय किया जावेगा कि ये व्यक्तिवाचक नाम नहीं और न इनसे किसी व्यक्तिविशेष का इतिहास ही सिद्ध होता है ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तृतीय प्रकरण

वैदिक इण्डेक्स में दिये गये नामों का विवेचन

दूसरे प्रकरण में वैदिक इतिहास के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया। इस प्रकरण में उन नामों का विवेचन किया जाता है जिन्हें इतिहासपक्षी व्यक्तिवाचक नाम मानते हैं। मैं पूर्व लिख चुका हूँ कि वैदिक इण्डेक्स पुस्तक इतिहासवादियों के पास एक बड़ा भारी दुर्लंघ्य साधन है। इतिहास के निराकरण के मार्ग में यह एक ऐसी भित्ति है जिसका पार कठिनाई से किया जा सकता है। एक ही पुस्तक में इतने नाम संगृहीत कर दिये गये हैं कि उनका समाधान करना बहुत कठिन कार्य हो जाता है। वेदों में इतिहास नहीं, इस पक्ष को सिद्ध करने के लिए दश पाँच प्रसिद्ध नामों का निराकरण करने का प्रयास तो बहुत से लोगों ने किया है परन्तु गढ़ को तोड़ने का प्रयत्न आज तक नहीं हुआ है। इस प्रस्तुत प्रकरण में उन नामों की व्याख्या, यौगिकता, अव्यक्तिवाचकता आदि पर विचार करके यह सिद्ध किया जावेगा कि वेदों में आये हुये ये पद किन्हीं व्यक्तिविशेषों के नाम नहीं है। ये पदार्थसामान्य के वाचक हैं। यहाँ इन पदों का अर्थ देने में यह विशेषता बर्ती जावेगी कि इनके दिये गये अर्थों के आधार पर एतत् सम्बन्धी मन्त्रों और सूक्तों की अर्थ-सङ्गति लगायी जा सके। ऐसा कर देने से इतिहासवादियों का यह दुर्भेद्य गढ़ सदा के लिए ढह जावेगा।

अगस्तिः—

वैदिक इण्डेक्स के रचयिता का कथन है कि "अगस्ति" मित्र और वरुण का प्रियपात्र है तथा यह नाम अगस्त्य के नाम का एक रूप है। यह अथर्ववेद ४।२९।३ में आया है।" परन्तु यह कोई व्यक्ति नहीं। पापरहित मनुष्य अगस्ति है। अथवा अगान् वृक्षान् स्त्यायत इति

अगस्तिः—

अर्थात् वृक्षों को संघात में लाने वाली उष्णता, भौमोष्मा का नाम अगस्ति है। निष्पाप विद्वान् भी अगस्ति है।

अगस्त्य—

इण्डेक्स के अनुसार यह ऋषि का नाम है। मान का पुत्र है अतः उसे मान्य कहा गया है। बाद की गाथावों में उसे मित्र और वरुण का पुत्र बतलाया गया है।

यहाँ पर इण्डेक्स कार के समझने में त्रुटि है। ऋग्वेद के ७ वें मण्डल के ३३ वें सूक्त के सायण के अनुसार वसिष्ठ पुत्र देवता हैं और उनका इन्द्र से सम्वाद वर्णित हैं। इस सूक्त के १० वें मन्त्र में अगस्त्य पद आया है। १३ वें मन्त्र में उसे "मान" कहा गया हैं। यहाँ "मान" का

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अर्थ अगस्त्य है और वह "मान" का पुत्र है—यह कल्पना ग़लत है। इसका विवेचन मैंने प्रकरण दो में वशिष्ठ और अगस्त्य के इतिहास की आलोचना के अवसर पर कर दिया है। मान का पुत्र होने से "मान" भी अगस्त्य है और "मान" का पुत्र होने से "मान्य" भी अगस्त है—यह एक विचित्र ही कल्पना है। ऐसे ही ऋग्वेद १।१६५।१५ मन्त्र का ऋषि चूँकि "अगस्त्य" है अतः इस मन्त्र में आये "मान्यस्य कारोः" पदों में पड़े 'मान्य' का अर्थ इण्डेक्सकार ने "मान" का पुत्र अगस्त्य कर लिया है। वस्तुतः यहाँ पर "मान्यस्य" का अर्थ माननीय अथवा प्रतिष्ठित है। और "कारु" शब्द का अर्थ स्तोता है। "माननीय स्तोता के" यह इन पदों का अर्थ है। इण्डेक्स वालों को यह भी पता नहीं चला कि सायण ने भी यहाँ पर "माननीय" अर्थ ही किया है। ऋग्वेद १।१६६।१५; १।१६७।११; १।१६८।१०; में ये "मान्यस्य कारोः" पद समानरूप से आये हैं और यहाँ पर भी वही अर्थ है। सायण ने भी बहुधा यही अर्थ यहाँ पर किये हैं। ऋग्वेद १।१६५।१४ में "मान्यस्य मेधा" पद आये हैं। यहाँ पर भी माननीय विद्वान ही अर्थ अभिप्रेत है। सायण भी ऐसा ही अर्थ करता है। ऋग्वेद १।१७७।५, १।१८५।४ में भी "मान्य" पद आया है परन्तु यहाँ पर भी "माननीय" अर्थ में ही हैं और "कारोः" पद के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। "मान्यस्य कारोः" पद जहाँ पर भी आये हैं वहाँ पर "मान्य" पद "कारु" का विशेषण है। सायण ने भी इन सभी स्थलों पर ऐसे ही अर्थ किये हैं। इण्डेक्स वालों की यह विचित्र कल्पना है कि "मान्य" शब्द का साधारण "माननीय" अर्थ न लेकर "मान" का पुत्र अर्थ लेते हैं। ऋग्वेद १।१८७।८ मन्त्र में "मानस्य सूनुः" पद पड़े हैं। इसको देखकर शायद इण्डेक्स वालों को भ्रम हुआ हो। परन्तु यहां भी उनका अभिप्राय सिद्ध नहीं होता है। यहाँ पर भी "मान का पुत्र" ही अर्थ बन सकता है। अथवा "मन्त्र का पुत्र" होने से यज्ञ की अग्नि "मानस्य सूनुः" है। सायण ने ऐसा ही अर्थ किया है। यहाँ पर मान का अर्थ सम्मान और मन्त्र आदि हैं। ऋग्वेद १।११७।११ में "सूनोमनिनेश्विना गृणाना" पद आये हैं। यहाँ पर भी इण्डेक्सकार ने अपनी कल्पना सिद्ध करने का प्रयास किया है। परन्तु यह स्थल उसका पक्षपोषक नहीं है। यहाँ पर तो "अगस्त्य" पद भी मन्त्र में ही सप्तमी विभक्ति में पड़ा है। यदि सूनोः मानेन का अर्थ अगस्त्य है तो फिर अगस्त्य पद की पृथक् आवश्यकता नहीं थी। यदि केवल "सूनुः" शब्द का अर्थ अगस्त्य है तो "मान" का अर्थ मानपुत्र अगस्त्य है—यह बात झूँठी पड़ेगी। साथ ही "सूनु" पद साधारण पद है और पुत्र का वाचक है। उसका अर्थ अगस्त्य हो नहीं सकता है। "सूनोः" पद यहाँ पर छठीं विभक्ति में है और "मानेन" तृतीया विभक्ति में है। दोनों का "अगस्त्य" अर्थ के प्रकाशन में अन्वय नहीं बनता है। अगर यहाँ पर मन्त्र के प्रथम खण्ड का अर्थ यह लिया जावे कि "हे अश्विनौ" पुत्र के मान से स्तूयमान आप लोगों ने मेधावी को अन्न प्रदान करते हुये अगस्त्य पर मन्त्र से बढ़ते हुए विश्पला को आयसी जंघा से युक्त किया है"—तो फिर अगस्त्य को अश्विनी का पुत्र मानना पड़ेगा। क्योंकि "पुत्र के मान से" पदों से अगस्त्य में अन्वय करने पर यही ध्वनि निकलेगी। सबसे बड़ी कठिनाई यह होगी कि इस कल्पना से मन्त्र का अर्थ ही स्पष्ट नहीं हो सकेगा। सायण ने भी "मान" पद का अर्थ स्तोत्र किया है। ऐसी स्थिति में वैदिक इण्डेक्सकार की कल्पना व्यर्थ पड़ जाती है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वैदिक इण्डेक्सकर्ता ने ऋ० १।११७।११ में भी "मानस्य सूनुः" पाठ माना है। यह उसका भ्रम है। यहाँ पर "सूतोर्मानेन" पाठ है। अगस्त्य कोई व्यक्तिवाचक व्यक्ति है—इस कल्पना को निराधार करने के लिए मैं और भी प्रमाण प्रस्तुत करता हूँ। ऋग्वेद ८।५।२६ में भी अगस्त्य पद आया है। यहाँ पर "अंशु" "अगस्त्य", सोभरि" पद आये हैं। इससे पूर्व २५ वें मन्त्र में कण्व, प्रियमेध, उपस्तुत, और अत्रि पद आये हैं। कण्व मेधावी को कहते हैं—यह पूर्व बतलाया जा चुका है। प्रियमेध और अत्रि भी यजमान अथवा विद्वान् मनुष्य हैं—यह पूर्व दिखला चुके हैं। उपस्तुत का अर्थ स्तुति करने वाला है। अंशु शब्द का अर्थ सोम है। निरुक्त ५।११ को इसके लिए प्रमाण माना जा सकता है। वहीं पर मन्त्र भी दिया गया है। ऋग्वेद १०।६४।६ और निरुक्त २।५ में अंशु शब्द का अर्थ सोमांशु लिया गया है। इस प्रकार अंशु व्यक्तिवाचक नाम नहीं। अगस्त्य पद निर्दोष विद्वान् और यजमान के लिए है। सोभरि का अर्थ अच्छी प्रकार पालन करने वाला अर्थात् यजमान, राजा, अन्नदाता वा धनवान् होगा। इस प्रकार इस मन्त्र (८।५।२६) का अर्थ होगा कि हे अश्विनौ! (राजा और धनिक) आप जिस प्रकार प्राप्तव्य धन में सोम का संग्रह करते हैं, जिस प्रकार गायों की रक्षा में लगे निर्दोष मनुष्य की रक्षा करते हैं, जिस प्रकार धनों के एकत्र करने में उत्तम पालनकर्ता अथवा दाता की रक्षा करते हैं—वैसे ही मुझ यजमान की भी रक्षा करें।" अश्विनी पद का अर्थ पूर्व दिया जा चुका है। ऋग्वेद १।१७०।३ में इन्द्र देवता के द्वारा अगस्त्य को भ्राता कहके सम्बोधन किया गया है। चूँकि इन्द्र यज्ञ का महान् देवता है अतः यजमान आहुति आदि देने के कारण भ्राता है। इसलिए अगस्त्य का अर्थ यहाँ पर यजमान है। सायण ने भी भ्राता का अर्थ ऐसा ही किया है यद्यपि अगस्त्य का अर्थ करने में वह ग़लती कर गया है। ऋग्वेद १०।६०।६ में अगस्त्य को प्रजा बल आदि की कामना करने वाला और खनित्र से यज्ञवेदी का खनने वाला कहा गया है। साथ ही उसे ऋषि अर्थात् मन्त्रज्ञ एवं काम और तप का प्राप्त करने वाला और विद्वानों का आशीर्वाद प्राप्त करने वाला कहा गया है। अतः यह स्पष्ट है कि यहाँ पर अगस्त्य का अर्थ निर्दोष विद्वान् यजमान है। यहाँ पर मन्त्र में "खनित्र से खनने वाला" और प्रजा तथा "अपत्य की इच्छा करने वाला" पद स्पष्ट ही पड़े हैं।

इससे भी प्रबल प्रमाण हमारे इस पक्ष की सिद्धि में ऋग्वेद १।१८०।८ में मिलता है। यहाँ पर मन्त्र में अगस्त्य को नरों के नेतावों में प्रशस्त कहा गया है। यहाँ स्पष्ट कर दिया गया कि यह एक सामान्य नाम है और विद्वान् एवं श्रेष्ठ मनुष्य के अर्थ में प्रयुक्त है। मन्त्र में "नरां नृषु प्रशस्तः" पद पड़े हैं।

मान का पुत्र "मान्य" मानकर भी अगस्त्य कोई व्यक्तिविशेष नहीं ठहरता है। ऋग्वेद में मान शब्द ८ या १० स्थानों पर आया है परन्तु कहीं पर वह व्यक्तिवाचक नहीं है हाँ! यदि "मानासः" पद से यह भ्रम हुआ तो भी ठीक नहीं। क्योंकि ऋग्वेद १।१७१।५ में "मानासः" का अर्थ मान्य एवं स्वाभिमानित है। सायण भी ऐसा ही अर्थ करता है। ऋग्वेद १।१८४।५ में "मानेभिः" पाठ आया है। वहाँ पर भी यही मान अर्थ ही ठीक है। सायण ने इसका हविष्प्रदान-रूप मान अर्थ किया है। इस प्रकार जब मान ही कोई व्यक्तिविशेष नहीं तो उसका पुत्र मान्य अगस्त्य भी व्यक्तिविशेष नहीं हो सकता है। ऋग्वेद ७ वें मण्डल के ३३ वें सूक्त के देवता वसिष्ठपुत्र

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हैं—इससे भी इस विषय में कुछ प्रमाण नहीं मिल सकता है। वसिष्ठ, का अर्थ जल प्राण और तपस्वी है। अतः जल, प्राण के विकार और तपस्वी विद्वान् के पुत्र मंत्र के विषय बन सकते हैं।

इस विचारणा के अनन्तर परिणाम यह निकला कि अगस्त्य कोई व्यक्तिवाचक नाम नहीं। वैदिक इण्डेक्सकार का कथन निरर्थक है। अगस्त्य के विद्वान्, यजमान्, निर्दोष पुरुष, भौमोष्मा, नक्षत्र आदि अनेक अर्थ प्रक्रिया के अनुसार हो सकते हैं।

अङ्ग—

"अङ्ग" पद के अवयव, शीघ्र, सम्बोधन आदि अनेक अर्थ हैं। ऋग्वेद १।२।६ में "अङ्ग" सम्बोधन अर्थ में है। ऋग्वेद १।८४।८ में अङ्ग पद शीघ्र अर्थ में प्रयुक्त है। यास्क ने निरुक्त ११।१७ में क्षिप्र नाम में माना है। अथर्व ५।२२।१४ में भी अङ्ग पद आया है। वैदिक इण्डेक्स-कर्ता इसे स्थानविशेष का नाम समझते हैं। उनका कथन है कि मूजवत, गान्धारि आदि शब्दों के साथ यह भी आया है अतः यह स्थानविशेष है। वह समझता है कि अङ्ग, मगध, वङ्ग आदि जो आज कल स्थान हैं उन्हीं में से अङ्ग का वर्णन अथर्व वेद में आया है। परन्तु यह कथन निराधार है। अङ्ग शब्द व्यक्तिवाचक नहीं है। वह सामान्य शब्द है। इसका तात्पर्य उस स्थान से है जहाँ पर नमी रहती हो और मच्छर आदि पैदा होते हों। अथर्व के इस स्थल पर जितने भी स्थान वर्णित किये गये हैं वे ऐसे स्थान हैं जहाँ पर मलेरिया उत्पन्न होता है। इसी प्रकरण में महा-वृषा पद भी आया है। इसका अर्थ अधिक वर्षा वाला स्थान है। इसी प्रकार गान्धार का अर्थ बदबू वाला स्थान है। मूजवत का अर्थ मूज वाला अथवा पार्वतीय प्रदेश है। अङ्ग नमी वाले स्थान और मगध सड़े गले पदार्थों वाले स्थान को कहते हैं। ये नाम नहीं हैं बल्कि ऐसे स्थानों को बताने वाले शब्द सामान्य हैं। इनसे स्थानविशेष का ग्रहण करना निराधार है। बाद में लोगों ने इन्हीं आधारों पर प्रदेशों का नाम रख लिया होगा।

अङ्गिरस्—

वैदिक इण्डेक्स के रचयिता ने यह तो स्वीकार किया है कि ऋग्वेद के जिन प्रकरणों में "अङ्गिरस्" का वर्णन है वे ऐतिहासिक प्रकार के नहीं कहे जा सकते। परन्तु फिर भी वह मानता है कि यह अङ्गिरस् जाति का पिता है। तथा यह सुनिश्चित है कि अङ्गिरावों के परिवार थे और उनके कर्म-काण्ड की विधि अयन द्विरात्र है।

वस्तुतः यहाँ पर भी वैदिक इण्डेक्स के कर्त्ता का कथन सारहीन है। अंगिरा व्यक्तिवाचक नाम वेद में है ही नहीं। यह सामान्य शब्द है और अनेक अर्थों में प्रयुक्त है। ऋग्वेद १।१।६ में "अङ्गिरः" पद सम्बोधनान्त है और अग्नि को सम्बोधित किया गया है। इससे प्रकट है कि अग्नि अंगिरा है। ऋ० १।३१।१७ में अग्नि के विशेषणरूप में अंगिरः शब्द प्रयुक्त है। ऋ० १।११२।१८ में विद्वान् के अर्थ में अंगिरः का प्रयोग है। ऋ० २।२३।१८ में इन्द्र के सम्बोधनान्त विशेषण के रूप में अंगिरः और बृहस्पति पद प्रयुक्त हुये हैं। ऋ० ४।३।१५ में "अगिरः" अग्नि के लिए प्रयुक्त है। ऋ० ४।९।७ में अग्नि के लिए प्रयुक्त है। ऋ० ५।८।४ में अग्नि के लिए है। ऋ० ५।१०।७ में भी अंगि के विशेषण के रूप में है। ऋ० ५।११।६ में

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अंगिरः अग्नि का सम्बोधनान्त विशेषण है। उसी मंत्र में अग्नि को सहसः पुत्रः भी कहा गया है। इसी मंत्र में "अङ्गिरसः" पद भी आया है जिसका अर्थ अग्नि—विद्याविद् विद्वान् है। ऋ० ५।२१।१ में सम्बोधनान्त विशेषण के रूप में अग्नि के लिए प्रयुक्त हुआ है। ऋ० ६।२।१ में अग्नि के लिए अंगिरः शब्द का प्रयोग हैं। ऋ० ६।१६।११ में अंगिरः अग्नि कासम्बोधन है। ऋ० ८।६०।२ में अग्नि के लिए प्रयुक्त है। ऋ० ८।७४।१२ में अग्नि के लिए अंगरिः सम्बोधन है। ऋ० ८।७५।५ में अग्नि के लिए प्रयुक्त हुआ है। ऋ० ८।८४।५ में भी अग्नि के लिए प्रयोग हुआ है। ऋ० ८।१०२।१७ में अग्नि का सम्बोधन अंगिरः प्रयुक्त है।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद १।३१।१ में अग्नि का वर्णन करते हुये कहा गया है कि हे अग्ने! तू ही प्रथम और अंगिरा ऋषि है। मंत्र के वाक्य इस प्रकार है—त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिः॥ इससे स्पष्ट होगया कि अंगिरा कोई व्यक्तिविशेष अथवा किसी विशेष जाति का पूर्वज नहीं है। वह सामान्यवाचक पद है, व्यक्तिवाचक नहीं। शतपथ [१]६।१।२।२८, ६।५।२।३-४ में प्राण को अंगिरा कहा गया है। पुनः शतपथ [२] १।४।१।२५ में अग्नि को अंगिरा कहा गया है। निरुक्त [३] ३।१७।१ के अनुसार तपस्वी यजमान अंगिरा है। इस अंगिरा शब्द को लेकर पहले प्रकरणों में भी मैंने प्रकाश डाला है। पाठकों को वहाँ पर भी देख लेना चाहिए। देवसृष्टि के वर्णन में भी दूसरे प्रकरण में इस शब्द पर प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त व्याकरण शास्त्र का यह नियम है कि आतिशायिक "तमप्" प्रत्यय गुणवाचक पदों में लगा करता है व्यक्तिवाचक में नहीं। सुन्दर, सुन्दरतर और सुन्दरतम, आदि व्यवहार गुणवाचक पदों में पाया जाता है परन्तु देवदत्त, देवदत्ततर, देवत्ततम आदि व्यवहार नहीं पाया जाता। क्योंकि देवदत्त व्यक्ति का नाम है।

इसी प्रकार अंग्रेजी में Good, Better और Best का प्रयोग पाया जाता है परन्तु Ram, Ramer Ramest का प्रयोग नहीं होता। इस नियम से यदि अंगिरा कोई व्यक्तिवाचक पद होता तो उस में तमप् प्रत्यय नहीं लग सकता था। परन्तु वेद में "अङ्गिरस्तम" आदि प्रयोग भी पाये जाते हैं। ऋग्वेद १।७५।२; ८।४३।१८; ८।४३।२७; ८।४४।८ मंत्रों में सम्बोधनान्त "अगिरस्तम" पद का प्रयोग है। ऋग्वेद १।३१।२ में अग्नि को अगिरस्तम कहा गया है। पुनः १।१००।४ में इन्द्र को अंगिरावों से भी अंगिरस्तम कहा गया है। यहाँ पर अंगिरोभिरङ्गिरस्तमो ऽभूद्—शब्द ही पड़े हैं। ऋ० १।१३०।३ मंत्र में इन्द्र ही अंगिरस्तम है। ऋ० ६।१०७।६ में सोम अंगिरस्तम है। ऋ० १०।६२।६ में भी अंगिरस्तम का प्रयोग है। ऋ० ८।२३।१ में अग्नि को "अंगिरस्तम" कहा गया है। ऋग्वेद ७।७५।१ और ७।७९।३ में "उषाः" को "अंगिरस्मा" कहा गया है।

वैदिक इण्डेक्स में जिन मंत्रों का हवाला दिया गया है। उनमें भी "अंगिराः" पद व्यक्तिवाचक नहीं। ऋग्वेद १।४५।३ मंत्र में अंगिरा, प्रियमेध, अत्रि, विरूप, प्रष्कण्व शब्द आये हैं।

१—प्राणो वा अङ्गिराः॥ श०

२—अङ्गिरा उ ह्यग्निः। श०

३—अङ्गारेष्वङ्गिरा सम्बभूव। निरुक्त

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इससे शायद इण्डेक्स के रचयिता को यह भ्रम हुआ हो। परन्तु यहाँ पर भी उसका मन्तव्य सिद्ध नहीं होता है। इस मंत्र की व्याख्या निरुक्तकार ने नि० ३।१७ पर की है। इन पदों की वहाँ पर निरुक्ति भी कर दी है। मैंने इस विषय को दूसरे प्रकरण में दिखला दिया है। फिर भी निरुक्त के अनुसार स्कन्दस्वामी ने जो अर्थ किया है उसको दृष्टि में रखकर इन अंगिरा आदि शब्दों के अर्थ दिये जाते हैं। मंत्रार्थ यह होगा—हे वेदों के उत्पादक अथवा सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, महान् नियन्तः परमेश्वर। (प्रियमेधवत्) निरन्तर यज्ञ करने वाले अथवा बुद्धिप्रेमी, (अत्रिवत्) तापत्रयरहित अथवा राग द्वेष आदि के भक्षक विद्वान्; (विरूपवत्) विविध विद्यावेत्ता अथवा तपस्वी, (अंगिरस्वत्) यज्ञ आदि में अग्नियों के चयन करने वाले, विद्वानों की भांति मुझ (प्रष्कण्वस्य) मेधावी की स्तुति सुन। ऋग्वेद १।१३९।९ में भी दध्यङ्, अंगिराः, प्रियमेध, कण्व, अत्रि और मनु पद आये हैं। यहाँ पर भी पूर्ववत् अर्थ इन पदों के लिए जा सकते हैं। केवल दध्यङ् और मनु पद अधिक हैं। यजुः ११।३३ के अनुसार शतपथ ६।४।२।३ में वाणी को दध्यङ् कहा गया है। ऋग्वेद १।८०।१६ मंत्र में अथर्वा, मनु और दध्यङ् तीनों ही पद आये हैं। वहाँ पर इनका अर्थ प्रक्रियानुसार विद्वान् और भौतिक पदार्थ दोनों ही हैं। यास्क ने इनकी व्याख्या निरुक्त १२।३४ में की है। यास्क लिखते हैं दध्यङ् प्रत्यक्तो ध्यानामिति वा प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा—मनुर्मननात् अर्थात् ध्यान को प्राप्त होने वाला अथवा जिसमें ध्यान लगा हो उसे दध्यङ् कहा जाता है और मननशील को मनु कहा जाता है। शतपथ ब्राह्मण[1] ६।६।१।१९; ८।६।३।१८; कौषीतकी २६।१७, तैत्तिरीय २।३।८।३ तथा ऐतरेय २।३४ में क्रमशः मनु शब्द से प्रजापति, विद्वान्, आयुः, मननशक्ति और मनुष्य अर्थ अभिप्रेत हैं। इस प्रकार दध्यङ् का अर्थ भी विद्वान् अथवा ध्यानी है। प्रक्रियान्तर से अन्य अर्थ भी हो सकता है। सूर्य, वायु आदि अर्थ भी इसी से निकलते हैं। ऋग्वेद ३।३१।७ में आया "अङ्गिरा" पद भी यजमान और विद्वान् अर्थ को देने वाला है। वह भी इण्डेक्स के पक्ष को पुष्ट नहीं करता। ऋग्वेद ३।३१।७ में भी अंगिरा यजमान के अर्थ में प्रयुक्त है। यहाँ पर स्पष्ट ही लिखा है कि यज्ञ और स्तुति को करता हुआ यजमान अंगिरा बन जाता है। यहाँ पर मंत्र में शब्द भी पड़े हैं—मखस्य नाथाभवदङ्गिराः सद्यो अर्चन्॥ अथर्व १८।४।८ में जो अंगिरावों के अयन का वर्णन है वह तो वैदिक इण्डेक्स की कल्पना के और भी विपरीत पड़ता है। वह यजमान और विद्वान् अर्थ को अधिक स्पष्ट कर देता है। उसमें बताया गया है कि[2] अंगिरावों का अयन पूर्व अग्नि है। आदित्यों का

१—प्रजापति वैं मनुः स हीद ँ सर्वममनुत। श० ६।६।१।१९; ये विद्वान्सस्ते मनवः। श० ८।६।३।१८; आयुर्वै मनुः। कौ० २६।१७; य एवं मनुष्याणां मनुष्यत्वं वेद। मनस्येव भवति नैनं मनुः जहाति। तै० २।३।८।३; अग्निहोता मनुर्वृतोऽयं (अग्निः) हि सर्वतो मनुष्यैर्वृतः। ऐ० २।३४

२—अङ्गिरसामयनं पूर्वो अग्निरादित्यानामयनं गार्हपत्यो दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः। महिमानग्नेर्विहितस्य ब्राह्मणा समङ्गः सर्व उपयासि शग्मः।

अथर्व वेद १८।४।८

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अयन गार्हपत्य अग्नि है और दक्षिणों का अयन दक्षिणाग्नि है। यहाँ पर ब्रह्मचर्याश्रमी अंगिरा हैं, गृहस्थाश्रमी आदित्य हैं और वानप्रस्थाश्रमी दक्षिण हैं। प्रक्रियान्तर से निरुक्त ११।२१ के अनुसार "अंगिरावों" से तीन अर्थ लिए जाते हैं। निरुक्तमत में ये माध्यमिक देवगण हैं और नित्य आख्यान की दृष्टि से ये पितर हैं। तथा भौतिक पदार्थों में परिगणित होने से ऋषि भी कहे जाते हैं। जैसा कि "त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिः" मंत्र में इसी प्रसंग में कह आये हैं। पहले प्रकरण में भी इस पर विचार किया गया। अधिदैवत प्रक्रिया के अनुसार अर्थ करने पर माध्यमिक देवगण होने से इनका अयन पूर्व अग्नि है। आदित्यों का अयन गार्हपत्याग्नि और दक्षिणों का अयन दक्षिणाग्नि बनेगा।

इस प्रकार अंगिरा का अर्थ अग्नि, इन्द्र (विद्युत्) सोम (ऋण विद्युत्) विद्वान् यजमान, प्राण आदि है। बहुबचन में इसके अर्थ विविध विद्यावों के ज्ञाता, मध्यमस्थानी देवगण अर्थात् भौतिक पदार्थ और ऋषि अर्थात् किरण और सृष्टिनिर्माता भौतिक पदार्थ हैं। कर्मकाण्डपक्ष में इनसे कर्मकाण्डी पुरुषों (पितरों) का ग्रहण होता है। अग्नि के अंगारों को भी अंगिरा कहा जाता है। ब्राह्मणग्रन्थों में सृष्टि के पदार्थों का उत्तमता से वर्णन मिलता है। उन में अंगिरावों और आदित्यों का अनेक स्थलों पर वर्णन है।

अघा—

अघा पद को वैदिक इण्डेक्स में संगृहीत किया गया है। परन्तु यह व्यक्तिवाचक नाम नहीं। अघा वस्तुतः मघा नक्षत्र के अर्थ में प्रयुक्त है। मघा नक्षत्र से ही माघ मास बनता है। माघ में ठण्डी अधिक होती है। यह ज्योतिष का नियम है कि चन्द्रमा के हिसाब से महीनों के जो नाम पड़े हैं उन महीनों में पूर्णिमा को उस सम्बन्धी नक्षत्र अवश्य पड़ता है। इसीलिए व्याकरणानुसार उस नक्षत्र से ही महीने का नाम रख दिया गया है। चित्रा जिसकी पूर्णिमा को पड़े उसका नाम चैत्र मास है। तथा मघा जिसकी पूर्णिमा को पड़े उसका नाम माघ मास है। मृगशिरा जिसकी पूर्णिमा को पड़े उसका नाम मार्गशीर्ष है। वैदिक इण्डेक्सकर्ता ने "अघा" के प्रमाण में ऋग्वेद १०।८५।१३ मन्त्र को उद्धृत किया है। साथ ही अथर्व० १४।१।१३ का भी हवाला दिया है। परन्तु इन मन्त्रों में अघा मघा नक्षत्र के लिए आया है। ऋग्वेदीय मन्त्र भी इतना सुन्दर प्राकृतिक वर्णन करता है कि व्यक्तिवाचक नाम ग्रहण करने के लिए अवकाश ही नहीं रह जाता।

मन्त्र निम्न प्रकार है—

सूर्याया वहतुः प्रागात्सविता यमवासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते॥

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

"उषा (सूर्या) के विवाह का देय भाग (प्रकाश) पहले ही प्राप्त हुआ। उसको सूर्य ने दिया। मघा नक्षत्र अर्थात् माघ मास में सूर्य की किरणें मारी जाती हैं क्योंकि तिरछी पड़ती हैं और ठण्डी अधिक हो जाती हैं। अर्जुनी अर्थात् उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में अर्थात् फाल्गुन में सूर्य की किरणें चारों तरफ विस्तार से फैलती हैं।" सायण ने भी अघा का अर्थ मघा ही किया है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अजाः—

वैदिक इण्डेक्स का कहना है कि "अज" नाम हैं और ये सुदास् की अध्यक्षता में तृत्सुवों द्वारा हराये गये थे। परन्तु यहाँ पर इण्डेक्सकर्ता को भ्रम ही है। यह व्यक्तिवाचक नाम नहीं। न पैदा होने वाले को अज कहा जाता है। इस धारणा के अनुसार प्रकृति, जीव और परमेश्वर "अज" ठहरेंगे क्योंकि ये जन्मरहित नित्य पदार्थ हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रकृति को अजा कहा गया है और जीव और परमेश्वर को अज कहा गया है। मन्त्र बहुत ही प्रसिद्ध है—अजामेकां लोहितशुक्ल कृष्णाम्—इत्यादि। "अज" गत्यर्थक धातु से भी "अज" शब्द बनता है। सूर्य को और परमेश्वर को ऋ० ७।३५।१३ में प्रक्रियानुरोध से "अज" और "एकपाद्" कहा गया है। यास्क ने २।२६ में सूर्य को अज एकपाद् कहा है। ऋग्वेद १।१३८।४ पूषा को "अजाश्व" कहा गया है। यास्क ने निरुक्त ४।२५ में इसका अर्थ किया है कि अजाः अर्थात् अजनाः अश्वाः यस्य। अर्थात् जिसकी किरणें गतिशील हैं अथवा जिसके घोड़े शीघ्रगामी हों ऐसा मनुष्य अथवा बकरी बकरे और घोड़ों का स्वामी राजा यजमान आदि। इस प्रकार अज के अनेकों अर्थ हैं। निघण्टु १।१५ में "अज" पद अश्व अर्थ में पढ़ा गया है। शतपथ ७।५।२।२१ में लिखा है कि "वाग्वा अजः" अर्थात् वाणी अज है। पुनः ६।४।४।१५ में लिखा मिलता है कि "ब्रह्म वा अजः" अर्थात् अज ब्रह्म है। जिस ऋग्वेदीय मन्त्र (६।५५।६) का उदाहरण वैदिक इण्डेक्स ने दिया है वहाँ पर "अजाः" का अर्थ किरणें हैं। सायण ने अजासः का अर्थ बकरे किया है। परन्तु पूषा का अर्थ जब पोषक राजा लिया जावेगा तब अजासः का अर्थ घोड़े होगा। क्योंकि ये उसके रथ में जुतते हैं और रथ को वहन करते हैं। जब आधिदैवत प्रक्रिया में पूषा का अर्थ सूर्य अथवा वायु होगा तब अजासः का अर्थ किरणें होगा क्योंकि सूर्य को सर्वत्र ये ही प्राप्त कराती हैं, गतिशील हैं और वायु को विस्तार देती हैं। इसके ही प्रसङ्ग में वैदिक इण्डेक्स ने ऋग्वेद ७।१८।१९ मन्त्र का भी प्रमाण दिया है। यहाँ पर भी "अजासः" व्यक्तिविशेष नहीं हैं। इस मन्त्र में अजासः, यमुना, तृत्सवः, शिग्रवः, यक्षवः पद आये हैं। इनका अर्थ तीन दृष्टियों से यहाँ पर लेना पड़ेगा। प्रथम दृष्टि तो यह होगी कि इस सूक्त में "सुदास्" कल्याणकारक दान वाले राजा के दान की प्रशंसा है। दूसरी दृष्टि यह होगी कि इस सूक्त का देवता इन्द्र भी है। तीसरी दृष्टि यहाँ पर आध्यात्मिक दृष्टि होगी। वस्तुतः सूक्त का देवता तो इन्द्र ही है। इन्द्र का आधियाज्ञिक प्रक्रिया में अर्थ लेकर यहाँ पर सुदास् के दान का वर्णन कर दिया गया है। इसलिए तीनों दृष्टियों में विरोध नहीं। कल्याणकारी दान वाले राजा के अर्थ में मन्त्र को लेने पर अजासः, का अर्थ अभियोक्ता एवं विजयशील योद्धा होगा। यमुना का अर्थ नियन्त्रण में रहने वाले, तृत्सवः का अर्थ द्रोह करने वाले मारकाट करने वाले हिंसक योद्धा होगा। "भेदं" का अर्थ भेद अर्थात् भेद भावना होगा। शिग्रवः का शीघ्र गमन करने वाले योद्धा, और यक्षवः का अर्थ संघटन में रहने वाले एवं धर्मभावनापरायण वीर होगा। इस प्रकार मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार होगा—

"इस संग्राम में नियंत्रण करने वाले वीरगण, द्रोह करने और मारकाट करने वाले योद्धा गण, अभियोक्ता योद्धा गण, शीघ्रगामी व रजन और धर्म भावना एवं संघटन करने वाले लोग राजा की रक्षा करते हैं, भेद को समाप्त कर देते हैं और इतना घमासान युद्ध करते हैं कि युद्ध में मारे गये वीरों अश्वों आदि के शिरों का उपहार दे रहे हों"।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आधिदैवत प्रक्रिया में निम्न अर्थ होगा—

जल एवं मेघ आदि को नियंत्रण में रखने वाली, वियोग पैदा करके मेघ आदि का भेदन करने वाली, शीघ्र फैलने वाली, संयोग की कारणभूत किरणे इस आकाशस्थ युद्ध में वायु को रक्षित रखती हैं, संयोज्य पदार्थों में भेद अर्थात् विश्लेषण भाव को दूर करती हैं और अग्निमय एवं वज्रसम्बन्धी ज्वालावों के पुंज को बलिवत् धारण करती रहती हैं।" शतपथ ३।६।२।५ और ६।३।३।२२ में "अग्निर्वा अश्वःश्वेतः" "अग्निरेष यदश्वः" इत्यादि वाक्यों से अग्नि को अश्व कहा गया है।

आध्यात्मिक प्रक्रिया में नीचे लिखा अर्थ होगा—शरीर की नियन्त्रक अष्ट धातुयें इस शरीर संचालन रूप युद्ध में इन्द्र=आत्मा की सहायता एवं रक्षा करती हैं। अन्न आदि को खाकर पचा जाने वाली प्राणशक्तियाँ शरीर के भेदक तत्व को नष्ट कर देती हैं और शरीर के अङ्गों में संघटन रखती हैं। शीघ्रागामीमनोगतियाँ, ज्ञान, गमन और प्राप्ति की साधनभूत इन्द्रियें, तथा संगतिकरण और शक्ति के आदान प्रदान में समर्थ शरीर के पोषक तत्व अग्निमय तीनों मस्तिष्कों को "बलि" अर्थात् खूराक देते रहते हैं"। बलि का अर्थ आहुति एवं देयभाग होता हैं। उपहार की वस्तु भी होता है। बलि देने का अर्थ त्याग करना भी होता है। इसलिए यहाँ पर ऐसा अर्थ करना अनुपयुक्त नहीं।

इस मन्त्र का अर्थ पूर्वोक्त दिये गये अजासः, तृत्सवः, यमुनाः, शिग्रवः, यक्षवः आदि पदों को विशेषण और विशेष्य बनाकर भी किया जा सकता है। यहां पर मन्त्र को देना अनुचित न होगा अतः मन्त्र नीचे दिया जाता है—

आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च प्रात्र भेदं सर्वताता मुषायत् ।
अजासश्च शिग्रवो यक्षवश्च बलिशीर्षाणि जभ्रु रश्व्यानि ॥

ऋ० ७।१८।१६

आजमीढासः—

वैदिक इण्डेक्स ने लिखा है कि आजमीढ लोग अजमीढ के वंशज हैं। लुडविग और ओल्डेनवर्ग इससे यह अनुमान निकालते हैं कि ऋग्वेद ४ मंडल के ४४ वें सूक्त का ऋषि अजमीढ है।

इण्डेक्सकार और इन विद्वानों को यह भ्रम इसलिए हो रहा है कि ऋग्वेद ४।४४।६ मन्त्र में "आजमीढासः" पद आया है और इस मन्त्र वाले सूक्त के ऋषियों में भी अजमीढ का नाम है। आजमीढ व्याकरण नियमानुसार या तो अजमीढ के गोत्र के हो सकते है या अजमीढ के पुत्र हो सकते हैं। परन्तु इन दोनों परिस्थितियों में काल का व्यवधान नहीं मानना पड़ेगा। आज कल भी पिता-पुत्र साथ ही रहते हैं। यह देखकर इन लेखकों ने इस सूक्त का कर्त्ता अजमीढ को मान लिया है। परन्तु अजमीढ उपाधिधारी व्यक्ति इस सूक्त का द्रष्टा तो हो सकता है कर्त्ता नहीं। क्योंकि अजमीढ के साथ पुरुमीढ भी इस सूक्त का ऋषि है केवल अजमीढ नहीं। दो ऋषि एक सूक्त के कर्त्ता हों और "आजमीढों" का वर्णन करें यह ठीक नहीं। ऋषि वेदमंत्रों के कर्त्ता नहीं—यह पहले प्रकरण में मैं लिख चुका हूँ। इस सारे सूक्त में पुरुमीढ का नाम

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

किसी भी मन्त्र में नहीं है जब कि ६ ठें मन्त्र में "आजमीढासः" पद आया हुआ है। यदि सूक्त में आये पद से इस सूक्त के कर्त्ता का निर्णय किया जावे तो पुरुमीढ फिर कर्त्ता नहीं हो सकता और दो ऋषि द्रष्टा तो एक ही सूक्त के हो सकते हैं—कर्त्ता नहीं। इस सूक्त के देवता अश्विनी हैं। सभी जगह प्रार्थना करने वालों के लिये "नः" आदि बहुवचनों का प्रयोग हुआ है। सातवें मन्त्र में "उभयेषु" पद पड़ा है। जिसका अर्थ सायण ने "पुरुमीढाजमीढेषु" किया है। परन्तु मन्त्रों में कहीं पर भी सूक्त भर में "पुरुमीढासः" पद आया ही नहीं है और न पुरुमीढ शब्द ही आया है। आजमीढ पद कई प्रकार से बन सकता है। पहला प्रकार यह है कि "आजम्" बकरी बकरे सम्बन्धी "मीढम्" धन है जिसके पास उसको आजमीढ कहते हैं। ऐसा कोई भी मनुष्य हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में यह व्यक्तिवाचक नाम नहीं हो सकता। दूसरा प्रकार यह है कि "अजम्" गमनशील एवं चल "मीढम्" सम्पत्ति या धन है जिसका उसको अजमीढ कहते हैं और अजमीढ का पुत्र आजमीढ है। वेद में अपत्य प्रत्यय जड़ पदार्थों और सामान्य शब्दों से भी होता है जैसा कि पूर्व दिखला चुका हूँ। इस स्थिति में भी यह कोई व्यक्तिविशेष नहीं होगा। तीसरा प्रकार यह है कि "अजाः" बकरी बकरे "मीढम्" धन हैं जिसके उसको अजमीढ कहते हैं और अजमीढ का पुत्र आजमीढ है। इस अवस्था में भी यह व्यक्तिवाचक नहीं। इस प्रकार अजमीढ व्यक्तिविशेष नहीं।

एक विशेष बात यहाँ पर यह है कि मन्त्र में "आजमीढासः" संज्ञापद नहीं है। यह मंत्रस्थ "नरः" पद का विशेषण है। सायण ने भी यहाँ पर "अजमीढसम्बन्धिनः" अर्थ ही किया है। इस प्रकार यह पद व्यक्तिवाचक नहीं बन सकेगा। मन्त्र का अर्थ निम्न होगा—

हे "दस्रौ" = अश्विनीगण हमको बहुत पुत्रों से युक्त महान् धन दें। जिससे हम यजमान और याज्ञिक दोनों प्रकार के लोगों में चल संपत्ति वाले एवं बकरी आदि पशुवों वाले मनुष्य आप के स्तोत्रों की रक्षा करें और सम्मिलित स्तुति करें।

मन्त्र निम्न प्रकार है—

नू नो रयिं पुरुवीरं बृहन्तं दस्रा मिमाथामुभयेष्वस्मे ।
नरो यद्वामश्विना स्तोममावन्त्सधस्तुतिमाजमीढासो अग्मन् ॥

ऋ० ४।४४।६

पुरुमीढ शब्द भी ऋग्वेद १।१५१।२ में आया है। यहाँ पर सायण ने भी पक्षान्तर से इसका अर्थ बहुत अभीष्टों का सिंचन करने वाला किया है। अथर्ववेद में सायण ने इसका अर्थ बहुत धन वाला किया है। ऋग्वेद १।१८३।५ में गोतम, पुरुमीढ और अत्रि पद आये हैं। इनका विशेषण हविष्मान् पड़ा है। अत्रि, गोतम व्यक्तिवाचक नहीं—जातिवाचक शब्दसामान्य हैं, यह मैंने पूर्व प्रकरणों में दिखला दिया है। ऐसा ही पुरुमीढ शब्द भी है। जिस प्रकार पुरुमीढ शब्द व्यक्तिवाचक नहीं वैसे ही अजमीढ भी व्यक्तिवाचक नहीं।

अतिथिग्व—

वैदिक इण्डेक्स कहती है कि यह नाम ऋग्वेद में बहुधा लगभग सभी स्थलों में राजा दिवोदास के साथ प्रकट तौर पर प्रयुक्त और सम्बद्ध दिखलायी पड़ता है। दो व्यक्तियों

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के होने का यहाँ पर वर्गोजीन ने अस्वीकार किया है। लेकिन शम्बर के पराजय के समय जब ये दोनों नाम मन्त्र में आते हैं तो यह बात सिद्ध हो जाती है। दूसरे स्थलों पर अतिथिग्व के द्वारा पर्णय और करञ्ज के वध में इन्द्र की सहायता का वर्णन मिलता है। यह स्थल ऋग्वेद १।५३।८ और १०।४८।८ है। कभी कभी अस्पष्ट रूप में इसका वर्णन पाया जाता है जब कि यह तुर्वश और यदु के शत्रु के रूप में वर्णित किया गया है। पुनः आयु और कुत्स के साथ इसको सम्बद्ध किया गया है जब ये तुर्वायण के द्वारा हराये गये।

वैदिक इण्डेक्स कर्त्ता की समझ में अतिथिग्व का भाव नहीं बैठा। सायण के अर्थ को कहीं पर देख कर उसने यह कल्पना करली कि अतिथिग्व व्यक्तिविशेष है और सर्वत्र वही धारणा काम में लायी। इसका यहाँ पर विवेचन किया जाता है। अतिथिग्व शब्द ऋग्वेद में १५ बार के लगभग प्रयुक्त पाया जाता है। परन्तु सर्वत्र यह यौगिक अर्थ में ही प्रयुक्त है।

अतिथि के प्रति जाने वाले अर्थात् अतिथि का सम्मान सत्कार करने वाले को अतिथिग्व कहा जाता है। यह धारणा लगभग इन सभी स्थलों पर पायी जाती है। सायण ने ऋग्वेद १।५३।८ में आये "अतिथिग्व" पद का अर्थ "एतन्नामक राजा" किया है और पुनः ऋग्वेद १०।४८।८ मन्त्र के भाष्य में सायण ने अतिथिग्व का अर्थ "अतिथिगो" का पुत्र दिवोदास किया है। इस अर्थ को लेकर मालूम पड़ता है कि वैदिक इण्डेक्स के कर्त्ता ने यह धारणा बनाली कि अतिथिग्व दिवोदास है। जहाँ पर मन्त्रों में "अतिथिग्व" दिवोदास के विशेषण के रूप में है वहाँ पर भी यही धारणा उसने वर्ती है। अपत्य अर्थ में होने वाले प्रत्ययों से नाम का ग्रहण तो होता है परन्तु वे नाम के विशेषण के रूप में नहीं प्रयुक्त होते। यदि अतिथिग्व का अर्थ अतिथिगो का पुत्र है तो फिर वह दिवोदास का वाचक ही ठहरेगा विशेषण नहीं बन सकेगा। क्योंकि अतिथिग्व और दिवोदास का एक ही अर्थ है। सम्बन्ध अर्थ में प्रत्यय करके अतिथिग्व शब्द प्रयुक्त किया गया माना जावे तो फिर दिवोदास का अतिथिग्व का पुत्र होना निश्चित नहीं।

अतिथिग्व और दिवोदास एक ही हैं—इस कथन की पुष्टि न पाते हुये इस ग्रन्थकार को कई अतिथिग्वों की कल्पना करनी पड़ी। इण्डेक्सकर्त्ता कहता है कि एक भिन्न अतिथिग्व का हवाला ऋग्वेद ८।६८।१६–१७ में एक दानस्तुति में मिलता है। यहाँ पर उसका पुत्र "इन्द्रोता" भी वर्णित है। रॉथ तीन अतिथिग्वों का वर्णन करता है। प्रथम अतिथिग्व दिवोदास, द्वितीय पर्णय और करञ्ज का शत्रु अतिथिग्व तथा तृतीय अतिथिग्व तुर्वायण का शत्रु है। परन्तु भिन्न भिन्न संदर्भों का समन्वय हो सकता है यदि विशेष करके यह मान लिया जावे कि अतिथिग्व दिवोदास एक प्राचीन नायक था जिसका कि पहले के सूक्तों में वर्णन है और यह बहुधा कल्पित व्यक्ति होता गया।

वस्तुतः ये कल्पनायें इसलिए करनी पड़ रही हैं कि पूर्वोक्त पाश्चात्यों की धारणा ऋग्वेदीय सन्दर्भों से सिद्ध नहीं होती। अपनी धारणा की सिद्धि के लिए यह भिन्न कल्पनायें खड़ी की जा रही हैं। अतिथिग्व दिवोदास एक हैं इस पर ही सर्वप्रथम विचार करता हूँ। एतत्सम्बन्धी मन्त्रों की जांच करने पर यह बात सिद्ध नहीं होती। अतिथिग्व में जो प्रत्यय हुआ है वह भी इस दिशा में प्रमाण है कि अतिथिग्व ही देवदास नहीं है। अतिथिगु को दिवोदास

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

का पिता माना जावे तब दिवोदास को अतिथिग्व कहा जा सके । परन्तु मन्त्रों में "अतिथिगु" पद मुझे मिला नहीं । मान लिया यदि मिल भी जावे तब भी अपत्यवाचक प्रत्यय करने पर अतिथिग्व नहीं बनेगा । ऋग्वेद १०।१४।६ में "नवग्वाः" पद आया है । इसका अर्थ यास्क ने ११।१६ पर मन्त्र की व्याख्या करते हुये "नवगतयः" और "नवनीतगतयः" किया है । यहाँ पर यह स्पष्ट है कि यह अपत्यार्थक प्रत्यय का शब्द नहीं है । औणादिक कृदन्त प्रत्यय से बना हुआ शब्द है । ऋग्वेद १।५१।६ मन्त्र पर सायण लिखता है कि अतिथिग्वाय अतिथिभिर्गन्तव्याय.... गमेरौणादिको ड्व्प्रत्ययः । अर्थात् अतिथियों से गन्तव्य को अतिथिग्व कहा जाता है । गम् धातु से औणादिक "ड्व" प्रत्यय करने से यह पद सिद्ध होता है । यद्यपि सायण ने ऐसा शब्द साधुत्व दिखला कर शब्द को यौगिक रूप दिया है परन्तु फिर भी इसका अर्थ "दिवोदासाय" देकर वह ग़लती कर गया है । सायण की इन ग़लतियों का बाद में विचार किया जावेगा । ऋग्वेद १।१३०।७ पर लिखता है कि अतिथिग्वाय पूजार्थमतिथिं गच्छते.........गमेरौणादिको ड्व प्रत्ययः । अर्थात् पूजा के लिए अतिथि को प्राप्त करने वाले के लिए । गम धातु से औणादिक ड्व प्रत्यय करके यह शब्द सिद्ध होता है । यहाँ पर भी पूर्व की ग़लती को सायण ने पुनः दुहराया है । सायण की अतिथिग्व शब्द की यह व्याकृति अपत्यार्थ में नहीं है । यह कृदन्त अर्थ में है । इसलिए "अतिथिग्व" का अर्थ अतिथि का सत्कार करने वाला, अतिथि का आदर करने वाला एवं अतिथि को प्राप्त करने वाला होगा । सायण ने ऋग्वेद १०।४६।८ में जो "अतिथिगोः" का पुत्र दिवोदास को बतलाया है वह ग़लत है । क्योंकि अतिथिग्व अपत्यार्थक प्रत्यययुक्त पद नहीं है । सायण की व्याकृति से भी यही बात सिद्ध होती है ।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद ४।२६।३ में "दिवोदासमातिथिग्वम्" और ऋग्वेद १।११२।१४ में अतिथिग्वं कशोजुवं दिवोदासम्" पद आये हैं । यहाँ पर "अतिथिग्व पद दिवोदास का विशेषण है । यदि दिवोदास और अतिथिग्व एक ही हैं तो फिर यह प्रयोग कैसे । यदि अपत्यवाचक मान कर यह प्रयोग है तो भी ठीक नहीं । क्योंकि ऐसी स्थिति में फिर कहीं पर अतिथिग्व पद का दिवोदास के बिना अकेला प्रयोग नहीं होना चाहिए । परन्तु ऋ० १।५१।६, १।५३।८; १।५४।१०; १०।४८।८, ६।१८।१३, ६।२६।३; ७।१६।८; ८।५३।२; २।१४।७; स्थलों पर केवल "अतिथिग्व" पद का ही प्रयोग हुआ है । ये स्थितियां यह स्पष्ट करती हैं कि "अतिथिग्व" अपत्यार्थक पद नहीं हैं तथा वह दिवोदास का नाम भी नहीं है ।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद ६।४७।२२ में "प्रस्तोकः" "दिवोदासाद्" और "अतिथिग्वस्य" तीनों पदों का प्रयोग है । सायण आदि प्रस्तोक को सृञ्जय ऋषि का पुत्र मानते हैं । अतिथिग्व दिवोदास का नाम मानते हैं । दिवोदास को एक राजा स्वीकार करते हैं । अब अगर यह बात ठीक होती कि अतिथिग्व ही दिवोदास है तो फिर यहाँ पर अतिथिग्व का छठीं विभक्ति और दिवोदास का पञ्चमी विभक्ति में वर्णन नहीं होना चाहिए । यहाँ पर शाब्दिक अर्थ इस मन्त्र का निम्न प्रकार बनेगा—हे इन्द्र ! तुम्हारे आराधक हमको प्रस्तोक ने सुवर्णपूर्ण दश कोष और दश घोड़े दिये । हमने दिवोदास से धन ग्रहण किया और अतिथिग्व से शम्बर सम्बन्धी धन प्राप्त किया" । यहाँ पर तीनों का पृथक् पृथक् प्रयोग है । विभक्तियाँ भी पृथक् हैं और तीनों

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के धन का भी पृथक् पृथक् वर्णन है। अतः यह निश्चित है कि दिवोदास और अतिथिग्व दोनों एक नहीं। सायण की दूसरी लीपापोती भी यहाँ पर देखी जा सकती है। सर्वानुक्रमणी के अनुसार सायण मानता है कि इस मन्त्र में सृञ्जय के पुत्र प्रस्तोक के दान की स्तुति है। परन्तु मन्त्र में दिवोदास, अतिथिग्व, प्रस्तोक तीनों का वर्णन है। इससे अगले २३ वें मन्त्र में दिवोदास और २४ वें में "अश्वथ" का वर्णन है। अतिथिग्व का बहुत से मन्त्रों में भिन्न भिन्न स्थिति में प्रयोग देखकर अपने पक्ष की सिद्धि में भी गड़बड़ी देखकर सायण इस मन्त्र के अर्थ में कहता है कि प्रस्तोक, दिवोदास, अतिथिग्व एक ही हैं।

उसके शब्द इस प्रकार हैं—

स (प्रस्तोकः) एव दिवोदासोऽश्वथोऽतिथिग्व इति चाख्यायते। यहाँ पर वह प्रस्तोक की दान स्तुति सिद्ध करने के लिए यह कल्पना कर रहा है। मन्त्रों में दिवोदास, अश्वथ और अतिथिग्व से धन मिलने की बात देखकर वह घबड़ा गया कि प्रस्तोक की दानस्तुति के स्थान में इनकी दानस्तुति कैसे आगयी अतः वह इतनी उटपाँग कल्पना करता है। एक तरफ तो यह भी कहता है कि प्रस्तोक सृञ्जय का पुत्र है, दिवोदास अतिथिग्व का पुत्र है, अश्वथ अन्य राजा का नाम है और दूसरी तरफ यह कहता है कि सभी एक हैं—यह कितनी अनर्गल बात है। सायण ने यौगिक प्रक्रिया के मार्ग को छोड़ा और उसका ही परिणाम उसे भोगना पड़ रहा है।

सायण की और भी कल्पना का नमूना उपस्थित किया जाता है। यह भी इस पक्ष की द्योतिका है कि अतिथिग्व और दिवोदास एक नहीं। ऋग्वेद ७।१९।८ मन्त्र में "अतिथिग्वाय" पद आया है। यहाँ पर सायण इस पद की व्याख्या करते हुये लिखता है कि "अतिथिग्वाय पूजयातिथीन गच्छतीत्यथिग्वः। तस्मै सुदासे दिवोदासाय वास्मदीयाय राज्ञे अर्थात् अतिथि के प्रति पूजा करने के लिए जाने वाला अतिथिग्व है। वह सुदास्, अथवा हमारा राजा दिवोदास है। यहाँ पर अतिथिग्व का अर्थ वह सुदास् और दिवोदास दोनों ही करता है। यह सर्वथा ठीक नहीं। सायण और इतिहासवादी पाश्चात्य पौरस्त्य विद्वान् सुदास् को पिजवन का पुत्र मानते हैं। इसीलिए उसे "पैजवन" कहा जाता हैं। ऋग्वेद ७।१८।२२, ७।१८।२३ में "पैजवन" पद आया है। यहाँ पर सायण पिजवन का पुत्र "पैजवन"—ऐसा ही अर्थ करता है। पुनः ऋग्वेद ७।१८।२५ में वह "सुदासः पितरं दिवोदासं न" पदों का ख्याल करके इसी मन्त्र में आये "पैजवन" पद का अर्थ करते हुये लिखता है कि "दिवोदास इति पिजवनस्यैव नामान्तरम्" अर्थात् दिवोदास पिजवन का ही नामान्तर है। अब अगर सुदास का पिता पिजवन दिवोदास है तो अतिथिग्व का अर्थ पिता पुत्र दोनों ही कैसे लिया जा रहा है। यदि कहा जावे कि गोत्रापत्य से ऐसा हुआ तब भी ठीक नहीं। क्यों कि अतिथिग्व गोत्रापत्यार्थक शब्द भी नहीं। यदि किसी प्रकार मान भी लिया जावे कि "अतिथिग्व" से दोनों का ग्रहण है तो फिर दिवोदास के पिता का नाम "अतिथिगु" है यह झंझट की बात बन जाती है। क्योंकि ऋग्वेद ७।१८।२२ में "नप्तुर्देववतः" पदों का अर्थ करते हुये सायण ने अपनी धारणानुसार "सुदास्" को पिजवन का पुत्र और "देववत्" का पौत्र माना है। फिर दिवोदास जिसे वह पिजवन कहता है उसका पिता "देववान्" हुआ न कि "अतिथिगु"। फिर दिवोदास अतिथिगु का पुत्र अतिथिग्व कैसे?

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इस के साथ ही एक और विचारणीय बात खड़ी होजाती है। वह यह कि ऋग्वेद ८।६६।१६-१७ मन्त्रों में क्रमशः "अतिथिग्व" और "अतिथिग्व" इन्द्रोत पद आये हैं। इसके पूर्ववर्ती १५ वें मन्त्र में केवल "इन्द्रोत" पद आया है। इन सभी स्थलों पर सायण यह मानता है कि "इन्द्रोत" "अतिथिग्व" का पुत्र अतिथिग्व है। सायण के इस कथन से अतिथिग्व का पुत्र इन्द्रोत है। यहाँ पर सुदास को उसका पुत्र नहीं बतलाया गया। या तो इन्द्रोत और सुदास को भाई सिद्ध किया जावे। परन्तु ऐसा सिद्ध करना संभव नहीं। अगर दिवोदास ही अतिथिग्व है तो फिर सुदास् को पैजवन और इन्द्रोत को अतिथिग्व कहने का क्या तात्पर्य हो सकता है। दोनों ही अतिथिग्व और दोनों ही पैजवन कहे जा सकते थे। परन्तु इन्द्रोत को पैजवन और सुदास् को अतिथिग्व शब्दों से व्यवहृत दिखलाना संभव नहीं। इसलिए वह निश्चित है कि ये सारी कल्पनायें निराधार हैं। अतिथिग्व एक यौगिक पदसामान्य है।

और भी सायण की बुद्धिमत्ता का परिचय देखिये। एक स्थान पर तो "अतिथिगु" को दिवोदास का पिता कह रहा है। दूसरे स्थान पर "देववान्" को दिवोदास का पिता बतला रहा है। पुनः ऋग्वेद ६।६१।१ में दिवोदास नामी पुत्र को सरस्वती द्वारा वाध्यूश्व को दिया गया बतलाता है। वह मन्त्र का अर्थ करते हुये लिखता है—"इयं सरस्वती रभसं वेगवन्तम् ऋणच्युतम् वैदिकस्य देवर्षिपितृसम्बन्धिनो लौकिकस्य च ऋणस्य च्यावयितारम् दिवोदासम् एतत्सञ्ज्ञं पुत्रं दाशुषे हवींषि दत्तवते वध्यूश्वाय एतत्संज्ञाय ऋषये अददात् दत्तवती"। यहाँ पर दिवोदास का पिता "वध्यूश्व" को कहा गया है। कितनी विचित्र माया है।

अतिथिग्व पर्णय और करञ्ज का शत्रु है—यह पक्ष भी केवल कल्पना की भित्ति पर खड़ा है। मन्त्रों से ऐसा स्पष्ट नहीं होता। ये इन्द्र के शत्रु तो हो सकते हैं परन्तु अतिथिग्व के नहीं। ऋग्वेद १०।४८।८ मन्त्र में "पर्णयघ्ने" और और "करञ्जहे" पद आये हैं। इन्द्र के द्वारा इनका वध किया गया है। परन्तु यहाँ पर ये दोनों ही पद "वृत्रहत्ये" के विशेषण हैं। "वृत्रहत्ये" का अर्थ है वृत्र के संग्राम में अर्थात् वृत्रवध सम्बन्धी संग्राम में। यह संग्राम इन्द्र के द्वारा किया गया है। वृत्र इन्द्र का शत्रु है। वृत्रवध में करञ्ज और पर्णय का मारा जाना—यह नहीं सिद्ध करता कि ये अतिथिग्व के शत्रु हैं। वृत्र क्या है ? इसका उल्लेख मैं पहले दूसरे प्रकरण में कर चुका हूँ। वृत्र मेघ का नाम है। वह असुर है। असुर निघण्टु में मेघ अर्थ में पठित है। अतः ये करञ्ज और पर्णय भी मेघ के नाम हैं। शतपथ ६।५।१।१ में पर्णशब्द सोम के अर्थ में लिया गया है। जिस मेघ के पानी में वृक्षों आदि को शक्ति प्रदान करने वाला सोमतत्व भरा है उसे पर्णय कहते हैं। जल को रञ्जित करने वाले को करञ्ज कहते हैं। इस मेघ को जल से राग सा रहता है अतः जल को बहुत धीरे धीरे छोड़ता है। ऋग्वेद १।५३।८ में अतिथिग्व के लिए करञ्ज और पर्णय का इन्द्र के द्वारा वध लिखा गया है। इससे भी यह नहीं सिद्ध होता कि ये दोनों अतिथिग्व के शत्रु हैं। अतिथिग्व के लिये इनका मारना—यह नहीं प्रकट करता कि ये उसके शत्रु हों। यह एक साधारण वर्णन भी कहा जा सकता है।

अतिथिग्व "तुर्वयाण" का शत्रु है—यह भी मंत्रों से सिद्ध नहीं होता है। तुर्वयाण का अर्थ त्वारितयान होता है। अथवा तूर्णयान होता है। जिसका यान शीघ्रगामी हो वह तुर्वयान

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है। अथवा जो त्वरित गमन वाला हो वह तुर्वयान है। परन्तु इन इतिहासवादियों के पक्ष के अनुसार उसे व्यक्ति कहा जाता है। इस स्थिति में भी वह अतिथिग्व का शत्रु सिद्ध नहीं होता। ऋग्वेद १।५८।१० में "सुश्रवसम्" और "तुर्वयाणम्" पद आये है। वहां पर सायण ने "सुश्रवस्" को एक राजा माना है और तुर्वयाण को भी राजा माना है। इन्द्र के द्वारा इनकी रक्षा का वर्णन किया गया है। वहाँ पर मंत्र के दूसरे अर्ध का अर्थ करते हुये सायण लिखता है कि "हे इन्द्र" तूने महान्, तरुण इस सुश्रवा राजा के लिए कुत्स, अतिथिग्व, तथा आयु इन तीनों को वश में किया है"। यहाँ पर "सुश्रवाः" के साथ इन तीनों का सम्बन्ध जुड़ रहा है, तुर्वयाण के साथ नहीं। अगर ये किसी प्रकार शत्रु ही मान लिए जावें तो सुश्रवस् के शत्रु होंगे, तुर्वयाण के नहीं।

ऋग्वेद ६।१८।१३ में भी "तुर्वयाणम्" पद आया है। यहां पर सायण ने "तुर्वयाणम्" का अर्थ "त्वरितगमनम् दिवोदासम्" किया है। सायण के अनुसार त्वरितगमन दिवोदास ही यहाँ पर तुर्वयाण है। फिर अतिथिग्व का तुर्वयाण शत्रु है—यह बात सिद्ध नहीं होती। मानना पड़ेगा कि पाश्चात्यों, वैदिक इण्डेक्स और सायण आदि की सारी कल्पनायें गोलमाल हैं और निराधार हैं।

सायण ने ही नीचे लिखे स्थानों पर अतिथिग्व का यौगिक अर्थ किया है। फिर भी इस शब्द को वह जो अपत्यार्थक प्रत्यय युक्त अर्थ में मानता है यह उसकी ग़लती हैं। ऋग्वेद ६।१८।१३ में "अतिथीनामभिगन्तारम्" किया है। ऋग्वेद ६।२६।३ पर "अतिथीनामभिगन्त्रे" किया है। ऋग्वेद ७।१६।८ पर "पूजयातिथीन् गच्छतीत्यतिथिग्वः" ऐसा अर्थ किया है। ऋग्वेद ४।२६।३ पर "अतिथीनामभिगन्तारम्" अर्थ किया है। ऋग्वेद १।५१।६ पर वह अतिथिग्वाय का अर्थ "अतिथिभिर्गन्तव्याय" करता है। ऋग्वेद १।११२।१४ पर "अतिथिभिर्गन्तव्यम्" अर्थ किया है। ऋग्वेद १।१३०।७ पर पूजार्थमतिथिं गच्छते" अर्थ किया है। यदि वस्तुतः दिवोदास का नाम अतिथिग्व है और वह अपत्यवाचक पद है तो फिर इन व्युत्पत्तियों के करने की कोई आवश्यकता नहीं। रूढ और व्यक्तिवाची अपत्यार्थक पद में व्युत्पत्तिजनित अर्थ का कोई भी प्रयोजन नहीं हो सकता है। अतः इस पद को व्यक्तिवाचक न समझ कर यौगिक ही समझना चाहिए। यौगिक मानकर इसका अर्थ—अतिथि का सत्कार करने वाला अथवा अतिथिसेवक मनुष्य होगा। इस प्रकार सभी मंत्रों का अर्थ संगत हो जावेगा।

ऋग्वेद २।१४।७ में कुत्स, आयु और अतिथिग्व पद आये है। कुत्स का अर्थ मंत्रद्रष्टा, मंत्रज्ञ है। निं० ३।११ इस विषय में प्रमाण है। आयु का अर्थ निरुक्त ६।३ पर अयन अर्थात् वायु किया गया है। निरुक्त १०।४१ पर यास्क ने आयु का अर्थ मनुष्य किया है। पुनः निरुक्त ११।४६ पर आयु का अर्थ जल और मनुष्य किया है। अतिथिग्व का अर्थ अतिथियों का सेवक मनुष्य हैं। इस प्रकार मंत्र का भाव यह होगा कि इन्द्र मंत्रवेत्ता विद्वान्, प्रगतिशील मनुष्य और अतिथि की सेवा करने वाले की रक्षा करता है और उन पर आने वाली आपत्तियों को मार भगाता है। प्रक्रियान्तर से अन्य अर्थ भी हो सकता है।

ऋग्वेद ४।२६।३ में आये "अतिथिग्वं दिवोदासम्" का अर्थ अतिथि का पूजक ज्ञानदाता एवं दानी' करके अर्थसङ्गति लग सकती है। परन्तु यहाँ पर अतिथिग्व को दिवोदास का विशेषण समझना चाहिए।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ऋग्वेद १।५१।६ में आये अतिथिग्व का अर्थ अतिथिसेवक मनुष्य किया जा सकता है। इसी मन्त्र में आये शुष्ण शब्द का अर्थ "शोषक" मेघ है। शोषक मेघ वह है जो पानी न देने से कृषि को सुखाता है शब्दान्तर से वृत्र के अर्थ का ही सूचक है। शम्बर नाम भी मेघ का है। इन शब्दों का अर्थ निरुक्त में देखा जा सकता है। ऋग्वेद १।५४।१० में भी कुत्स, आयु और अतिथिग्व पद आये हैं। इनका अर्थ पूर्वोक्त प्रकार से होगा। "तुर्वयाणम्" का त्वरितयान वाला राजा होगा। सुश्रवस् का अर्थ उत्तम धन वाला, उत्तम कीर्तिवाला और उत्तम ज्ञान वाला होगा। क्योंकि श्रवः का अर्थ निघण्टु में यश, धन आदि हैं। ऋग्वेद १।५३।८ में भी वही अर्थ अतिथिग्व का लिया जा सकता है। इस मन्त्र में "करञ्जम्" "पर्णयम्" "वृङ्गृद" और ऋजिश्वा पद भी आये हैं। करञ्ज का अर्थ यहाँ पर याज्ञिक प्रक्रिया में धार्मिक भावना को फेंकने वाला मनुष्य और पर्णय का अर्थ पराये के धन को लेने वाला मनुष्य होगा। करञ्ज पद कॄ विक्षेपे धातु से औणादिक प्रत्यय करके बनेगा। पर्णय शब्द पर्णपूर्वक इण् धातु अथवा या धातु से बनेगा। परन्तु दैवत प्रक्रिया में इनका अर्थ पूर्व कहे अनुसार मेघ ही होगा। ऋजिश्वा का अर्थ सरल चाल वाला। सरल व्यवहार वाला मनुष्य है। वङ्गृद का अर्थ है वक्र वस्तुवों का दाता। अर्थात् विष आदि पदार्थों का देने वाला। वङ्गॄन् ददाति इति वङ्गृदः। ऋग्वेद १।११२।१४ में अतिथिग्व कशोजुवं दिवोदासम्" का अर्थ अतिथि पूजक जल का प्रबन्धक ज्ञान देने वाला राजा होगा। अथवा अधिदैव प्रक्रिया में तिथियों को न प्राप्त करने वाला जलप्रेरक सूर्य बनेगा। कशः पद निघण्टु १।१२ में जल अर्थ में पढ़ा गया है। इस मन्त्र में "त्रसदस्यु" पद भी आया है जिसका अर्थ प्रकरण दो में कर दिया है। शम्बर मेघ को भी कहा जाता है और निघण्टु २।९ में बल अर्थ में भी पठित है।

ऋग्वेद १।१३०।७ में "अतिथिग्वाय दिवोदासाय" का अर्थ अतिथिसेवक ज्ञानदाता मनुष्य होगा।

ऋग्वेद ६।१८।१३ में आये कुत्स, आयु, अतिथिग्व, तथा तुर्वयाण का अर्थ पूर्ववत् होगा। तुर्वयाण का अर्थ त्वरितयान होगा।

ऋग्वेद ६।२६।३ में अतिथिग्व, कुत्स और कवि पद आये हैं। यहाँ पर भी पूर्व दोनों पदों का अर्थ पहिले किये जैसा होगा। रहा कवि शब्द उसका अर्थ भार्गव ऋषि नहीं बल्कि क्रान्तदर्शी विद्वान् है। ऋग्वेद ३।१४।१ में "कवितमः" पाठ आया है जो व्यक्तिवाचक कवि पद मानने पर नहीं बन सकता है। इससे कवि किसी व्यक्ति का नाम नहीं है।

ऋग्वेद ७।१९।८ में भी इसी प्रकार अतिथिग्व का अर्थ होगा।

ऋग्वेद ६।४७।२२ में प्रस्तोक, दिवोदास और अतिथिग्व पद आये हैं। यहाँ पर प्रस्तोक का अर्थ पुत्र का पुत्र होगा। यास्क ने निरुक्त ३।१६ पर प्रष्कण्व का अर्थ कण्वपुत्र किया है। इसी प्रकार से यहाँ पर भी समझना चाहिए। अतिथिग्व का अर्थ अतिथि का सत्कार करने वाला मनुष्य अथवा राजा होगा। दिवोदास का अर्थ ज्ञान का विस्तार करने वाला अथवा दानी राजा वा मनुष्य होगा।

ऋग्वेद ८।५३।२ में आये हुये आयु, कुत्स और अतिथिग्व का अर्थ पूर्व कहे प्रकार से ही लगाया जावेगा।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ऋग्वेद ८।८।१६ में आये अतिथिग्व का अर्थ अतिथियों की पूजा करने का पुत्र अर्थात् अत्यन्त अतिथिपूजक। वेद में ऐसे तद्धित प्रत्यय अनेकों स्थानों पर देखे जाते हैं। पूर्व प्रकरणों में यह बात दिखला दी गयी है। ऋग्वेद ८।६८।१७ में आये "अतिथिग्व" का अर्थ होगा अतिथिपूजक का पुत्र। अर्थात् अतिथियों का अधिक सत्कार करने वाला और "इन्द्रोत" का अर्थ इन्द्र से रक्षित अर्थात् यजमान होगा। ८।६८।१६ में अतिथिग्व का स्वार्थ प्रत्यय करने पर भी अतिथिग्व बनेगा। ऐसे ही १७ वें मन्त्र में भी बन सकता है।

ऋग्वेद १०।४८।८ में भी अतिथिग्व का अर्थ अतिथि-पूजक मनुष्य है। इस मन्त्र में "गुङ्गु" पद भी आया है। इसका अर्थ ज्ञानशील मनुष्य होगा। गच्छति जानात्यनेनेति यश्चेति वा गुः तम् गच्छति प्राप्नोतीति गुङ्गुः। इस प्रकार अतिथिग्व शब्द के अर्थ ऊपर दिखला दिये गये और यह पद व्यक्तिवाचक नाम नहीं है।

अनितभा—

मैक्समूलर के कथनानुसार यह विशेष नदी है। वैदिक इण्डेक्स ने मैक्समूलर की सम्मति का ही निदर्शन किया है। अनितभा के विषय में प्रमाणरूप में वह ऋग्वेद ५।५३।९ मन्त्र को उपस्थित करता है।

परन्तु यह ज्ञात रहे कि अनितभा नदीसामान्य का वाचक शब्द है। यह नदीविशेष का नाम नहीं। ऋग्वेद ५।५३।९ मन्त्र में अनितभा, कुभा, सिन्धुः और सरयुः शब्द आये हैं। अनितभा का अर्थ है अप्राप्त प्रकाशवाली। सायण इसका अर्थ करते हुये लिखता है कि इता प्राप्ता भाः यस्याः सा इतभा। न तादृश्यनितभा। कई नदियाँ गहरी अधिक होती हैं अतः उन्हें प्रकाश न मिलने से मरुत् प्राण उनमें नहीं प्रवेश कर पाते। "कुभा" का अर्थ है कुत्सित प्रकाशवाली। सायण ने भी इसका अर्थ कुत्सितदीप्तिः किया है। कई नदियाँ ऐसी हैं जिनमें गहराई अत्यधिक नहीं फिर भी पानी पर मिट्टी का प्रभाव होने से उनमें प्रकाश अच्छी प्रकार न फैलकर थोड़ा ही फैलता है। ये कुभा हैं। इनमें फैलने वाला सूर्य का प्रकाश स्पष्ट न होकर कुत्सित सा रहता है। सिन्धु का अर्थ यास्क ने निरुक्त ५।२७ पर स्रवणवाली नदी किया है। पुनः निरुक्त ९।२६ पर यास्क ने सिन्धुः का अर्थ स्पन्दन वाली नदी किया है। इस प्रकार सिन्धु का अर्थ बहुत वहाव वाली नदी है। सरयुः का अर्थ अधिक जल वाली अथवा अधिक विस्तार वाली है। इसका विशेषण मन्त्र में "पुरीषिणी" दिया है। इसका जल पूर्ण होता है इसलिए पुरीषिणी है। इसलिए अनितभा नदीविशेष का नाम नहीं है।

अनु-आनव—

वैदिक इण्डेक्सकर्ता लिखता है कि ग्रासमैन और रॉथ के अनुसार ये शब्द ऐसे लोगों की पदवियाँ हैं जो कि आर्यों से बाहर के हैं, परन्तु यह स्पष्ट है, कि ये विशेष जाति के लोगों के सूचक शब्द हैं। अनु लोग यदु, तुर्वश, द्रुह्यु और पुरुवों के साथ वर्णित हैं। कहीं कहीं पर तुर्वश, यदु और द्रुह्यु के साथ इनका वर्णन है। यह भी उनके विषय में ऋग्वेद के एक संदर्भ से स्पष्ट निर्णय है कि वे परुष्णी पर रहते थे। आनव अग्नि की उपाधि है परन्तु एक स्थान (ऋ० ७।१८।१३) पर राजकुमार के लिए प्रयुक्त है। साथ में तुर्वश भी आया हुआ है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यह हुआ वैदिक इराडेक्सकर्ता और पाश्चात्यों का खड़ा किया कल्पनाप्रासाद। परन्तु इस पर विचार करने पर यह बिल्कुल ही ढह जावेगा। अनु, तुर्वश, यदु, द्रुह्यु आदि पद निघण्टु २।३ में मनुष्य नाम में पठित हैं। यास्क ने निरुक्त ७।२२ पर ऋग्वेदीय १।५९।६ मंत्र का भाष्य करते हुये "पूरवः" का अर्थ "पूरयितव्या मनुष्याः" किया है। जब ये सब ही साधारण मनुष्य-वाचक नाम हैं तो इनसे व्यक्ति की कल्पना अथवा किसी जातिविशेष की कल्पना तथा किसी देश के लोगों की उपाधियों की कल्पना और आर्यों से भिन्न विदेशीय व्यक्तियों की कल्पना करना सर्वथा निराधार है। ये शब्दसामान्य हैं और मनुष्यवाचक हैं। वेद के भाव को न समझने से इतनी बड़ी भूल पाश्चात्य विद्वानों ने कर डाली।

ऋग्वेद १।१०८।८ में—यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु और पूरु शब्दों का प्रयोग सप्तमी विभक्ति में बहुवचन में है। यहां ये सारे शब्द यौगिक हैं और मनुष्यार्थ को देने वाले हैं। सायण ने भी इस मन्त्र पर लिखा है कि "यहाँ पर यदुषु आदि पांच मनुष्य के वाचक हैं। यदुषु का अर्थ वह "नियतेषु परेषामहिंसकेषु मनुष्येषु" करता है। "तुर्वशेषु" का अर्थ "हिंसकेषु मनुष्येषु" और द्रुह्युषु का अर्थ "द्रोहं परेषामुपद्रवमिच्छत्सु मनुष्येषु" किया है। "अनुषु" का अर्थ सायण ने ज्ञातृष्वनुष्ठातृषु मनुष्येषु और "पूरुषु" का अर्थ पूरयितव्येष्वन्येषु स्तोतृजनेषु—किया है। सब की व्याकृति भी सायण ने दिखला दी है। फिर भी इन्हें व्यक्तिवाचक समझना कितने अनर्थ की बात है।

ऋग्वेद ७।१८।१४ में "गव्यवः" "अनवः" और "द्रुह्यवः" पद आयें हैं। यहाँ पर भी ये मनुष्य वाचक हैं। गव्यवः का अर्थ गतिशीलाः अथवा गो की कामना करने वाले अथवा आक्रमण-कारी होगा।

ऋग्वेद ८।१०।५ में द्रुह्यु, अनु, तुर्वश, यदु आदि शब्द आये हैं यहां पर भी ये मनुष्यार्थ के वाचक हैं। सायण ने यहां पर इनका अर्थ "द्रुह्युप्रभृतिषु चतुर्षु स्तोतृषु" किया है। आनव भी व्यक्तिविशेष नहीं। अनुसम्बन्धी अथवा अनु के अपत्य को आनव कहा जाता है। वेद में अव्यक्तिवाचक शब्दों से भी अपत्यार्थ में प्रत्यय होते हैं जैसा कि पहले दिखलाया जा चुका है।

ऋग्वेद ७।१८।१३ में "आनव" पद आया है। परन्तु यहाँ पर मनुष्यसम्बन्धी अथवा मनुष्य का पुत्र अर्थ होगा। सायण भी यहाँ पर वही अर्थ करता है। वह लिखता है—अनोः सम्बन्धिनो बलस्य अनोः पुत्रस्य वा" अर्थात् आनव का अर्थ है अनुसम्बन्धी बल अथवा अनु का पुत्र। ऋग्वेद ।६।६३।६ में भी "आनवाय" पद आया है। यहाँ पर यह "वचसे" का विशेषण है। "आनवाय" का अर्थ "अनुसम्बंधिने" है। ऋग्वेद ५।३१।४ में जो आश्विनों के रथ का "अनुवों" द्वारा बनाना वर्णित है वह भी अनुशब्द से व्यक्तिविशेष का परिचायक नहीं है। यहाँ पर भी अनवः का अर्थ मनुष्य ही है। सायण ने भी 'अनवः' का अर्थ "मनुष्याः" किया है। परुष्णी भी नदीविशेष नहीं। यास्क ने निरुक्त ६।२६।पर "परुष्णी" का अर्थ पर्ववती अथवा कुटिलगामिनी किया है। वह नदी जिस पर घाट बने हों और कुटिलगामिनी हो उसका नाम परुष्णी है। यह भी नदीसामान्य अर्थ का द्योतक है। इन पाश्चात्यों की यहाँ पर बड़ी भारी भूल है। वस्तुतः "अनु" आदि पदों का अर्थ मनुष्य है मनुष्यविशेष नहीं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अप्नवान—

वैदिक इण्डेक्स का कहना है कि यह एक प्राचीन ऋषि है तथा भृगु के साथ इसका सम्बन्ध है। यह भृगु के परिवार का है ऐसा लुड़विग का अनुमान है।

परन्तु यह सरासर ग़लत है। अप्नवान कोई व्यक्तिविवेष नहीं। निघण्टु २।४ में अप्नवान बाहु अर्थ में पठित है। निघण्टु २।१ में अप्न पद कर्मनाम में पठित हैं। निघण्टु २।२ में अपत्य नाम में इसका पाठ है। निघण्टु ३।७ में यह रूप नाम में पढ़ा गया है। यास्क ने निरुक्त ३।११ पर लिखा है कि "अप्न इति रूपनाम आप्नोतीति सतः" अर्थात् अप्न का अर्थ रूप है। व्याप्त होने से यह आप्लृ धातु से बना है। इस प्रकार अप्न वाले को "अप्नवान" कहा जावेगा इसके अनुसार "अप्नवान" का अर्थ शक्तिशाली बाहुवों वाला, रूपवाला, सन्ततिवाला, और कर्मवाला होगा। ऋग्वेद ४।७।१ में "अप्नवानः" पद आया है। "भृगवः" पद भी वहीं पर आया है। भृगवः का अर्थ अग्नि प्रज्वलित करने वाले यजमान तथा तपस्वी आदि हैं। इसका वर्णन द्वितीय प्रकरण में किया गया है। प्रक्रियानुरोधेन भौतिक पदार्थ अग्नि को भी भृगु कहा जाता है। "अप्नवान" पद का अर्थ है कर्मशील। इस अर्थ से यहाँ पर मंत्र में एक प्रकिया में संगति लग जावेगी। गोपथ ब्राह्मण पूर्वाध २।८-९ में वायु, आपः और चन्द्रमा को भृगु कहा गया है। इसी प्रकार रूप का केन्द्र होने से द्युलोकस्थ अग्नि और सूर्य को अप्नवान कहा जावेगा।

अभ्यावर्तिन् चायमान—

वैदिक इण्डेक्स का कर्ता कहता है कि ऋग्वेद ६।२७।५-८ में यह पद आया है और यह एक दानस्तुति के प्रकरण में है। यह वृचीवन्त पर विजय प्राप्त करने वाला व्यक्ति है। इसने यह विजय वरशिख के नेतृत्व में किया था।

वस्तुतः देखा जावे तो यह भ्रम इस ग्रन्थ के लेखक को इसलिए हो रहा है कि इस मंत्र का देवता अभ्यार्तिन् चायमान की दानस्तुति है। परन्तु इतने से ही इसका व्यक्तिविशेष होना नहीं हो सकता। यह किसी यजमान राजा के दान की स्तुति भी हो सकती है। ऋग्वेद ६।२७।५-८ में दोनों मन्त्रों में ये पद आये हैं। पाँचवें मन्त्र में "अभ्यावर्तिने चायमानाय" पद आये हैं और ८ वें मन्त्र में "अभ्यावर्ती चायमान" पद आया है। यहाँ पर "चायमान" का अर्थ चयमान का पुत्र चायमान व्यक्ति नहीं है। इसकी दो प्रकार से अर्थसंगति लग सकती है। प्रथम तो यह है कि "चायमान" कृदन्त प्रत्ययान्त पद है और इसका अर्थ "कामयमानः" कामना करने वाला है। यास्क ने निरुक्त ४।१४ पर ऋग्वेदीय मन्त्र (३।६।२) में आये "कायमानः" पद का अर्थ करते हुये उसके पर्याय में कामयमानः और "चायमानः" दोनों पदों को दिया है। इससे यह सुतराम् सिद्ध है कि "चायमानः" का अर्थ "कामयमानः" है। दूसरे प्रकार को इस रूप में प्रकट किया जा सकता है कि "चयमान" का पुत्र चायमान है। चयमान का दो अर्थ होगा—एक तो देखने वाला और दूसरा अग्नि का चयन करने वाला। दोनों ही अर्थों को लेने पर "चयमान" का पुत्र चायमान तत्वदर्शी और यजमान ही होगा। पूर्व बतलाया जा चुका है कि वेद में अपत्यार्थक प्रत्यय सामान्य शब्दों और जड़ पदार्थों से भी होते हैं। "प्रष्कण्व" आर्ष्टिषेण आदि इसके उदाहरण हैं। अभ्यावर्त्तिन् का अर्थ समीप बैठने

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वाला अथवा सेवाभावी हैं। समीप बैठने से उपासक अर्थ भी इसका हो सकता है। पाँचवें मन्त्र में स्पष्ट रूप से यह अर्थ भासित होने लगता है कि "इन्द्र उपासक यजमान अथवा यजमान-पुत्र के लिए धन आदि को देते हुये वरशिख (मेघ) के शेषः पुत्रों को मारता है। इस मन्त्र में "वरशिखस्य शेषः" पद आये हैं। वैदिक इण्डेक्स का कर्त्ता लिखता है कि "वरशिख" अभ्यावर्तिन् कायमान का नेता है। परन्तु यह धारणा ग़लत है। इस ऋ० ६।२७।५ वें मंत्र में तो वरशिख के पुत्रों का इन्द्र द्वारा वध लिखा है। "शेषः" पद निघण्टु में अपत्यार्थ में पठित है। वरशिख का अर्थ मेघ होगा। सायण कहता है कि यह असुर है। असुर वस्तुतः मेघ को कहा जाता है। "वर" शब्द को यास्क ने निरुक्त ५।४ पर जल के अर्थ में लिया है। अतः "वरशिख" का अर्थ होगा वरमेव शिखा यस्य सः वरशिखः अर्थात् जलशिखा वाला = मेघ। वरशिख के पुत्र भी मेघ ही हैं। अतः इन्द्र उपासक यजमान के लिए धन आदि पदार्थों के वृद्ध्यर्थ मेघों का वध करके वर्षा करता है। इसी मन्त्र में इन्द्र द्वारा "हरियूपीयामे वृचीवतों का मारना भी लिखा है। ये "वृचीवन्त" भी व्यक्तिविशेष नहीं है। वृचीवन्त भी मेघ ही हैं। क्योंकि ये छादक हैं। "हरियूपीया" का अर्थ हरे यूपों से युक्त इष्टि है। हरे यूप से युक्त यज्ञ को हरियूप कहते हैं। इस सम्बन्धी क्रिया अथवा इष्टि को हरियूपीया कहते हैं। तात्पर्य यह निकला कि "इन्द्र वर्षा आदि के निमित्त किये जानी वाली इष्टि में मेघों का वध करके वृष्टि करता है"। यह भाव भी यज्ञ विषय को ही बतलाता है। ऋग्वेद ६।२७।८ में "चायमानं अभ्यावर्ती" मघवा का विशेषण बन सकता है और उपयुक्त भी है। मघवा का अर्थ धनवाला, यज्ञवाला और इन्द्र है। ऐसी स्थिति में उपासक, यज्ञ सिद्धि की कामना वाला, धनी, याज्ञिक अथवा इन्द्र—अभ्यावर्ती चायमानः मघवा के अर्थ होंगे। यदि मघवा को विशेषण बनाया जावेगा तो पूर्व मन्त्र वाला अर्थ ही यहाँ पर भी इन पदों का होगा। ऋग्वेद ६।२७।७ में "देववात" और "वृचीवत्" पद भी आये हैं। यहाँ भी वृचीवत् का अर्थ पूर्ववत् है। "देववातः" का अर्थ भी उपासक और याज्ञिक है। ऋग्वेद ७।१८।८ में भी "चायमानः" पद आया है। वहाँ पर भी इसी कामयमानः आदि अर्थों में है। ऋग्वेद १०।६५।१४ में "चायमानाः" बहुवचन पाठ आया है। यहाँ पर भी पूर्ववत् अर्थ लिया जावेगा। सायण ने "चायमानाः" का अर्थ "पूज्यमानाः" किया है।

अम्बरीष—

वैदिक इण्डेक्स का लिखना है कि "अम्बरीष एक वार्षागिर के रूप में ऋग्वेद १।१००।१७ में सहदेव, सुराध और भयमान के साथ वर्णित है"।

परन्तु यह बात यहाँ भी स्मरण रखनी चाहिए कि यह कोई व्यक्ति नहीं। चूंकि सर्वानुक्रमणी के अनुसार इस सूक्त के ऋषियों में वार्षागीर अम्बरीष का नाम है अतः पाश्चात्य विद्वानों ने ऐसी कल्पना करली कि यह कोई व्यक्ति है और वृषागिर् राजा का पुत्र है। सायण का ही यह दोष है जिसके कारण इन्हें भ्रम में आना पड़ा। इस सूक्त के सारे मन्त्रों का देवता इन्द्र है। फलतः इस मन्त्र में भी इन्द्र देवता का वर्णन है। मन्त्र में कहा गया है कि हे इन्द्र वार्षागिर

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ऋज्राश्व, अम्बरीश, सहदेव, भयमान और सुराध अपने अनुगमन करने वालों के साथ आप आराधनीय की स्तुति करते है। मन्त्र यहाँ पर स्पष्ट कह रहा है कि ये स्तोता हैं। ये कोई व्यक्तिविशेष नहीं। परन्तु फिर भी कोई "वार्षागिराः" पद को लेकर आपत्ति कर सकता है। उसका ही प्रथम उत्तर दिया जाता है। "वृषा" का अर्थ वर्षिका वर्षणशीला। "गीः" का अर्थ वाणी है। अर्थ की वर्षिका जिसकी वाणी हो वह "वृषागीः" होगा। विद्वान् स्तोता ही "वृषागीः" है। तत्सम्बन्धी को वार्षागिरः कहा जावेगा। शतपथ ब्राह्मण १।४।१।३ में "इन्द्रो वृषा" पदों से इन्द्र को वृषा कहा गया है। इन्द्र की स्तुवि करने वाला 'वृषागीः' कहलावेगा। ऋग्वेद ३।२७।१३ में अग्नि को वृषा कहा गया है। अतः अग्नि की प्रशंसा अथवा उसका वर्णन करने वाला 'वृषागीः' है। शतपथ १।४।४।३ में 'स्रुवः' को वृषा कहा गया है। यज्ञ में स्रुवा का महान् उपयोग है। अतः स्रुवा के द्वारा यज्ञादि कार्यों में कर्म करते हुये स्तुति करने वाले यजमान को 'वृषागीर' कहा जा सकता है। 'वृषागीः' का अपत्य भी वार्षागिर हो सकता है। तथा 'वृषागीः' सम्बन्धी भी 'वार्षागिर' हो सकता है। अथवा 'वृषागीः' ही 'वार्षागिर' है—ऐसा भी व्याकरण से स्वार्थ में प्रत्यय होकर बन सकता है। अपत्य अर्थ में मानने पर भी स्तोता अथवा यज्ञकर्त्ता का पुत्र अर्थात् अत्यन्तस्तुति कर्त्ता होगा। जिस प्रकार प्रष्कण्व कण्व का पुत्र अर्थात् अत्यन्त मेधावी—यह अर्थ बनता है। वृषा का अर्थ है वर्षक और 'गीः' का अर्थ है वाणी। अतः कामनावों एवं अर्थों की वर्षा करने वाली वाणी वृषागीः कहलावेगी। तथा 'वृषागीः' सम्बन्धी को 'वार्षागिर' कहा जावेगा। 'वार्षागिराः अम्बरीषः सहदेवः भयमानः सुराधः ऋज्राश्वः का अर्थ इन बतलाये प्रकारों से वेदवाणी के ज्ञाता, अथवा इन्द्र के स्तोता, अथवा यज्ञ के कर्त्ता, अम्बरीष, सहदेव, भयमान, सुराध और ऋजाश्व है। अब इन अम्बरीष आदि शब्दों पर विचार किया जाता है। ये भी व्यक्तिवाचक शब्द नहीं हैं। अम्रीष पद 'अबि' शब्दार्थक धातु से औणादिक ईषन् प्रत्यय करके बना है। इसका अर्थ है—शब्दकर्त्ता। अर्थात् मंत्रों द्वारा स्तुति आदि करने वाला। 'सहदेव' का अर्थ है 'देवैः सह वर्तमानः' अर्थात् सदा यज्ञ द्वारा देवों का उपासक देवयज्ञ करने वाला। भयमान पद ञिभी भये धातु से बना है। धर्म का जिसको सदा भय रहे वह 'भयमान' है। "सुराध" का अर्थ है उत्तम धनवाला अथवा ज्ञानी। ऋज्राश्व का अर्थ है सरल घोड़ों वाला। इस प्रकार मंत्र में आये सभी पद यौगिक हैं। सायण ने भी इन शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलायी है परन्तु अर्थ करने में व्यक्तिवाचक अर्थ लिये हैं जो बिलकुल ही असंबद्ध हैं।

अयास्यः आङ्गिरसः—

वैदिक इण्डेक्स कर्त्ता का कथन है कि यह ऋषि ऋग्वेद के दो प्रकरणों में बतलाया गया दिखाई पड़ता है।

यहाँ पर भी इण्डेक्सकर्त्ता भ्रम में है। यह भी व्यक्तिवाचक नाम नहीं है। अङ्गिरा कोई व्यक्ति नहीं यह पूर्व सिद्ध कर आया हूँ। जब अङ्गिरा ही व्यक्तिविशेष नहीं तो उसका पुत्र अयास्य भी व्यक्तिविशेष क्यों कर हो सकता है। अयास्य पद के विविध अर्थ हैं अतः यहाँ पर थोड़ा सा विवरण इस विषय में दिया जाता है। जैमिनीय उपनिषद् में २।८।७ पर लिखा है कि "ते (असुरा) ऽब्रुवन्नयं वा आस्य इति। यदब्रुवन्नयं वा आस्य इति तस्मादयमास्यः। अयमास्यो ह वै नामैषः।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तमयास्य इति परोक्षमाचक्षते ।—अर्थात् उन असुरों ने कहा कि यह आस्य है । उससे यह "अयमास्य" कहा गया । अयमास्य होते हुए ही यह परोक्ष में 'अयास्य' कहा जाता है । पुनः इसी उपनिषद् में २।११।८ पर लिखा है कि—स एष एवास्यः। आस्ये धीयते । तस्मादयास्यः । यद्वेवा (ऽयम्) आस्ये रमते तद्वेवायास्यः' अर्थात् यह आस्य अर्थात् मुख में धारण किया जाता है इसलिए अयास्य है । अथवा मुख में रमने से इसको अयास्य कहा जाता है । पुनः इसका स्पष्टीकरण करते हुये इसी उपनिषद् में २।११।८ पर कहा गया है कि "स प्राणो वा अयास्यः" अर्थात् प्राण का नाम अयास्य है । शतपथ ब्राह्मण १४।४।१।६ पर लिखा मिलता है कि—क्वनु सो ऽभूद्यो न इत्थमसक्तेत्ययमास्ये अन्तरिति सो ऽयास्यः—अर्थात् यह कहाँ पर था कि असक्त नहीं हुआ ?—मुख के अन्दर । इसीलिए इसका नाम अयास्य है । कौषीतकी ३०।६ में अग्नि को होता बृहस्पति को ब्रह्मा, अयास्य को उद्गाता, आंगिरस घोर को अध्वर्यु कहा गया है । अङ्गिरा समाष्टि प्राण का नाम है । उसके पुत्र ये प्राण ही बृहस्पति, अयास्य और घोर हैं । "अयास्य" वस्तुतः इन ब्राह्मण ग्रथों के आधार पर मुखवर्ती प्राण का नाम है । यह प्राण मुख में रहता है इसलिए इसको अयास्य कहा गया है । ऋग्वेद १।६२।७ में "अयास्य" पद आया है । वहां पर दो प्रकार से इसका अर्थ किया जा सकता है । प्रथम तो यह कि ब्राह्मण ग्रन्थानुसार इसका अर्थ मुख्य प्राण होगा । दूसरे प्रकार से इसका अर्थ प्रयत्न से असाध्य एवं दुर्धर्ष होगा । यास का अर्थ प्रयत्न है । यास से साध्य यास्य है । जो यास्य न हो वह अयास्य है । ऐसी अवस्था में यह इन्द्र का विशेषण होगा । क्योंकि मन्त्र का देवता इन्द्र है । सायण गड़बड़ी करते हुये भी विवश होकर यहां पर इन दोनों अर्थों को भी स्वीकरता है । वह कहता है—यासः प्रयत्नः । तत्साध्यो यास्यः । न यास्यो ऽयास्यः । यद्वा अयास्यः पञ्चवृत्तिमुख्यः प्राणः । स हि आस्यात् मुखात् अयते गच्छति निष्क्रामति । ऋग्वेद १०।१३८।४ में भी "अयास्यः" पद आया है । यहां पर भी "अयास्यः" का अर्थ अयासनीय अर्थात् चलाये जाने में अशक्य है । ऐसी स्थिति में यह इन्द्र का विशेषण बनेगा । ऋग्वेद १०।१०८।८ में भी "अयास्यः" पद आया है । इस मन्त्र में अंगिरसः पद भी आया है । नवग्वाः और ऋषयः उसके विशेषण रूप में भी हैं । यहां पर "ऋषयः" का यदि गमनशील सूर्य किरणें अर्थ कर लिया जावे तो "अङ्गिरसः" विशेषण पद हो जावेगा । ऐसा न करने पर भी अंगिरसः मध्यस्थानीय पदार्थ होंगे । ऋषि उन्हें इसलिए कहा जाता है कि वे गतिशील अथवा देखने के साधन हैं । "अयास्य" भी मध्यस्थानीय पदार्थ ठहरेगा क्योंकि अंगिरा का पुत्र होने से उसका ऐसा होना ही युक्तियुक्त होगा । ऋग्वेद १०।६२।१५ में भी "अङ्गिरा" का अर्थ अग्नि अथवा मध्यस्थान पदार्थ है । इस सूक्त में अदिति आदि अनेक देवतावों का वर्णन है अतः "अंगिरा" का भी वर्णन प्रासंगिक है ।

ऋग्वेद १०।६७।१ में भी आये हुये "अयास्य" पद का अर्थ कोई व्यक्तिविशेष नहीं है । चूंकि सूक्त का ऋषि अयास्य आंगिरस है अतः वैदिक इण्डेक्स के कर्त्ता को यह भ्रम हुआ होगा । इस सूक्त का देवता बृहस्पति है । वस्तुतः अंगिरा का इतिहास जैसा कि पूर्व दूसरे प्रकरण में दिखलाया जा चुका है—सृष्टिप्रक्रिया का इतिहास है । अंगिरा अंगारा हैं । अङ्गारों के शान्त होने पर जब वे प्रकाशित हुये तब बृहस्पति हुआ । ऐतरेय ब्राह्मण ३।३४ में लिखा है कि ये

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसो ऽभवन् यदङ्गाराः पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद्बृहस्पतिभवत् ॥ यह अर्थ एक प्रक्रिया में हुआ। प्रक्रियान्तर से "अयास्य" पद के और भी अर्थ हो सकते हैं। याज्ञिक प्रक्रिया में "अयास्य" का अर्थ दृढ़ भक्त एवं दृढ़ यजमान अथवा दृढ़ उपासक भी हो सकता है। इस सूक्त में यज्ञ का वर्णन भी स्पष्ट रूप से प्रकट हो रहा है। इस मन्त्र से अगला मन्त्र (ऋ० १०।६७।२) यज्ञ के स्वरूप पर प्रकाश डाल रहा है।

मन्त्र निम्न प्रकार है—

ऋतं शंसन्तं ऋजु दीध्यानः दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥

अर्थात्—

ऋत = ज्ञान एवं कर्म और सत्य की प्रशंसा तथा उपदेशना करते हुये सरल सत्य मार्गों का ध्यान करते हुये ज्ञान के पुत्र अग्नि (यज्ञाग्नि) वीर अथवा असुर भावना लड़ने वाले अङ्गिरसः—तपस्वी याज्ञिक मेधावी पद को धारण करते हुये प्रथम यज्ञ के कर्म को आदर देते हैं।" यहाँ पर मन्त्र स्पष्ट ही याज्ञिक विद्वानों का वर्णन कर रहा है। उनके कर्मों का भी प्रतिपादन कर रहा है। इसलिए यह भी सुनिश्चित है कि पहला मन्त्र गी इसी प्रक्रिया से सम्बन्ध रखता है।

मन्त्र निम्न रूप में है—

इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत्।
तुरीयं स्विज्जनयद्विश्वजन्योऽयास्य उक्थमिन्द्राय शंसन् ॥
ऋ० १०।६७।१॥

अर्थ—

विश्वहित का साधक अयास्य = अचलसंकल्प यजमान कहता है कि हमारे पिता प्रपिता ने इस सप्त छन्दों से युक्त मन्त्रों वाली यज्ञ से उत्पन्न महती बुद्धि और क्रिया की साधना की है। मैं अयास्य = अचलमति इन्द्र = परमेश्वर के स्तोत्र को गाता हुआ अगली आने वाली (तुरीय) चतुर्थ पीढ़ी की सन्तति को भी इसकी प्रेरणा देता हूँ।' इस प्रकार अयास्य का अर्थ यहाँ पर स्थिरसंकल्प यजमान है।

यहाँ पर एक बात विशेषरूप से समझने की है कि अङ्गिरा आदि जिन भौतिक शक्तियों ने सृष्टि के पदार्थों के निर्माण का क्रम चलाया है उन्हीं के द्वारा जगत् में सम्पादित होने वाले सृष्टि संबंधी महान् यज्ञ कर्मों की प्रेरणा भी विद्वानों को अनुसंधान करने पर मिली है। संसार यज्ञ कर्मों की प्रेरणा देता है। विद्वान् अपने अन्वेषण से उन प्रेरणावों को प्राप्त करते हैं और यज्ञ का विस्तार करते हैं। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद १०।९२।१० मन्त्र अच्छा प्रकाश डालता है। मन्त्र में लिखा है कि "चूँकि कामों के वर्षक बृहस्पति तथा सोमबन्धु विश्वदेव प्रजा के लिए अन्न पैदा करते हैं. अत महा मेधावी कर्मेश (अथर्वा) यज्ञ कर्मों के द्वारा उनके पथ का विस्तार करता है। सूर्य की किरणें बलों के साथ इस वर्षा आदि कर्मों को पूर्ण करती हैं।" ऐसा ही वर्णन ऋग्वेद १।८३।५ में भी मिलता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अर्चन्—

इस सम्बन्धी चर्चा पूर्व प्रकरण दो में कर दी गयी है। निरुक्तकार के भाव को इस सम्बन्ध में प्रकट कर दिया गया है। यह भी व्यक्तिविशेष का नाम नहीं है। विशेष विवरण वहाँ पर ही देखें।

अर्चनानस्—

"अर्चनानस्" पद ऋग्वेद ५।६४।७ और अथर्व १८।३।१५ में आया है। यह किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं। चूँकि ऋग्वेद ५।६४ वें सूक्त का ऋषि भी अर्चनानस् लिखा गया है अतः वैदिक इण्डेक्सकर्त्ता को यह भ्रम है कि यह कोई व्यक्तिविशेष है। वस्तुतः ऐसी बात नहीं। शतपथ ब्राह्मण में "अनस्" यज्ञ को कहा गया है। श० १।१।२।७ और ३।६।३।२ में यह वाक्य पाया जाता है—"यज्ञो वाऽनः"। अर्थात् यज्ञ "अनस्" है। इस प्रकार "अर्चनम् अनो यस्य स अर्चनानः" इस व्युत्पत्ति से उपासना यज्ञ का कर्त्ता अथवा उपासक अर्थ होगा। अथर्व में भी विद्वान् और उपासक अर्थ ही संगत होता है। ऋग्वेद ५।६४।८ मन्त्र की इससे सुन्दर अर्थसंगति लगती है।

अलाय्य—

इस शब्द पर वैदिक इण्डेक्स का कथन है कि ऋग्वेद की एक दुरूह ऋचा में पाया जाता है और यह व्यक्तिवाचक नाम है। हिल्ब्रेण्ड्थ ने सन्दर्भ को संशोधित कर दिया कि मूल में यह नाम रह ही न जावे। पीटर्सवर्ग अपने कोष में इससे इन्द्र का निर्देश मानता है। पिशेल का कहना है कि यह एक व्यक्ति का नाम है जिसका कुल्हाड़ा चुराया गया था और जिसके वास्ते यह सूक्त कुल्हाड़ा प्राप्त करने के चमत्कार के रूप में लिखा गया था।

परन्तु यहाँ पर भी ग्रन्थकर्ता की ग़लती है। "अलाय्य" पद व्यक्तिवाचक नाम नहीं है। ऋग्वेद ६।६७।३० में "अल्लाय्यस्य" पद आया है। मन्त्र में सोम देवता का वर्णन है। इसलिए इन्द्र आदि की कल्पना करना व्यर्थ है। अलाय्य का अर्थ "अभिगमन शील शत्रु है। ऋ धातु से आय्य प्रत्यय करके र को ल करने से अलाय्य पद सिद्ध होता है। आक्रमण करने वाले शत्रु को अलाय्य कहा जाता है। सायण के यहाँ पर ऐसा मानते हुये भी उसके पाश्चात्य शिष्यों ने इतनी बड़ी भूल कर डाली।

अलिन—

वैदिक इण्डेक्स के कर्त्ता का कथन है कि यह विशेष देश के निवासियों का नाम है। तथा ऋग्वेद में एक ही बार आया है। लुडविग का विचार है कि अधिक सम्भव है कि ये पक्थ, भलान और शिव लोगों के साथ सुदास् के द्वारा हराये गये थे। जिमर का कथन है कि ये कफीरिस्तान के उत्तरी-पूर्वीय भाग में बसते थे।

यहाँ पर विचार करने पर यह पता चलेगा कि ये सारी कल्पनायें निराधार हैं। इन पाश्चात्य विद्वानों को न संस्कृत ही आती थी और न वेद का ही परिज्ञान था। जहाँ भी कोई शब्द दिखलायी पड़ा अपनी कल्पना की बड़ी इमारत खड़ी कर दी।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ऋग्वेद ७।१८।७ में "पक्थासः", "भलानसः" "अलिनासः" और शिवासः पद आये हैं। यहाँ पर पक्थासः का अर्थ हवियों के पाचक हैं, भलानस का अर्थ भद्रमुख हैं, और अलिनासः का अर्थ तपस्वी, तथा "विषाणिनः" का अर्थ है हाथ में मृगविषाण लिए हुये। शिवासः का अर्थ कल्याण करने वाले हैं। मन्त्र में यह भाव व्यक्त किया गया है कि—यज्ञ की हवि को पकाने वाले, भद्रमुख, तपस्वी, मृगविषाणधारी = दीक्षित तथा यज्ञादि कर्मों द्वारा लोक कल्याण चाहने वाले मनुष्य, यज्ञ कर्म से लोक का कल्याण होता है—ऐसा कहते हुये उस इन्द्र (राजा) की प्रशंसा करते हैं जो कि यज्ञ में आनन्द लेने वाला है और हिंसकों से श्रेष्ठजनों की गायों की रक्षा करता है तथा लड़ाई करने वाले मनुष्यों को परास्त करता है। "भला" पद भद्रार्थ का वाचक है। सायण ने भी यहाँ पर इन सभी पदों का ऐसा ही अर्थ अपने भाष्य में किया है। अतः समझना चाहिए कि "अलिन" व्यक्तिवाचक नाम नहीं। पाश्चात्यों की सारी कल्पना निराधार है।

अवत्सार—

वैदिक इण्डेक्स इसे एक ऋषि का नाम कहता है। परन्तु यह सर्वथा निराधार है। अवत्सार कोई व्यक्तिविशेष नहीं। चूँकि ऋग्वेद ५।४४ सूक्त का ऋषि अवत्सार हैं अतः उसको लेकर यह विचार ग्रन्थकार ने बना लिया। यह निराधार है कि मन्त्र में जिस का नाम आया है वह यदि उस सूक्त का ऋषि है तो वह कर्ता है अथवा कोई व्यक्तिविशेष है। द्रष्टा अपना औपाधिक नाम भी मन्त्रगत शब्द से रख लेता है। इस विषय में प्रथम प्रकरण में लिखा जा चुका है कि ऋषि मन्त्रकर्त्ता नहीं। यदि किसी सूक्त के द्रष्टा के रूप में कोई नाम है और उसी का सूचक पद मन्त्र में भी दिखलायी पड़ता है तो इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मन्त्र में उस ऋषि का नाम है। मन्त्रगत शब्द को लेकर द्रष्टा अपनी उपाधि या अपना नाम वैसा ही रख लेता है। यह औपाधिक नाम कहलाता है। वस्तुतः मन्त्रस्थ पद उस व्यक्ति का वाचक नहीं। यही बात अवत्सार पद से भी ध्वनित होती है। मन्त्रस्थ अवत्सार पद यौगिक है। सूक्तद्रष्टा अवत्सार कश्यप गोत्रीय एक व्यक्ति है। उसने अपनी उपाधि अवत्सार रखली है। ऋग्वेद ५।४४।८ मन्त्र में "अवत्सार" पद आया है। वहाँ पर अवताम् सारः, अवत्सारः अथवा अवन् सरतीति अवत्सारः—इन व्युत्पत्तियों के आधार से रक्षकों का प्रेरक अथवा रक्षा करता हुआ श्रम कर्मों में लगने वाला मनुष्य अवत्सार है। इसी मन्त्र में क्षत्र, मनस, एवावद, यजत और सध्रि पद आये हैं। "क्षत्र" पद निघण्टु २।१० में धन नाम में पठित है, "क्षत्र" जिसके पास हो उसका नाम "क्षत्र" है। इस प्रकार धनवाले को क्षत्र कहा जाता है। निरुक्त २।२५ पर यास्क ने "एवैः" का अर्थ "अयनैः" और "अवनैः" किया है। अतः एव का अर्थ गमन, गति एवं मार्ग है। लोगों को गति देने वाला, मार्ग देने वाला अथवा ज्ञान देने वाला "एवावद" है। यास्क ने निरुक्त ८।११ पर "यजते" पद का अर्थ "यज्ञिये" किया है। सायणाचार्य ने भी ऋग्वेद १०।११०।६ मन्त्र में आये "यजते" पद का अर्थ "यष्टव्ये" किया है। अतः इन आधारों पर यजनकर्म करने वाले मनुष्य को "यजत" कहा जावेगा। ज्ञान, कर्म आदि को सम्यक् प्रकार से धारण करने वाले को "सध्रिः" कहा जाता है। इस प्रकार ये सब यौगिक शब्द हैं—व्यक्तिविशेषों के नाम नहीं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अश्वदावन्—

वैदिक इण्डेक्स कहती है कि लुडविग इसे ऋग्वेद में एक राजकुमार के रूप में पाते हैं। वहाँ पर शत अश्वों के दान का वर्णन है। लेकिन यह शब्द इन्द्र की पदवी के रूप में दिखलायी पड़ता है।

लेकिन यह सारी कल्पना ग़लत है। ऋग्वेद ५।१८।३ में "अश्वदावन्" पद आता है। यहाँ पर यह अग्नि के लिए सम्बोधन के रूप में प्रयुक्त है। इन्द्र की उपाधि के रूप में नहीं। अग्नि का अर्थ यहाँ पर नेता है। प्रक्रियान्तर से अनेक अर्थ अग्नि के हो सकते हैं। उसी के अनुरूप "अश्वदावन्" के अर्थ में भी अनेकता आती जावेगी। नेता के अर्थ में लेने पर "अश्वदावन्" का अर्थ अश्वों को देने वाला होगा। "अग्नि" का परमात्मा अर्थ लेने पर भी यह अर्थ संगत होगा। अग्नि का अग्नि अर्थ लेने पर अंगार अथवा तेज को देने वाला अर्थ बनेगा। इस प्रकार इसके अनेक अर्थ बनेंगे। सायण ने भी इसका "अश्वानां दातः" अर्थ इस मन्त्र का भाष्य करते हुये किया है। इस मन्त्र का अर्थ होगा—

हे नेतः! तेजोवर्चस् युक्त आप की उन धनियों के लिये मैं उत्तमवाणी से प्रशंसा करता हूँ कि जिनके रथ शत्रुवों से विना हानि उठाये हुये संग्राम में विचरते हैं। यहाँ पर न तो यह शब्द इन्द्र की उपाधि ही है और न यह किसी राजकुमार का नाम ही है।

असिक्नी—

वैदिक इण्डेक्स का कथन है कि "असिक्नी" ऋग्वेद में उस नदी का नाम है जो बाद में चन्द्रभागा के नाम से जानी जाती है। ग्रीक लोगों में यह "अकेसिनीज" के रूप में है। वर्तमान समय में यह पंजाब की "चुनाब" नदी है।

यहाँ पर इस कथन की सारासारता का विचार किया जाता है। परिणाम अपने आप सामने आ जावेगा। वैदिक इण्डेक्स ने अपनी पुष्टि में ऋग्वेद ८।२०।२५ का प्रमाण दिया है। परन्तु यहाँ पर मन्त्र में यह नदीसामान्य के रूप में वर्णित है। यह किसी विशेष नदी का नाम नहीं है। इस ऋग्वेदीय मन्त्र के देवता मरुद्गण हैं। ये ही इस सारे सूक्त के देवता हैं। मरुद्गण से तात्पर्य वर्षवायु अर्थात् बरसाती हवावों से है। नदियों को "मरुद्वृधा" कहा जाता है। इसका कारण यह है कि ये मरुद्गण नदियों को बढ़ाते हैं। इसीलिए यास्क ने निरुक्त ९।२६ पर लिखा है कि "मरुतः एना वर्धयन्ति"। इस ऋग्वेदीय (८।२०।२५) मन्त्र में यह बतलाया गया है कि "हे अन्तरिक्षस्थानीय मरुद्गण! सिन्धु = स्यन्दनशील वेगवाली नदी में जो औषध है, असिक्नी = काले रंग के पानी वाली नदी में जो औषध है, समुद्रों में जो औषध है तथा पर्वतों में जो औषध है—उसे आप प्राप्त कराते हो।" मन्त्र कितना स्पष्ट और वैज्ञानिक अर्थ देता है।

असिक्नी का अर्थ करते हुए यास्क ने निरुक्त ९।२६ पर लिखा है कि—असिक्नी = अशुक्ला-असिता। सितमिति वर्णनाम। तत्प्रतिषेधोऽसितम्।" अर्थात् असिक्नी का अर्थ अशुक्ला, एवं असिता अर्थात् काली नदी है। सितम् वर्णका नाम है। उसका प्रतिषेध असित है।" अतः असिक्नी का अर्थ काले रङ्ग को दिखलाने वाली नदी। जिस नदी का पानी काली आभा प्रकट करता हो उसका नाम असिक्नी है। यास्क ने यह व्याख्या ऋग्वेद १०।७५।५ मंत्र में आये हुये असिक्नी पद की की है।

२२

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मंत्र में गंङ्गा आदि पद भी आये हैं। सब की व्याख्या यास्क ने यौगिक अर्थ में की है। वैदिक इण्डेक्स ने दूसरा प्रमाण अपने पक्ष में ऋ० १०।७५।५ का ही दिया है। यास्क उसी की व्याख्या में असिक्नी को नदीसामान्य मानता है। फिर चन्द्रभागा अथवा चुनाब का नाम है—यह सारी कल्पना ही विना सिर पैर की बन जाती है। इस प्रकार वैदिक इण्डेक्स द्वारा दोनों हवालों में "असिक्नी" पद नदीसामान्य का वाचक है—किसी नदीविशेष का नहीं। निरुक्त ने ही यह स्पष्टीकरण कर दिया। निरुक्त का प्रमाण तो वैदिक इण्डेक्स के विपरीत जाता है फिर भी अपने पक्ष में उसका प्रमाण देना दुःसाहस मात्र है। नदियों के विषय में मैं प्रथम प्रकरण में पर्याप्त प्रकाश डाल आया हूँ। वहाँ पर भी देखना चाहिए।

ऋग्वेद ७।५।३ में "असिक्नी" पद आया है। यहां पर भी "असितवर्ण" कृष्णवर्ण ही इसका अर्थ है। यहां पर यह "विशः" का विशेषण है। ऋग्वेद ९।७३।५ में भी "असिक्नी त्वचम्" पाठ आया है। यहाँ पर भी "काले रंग की चमड़ी" ही अर्थ है। सायण ने "असिक्नी" का अर्थ यहां पर "रात्रिवत्कृष्णरूपाम्" किया है। ऋग्वेद १०।३।१ में भी "असिक्नीं" पद आया है। यहां पर इसका अर्थ रात्रि है। सायण ने भी यही अर्थ किया है। ऋग्वेद ४।१७।१५ में "असिक्नी" पद मिलता है। यहाँ पर भी रात्रि अर्थ को देने वाला है। अथर्व वेद १।२३।१ में "असिक्नी" ओषधि का नाम है। वहाँ पर स्पष्ट लिखा है कि हे ओषधियो! तू रात्रि में पैदा हुई हो अतः तुम्हारे नाम रामा, कृष्णा और असिक्नी हैं। पुनः अथर्व १।२३।३ में भी ओषधि का नाम असिक्नी है। अथर्व ८।७।१ में भी ओषध अर्थ में ही इसका प्रयोग है अथर्व ५।१३।८ में "असिक्नी" एक प्रकार की सर्पजाति है। अथर्व १२।२।२० में "असिक्नी" पद का प्रयोग "काले" के अर्थ में हुआ है। इसलिए "असिक्नी" व्यक्तिवाचक पद नहीं हैं।

अग्निवेशि शत्रि—

इसे वैदिक इण्डेक्स ने राजा का नाम माना है परन्तु यह ग़लत है। यह भी किसी राजाविशेष का नाम नहीं है। यह पद ऋग्वेद ५।३४।९ में आया है। वहां पर उसका अर्थ है अग्नि में प्रविष्ट होने वाला शुत्रशातन राजा अथवा मनुष्य। अग्नि में प्रविष्ट होने वाला अर्थात् युद्ध में जिस समय अग्निवर्षा की जा रही हो तब भी उसमें प्रविष्ट होने वाला और युद्ध करने वाला। ऐसे राजा, वीर, अथवा मनुष्य को अग्निवेशि कहा जाता है। अग्निवेशि का पुत्र अग्निवेशि है। शत्रिः का अर्थ है शातयिता। इस प्रकार "अग्निवेशि शत्रि" का अर्थ होगा "अग्निवर्षा किये जाने वाले युद्ध में भी प्रविष्ट होने वाला शत्रुशातन राजा, वीर अथवा मनुष्य। इस अर्थ से मंत्र की अर्थसंगति भी अच्छी प्रकार से लगजावेगी।

आपया—

वैदिक इण्डेक्स का लिखना है कि आपया एक नदी का नाम है और उसका ऋग्वेद में केवल एक स्थान (ऋ० ३।२३।४) पर दृषद्वती और सरस्वती के मध्य में वर्णन मिलता है। परन्तु इस मंत्र पर विचार करने पर पता चलता है कि यह "आपया" भी कोई विशेष नदी नहीं है। मंत्र में यज्ञार्थ अग्नि धारण और सामूहिक यज्ञ के स्थान एवं समयों का वर्णन है। इस मंत्र में "सरस्वती", "दृषद्वती" और "आपया" तीन पद आये हैं। "सरस्वती" वस्तुतः नदी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सामान्य है। वह किसी विशेष नदी का नाम नहीं। यास्क ने निरुक्त ६।२६ पर ऐसा ही लिखा है। प्रथम प्रकरण में भी मैं इस पर विचार कर आया हूँ। "दृषद्वती" उस नदी का नाम है जिसके कूलों पर बड़े बड़े पत्थर हों। "आपया" जल से व्याप्त अर्थात् जलपरिपूर्ण नदी को कहा जाता है। ऐसी अवस्था में उपर्युक्त मंत्र का अर्थ निम्न प्रकार होगा—

इस अग्नि को स्तुति करता हुआ मैं यजमान अन्नादि की उत्पादिका भूमि के श्रेष्ठ स्थान में निरुपद्रव के दिनों में धारण करता हूँ। मानवों के महान् समूह के मध्य नदी, चट्टानों से युक्त नदी और जलों से परिपूर्ण विस्तृत किनारों वाली नदी पर यह अग्नि प्रदीप्त होवे"।

दूसरा प्रकार इन शब्दों के अर्थ का और भी है। वह इस प्रकार है कि "सरस्वती" अमावस्या का नाम है। गोपथ ब्राह्मण उत्तरार्ध १।१२ में लिखा है—अमावस्या वै सरस्वती पौर्णमासः सरस्वान्" अर्थात् अमावस्या सरस्वती है और पौर्णमास सरस्वान है। चूँकि पौर्णमास को सरस्वान् कहा गया है और इसी से कलावों के घटते घटते अमावस्या आ जाती है अतः वह सरस्वती है। इसी के अनुरूप "आपया" का अर्थ भी करना चाहिए। आपयति प्रापयति सर्वाः कलाः चन्द्रमसमिति—आपया पौर्णमासी अर्थात् समस्त चन्द्र कलावों को चन्द्रमा को प्राप्त कराती है अतः पौर्णमासी ही "आपया" है। "दृषद" पद का अर्थ पाषाण खण्ड है। सोम को विचोड़ने में इस का प्रयोग कई यागों में हुआ करता है। इसलिए इस का प्रधान प्रयोग जिसमें हो उसका नाम दृषद्वती है। इस प्रकार दृषद्वती का अर्थ सोमेष्टि अर्थात् सोमयाग होगा। इस विवेचना के अनुसार पूर्वोक्त मंत्र का अर्थ यह होगा—

निरुपद्रव समयों में स्तुति करता हुआ मैं यजमान इस अग्नि को अन्नादि की दात्री पृथ्वी के श्रेष्ठ स्थान में धारण करता हूँ। यह अग्नि पूर्णिमा अमावस्या और सोमेष्टि में मनुष्यों के समूह में प्रदीप्त होवे। इस प्रकार यहाँ पर "आपया" भी व्यक्तिवाचक नहीं।

आयवस—

वैदिक इण्डेक्स के अनुसार यह विकृत और अबोध्य ऋग्वेदीय (१।१२२।१५) मंत्र में एक राजा के नाम के रूप में आया है। परन्तु यह एक कथन मात्र है। ऋग्वेद का यह मंत्र विकृत भी नहीं है और न अबोध्य ही है। इस मंत्र में "मशर्शारस्य" और "आयवसस्य' पद आये हैं। सायण ने ग़लती से इन का अर्थ इस नाम वाला राजा किया है। उसी का अनुसरण इस ग्रन्थकार ने भी कर लिया है। महर्षि दयानन्द ने मशर्शार का अर्थ दुष्ट शब्दों को नष्ट करने वाला और आयवस का अर्थ पूर्ण सामग्री वाला किया है। मशर्शार का अर्थ है "मश" = मच्छर के समान शत्रुवों को देखने वाला अथवा मारने वाला। दुश्मनों को मच्छर के समान समझना अथवा मच्छर की तरह मार देना रूपकर्म जिस वीर अथवा राजा में पाया जावे वह मशर्शार है। "मशकीकृत्य भृशं शृणोति शारयति वा अमित्रान् इति मशर्शारः"। इसी प्रकार "आयवस" का अर्थ है सब प्रकार से अन्न को प्राप्त करने वाला। "यवस" का अर्थ अन्न है और "आ" का अर्थ सर्वतः है। इस प्रकार बहुत अन्नों वाला आयवस है। मंत्र में "चत्वारः" और "त्रयः" पद "शिश्वः" के विशेषण के रूप में आये हैं। निरुक्त ३।१० में दिखलाई गई व्युत्पत्ति के आधार पर "चत्वारः" का अर्थ "चलिततमाः" अर्थात् अत्यन्त

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

चलनशील अथवा अत्यन्त गतिशील होगा। "त्रय" का अर्थ इसी प्रकार "तीर्णतमाः" अत्यन्त निपुण होगा। इस प्रकार मंत्र और उसका अर्थ स्पष्टीकरण के लिए यहां पर दिया जाता है, जिससे वैदिक इण्डेक्स का विचार स्वयं अप्रमाणीभूत दिखलायी पड़ने लगेगा।

चत्वारो मा मशर्शारस्य शिश्वस्त्रयो राज्ञ आयवसस्य जिष्णोः।
रथो वां मित्रावरुणा दीर्घाप्साः स्यूमगभस्तिः सूरो नाद्यौत् ॥

ऋ० १।१२२।१५—

हे मित्रावरुण! शत्रु को मशक की तरह मर्दन करने वाले राजा के गतिशील पुत्र तथा बहुत अन्न वाले राजा के अत्यन्त निपुण पुत्र मुझ उपासक अथवा ज्ञानी को सुखी करें। आपका सुन्दर रूप वाला रथ सुखकर दीप्ति वाले सूर्य के समान प्रकाशमान हो। यहां पर मित्रावरुण का अर्थ इस प्रक्रिया में प्रजा के मित्र और उत्तमगुणधारी विद्वान् और उपदेशक लेना चाहिए।

आयु—

वैदिक इण्डेक्स का मानना है कि आयु ऋग्वेद में कुत्स और अतिथिग्व के साथ दिखलायी पड़ता है। यह इन्द्र की सहायता से तुर्वायण द्वारा हराया गया था। पिशेल का विश्वास है कि यह "पक्थ" लोगों का राजा है। इसने इन्द्र की सहायता से वेश पर विजय प्राप्त की है। कहीं कहीं पर यह बिलकुल काल्पनिक बन गया है।

यास्क ने निरुक्त ६।४ पर आयु का अर्थ अयन अर्थात् वायु किया है। "आयु" पद निघण्टु २।३ में मनुष्य अर्थ में पढ़ा गया है। यास्क ने निरुक्त १०।४१ पर आयु का अर्थ अयन अर्थात् मनुष्य किया है। यास्क ने पुनः निरुक्त ११।४९ पर आयु का अर्थ मनुष्य, जल और "ज्योतिः" किया है। अतिथिग्व शब्द पर मैंने इस विषय पर भी प्रकाश डाल दिया है। फिर भी इन प्रमाणों से यह सिद्ध है कि आयु कोई व्यक्तिविशेष नहीं। वह मनुष्यार्थ को बताने वाला पद है। ऋग्वेद १।५३।१०, ऋ० २।१४।७; ऋ० ८।५३।२ में आया हुआ "आयु" पद मनुष्य अर्थ में है। ऋग्वेद १०।४९।५ में आया "आयु" पद भी मनुष्यार्थ का वाचक है। अतः यहां पर भी यह समझना चाहिए कि वैदिक इण्डेक्सकर्त्ता को भ्रान्तिमात्र है वस्तुतः आयुः पद यौगिक है। यह किसी व्यक्तिविशेष का नाम नहीं।

आर्जुनेय—

वैदिक इण्डेक्स के अनुसार यह कुत्स का पैतृक नाम है। परन्तु यह भी निराधार है। यह व्यक्तिवाचक पद ही नहीं तो फिर पैतृक नाम कैसे बन सकता है। "आर्जुनेय" पद ऋग्वेद में—१।११२।२३; ४।२६।१; ७।१९।२ तथा ८।१।११ में पाया जाता है। परन्तु कहीं पर वैदिक इण्डेक्स के आशय को पूरा नहीं करता है। आर्जुनेय पद की व्याख्या सायण ने दो प्रकार से की है। पहिला प्रकार उसका यह है कि वह अर्जुनी के पुत्र को आर्जुनेय मानता है। ऋग्वेद ४।२६।१ ७।१९।२ तथा ८।१।११ में उसने इसी प्रकार की व्याख्या की है। वह इन स्थलों पर "अर्जुन्याः पुत्र आर्जुनेयः" इस व्युपत्ति का अनुसरण करता है। दूसरा प्रकार इसकी व्याख्या का उसका यह है कि वह अर्जुन के पुत्र को आर्जुनेय कहता है। ऋग्वेद १।११२।२३

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पर ऐसा ही अर्थ उसने किया है। उसका कथन है कि ब्राह्मण के अनुसार इन्द्र का गुह्य नाम अर्जुन है। उसका पुत्र आर्जुनेय हुआ। यहाँ पर एक बात यह भी विचारणीय है कि ऋग्वेद १।११२।२३; ८।१।११ तथा ४।२६।१ में "आर्जुनेय" पद कुत्स के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। केवल ७।१६।२ में कुत्स पद द्वितीयान्त प्रयुक्त है और आर्जुनेय पद चतुर्थी के एक वचन में प्रयुक्त है। सायण ने सरल मार्ग का अनुसरण कर "कुत्स" को अर्जुनी और "अर्जुन" का पुत्र मान लिया। कुत्स ऋषि अर्जुनी अथवा अर्जुन का पुत्र है—ऐसा उसका ख्याल है। इसी का अनुसरण वैदिक इण्डेक्सकर्त्ता महोदय ने भी कर लिया।

यहाँ पर "कुत्स" शब्द पर ही विचार कर लेना उचित होगा। यद्यपि इसका विचार पूर्व प्रकरणों में हो चुका है फिर भी यहाँ यह नितराम् उपयोगी ही होगा। "कुत्स" पद निघण्टु में बज्र के अर्थ में पढ़ा गया है। यास्क ने भी निरुक्त ३।११ पर कुत्स का अर्थ बज्र भी किया हैं। प्रक्रियान्तर से भिन्नार्थ भी दिखला दिया है। उसके अनुसार "स्तुति का कर्ता भी कुत्स कहा जावेगा।" इतना ही नहीं। यास्क ने "दंसयः" पद की व्याख्या करते हुये निरुक्त ४।२५ पर ऋग्वेदीय (१०।१३८।१) मन्त्र की प्रतीक दी है। ऋग्वेद के इस मन्त्र में "कुत्साय" पद पड़ा हैं। इस 'कुत्साय" पद की व्याख्या करते हुये आचार्य दुर्ग ने "पृथिवीं कृन्तते कृषीवलाय" अर्थात् "पृथिवी को जोतने वाले किसान के लिये"—यह अर्थ किया है। सायण ने इस मन्त्र पर कुत्स पद का अर्थ कुत्स महर्षि ही किया है। परन्तु यह उसकी ग़लती है।

पूरा मन्त्र निम्न प्रकार है—

तव इन्द्र सख्येषु बह्वय ऋतं मन्वाना व्यदर्दिदु वलम्।
यत्रा दशस्यन्नुषसो रिणन्नपः कुत्साय मन्मन्नह्यश्च दंसयः ॥

ऋ० १०।१३८।१

निरुक्त की पद्धति से दुर्गानुसार इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा—

हे इन्द्र! तुम्हारे वाहक तेज समान कर्म में वर्तमान हो कर इस मेघ में जल भरा है ऐसा समझते हुये वलम् = मेघ का विदाहण करते हैं। इसके विदारण हो जाने पर उषःकाल को प्रदान करते हैं। 'अह्यः' मेघवर्ती जल पृथिवी पर कृषीवल के कृषि कर्म को सफल करने के लिए गिरता है ऐसा समझ कर वे इस मेघ विदारण कर्म को करते हैं।

यहाँ पर कुत्स पद का अर्थ "कृषीवल" है यह स्पष्ट शब्दों में दुर्ग ने दिखला दिया। वह भी निरुक्त के अभिप्राय को ध्यान में रखते हुये। निरुक्तानुसार प्रक्रिया की भिन्नता को दृष्टि में रखते हुये कुत्स के—वज्र, स्तोता और कृषीवल अर्थ हुये। इन तीनों अर्थों से मन्त्रों की अर्थ संगति लग जाती है।

इसके उपरान्त "आर्जुनेय" पद पर विचार करना उचित है। ऋग्वेद ६।९।१ में "कृष्ण" और "अर्जुन" पद आये हैं। वहाँ पर रात्रि को कृष्ण और दिन को अर्जुन कहा गया है। यास्क ने इस मन्त्र के हवाले के साथ निरुक्त २।२१ पर कृष्ण का अर्थ काला और अर्जुन का अर्थ शुक्ल अर्थात् श्वेत किया है। यहाँ पर स्पष्ट कर दिया गया कि "अर्जुन" का अर्थ श्वेत है। शतपथ

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ब्राह्मण २।१।२।११ पर "अर्जुनो ह वै नामेन्द्रः" वाक्य से इन्द्र को ही अर्जुन कहा गया है। पुनः शतपथ ५।४।३।७ में लिखा है कि अर्जुन इन्द्र का ही गुह्य नाम है। उसके वाक्य इस प्रकार है—"अर्जुनो ह वै नामेन्द्रो यदस्य गुह्यं नाम"। ताण्डय ब्राह्मण ८।४।१ में सोम के गिरे हुये पत्ते को अर्जुन कहा गया हैं। पुनः ९।५।३ में अर्जुन ओषधि का नाम है। इस प्रकार अर्जुन के श्वेत, एक औषध, सोम के पत्ते, इन्द्र का गुह्य नाम—आदि अर्थ हुये।

जब "अर्जुन" पद के इतने अर्थ निकल आये तो "आर्जुनेय" अर्थ के समझने में सुविधा हो गयी। अर्जुन सम्बन्धी को आर्जुनेय कहा जा सकता है। अर्जुन के पुत्र को आर्जुनेय कहा जा सकता है। अर्जुनी के पुत्र को आर्जुनेय कहा जा सकता है। ऋजु विद्वान् को भी अर्जुन कहा जा सकता है। उससे उत्पादित का नाम आर्जुनेय है। तथा अर्जुन अर्थात् रूप से निर्वृत्त को भी आर्जुनेय कहा जा सकेगा। इस अर्थ में चातुरर्थिक ढक् प्रत्यय होगा।

कुत्स को आर्जुनेय का विशेष्य मानकर अर्थ की इस पूर्वोक्त मार्ग से अच्छी संगति मन्त्रों में लगायी जा सकती है। कुत्स को वज्र अर्थ में लेने पर संगति सुन्दर लग जाती हैं। इन्द्र का वज्र के साथ सम्बन्ध है। आर्जुन का अर्थ शुक्ल है। शुक्ल सम्बन्धी अर्थात् भास्वर को आर्जुनेय कहा जावेगा। इस प्रकार आर्जुनेय कुत्स का अर्थ "भास्वर वज्र" होगा। इन्द्र का वज्र विद्युन्मय होने से भास्वर होता ही है। "अर्जुन" इन्द्र का गुह्य नाम है, इसका तात्पर्य यह है कि इन्द्र जो विद्युत् है उसी का रहस्यमय नाम अर्जुन हैं। ऐसी स्थिति में "आर्जुनेय कुत्स" का अर्थ "ऐन्द्र वज्र" अथवा वैद्युतवज्र होगा। अर्जुन ऋजु विद्वान् का भी नाम है। अतः उससे निर्मित को आर्जुनेय कहा जावेगा। इस अवस्था में "आर्जुनेय कुत्स" का अर्थ विद्वान् द्वारा रचित शस्त्र होगा। अर्जुन नाम जब विद्वान् का है तो अर्जुनी का अर्थ विदुषी होगा। आर्जुनेय कुत्स का अर्थ विदुषी का पुत्र स्तोता एवं विद्वान् होगा। कुत्स स्तोता को भी कहते हैं और कृषक को भी एवं कर्मशील को भी। कुत्स का कृषक अर्थ लेकर "अर्जुन" इन्द्र का नाम मान कर "आर्जुनेय कुत्स" का अर्थ "इन्द्र से रक्षित कृषक" होगा। कृषक का सारा काम इन्द्र के आधार पर है। इन्द्र को सीरपति भी कहा गया है। कुत्स का अर्थ मन्त्रद्रष्टा और स्तावक मानने पर आर्जुनेय का अर्थ विद्वान् का पुत्र अथवा विदुषी का पुत्र मानकर अत्यन्त विद्वान् होगा। इस प्रकार सर्वत्र अर्थों की संगति हो जावेगी। आर्जुनेय का अर्थ महाविद्वान् भी हो सकेगा।

ऋग्वेद ३।२६।१ में इन्द्र कहता है कि अहं "कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जे।" यहाँ पर इस वाक्य का अर्थ होगा कि "भास्वर, अथवा ऐन्द्र एवं विद्युन्मय वज्र को मैं धारण करता हूँ।

ऋग्वेद ७।१९।२ में कहा गया है कि हे इन्द्र! तुम कुत्स की रक्षा करते हो। यहाँ पर दोनों चरणों में पृथक् पृथक् वाक्य पड़े हैं—

"त्वंकुत्समावः"—"आर्जुनेयाय शिक्षन्।" अव् धातु को रक्षणार्थक मानकर निम्न अर्थ इन वाक्यों के निकलेंगे—

१—हे इन्द्र! आप स्तोता एवं विद्वान् अथवा किसान की रक्षा करते हो। महान् मेधावी को धन आदि देते हुये।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

२—हे इन्द्र ! आप विद्वान् को अन्न आदि देने के लिए कृषक की रक्षा करते हो।

"अव्" धातु को यास्क ने निरुक्त १०।२० पर गति अर्थ में माना है अतः इसके अनुसार यह अर्थ भी निकलेगा कि 'हे इन्द्र ! आप विद्वान् के लिए धन आदि देने के हेतु वज्र को धारण करते हो। तथा प्रक्रियानुरोधेन अनेक अर्थ निकल सकते हैं। ऋग्वेद ८।१।११ में भी "कुत्समार्जुनेयम्" पद आये हैं। यहाँ पर तो सारा भेद ही खोल दिया गया है। मन्त्र ही स्पष्ट कर देता है कि यह "आर्जुनेय" कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। सुविधा के लिए मन्त्र नीचे दिया जाता है—

यत्तुदत्सूर एतशं वङ्कू वातस्य पर्णिना ।
वहत्कुत्समार्जुनेयं शतक्रतुः त्सरद्गन्धर्वमस्तृतम् ॥

अर्थ—सूर अनेककर्मा इन्द्र जब एतशः जलमय मेघ को वायु की वङ्कूः = वक्रगामी झंझावों से व्यथित कर देता है तब विद्युन्मय वज्र को धारण करता है। तथा पूर्ण सूर्य (गन्धर्व) का विस्तार करता है। अर्थात् सूर्य को मेघ में छिपने नहीं देता।

ऋग्वेद १।११२।२३ में भी "कुत्समार्जुनेयम्" पद आये हैं। इस मंत्र के देवता "अश्विनी" हैं। यहाँ पर भी "ऐन्द्रवज्र" ही अर्थ अभिप्रेत है। प्रक्रियान्तर से विद्वान् अर्थ अथवा कृषक अर्थ भी निकल सकता है। इसी मंत्र में "दभीतिः" "तुर्वीतिः" ध्वसन्तिः और "पुरुषन्ति" पद भी आये हैं। सायण ने इन्हें व्यक्तिविशेष माना है परन्तु यह ग़लत है। ये व्यक्तिविशेष नहीं। दभीति का अर्थ दम्भी है। तुर्वीति का अर्थ हिंसक है। ध्वसन्ति का अर्थ अधोगंता अर्थात् पापी है। तथा पुरुषन्ति का अर्थ बहुत विभक्त करने वाला अर्थात् बहुविभक्ता अथवा बहुतों को देने वाला है। इस प्रकार आर्जुनेय पद व्यक्तिवाचक नहीं और इस आधार पर की गई पाश्चात्यों की कल्पना निराधार है। अथर्व २०।३७।३ में भी आये "आर्जुनेयाय" पद का अर्थ पूर्ववत समझना चाहिये। निघण्टु १।८ में उषा का नाम अर्जुनी है। अतः उसका पुत्र आर्जुनेय है, यह भी प्रक्रियानुसार अर्थ हो सकेगा।

आर्ष्टिसेण—

इस का अर्थ द्वितीय प्रकरण में देवापि के विवेचन के अवसर पर कर दिया गया है।

आश्वघ्न—

वैदिक इण्डेक्स के अनुसार यह पद ऋग्वेद के एक सन्दर्भ में एक अबोध्य सूक्त में मिलता है। वहां पर यह एक राजा के अर्थ में मालूम पड़ता है जिसने इन्द्र की अर्चा की है। लुडविग के अनुसार यह "आश्वघ्न" वैतरण है।

"आश्वघ्न" पद ऋग्वेद १०।६१।२१ में आया है। परन्तु वहां पर यह वैदिक इण्डेक्स के भाव का द्योतक नहीं है। "अश्व" पद विषयों को व्याप्त होने वाली इन्द्रियों के लिये आता है। इन्द्रियों को हनन करने वाला अर्थात् वश में रखने वाला अश्वघ्न है। हन् धातु गत्यर्थक भी है। शतपथ ६।३।३।२२ में अग्नि को अश्व कहा गया है। अतः अग्नि को प्राप्त करने वाला याज्ञिक भी अश्वघ्न है। अश्वघ्न का पुत्र आश्वघ्न है। इसका अर्थ होगा इन्द्रियों को अत्यन्त वश में रखने वाला अथवा अत्यन्त यजनशील। इससे मंत्र की अर्थसंगति ठीक लग जावेगी। ऋग्वेद

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

१०।६१।१७ में "वैतरण" पद भी आया है। परन्तु इसका आश्वघ्न से कोई सम्बन्ध नहीं। सबका तारक अग्नि ही वितरण है। अथवा सबको हविर्भाग बांटने से उस अग्नि को "वितरण" कहा जाता है। "वितरण" ही "वैतरण" है। यहाँ पर स्वार्थ में प्रत्यय है। अतः यहाँ पर "वैतरण" पद अग्नि का विशेषण है। लुडविग ने इस बात को न समझ कर अन्यथा ही कल्पना कर डाली।

आसंग प्लायोगी—

वैदिक इण्डेक्स का कथन है कि यह एक राजा है जो ऋग्वेद ८।१।३२-३३ में दानस्तुति के प्रकरण में दृष्टिगत होता है। परन्तु इस स्थल का विचार करने पर पता लगता है कि यह कल्पना निराधार है। आसंग प्लायोगी कोई व्यक्तिविशेष नहीं। वह यहाँ पर सामान्यवाचक पद है। इन महामति वैदिक इण्डेक्सकारों को यह भ्रम सायण के लेख से हुआ होगा। क्योंकि सायण ने ऋग्वेद आठवें मण्डल के प्रथम सूक्त की अवतरणिका में बहुत सा व्यर्थालाप किया है। सायण लिखता है "इसका यह अर्थ है—कि इस सूक्त के मेधातिथि और मेध्यातिथि नाम वाले कण्वगोत्रीय दो ऋषि ऋषि हैं।.........आदि की दो ऋचावों का काण्व प्रगाथ ऋषि है। यह यद्यपि घोर का पुत्र है परन्तु अपने भाई कण्व के पुत्रभाव को प्राप्त होने से काण्व कहा जाता है। प्लयोग नामक राजा का पुत्र आंसग नामी राजा देवशाप से स्त्रीपने को प्राप्त कर बाद में तपोबल से मेधातिथि की कृपा से पुनः पुरुष हो गया। मेधातिथि को बहुत सा धन देकर अपने आत्मा की प्रशंसा "स्तुहि" आदि चार ऋचाचों से करायी। इसलिए इन ऋचाचों का आसङ्ग राजा ही ऋषि है। इस आसंग की पत्नी अंगिरस् की पुत्री शश्वती थी। उसने अपने पति के पुंभाव को प्राप्त हो जाने पर "अन्वस्य स्थूरं" आदि मंत्र से उसकी स्तुति की। इसलिए इस ऋचा की ऋषिका शश्वती है।........ .. समस्त सूक्त का देवता इन्द्र है। "स्तुहि" इत्यादि चार ऋचावों की आत्मकृत दानस्तुति देवता है। "अन्वस्य" मंत्र का आसंग नामक राजा देवता है।

यहाँ पर सायण के कथन में बहुत ही भ्रम पूर्ण बातें हैं। प्रथम बात तो यह है कि उसने मेधातिथि और मेध्यातिथि दोनों को इस सूक्त का ऋषि माना और फिर बाद में काण्व प्रगाथ और आसंग प्लायोगि एवं शश्वतिका को भी कुछ मंत्रों का ऋषि कहा। यदि सायण और पाश्चात्यों की धारणा के अनुसार ऋषि को मंत्रकर्त्ता माना जावे तो बड़ी भारी आपत्ति यह होगी कि एक ही मंत्र के मेधातिथि, मेध्यातिथि, प्रगाथ, आसंग, प्लायोगि और शश्वतिका आदि बहुत से रचना करने वाले कैसे हो सकते हैं। यदि ये अलग अलग मंत्रों के कर्त्ता हैं तो फिर प्रगाथ, आसङ्ग और शश्वती वाले मंत्रों के मेधातिथि और मेध्यातिथि कर्त्ता कैसे हुये? यदि ये उनके कर्त्ता नहीं हैं तो फिर ये दोनों समस्त सूक्त के ऋषि हैं—यह कथन कैसे ठीक है। सायण के उपर्युक्त कथन से यह भी स्पष्ट है कि मेधातिथि और मेध्यातिथि दो पृथक् ऋषि हैं। परन्तु इस सूक्त में ३० वें मंत्र में "मेध्यातिथि" सम्बोधनान्त एक वचन पड़ा है। मेधातिथि पद आया भी नहीं है। सायण ने इसी सूक्त के ८ वें मन्त्र में आये "काण्वस्य" पद की व्याख्या करते हुये—काण्वस्य कण्वपुत्रस्य मेधातिथेर्मेध्यातिथेश्च" अर्थ किया है। परन्तु यहाँ पर एक वचन काण्व पद का प्रयोग है। यदि दोनों अभिप्रेत होते तो द्विवचन का प्रयोग होना चाहिए था। यदि यह कहा जावे कि "काण्वस्य" और "मेध्यातिथे" आदि नामवाचक शब्दों को देखकर

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सायण ने मेध्यातिथि का ऋषि होना निर्णय कर लिया और "मेधातिथि" का नाम द्रष्टा होने से रख दिया तो भी ठीक नहीं। क्योंकि ऐसा करने पर "काण्व" पद से दोनों का नाम लेना व्यर्थ है। यदि सायण ऋषि को मंत्रद्रष्टा न मानकर मंत्र कर्त्ता के रूप में अर्थसंगति लगाना चाहता है तो बहुत बड़ी समस्यायें खड़ी होंगी जैसा कि पहले कह दिया गया है। ऋषि वस्तुतः मंत्र द्रष्टा है मंत्रकर्त्ता नहीं। वेद मंत्रों में यदि कोई ऐसा पद आया है जिससे किसी नाम की गंध आती है तो कहना पड़ेगा कि वहाँ समझ की भूल है। वह पद व्यक्ति का वाचक नहीं सामान्य अर्थ का वाचक है।

यदि सायण ऋषि को मंत्रद्रष्टा मान कर अपने कथन की सिद्धि करना चाहे तब भी ठीक नहीं। क्योंकि फिर यह प्रश्न उठेगा कि ये समकालीन हैं अथवा आगे पीछे। यदि समकालीन हैं तो फिर मंत्रस्थ "काण्व" में मेध्यातिथि, आसङ्ग प्लायोगि और शश्वती को ही इन नामों का सूचक उसने क्यों माना है। क्या द्रष्टा का भी नाम मंत्र में आता है। यदि द्रष्टा का नाम भी मंत्र में आता है तो प्रगाथ और मेधातिथि का क्यों नहीं आया। वस्तुतः समकालीन मानने पर इनके सूचक पदों को व्यक्तिवाचक मानना उचित नहीं। यदि इन्हें आगे पीछे मानता है तो ठीक नहीं क्योंकि ऐसी अवस्था में मंत्र में इनका नाम आना समुचित नहीं बन सकता। यदि सायण यह स्वीकार करे कि मंत्र में आये हुये पद इन व्यक्तिवाचक नामों के सूचक नहीं हैं तो फिर उसने जो भाष्य में यत्र तत्र इन पदों के अर्थ व्यक्त किये हैं और अपने कल्पित व्यक्तिवाचक इतिहास का सम्बन्ध जोड़ा है वह सर्वथा ही व्यर्थ और असंगत है।

दूसरी बात सायण के लेख में यह है कि वह मंत्र के ऋषि को ही कहीं कहीं पर देवता मान बैठा है। साथ ही यह भी कहता जाता है कि समस्त सूक्त का देवता इन्द्र है। यहां उसके वचन अपने आप को काटते हैं क्योंकि जब समस्त सूक्त का देवता इन्द्र है तो फिर आसङ्ग प्लायोगि और उसकी दानस्तुति कैसे और कहाँ से देवता बन बैठे। यदि किन्हीं मन्त्रों के देवता हैं तो फिर समूचे सूक्त के मन्त्रों का देवता इन्द्र है—इस कथन में त्रुटि आती है। अतः कहना पड़ेगा कि सायण यहाँ पर भ्रान्त है। उसकी ही भ्रान्ति का प्रभाव इण्डेक्सकारों पर भी पड़ा।

इस सूक्त को देखने पर "आसङ्ग-प्लायोगि" कोई व्यक्तिविशेष नहीं मालूम पड़ता है। इस पर प्रांजलविचार यहाँ पर किया जाता है। ऋग्वेद ८।१।३२ मन्त्र में "आसङ्ग" पद आया है और ३३ मन्त्र में आसङ्ग प्लायोगि पद आये हैं। यहाँ पर ये व्यक्तिवाचक हैं—यह कल्पना नितराम् ग़लत और निराधार है। इस समूचे सूक्त में इन्द्र की स्तुति करने का विधान है। सबको संसार के ऐश्वर्य में आसक्ति न रखते हुये प्रयोगात्मक जीवन व्यतीत करते हुये इन्द्र (परमेश्वर) की स्तुति करनी चाहिए—इस विषय पर इस सूक्त में बल दिया गया है। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में "केवल एक परमेश्वर की स्तुति करने का विधान किया गया है और कहा गया है कि सभी इस प्रकार की स्तुति करें। इसके बाद के बहुत से मन्त्रों में इन्द्र के गुण और कार्य का वर्णन है। सूक्त के २० वें मन्त्र में कहा गया है कि "यज्ञों में सदा हम स्तुति मन्त्रों से इन्द्र की स्तुति करें। "क ईशानं न याचिसत्" अर्थात् कौन अपने स्वामी की स्तुति नहीं करता।" इसी सूक्त का ६ ठां मन्त्र निम्न प्रकार है और कितने उत्तम भाव व्यक्त करता है—

२३

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वस्यां इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः।
माता च मे छदयथः समा वसो वसुत्वनाय राधसे ॥

"अर्थात्, हे इन्द्र! तू मेरे पिता से भी अधिक ज्ञान और धन वाला है। संसार का भोग न करने वाले भाई से भी तू अधिक हैं। तू मेरी माता के समान है। व्यापक ज्ञान के लाभार्थ आप मेरी रक्षा करते हो।"

इस सूक्त के चौथे मन्त्र में तो उपासना का महत्तम रूप रख दिया गया हैं—जो अत्यन्त मननीय हैं। मन्त्र और उसका अर्थ निम्न प्रकार हैं—

महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामेघ ॥

अर्थात्—हे शक्तिशाली एवं आदरणीय इन्द्र! आपको मैं महान् मूल्य पर भी नहीं छोड़ने वाला हूँ। सहस्रों अथवा लाखों के धन मिलने पर भी मैं आपको नहीं त्याग सकता हूँ। अर्थात् तू समस्त धनों से प्रियतम है।

सूक्त का २६ वां मन्त्र उपासना का प्रकार बतलाता है जो निम्न प्रकार है—

मय त्वा सूर उदिते मम मध्यंन्दिने दिवः।
मय प्रपित्वे अपिशर्वरे वसवा स्तोमासो अवृत्सत ॥

अर्थात् हे इन्द्र (भगवन्)! प्रातः सूर्योदय काल में, दिन के मध्य भाग में दिवसावसान में तथा रात्रि के समय में भी हमारी स्तुतियाँ आपको प्राप्त होती रहें।

इन उदाहरणों से स्पष्ट परिणाम निकलता है कि इस सूक्त में उपासना का प्रकार वर्णित है। संसार में ममता न रखकर जीवन को क्रियात्मक बनाकर सबको परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए—यह सूक्त के अध्ययन से पदे पदे स्फुट होता है। ऐसी स्थिति में "आसङ्ग प्लायोगि" कोई व्यक्तिविशेष हैं जिसका और जिसके दान का यहाँ पर वर्णन हो—उचित नहीं जान पड़ता है धन आदि वस्तुवों में सक्ति एवं राग रखने का नाम सङ्ग है। न सङ्ग रखने वाले को असङ्ग कहा जाता है। संसार की वस्तुवों में इसे आसक्ति नहीं होती अतः यह असङ्ग है। असङ्ग ही व्याकरण से स्वार्थ में अण् प्रत्यय होकर आसंग कहलाता है। जिस प्रकार विश्वानर स्वार्थ में वैश्वानर बन जाता है और अर्थविश्वानर का ही देता हैं उसी प्रकार आसंग की भी स्थिति है। संसार में आसक्ति न रखने वाला असंग पुरुष ही आसंग हैं। इसी प्रकार प्रकृष्ट योग अर्थात् योग वा क्रियाशीलता का नाम प्रयोग है। र और ल में भेद नहीं होता अतः र को ल कर देने से प्लयोग हो जाता है। प्लयोग का अपत्य प्लायोगि है। वेद में सामान्य पदों से भी अपत्यार्थक प्रत्यय होते हैं। इसलिए "प्लायोगि" का अर्थ हुआ प्रयोगात्मक, अमली अथवा क्रियाशील जीवन वाला। क्रियाशील तथा अनासक्ति वाले विद्वान् को "प्लायोगि आसङ्ग" कहा जाता है। अथवा जीवात्मा को स्वभाव से असंग माना जाता हैं। उस में चेतना आदि गुण और कर्म के कर्तृत्व को भी स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार क्रियाशील, आत्मा भी अध्यात्मपक्ष में इस पद के अर्थ के रूप में गृहीत हो सकता है। आसक्ति को न दिखलाने वाला उदासीन गृहस्थ वा राजा अर्थ भी यहाँ पर निकल सकता है। ऐसा होने से शश्वतीसम्बन्धी मंत्र का भी गृहस्थ धर्म में अर्थ निकल सकता है। ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के ३०, ३१, ३२, और ३३ मंत्र को प्लायोगि आसंग से सम्बद्ध किया

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जाता है। परन्तु इन मंत्रों का अर्थ करने पर पता चलेगा कि ये दानस्तुति के मंत्र नहीं बल्कि उपासना की प्रेरणा देने वाले मंत्र हैं। ३० वें मंत्र में "मेध्यातिथि" सम्बोधनान्त पद आया है। मेध्यातिथि कोई व्यक्तिविशेष नहीं। जो लोग इसे कण्व का पुत्र कहते हैं उन का पक्ष भी यदि मान लिया जावे तो भी यह व्यक्तिवाचक नहीं बनता है। क्योंकि कण्व निघण्टु में मेधावी अर्थ में पढ़ा गया है—व्यक्तिविशेष अर्थ में नहीं। इसका वर्णन पूर्व किया जा चुका है और सप्रमाण बताया गया है कि कण्व का अर्थ मेधावी है। ऐसी अवस्था में मेधावी का पुत्र अत्यन्त मेधावी अतिथि, विद्वान् अथवा पुरुष ही मेध्यातिथि कहलावेगा। वस्तुतः मेध्य का अर्थ है यज्ञार्ह अथवा पूज्य। अतिथि का अर्थ है अतिथि। इस प्रकार कर्मधारय समास करने पर मेध्यातिथि का अर्थ यज्ञार्ह एवं पूज्य अतिथि होगा। बहुव्रीहि समास करने पर यज्ञार्ह अतिथियों से युक्त पुरुष होगा। इसके अनुसार मंत्रार्थसंगति लगायी जा सकती है। मेध्यातिथि पर विशेष विचार इसके प्रकरण में किया जावेगा। परन्तु इतना समझ लेना चाहिए कि इसके अर्थ अतिथि, विद्वान् और राजा हो सकते हैं। मंत्रों में सर्वत्र देवता इन्द्र ही होगा और प्रक्रियानुसार उसके भिन्नार्थ होते जावेंगे।

३० वे मंत्र की संगति निम्न प्रकार लगेगी—

स्तुहि स्तुहीदेते घा ते महिष्ठासो मघोनाम्।
निन्दिताश्वः प्रपथी परमज्या मघस्य मेध्यातिथे॥

ऋ० ८।१।३०

अर्थ—

यज्ञार्ह अतिथे! अथवा यज्ञार्ह अतिथियों से युक्त पुरुष! इन्द्र की स्तुति कर, उसी की उपासना कर क्योंकि तुम्हें इस धन को देने वाले लोग धनियों से भी धनी हैं। इन्द्रियों को निन्दित करके विजय प्राप्त करने वाला जनसाधारण के चलने योग्य मार्ग प्रेयोमार्ग के अतिरिक्त श्रेयोमार्ग का गामी, काम क्रोधादि शत्रुवों पर विजयी ही इस धन को प्राप्त कर सकता है।

३१ वे मंत्र का अर्थ निम्न प्रकार है—

आ यदश्वान्वनन्वतः श्रद्धयाहं रथेरुहम्।
उत वामस्य वसुनश्चिकेतति यो अस्ति याद्वः पशुः॥

ऋ० ८।१।३१

अर्थ—

हे पवित्र अथिते! इन्द्रियों से युक्त रमणीय रथ के समान आनन्दकारी इस मानव शरीर में कर्तव्य निष्ठ अनासक्त मैं जब तक रहूँ तक तक श्रद्धा से युक्त हो इन्द्र की स्तुति करता रहूँ। जो मनुष्यों में श्रेष्ठ होता है और सूक्ष्मदर्शी होता है वह अवश्य ही इस उपासना जैसे प्रशस्त धन का ख्याल रखता है।

३२ वें मन्त्र की अर्थसंगति नीचे प्रदर्शित प्रकार से करनी चाहिए—

य ऋज्रा मह्यं मामहे सह त्वचा हिरण्यया।
एष विश्वान्यभ्यस्तु सौभगासंगस्य स्वनद्रथः॥

ऋ० ८।१।३२

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अर्थ—

शब्दायमान मेघ आदि रथों वाले जिस इन्द्र (परमेश्वर) ने प्रकाश मयी त्वचा अर्थात् त्वचा आदि इन्द्रियों से युक्त सरल शरीर मुझे प्रदान किया है वह यह भगवान् मुझ सत्कर्मशील अनासक्त को समस्त वैभव भी प्रदान करेगा।

३३ वें मन्त्र की संगति की निम्न सरणि है—

अध प्लोयोगिरति दासदन्यानासङ्गो अग्ने दशभिः सहस्रैः।
अधोक्षणो दश मह्यं रूशन्तो नडा इव सरसो निरतिष्ठन्॥

ऋ० ८।१।३३

हे अग्ने = विद्वन् निश्चय ही मैं कर्मशील अनासक्त उपासक दश सहस्रों से युक्त गो आदि को अन्यों को दे देता हूँ। मेरे वास्ते बैल गाय आदि पशु तालाब से उत्पन्न होने वाले नरकट तृण के समान हैं। क्योंकि मैं इन में ममता नहीं रखता।

यहाँ पर इन मन्त्रों में कितने भाव भरे शब्दों में अनासक्त पुरुष के द्वारा अतिथि को सम्बोधित करके इन्द्र की उपासना करने की प्रेरणा देने वाला कथन है।

३४ वें मन्त्र में आये "शश्वती नारी" पद का अर्थ सायण ने अंगिरा की पुत्री शश्वती नाम की स्त्री माना है। इसी आधार पर उसने प्लायोगि आसंग के स्त्रीत्वभाव को प्राप्त होकर पुनः पुंभाव को प्राप्त होने की कथा गढी है। परन्तु यह उसकी अपनी या किसी के अनुकरण से की हुई कोरी कल्पना है। अंगिरा जब स्वयं ही कोई व्यक्तिविशेष नहीं तो फिर उसकी पुत्री शश्वती व्यक्तिविशेष क्यों कर हो सकती है। बृहदारण्यक १।२।१९ में प्राणो हि वा अङ्गाना रसः— अर्थात् प्राण को अङ्गों का रस कहा गया है। पुनः लिखा है अङ्गों का रस होने से इसका नाम आङ्गिरस है। अतः यहाँ पर ज्ञात हुआ कि प्राण ही अङ्गिरा है। प्राण की पुत्री होने से बुद्धि का नाम शश्वती है। इस प्रकार इस मन्त्र में बुद्धि को शश्वती कहा गया है।

नारी शब्द का प्रयोग इसकी विविधार्थता का द्योतक है। जब प्लायोगि आसंग का अर्थ स्त्री आदि में विरति रखने वाला गृहस्थ होगा तब इस शश्वती पद का अर्थ नारी अर्थात् स्त्री होगा। पति के साथ सदा रहने से वह शश्वती है। जब बुद्धि अर्थ शश्वती का होगा तब नारी का अर्थ नर अर्थात् पुरुष की सम्बन्धिनी होगा। शश्वती नारी का अर्थ इस दृष्टि से पुरुष सम्बन्धी बुद्धि होगा। आत्मा भी कर्मशील और असङ्ग होने से प्लायोगि आसङ्ग है। ऐसी अवस्था में बुद्धि उसके साथ मोक्ष पर्यन्त सदा रहने वाली उसकी पत्नी भी कही जा सकती है। इसलिए यहाँ पर किसी ऐतिहासिक कल्पना को स्थान नहीं है। सायण आदि ने ऐसी कल्पनायें करके ग़लतियां की हैं।

मन्त्र की अर्थसंगति इस प्रकार होगी—

अन्वस्य स्थूरं ददृशे पुरस्तादनस्थ उरुरवरम्बमाणः
शश्वती नार्यभिचक्ष्याह सुभद्रमर्य भोजनं विभर्षि॥

ऋ० ८।१।३४

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अर्थ—

कर्मनिष्ठ अनासक्त पुरुष को पुरुष की बुद्धि इन्द्रोपासना में लगा देखकर कहती है कि— हे स्वामिन्! आप यह उपासना जैसा सुन्दर भोजन धारण करते हैं। इससे आप के सामने यह ढेर दिखलायी पड़ता है। हे स्वामिन्! यह स्थिर भोजन है। (जब कि जगत् के भोग अस्थिर हैं)। यह भोजन बहुत प्रचुर और इन्द्र = परमेश्वर की तरफ से आप की ओर झुका हुआ है।

आस्त्रबुध्न—

इण्डेक्स के रचयिता के अनुसार यह एक आदमी का नाम है जिसकी इन्द्र ने सहायता की। परन्तु विचार करने पर यह भी व्यक्तिवाचक नाम नहीं सिद्ध होता है। ऋग्वेद १०।१७१।३ में यह पद पड़ा है। सायण ने यहाँ पर अस्त्रबुध्न को व्यक्तिविशेष माना और उसके पुत्र को आस्त्र-बुध्न माना है। इसी का अनुकरण इण्डेक्स वालों ने भी किया। वस्तुतः इस मन्त्र में यह पद व्यक्ति का वाचक नहीं है। इस सूक्त में चार मन्त्र हैं और सब का देवता इन्द्र है। बुध्न पद का अर्थ यास्क ने [1]१०।४४ पर अन्तरिक्ष किया है। वह कहता है कि जल इसमें बंधे अथवा धारण किये हुये रहते हैं अतः इसे बुध्न कहा जाता है। यास्क ने यहाँ पर यह भी संकेत कर दिया है कि शरीर का नाम भी बुध्न है—क्योंकि इसमें प्राण बँधे अथवा धारण किये रहते हैं। पुनः निरुक्त [2]१०।४४ पर ऋग्वेद ७।३४।१७ मन्त्र में आये "अहिर्बुध्न्यः" पद की व्याख्या करते हुये भी इस बात की पुष्टि की गई है। अहिर्बुध्न्य का अर्थ यास्क ने यहां पर अग्नि किया है और इससे मार्ग खोल दिया है कि इस प्रकार के शब्दों का अर्थ किस ढंग पर किया जाना चाहिए। यास्क ने पुनः [3]१२।६ पर ऊर्ध्वबुध्न पद का अर्थ करते हुये आधिदैव पक्ष में आदित्य से सम्बन्ध लगाते हुये ऊर्ध्वबन्धन और ऊर्ध्वबोधन अर्थ लिखा है। अध्यात्मिक पक्ष में अर्थ करते हुये भी यही अर्थ दिया है। इसी प्रकार आस्त्रबुध्न का भी अर्थ यौगिक है—यह सुतराम् समझ में आ जाता है।

यास्क की इस प्रणाली को यहाँ पर वर्तने पर आस्त्रबुध्न का अर्थ आस्त्रबंधन अथवा आस्त्र-बोधन होगा। जिसने सब प्रकार से संसार के बन्धनों को फेंक दिया है अथवा जो सब ओर से ज्ञान को बिखेरता है वह ही आस्त्रबुध्न है। इस प्रकार आस्त्रबुध्न का अर्थ कोई व्यक्ति न होकर बन्धन रहित विद्वान् अथवा सर्वत्र ज्ञान का प्रसार करने वाला ज्ञानी होगा। मन्त्र में "मनस्यवे" अर्थात् मननशील एवं मनस्वी विशेषण भी पड़ा हुआ है।

इसी प्रकार मंत्र में "वैन्यम्" पद भी आया है। सायण यहां पर वेन का पुत्र पृथु अर्थ करता है। परन्तु यह सर्वथा ग़लत है। क्योंकि "वेन" पद किसी व्यक्ति का वाचक नहीं है।

१—बुध्नमन्तरिक्षं, बद्धा अस्मिन्धृता आप इति वा। इदमपीतरद्बुध्नमेतस्मादेव, बद्धा अस्मिन्धृताः प्राणाः। १०।४४

२—वोऽहिः स बुध्न्याः। बुध्नमन्तरिक्षं तन्निवासात्। नि० १०।४४

३—ऊर्ध्वं बन्धनऊर्ध्वंबोधनो वा। नि० १२।९

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"वेन" पद निघण्टु ३।१५ में मेधावि नाम में पठित हैं । पुनः ३।१७ में यज्ञ नाम में पढ़ा गया है । ५।४ में पुनः यह पद नाम में पठित है । इससे इसके अनेकार्थ हैं यह सुतराम् सिद्ध है । यास्क ने निरुक्त १।७ पर वेन का अर्थ आदित्य लिया है । पुनः नि० १०।३८ पर वेन का अर्थ वायु किया है । इस प्रकार पद नाम में वेन का पाठ आने से वह अनेकों अर्थों का ज्ञापक है । वेन का अपत्य वेन्य है ऐसा बनाने की आवश्यकता भी नहीं क्योंकि अपत्यार्थ में प्रत्यय करने पर "वैन्य" पद होगा वेन्य नहीं । यदि किसी प्रकार मान भी लिया जावे तो भी वेन्य पद व्यक्ति वाचक नहीं ठहरेगा क्योंकि "वेन" पद व्यक्तिवाचक अर्थ में वेदों में नहीं प्रयुक्त है । वेन धातु से "वेन" पद कृदन्त में बनाया जा सकता है । वेन धातु निघण्टु २।६, २।१४ और ३।१४ में क्रमशः कान्ति, गति और अर्चना अर्थ में पठित हैं । ऐसी स्थिति में अत्यधिक कामनावों को बढ़ाने योग्य अथवा बार बार आने जाने योग्य को वेन्य कहा जावेगा । कामनावों को बढ़ाने योग्य अर्थ कान्त्यर्थक वेन धातु से बनेगा और बार बार आने जाने योग्य अर्थ वेन गत्यर्थक धातु से बनेगा । मंत्र में आये "मर्त्यम्" पद का अर्थ मरणभाव है ।

अतः मंत्र का अर्थ निम्न प्रकार होगा—

त्वं त्यमिन्द्र मर्त्यमास्त्रबुध्नाय वेन्यम् । मुहुः श्रथ्ना मनस्यवे ॥

ऋ० १०।१७१।३

(१) हे इन्द्र ! (राजन्) तू मनस्वी एवं ज्ञान का विस्तार करने वाले ज्ञानी मनुष्य के लिए कामनावों के स्पर्धी मनुष्य को सदा दूर रख ।

(२) हे भगवन् ! आप बन्धनों से रहित मनस्वी महा ज्ञानी मनुष्य के लिए कामनावों के विस्तार को बढ़ाने वाले एवं बार बार चक्र में लाने वाले मरणभाव को नष्ट करदें ।

(३) यह वायु मनन एवं ज्ञान के साधनभूत परिधियों के बन्धन वाले विस्तृत अन्तरिक्ष के प्रकाशनार्थ सूर्यसम्बन्धी विनश्वर एवं परिवर्तनशील किरणों को ताडित कर विखेरता है ।

इक्ष्वाकु—

इस शब्द पर वैदिक इण्डेक्स का कथन है कि यह नाम ऋग्वेद १०।६०।४ में आता है परन्तु इसका सन्दर्भ सन्देहास्पद है । फिर भी यह स्पष्ट है कि यह एक राजा है । बाद की व्याख्यायें "असमाति" को इक्ष्वाकु कुल का राजा बतलाती हैं । असमाति का भी इस सूक्त में वर्णन पाया जाता है । यह नाम अथर्ववेद १४।३९।९ में भी आया है परन्तु यह निश्चित नहीं ज्ञात होता कि वह इक्ष्वाकु के वंशज के रूप में है अथवा इक्ष्वाकु स्वयं का वहाँ पर वर्णन है ।

यहाँ पर इन्डेक्स के रचयिता को स्वयं भी सन्देह है फिर भी वह कहता है कि इक्ष्वाकु एक राजा का नाम है । असमाति को वह उसका वंशज मान रहा है । परन्तु यह भ्रम उसे नवीनों की कल्पना से हो रहा है । वस्तुतः न इक्ष्वाकु ही व्यक्तिवाचक नाम है और न असमाति ही । बृहद्देवता ७।९६ में लिखा है कि इस सूक्त की चार ऋचावों से ऐक्ष्वाकु, का स्तवन किया गया है । सर्वानुक्रमणी इनसे असमाति राजा का स्तवन मानती है ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यहाँ पर बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी ने थोड़े भेद के साथ एक कल्पित इतिहास दिखलाया हैं । यह इतिहास ऋग्वेद १०।५७ सूक्त के प्रारंभ में अनुक्रमणिका के रूप में सायण वर्णित कर दिया हैं । बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी के वर्णन में किञ्चित् अन्तर पाया जाता है । बृहद्देवता ७।८२ में यह कथा प्रारंभ है । शाट्यायन ब्राह्मण में भी भेद से इसका वर्णन है । इन कथावों में असमाति को ऐद्वाकु राजा कहा गया हैं । यहाँ से इण्डेक्स कर्त्तावों ने अपनी कल्पना का पुल खड़ा किया होगा । परन्तु उन्हें यह नहीं ज्ञात था कि मन्त्रों में असमाति और इद्वाकु पद आये हैं वा नहीं । "ऐद्वाकु" पद तो आया ही नहीं है । असमाति और इद्वाकु का ऐसा सम्बन्ध भी मंत्रों से नहीं प्रकट होता है । साथ ही ऋग्वेद १०।६०।५ में "रथप्रोष्ठेषु असमातिषु" पाठ आया है । यह बहुवचन ही इस बात का सूचक है कि असमाति कोई व्यक्ति नहीं है । सायण ने यह प्रयोग आदरार्थ माना है । परन्तु वह भी ठीक नहीं—क्योंकि सर्वनामों और जातिवाचक शब्दों में यह नियम पाया जाता है । व्यक्तिवाचक में ऐसा प्रयोग उचित नहीं ।

सर्वानुक्रमणी आदि ने जिस कथा को लिखा है उसका यहाँ पर थोड़ा सा वर्णन किया जाता है । वह कथा इस प्रकार है—"बन्धु, सुबन्धु, श्रुतबन्धु और विप्रबन्धु ये चार गोपायन और लौपायन हैं । इद्वाकुपुत्र राजा असमाति ने कदाचित् इन चारों पुरोहितों को छोड़कर अन्य दो मायावियों (असुरों) को श्रेष्ठतम जान पुरोहित बनाया । ये बन्धु आदि क्रुद्ध हो राजा के लिए मारण प्रयोग करने लगे । बाद में इन दोनों मायावियों ने सुबन्धु के प्राण हर लिए । तत्पश्चात् सुबन्धु के अवशिष्ट तीनों भाइयों ने "मा प्रगाम" आदि ऋग्वेद १० म मण्डल के ५७ सूक्तस्थ मन्त्रों का जप किया । "यत्ते मम" आदि ऋग्वेदीय १० मण्डल के ५८ वें सूक्त के मन्त्रों से सुबन्धु के मन को पुनः लौटाने का प्रयत्न किया । बाद में उन्होंने ऋग्वेदीय १० वें मण्डल के ५६ वें सूक्त के "प्रतारि" आदि चार मन्त्रों से निर्ऋति (पाप देवता) के दूर करने के लिये जाप किया और शेष छः मन्त्रों से सोम, असुनीति, और द्यावापृथिवी आदि की स्तुति की । "आन्तनम्" आदि १२ मन्त्रों के सूक्त (ऋ० १०।६०) के प्रथम चार मन्त्रों से असमाति राजा की स्तुति की । पुनः इन सबों की माता अगस्त्य की स्वसा ने राजा की स्तुति की । पश्चात् अवशिष्ट ऋचावों से सुबन्धु के प्राण बुलाये । बाद में अन्तिम ऋचा पढ़कर लब्धसंज्ञ सुबन्धु को स्पर्श करते गये । बृहद्देवता में इतना भेद है कि इसने मायावी (असुर) पुरोहितों का नाम किलाताकुली दिया है । ये कबूतर बनकर बन्धु आदि के पास पहुँचे और सुबन्धु के ऊपर गिर पड़े । सुबन्धु मूर्छित होकर गिर गया । ये दोनों उसके प्राण लेकर राजा के पास गये । शेष कथा सर्वानुक्रमणी से मिलती है । शाट्यायन ब्राह्मण में भी समान ही कथा है परन्तु इतना विशेष है कि किलात—आकुली दो मायावी थे । ये दोनों श्रौताग्नि में मांस और अश्रौताग्नि में ओदन पका राजा को खिलाया करते थे । अतः इद्वाकु के सभी पुत्र परास्त हो गये ।"

यहाँ पर कथा को पढ़ने पर मालूम पड़ता है कि यह इतिहास नहीं है । यह इन सूक्तों के याज्ञिक और आध्यात्मिक अर्थ को समझाने के लिए किसी समय गढ़ी गयी । वेद में आये असमाति और इद्वाकु पदों को नाम कल्पित कर लिया गया । सुबन्धु के अतिरिक्त बन्धु आदि के नाम मन्त्रों में हैं नहीं और न किलात और आकुली के ही नाम हैं । समय पाकर यह कल्पित कथा विकृत

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हो गयी। जैसा कि सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता के पाठों से ज्ञात होता है। अनुक्रमणी में मायावी पद का प्रयोग है और बृहद्देवता ने उन्हें किलात और आकुली कहा है। शाट्यायन का पाठ यह बतलाता है कि वाममार्ग के प्रभाव से इस कथा का रूप और विकृत हो गया। क्योंकि वेद मन्त्रों में यज्ञ में मांस डालने का कहीं विधान नहीं है। इसलिए यह विकृत कथा मूल में शुद्ध कल्पना थी—इतिहास नहीं। बाद में यह विकृत हो गयी और कहना पड़ेगा कि इसका वेद के मन्त्रों में आये असमाति और इक्ष्वाकु से कोई सम्बन्ध नहीं है।

यहाँ पर यह स्मरण रहे कि किलात आकुली कोई व्यक्तिविशेष नहीं। शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड में दर्शपौर्णमास के प्रकरण में भी इन का नाम मिलता हैं। वहाँ पर इन्हें "आसुरिपुरोहित" कहा गया है। वेबर द्वारा प्रकाशित शतपथ में इन्हें "आसुरिब्रह्मावासतुः" ऐसा वर्णित किया गया है। वेबर संस्करण का यह पाठ अशुद्ध मालूम पड़ता है। यहाँ पर प्रकृत वर्णन यह है कि मनु की स्त्री मनावी थी। मनु का बैल दैवी वाणी बोलता था। किलात-आकुली नामक असुर पुरोहितों ने मनु को बहकाया और कहा कि इस वृषभ से यज्ञ करो। ऐसा करने पर दैवी वाक् बैल से निकलकर मनु की स्त्री मनावी में प्रविष्ट होगयी। इन किलात और आकुली ने मनु को पुनः बहका कर मनावी से यज्ञ कराया। ऐसा होने पर दैवी वाक् यज्ञ के पात्रों में प्रविष्ट हो गयी। कथा का रूप यह बतलाता है कि यह यज्ञार्थ को सगझाने के लिए कल्पना की गयी है। मनु के ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक अर्थ दिये गये हैं। इसका अर्थ **मन, विद्वान्, प्रजापति आदि हैं**। मनावी नाम बुद्धि का है। किलात और आकुली काम और क्रोध के नाम हैं। ये कपोत और उलूक दोनों ही कहे जाते हैं। ऋग्वेद १०।१६५।१ में कबूतर को निर्ऋति (पाप) के दूत से उपमित किया गया है। पुनः पांचवें मंत्र में उलूक का भी वर्णन है। जिस प्रकार किलात और आकुलि से काम और क्रोध का ग्रहण है वैसे ही कपोत और उलूक से भी इन्हीं दो दोषों का ग्रहण होता है। इसी आधार पर किलात और आकुलि के कबूतर बन कर जाने की कल्पना की गयी होगी। असुर नाम मेघ का है यह पूर्व प्रथम प्रकरण में बतला दिया है। परन्तु असुर शब्द का अर्थ प्राणों में रमने वाला भी है। अतः अपने ही प्राणों की रक्षा करना और खाना-पीना आदि को ही परम धर्म मानने वाला असुर कहलाता है। शतपथ [१] ११।१।८।१ से यह भाव सुतराम् पुष्ट होता है।

असुर चाहे मेघ अर्थ में हो चाहे बुरी वृत्तिवाले मनुष्य के अर्थ में हो लेकिन माया का सम्बन्ध इनसे माना जाता है। शतपथ [१] १०।५।२।२० में लिखा है कि असुर लोग माया की उपासना करते हैं। कौ० २३।४ [२] में भी असुर-माया का वर्णन है। शतपथ ब्राह्मण ६।६।२।६ [३] में

(असुराः) स्वेष्वास्येषु जुह्वतश्चेरुः। श० ११।१।८।१

१—मायेत्यसुराः (उपासते)। श० १०।५।२।२०

२—असुर-मायया। कौषीतकी २३।४

३—आसुरी माया स्वधया कृतासीति प्राणोवाऽसुस्तस्यैषा माया स्वधयाकृता।
श० ६।६।२।६

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

लिखा है कि असुरों की माया अन्न से की गई थी। प्राण का नाम असु है। उसकी यह माया अन्न से की जाती है। पुनः शतपथ [1]२।४।२।५ में वर्णित मिलता है कि प्रजापति ने असुरों को माया और अन्धकार दिया है। इस प्रकार किलात-आकुली को मायावी कहना भी संगत कल्पना है।

"असमाति" पद भी सार्थक ही है। मत्या सहितः समतिः न समतिः असमतिः आसमतिरेण समातिः अर्थात् जो मति से युक्त हो वह समति है। जो समति न हो वह असमति है। असमति ही असमति है। जैसे लोपमुद्रा और च्यवन को लोपामुद्रा और च्यवान बन जाता है। वैसे ही यहां पर भी समझना चाहिए। इस प्रकार बुद्धि एवं इन्द्रियों के साथ जिसकी सम्मति समान न हो ऐसा आत्मा, मंत्रियों के साथ जिसकी मति न मिलती हो ऐसा राजा, आदि प्रक्रियानुसार इस पद के अर्थ होंगे। इक्ष्वाकु ज्ञान से देखने वाला है। ज्ञानी परमात्मा, अथवा अन्य ईक्षण धर्म वाला राजा अथवा मनुष्य इक्ष्वाकु है। आंख, घ्राण, कान और जिह्वा—ये चारों बन्धु, सुबन्धु, और विप्रबन्धु हैं। इन पर जब काम क्रोध रूपी किलात और आकुली प्रभाव कर लेते हैं तब हालत बुरी होजाती है। जब आत्मा को बुद्धि आ जाती है तब सब कार्य बन जाता है। इस आधार को समझाने के लिए यह कल्पना की गई होगी। परन्तु बाद में उसका स्वरूप बिगड़ गया।

"अस्तु"! जो कुछ भी हो इक्ष्वाकु मंत्र में कोई व्यक्तिविशेष नहीं। असमाति और इक्ष्वाकु का वर्णन ऋग्वेद के १० वें मण्डल के ६० वें सूक्त में पाया जाता है। वस्तुतः इस सूक्त का देवता इन्द्र है। इन्द्र का एक प्रक्रिया में राजा अर्थ भी हो सकता है। अतः इस अर्थ को लेकर राजा की स्तुति देवता की बाद में कर्मकाण्डियों ने कल्पना करली होगी। लेकिन वह किसी भी राजा की स्तुति हो सकती है। केवल असमाति की ही नहीं। असमाति भी राजा सामान्य का सूचक तो प्रक्रियाविशेष में हो सकता है राजा विशेष का नहीं। सायण और बृहद्देवता आदि के अनुसार आदि के चार मंत्रों में असमाति की स्तुति है अतः वही देवता माना गया है। परन्तु इस सूक्त में आयी तीसरी ऋचा का यास्क ने निरुक्त १२।२९ [2] पर प्रसंग से इसके विपरीत व्याख्यान किया है। यास्क कहता है कि पवि नाम शल्य का है क्योंकि यह शरीर अथवा संघात का विदारण कर देता है। इस वाला होने पर पवीर नाम आयुध का है। इससे युक्त होने से इन्द्र का नाम पवीरवान् है और "अति तस्थौ पवीरवान्" (ऋग्वेद १०।६०।३) उसका निगम है। यास्क ने यहां पर असमाति का वर्णन न करके इन्द्र का वर्णन किया है। वह इस मंत्र को इन्द्र का प्रतिपादक मानता है असमाति का नहीं। यदि असमाति इसका देवता होता तो यास्क ऐसा वर्णन क्यों करता। इससे स्पष्ट है कि यह असमातिदेवताक मंत्र नहीं अपितु इन्द्रदेवताक है। सायण इस भाव को नहीं समझ पाये और उनका अर्थ ग़लत है। यास्क के इस उदाहरण से सारे सूक्त की स्थिति स्पष्ट होजाती है। वस्तुतः न वह असमाति नामी किसी व्यक्ति का वर्णन करता

१—(प्रजापतिः) तेभ्यः (असुरेभ्यः) तमश्च मायां च प्रददौ। श० २।४।२।५

२—पविः शल्यो भवति, यद्विपुनाति कायं, तद्वत्पवीर-मायुधं, तद्वानिन्द्रः पवीरवान्। "अति तस्थौ पवीरवान्" इत्यपि निगमो भवन्ति। नि० १२।२९

२४

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है और न इक्ष्वाकु नामी व्यक्ति का ही। सूक्त में आये 'असमाति" और इक्ष्वाकु पद सामान्यार्थ के वाचक हैं। किन्हीं व्यक्तिविशेष के नहीं।

यहाँ पर मंत्रार्थ संगति लगाने से पूर्व असमाति, इक्ष्वाकु और सुबन्धु के अर्थ पर विचार कर लेना आवश्यक है। असमाति पद की अनेक प्रकार से सिद्धि हो सकती है। अत् धातु निघण्टु २।१४ में गत्यर्थक मानी गयी है। इससे स्त्रीलिङ्ग में "अति" पद बनेगा। सम्यगतिः समतिः न समतिः असमतिः। असमतिरेव असमातिः। अर्थात् जो सम्यक् गति वाला न हो वह असमाति हैं। मति पद निघण्टु में बहुवचन में मेधावी अर्थ में पठित है अतः मतिभिः सहितः समतिः, न समतिरसमतिः। स एवासमतिः। अर्थात् जो योग्य विद्वानों के साथ सम्मति आदि न मिला कर चलता हो वह असमाति है। मति पद से बुद्धि एवं ज्ञान और संगति अभिप्रेत हैं। मतिरेव मातिः मात्या सहितः समातिः न समातिरसमातिः। शतपथ ८।१।२।७ में मति वाणी को कहा गया है। यजुः १३।५८ का वहाँ पर सन्दर्भ चल रहा है। इस मंत्र में मति का अर्थ वाणी है—यह शतपथकार को बताना अभिप्रेत है। इसके अनुसार किसी वस्तु में हाँ, नहीं न करने वाला असमाति होगा। इस प्रकार असमाति पद के आत्मा, राजा, यजमान आदि अर्थ निकलते हैं। अर्थात् इन्द्रियों से समन्वय न रखकर चलने वाला आत्मा, मन्त्रियों की अथवा विद्वानों की सम्मति न मानने वाला राजा तथा पुरोहितों आदि की राय के अनुसार न चलने वाला यजमान असमाति है।

इक्ष्वाकु पद का अर्थ है ईक्षणवाला। जिसमें ईक्षण धर्म है वह इक्ष्वाकु है। अतः परमात्मा, विद्वान् , ज्ञानी आदि अर्थ इससे निकलते हैं।

सुबन्धु भी किसी व्यक्ति का नाम नहीं हैं। यह यौगिक पद है और यह ऋ० १०।५६।८ तथा १०।६०।७ एवं १०।६०।१० में आया है। सुबन्धुः सुष्ठुर्बन्धुः अर्थात् उत्तमबन्धु का नाम सुबन्धु है। इन्द्रियाँ जिस समय काबू में होती हैं उस समय सुबन्धु हैं और जब काबू से बाहर होती हैं तब कुबन्धु हैं। इसी प्रकार अच्छी सम्मति देने वाले विद्वान्, मंत्री, पुरोहित आदि भी सुबन्धु हैं। यह शब्द इतना सरल है कि इसमें खींच तान की आवश्यकता नहीं।

मंत्रों की अर्थसंगति निम्न प्रकार है—

१—आ जनं त्वेषसंदृशं माहीनानामुपस्तुतम्। अगन्म बिभ्रतो नमः। ऋ० १०।६०।१

अर्थ—

इन्द्रियाँ—आंख, नाक, श्रोत्र, जिह्वा आदि कहती हैं—कि हे इन्द्र! हम भोगों को धारण करते हुए महान् प्राणों अथवा शरीरस्थ शक्तियों के द्वारा उपस्तुत दीप्तदर्शन अर्थात् ज्ञानमय प्रकाश वाले, जन = जीवात्मा को प्राप्त हो रहे हैं। "नमः" निघण्टु २।७ में अन्न नाम से पढ़ा गया है।

२—असमातिं नितोशनं त्वेषं निययिनं रथम्। भजेरथस्य सत्पतिम्॥ १०।६०।२

अर्थ—

हमारी बुराइयों को मारने वाले समस्त मनोरथों को रथ के समान पूरा करने वाले, रथ के सदृश शरीर के सत्पति, प्रकाशयुक्त जीवात्मा को हम प्राप्त हो रहे हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

३—यो जनान् महिषाँ इवाति तस्थौ पवीरवान्। उता पवीरवान् युधा।

ऋ० १०।६०।३

अर्थ—

विद्युन्मय आयुध वाला जो इन्द्र = परमेश्वर महिषों के समान बलवान् से बलवान् मनुष्यों को भी बिना किसी प्रकार का आयुध धारण किये हुये युद्ध में पराभूत कर अतिक्रान्त कर सकता है वह इस आत्मा को शुद्ध और शक्तिशाली बनावे और हमें प्राप्त करावे।

४—यस्येक्ष्वाकुरुपव्रते रेवान्मराय्येधते। दिवीव पंचकृष्टयः॥

ऋ० १०।६०।४

अर्थ—

हे इन्द्र! हमें उस आत्मा को प्राप्त करा जिसके कर्म एवं नियम में निखिल विघ्ननिवारक, सर्व धन सम्पन्न इक्ष्वाकु = सर्व द्रष्टा परमेश्वर विराजमान रहता है और जिसमें पंच प्राण आदि प्रजा स्वर्ग में स्थित प्रजा के समान सुखी रहती हैं।

५—इन्द्र क्षत्रासमातिषु रथप्रोष्ठेषु धारय। दिवीव सूर्यं दृशे।

ऋ० १०।६०।५

अर्थ—

हे इन्द्र! शरीर-रथों में ही प्रेम से निवास करने वाले असमाति=इन्द्रिय और बुद्धि से समन्वय न रखने वाले जीवात्मावों में तेज एवं शक्ति को उसी प्रकार धारण करा जिस प्रकार दर्शन के लिए द्युलोक में सूर्य को तूने धारण किया है।

६—अगस्त्यस्य नद्भ्यः सप्ती युनक्षि रोहिता।
पणीन्न्यक्रमीरभि विश्वान्राजन्नराधसः॥

ऋ० १०।६०।६

अर्थ—

हे स्वामिन् इन्द्र! जिस प्रकार पापरहित जीव के आनन्ददाता इन्द्रिय आदि शक्तियों के परिचालन के लिए जीवात्मा के शरीर में रोहित तेजोमयी सर्पणशील ज्योतिष्मती और वहिष्मती मानस वृत्तियों को आप जोड़ते हो, उसी प्रकार संसार में आसक्ति पैदा करने वाले समस्त आराधना रहित भावनावों को दूर कर दें।

७—अयं माता अयं पितायं जीवातुरागमत्।
इदं तव प्रसर्पणं सुबन्धवे हि निरिहि॥

ऋ० १०।६०।७

अर्थ—

चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, के वृत्तिभूत प्राण, प्राण के व्यापार वाले प्राण से कहते हैं कि हे प्राण के परिचालक प्राण (सुबन्धो)। यह जीवात्मा हमारा पिता है यह ही हमारी माता है, यह ही हम को जीवन देने वाला प्राप्त है। यह ही तुम्हारा गमन-साधन है। तुम इस को प्राप्त हो और इससे मिलो।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

८—यथा युगं वरत्रया नह्यन्ति धरुणाय कम् ।
एवा दाधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये ॥

ऋ० १०।६०।८

अर्थ—

हे प्राण ! जिस प्रकार धारण करने के लिए जुवे को रस्सी से बाँध दिया जाता है वैसे ही तुम्हारे जीवन के लिए मन को आत्मा के साथ धारण किया गया है। यह तुम्हारे विनाश के लिए नहीं अपितु स्थिर रहने के लिए है।

शेष मन्त्र सुगम हैं अतः उनका अर्थ यहाँ पर नहीं दिया जाता है। इसी प्रकार प्रक्रियान्तर में असमाति आदि के उपरिनिर्दिष्ट अर्थों को ध्यान में रखकर मन्त्रों की अर्थसङ्गति लगानी चाहिए।

इट—

इण्डेक्स का कथन है कि यह एक ऋषि प्रतीत होता है और इन्द्र के द्वारा प्रतिपालित है। लेकिन जिस स्थल पर ऋग्वेद में यह पद आया हैं इसका विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह किसी ऋषिविशेष का नाम नहीं। चूँकि सर्वानुक्रमणी और सायण आदि ने इस मन्त्र का ऋषि भी इट माना है और यह इट पद मन्त्र में भी पड़ा है—इसलिए ऐसा भ्रम हुआ होगा। सायण ने मन्त्रार्थ करते हुये भी यह ग़लती की है। वस्तुतः मन्त्र में आया पद किसी व्यक्तिविशेष का सूचक नहीं है। इट पद ऋग्वेद १०।१७१।१ में आया है। इन्द्र इस सूक्त का देवता है। यहाँ पर यह बतलाया गया है कि इन्द्र = परमेश्वर अथवा राजन् आप पुत्रादिकों से युक्त विद्वान् ज्ञानी एवं उद्योगी मनुष्य के रथ = सुख साधन की रक्षा करते हो और याज्ञिक एवं उपासक की पुकार को सुनते हो। "इट" पद इट गत्यर्थक धातु से बना है जिसके ये यहाँ ऊपर की पंक्ति में दिये गये अर्थ निकलते हैं। आप्टे ने अपनी डिक्शनरी में इट का अर्थ बेंत अथवा बेंत की चटाई किया है। घास भी इसका अर्थ है यह भी बतलाया है। इस प्रकार एक अर्थ यह भी हो सकता है कि हे राजन् आप सोम से युक्त याज्ञिक के रथ को घास और वेत्र की चटाई आदि से आच्छादित करते हो और उपासक की पुकार को सदा सुनते हो। सुत पद निघण्टु २।७ में अन्न नाम में पढ़ा हैं। इस प्रकार "सुतावतः" का अर्थ अन्न वाला, अन्न युक्त अथवा अन्न को देने वाला होगा। शतपथ ५।१।४।३ में रथ शब्द से वज्र का ग्रहण है। पुनः ६।४।१।१५ में आदित्य अर्थ रथ से गृहीत है। तैत्तिरीय २।२।५।४ में वैश्वानर को भी रथ कहा गया है। इसी से रथन्तर शब्द बनता है। रथन्तर की व्याख्या करते हुये शतपथ ६।१।२।३६ में कहा गया है कि "रसंतमं ह वै तद्रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम्" अर्थात् रसंतम होने से इसे ही परोक्ष में रथन्तर कहा जाता है। ऐतरेय ८।१ में पृथिवी को रथन्तर कहा गया है। जब पृथिवी रथन्तर है तो रथ तो वह अपने आप है ही। रथ पद निघण्टु ५।३ में पद नाम में पठित है अतः उसके अनेकार्थ हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में मन्त्र का अर्थ यह भी बन सकेगा कि हे इन्द्र ! आप सोमयुक्त अथवा अन्नयुक्त घास के ढेर की रक्षा करते हो और याज्ञिक की प्रार्थना को सुनते हो। अथवा हे इन्द्र आप अन्न से युक्त घास पौदे आदि से रथ = पृथ्वी को आच्छादित करते हो। मन्त्र में आया "प्रावः" क्रिया का रूप वृञ् वरणे और अव् रक्षणे दोनों से ही बन सकता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मन्त्र निम्न प्रकार है—

त्वं त्यमिटतो रथमिन्द्र प्रावः सुतावतः । अशृणोः सोमिनो हवम् ॥

ऋ० १०।१७१।१

उक्षण्यायन—

इण्डेक्स कहती है कि यह ऋग्वेद ८।२५।२२ में दानस्तुति में हरयाण और सुषामणि के साथ वर्णित हैं। लुडविग इन तीनों को एक ही मानता है। (देखो लुडविग्स ट्रान्सलेशन आव द ऋग्वेद ३, १६२, २७६)।

परन्तु विचार करने पर यहाँ भी उक्षण्यायन कोई व्यक्तिविशेष सिद्ध नहीं होता। निघण्टु ४।२ में कौरयाण, तौरयाण और अह्रयाण आदि शब्द पद नाम में पठित हैं। यह ही व्यक्त करता है कि ये शब्द व्यक्तिवाचक नहीं। मैंने प्रथम प्रकरण में ऐसे शब्दों की व्याख्या भी कर दी है। यास्क ने निरुक्त [1]५।१५ पर ऋग्वेद ४।४।१४ में आये हुये "अह्रयाणः" पद की व्याख्या की है। वहाँ पर वह अह्रयाणः का अर्थ अह्रीतयान अर्थात् अलज्जितयान अग्नि किया है। पुनः उसने उसी स्थल पर "हरयाण" की व्याख्या भी की है। यास्क हरयाण की व्याख्या "हरमाणयान" करता है। उसने प्रतीक में इस ऋग्वेदीय ८।२५।२२ मन्त्र को ही उद्धृत किया है। यास्क का इस प्रकार व्याख्या देकर इस मन्त्र की प्रतीक देना ही सिद्ध करता है कि उक्षण्यायन भी कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। निघण्टु ३।३ में "उक्षन्" पद महन्नाम में पठित है। उक्षन् से उक्षण्य बनेगा। जिसका अर्थ अतिविस्तृत होगा। उक्षण्य अयन वाले को उक्षण्याय न कहा जावेगा। विस्तृत गति, ज्ञान वाला अथवा यज्ञार्थ विस्तृत गृहवाला विद्वान्, पुरोहित ऋत्विग् उक्षण्यायन कहलावेगा। यास्क ने निरुक्त १२।६ पर "उक्षण" की व्याख्या करते हुये इसकी सिद्धि वृद्ध्यर्थक "उष्" और सेचनार्थक "उक्ष" धातुवों से की है। इससे "उक्षन्" का अर्थ महान् और सेचन करने वाला बनेगा। उक्षण् महाविद्वान् और घृतादि से यज्ञाग्नि को सिक्त करने वाला याज्ञिक होगा। उक्षण् का अपत्य उक्षण्यायन महान् याज्ञिक होगा। वेद में अपत्यार्थक प्रत्यय जड़ और सामान्य पदों से सम्बन्धार्थ में भी हो जाता है। मन्त्र में आये उक्षण्यायन और हरयाण का अर्थ हो जाने पर अब "सुषामणि" का अर्थ भी करना आवश्यक है। "सुषामणि" सप्तमी विभक्ति का रूप है। शोभनं साम अस्य सुषमा तस्मिन्—अर्थात् शोभन साम वाला "सुषामन्" है और सप्तमी में उसका सुषामणि बनेगा।

मन्त्रार्थसंगति निम्न प्रकार होगी—

ऋज्रमुक्षण्यायने रजतं हरयाणे । रथंयुक्तमसनाम सुषामणि ॥

ऋ० ८।२५।२२

अर्थ—

नित्य पुरुषार्थ सिद्धि में रथ को दौड़ाने वाले, उत्तम साम वाले यजमान अथवा याज्ञिक राजा के यष्टा होने पर ऋजुगामी एवं रजत से युक्त रथ को हम यज्ञ कराने वाले प्राप्त करें।

१—अह्रयाणः अह्रीतयानः नि० ५।१५,२—हरयाणः हरमयाणयानः। नि० ५।१५

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उपमन्यु—

इण्डेक्स का मानना है कि लुडविग (Traslation of the Rigved 3, 113) के अनुसार यह एक आदमी का नाम है परन्तु राथ (Peterburg Dictionary S. V.) के द्वारा सभवतः यह केवल उपाधि के रूप में व्याख्यात है।

यहाँ पर लुडविग की ग़लती है। उपमन्यु किसी व्यक्ति का नाम नहीं है। ऋग्वेद १।१०२।९ में यह पद आया है। परन्तु वहाँ पर यह विशेषण है। इमम् के विशेषण रूप में प्रयुक्त है। सायण ने इसका अर्थ उपमन्तारम् अथवा उपगतेन प्राप्तेन मन्युना क्रोधेन युक्तम्— किया है। अतः यह व्यक्तिवाचक नहीं हैं।

उपमाश्रवस्—

इण्डेक्स का मानना है कि उपमाश्रवस् ऋग्वेद १०।३३।६-७ में कुरुश्रवण के पुत्र और मित्रातिथि के पौत्र के रूप में वर्णित है। बृहदेवता, लुडविग और लान्मैन, के अनुसार इस सूक्त में कवि ऋषि उपमाश्रवस् को उसके पितामह मित्रातिथि की मृत्यु पर सांत्वना दे रहा है।

परन्तु यहाँ पर यह सारी कल्पना बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी और सायण के भाष्य के ऊपर खड़ी की गयीं है। वास्तविकता तो यह है कि यह भी कोई व्यक्ति नाम नहीं और न इसमें किसी प्रकार के इतिहास की ही गन्ध है। ऋग्वेद १०म मंडल के ३३ वें सूक्त में सब नव मंत्र हैं! इनका द्रष्टा ऋषि एलेष कवष है। वह मंत्र का कर्त्ता नहीं है। ऋषि मंत्रकर्त्ता नहीं—इस धारणा का उच्छेदन पूर्व किया जा चुका है। इस सूक्त के ४थे और पांचवें मंत्र में सायण आदि के अनुसार त्रसदस्यु के पुत्र कुरुश्रवण का दान वर्णित है। ६ठें मंत्र से लेकर नवें तक मित्रातिथि राजा के स्वर्ग सिधारने पर उसके पुत्र उपमाश्रवस् की सांत्वना का वर्णन है। परन्तु यहां पर सायण भाव को समझ नहीं सका है। वेदों में अनेक प्रकार के लोक व्यवहारों का वर्णन पाया जाता है। मानव को कब कैसा व्यवहार करना चाहिए और संसार में स्वाभाविक रूप में जो घटनायें उपस्थित होती हैं उन पर वह कैसे वर्तता है इत्यादि वर्णन वेदों में स्थल स्थल पर मिलता हैं। इससे किसी भी इतिहास की कल्पना करना व्यर्थ है। यह तो भावों को व्यक्त करने का संवादात्मक तरीका है। अस्तु! उपमाश्रवस् कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। इस सूक्त के चौथे मंत्र में कुरुश्रवण का वर्णन है। साथ में "त्रासदस्यव" उसका विशेषण पड़ा है। त्रसदस्यु का अर्थ दस्युत्रासन अर्थात् शत्रुवों को मार भगाने वाला राजा है। इसका पुत्र त्रासदस्यव है। वेदों में अपत्यार्थक प्रत्यय सामान्य शब्दों से भी होते हैं। त्रसदस्यु का वर्णन प्रकरण द्वितीय में मैंने कर दिया है। रही बात कुरुश्रवण की। इस पर भी विचार किया जाता है। कुरु पद निघण्टु ३।१८ में ऋत्विज नाम में पढ़ा है। अतः ऋत्विजों की सुनने वाले को कुरुश्रवण कहा जाता है। जो ऋत्विजों को सुने और उनसे यज्ञादि कर्म करावे वह कुरुश्रवण है। इस मंत्र में "वाघतां मंहिष्टम्" पद प्रयुक्त हैं जो इस अर्थ की और भी पुष्टि करते हैं। क्योंकि "वाघतः" भी निघण्टु ३।१८ में ऋात्विज् नाम में पढ़ा गया है। व्युत्पत्ति सायण ने भी ऐसी ही की है परन्तु अन्त में वह गड़बड़ा गया है। सूक्त के ६ठें मंत्र में "उपमाश्रवसः" पद आया है। निघण्टु में श्रवः=पद १।१० में धन नाम में आया है। नि० ४।२४ पर यास्क ने

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

श्रवः का अर्थ धन किया है। निरुक्त ६।१० पर यास्क ने श्रवः का अर्थ प्रशंसा अथवा यश किया है। इस प्रकार उपमा है श्रवः धन या यश जिसका उसे उपमाश्रवस् कहा जाता है। जिसके धन अथवा यश की दूसरों को उपमा दी जावे वह उपमाश्रवस् है। अर्थात् उपमायोग्य धन एवं यश वाला। "उपमे" पद निघण्टु २।१६ में अन्तिक अर्थात् समीप अर्थ में पठित है। इसके अनुसार उपमें श्रवसी यस्य सः उपमाश्रवाः—अर्थात् धन और यश जिसके समीप हैं वह उपमाश्रवस् है। इस प्रकार अधिक धन वाला ही उपमाश्रवस् है। सूक्त के सातवें मंत्र में भी "उपमाश्रवः" पद आया है।

सक्त के ७ वें मंत्र में "मित्रातिथि" पद आया है। मित्रभूतोऽतिथिः यस्य स मित्रातिथिः अर्थात् अतिथि जिसका मित्रभूत है वह मित्रातिथि है। अतिथियों से मैत्री रखने वाला अर्थात् उनका सत्कार करने वाला मित्रातिथि कहलाता है। इस प्रकार कोई भी राजा त्रसदस्यु, कुरुश्रवण, उपमाश्रवस् और मित्रातिथि कहला सकता है। पितापुत्र और पितामहपौत्र आदि व्यवहार इनमें घट सकता है, यह बात पूर्व मैंने अनेकों स्थलों पर बतलायी है।

मंत्रों की अर्थसंगति निम्न प्रकार है—

कुरुश्रवणमावृणि राजानं त्रासदस्यवम्। मंहिष्ठं वाघतामृषिः॥

ऋ० १०।३३।४

अर्थ—

वेदार्थद्रष्टा कहता है कि मैं वेदज्ञ शत्रुसंहारक राजा के पुत्र ऋत्विग्भक्त एवं ऋत्विजों को दान देने वाले राजा से अपनी आवश्यकतायें प्राप्त करता हूँ।

यस्य मा हरितो रथे तिस्रो वहन्ति साधुया। स्तवै सहस्रदक्षिणे॥

ऋ० १०।३३।५

अर्थ—

जिसके रथ में तीन घोड़े मुझे ले अच्छी तरह चलते है उस राजा की सहस्रों की दक्षिणा दिये जाने वाले याग में मैं प्रशंसा करता हूँ।

जब अतिथिपूजक दानी राजा स्वर्गस्थ हो जाता है तो उसके पुत्र पौत्र आदि का दुःख मनाना स्वाभाविक होता है। ऐसी अवस्था में विद्वान् उसे सान्त्वना देता है। इस व्यवहार को यहाँ पर मंत्रों में दिखलाया गया है।

वेदज्ञ कहता है—

जिस अतिधनी यशस्वी राजा के पिता की वाणियां इस प्रकार प्रिय हैं जिस प्रकार दान की इच्छा करने वाले के लिए रमणीय क्षेत्र प्रिय होता है वह प्रशंसनीय है।

अधि पुत्रोपमश्रवो नपान्मित्रातिथेरिहि। पितुष्टे अस्मि वन्दिता॥

ऋ० १०।३३।७

हे अतिधनिन् राजन्! अतिथि पूजक राजा के आप पुत्र हो। आप यहाँ पर समझें। मैं तुम्हारे पिता का प्रशंसक हूँ।

यदीशीयामृतानामुत वा मर्त्यानाम्। जीवेदीन्मघवा मम॥

ऋ० १०।३३।८

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अर्थ—

यदि इन्द्रिय, विद्वान् आदि देवों और शरीर आदि मरणधर्मा पदार्थों के मृत्युकारण पर अपना वश होवे तो हमारा दानदाता राजा भी जीता रह सके। परन्तु हमें मौत के कारणों पर वश नहीं है। अतः कोई बिना मरे नहीं रह सकता—सभी को मरना है।

न देवानामति व्रतं शतात्मा चन जीवति। यथा युजा वि वावृते॥

ऋ० १०।३३।९

देवों के प्राकृतिक नियम का अतिक्रमण कर कोई शत सम्वत्सर भी नहीं जीवित रह सकता हैं इसलिए मित्र, वान्धव, शरीर, कलत्र आदि के सम्बन्ध से वह (मर कर) नियुक्त होता है।

उपस्तुत—

वैदिक इण्डेक्स का कथन है कि उपस्तुत ऋग्वेद में एक प्राचीन ऋषि के रूप में अनेक स्थलों पर आया है। सामान्यतः इसका सम्बन्ध कण्व के साथ है जिसकी इन्द्र, अग्नि, आश्विन और दूसरे देवतावों के द्वारा सहायता की गई है। वृष्टिहव्य के पुत्र उपस्तुत लोग गायक के रूप में भी वर्णित हैं।

इण्डेक्स के कथन की सारासारता पर विचार किया जाता हैं। "उपस्तुत" पद ऋग्वेद १।३६।१० में आया हैं। यहां पर "उपस्तुत" का अर्थ स्तोता अथवा यजमान है। यहाँ पर मंत्र में "मनवे" पद भी पड़ा हैं जिसका अर्थ मननशील है। "मेध्यातिथि" पद भी आया है जिसका अर्थ मेधाई अतिथियों से युक्त है। यह कण्व का विशेषण है। कण्व निघण्टु ३।१५ में मेधावी नाम में पढ़ा गया है। सायण भी यहां पर "मेध्यातिथि" पद को कण्व का विशेषण मानता है। वह लिखता है—मेधार्हैरतिथि नियुक्तः—अर्थात् यज्ञ करने योग्य अतिथियों से युक्त। उपस्तुत पद का अर्थ स्तोता अथवा यजमान है—ऐसा यहां पर सायाण को भी अभिप्रेत है। सायण लिखता है—उपस्तुतः अन्योऽपि स्तोता यजमानः "अर्थात् अन्य स्तोता यजमान उपस्तुत है। इसी सूक्त के ११ वें मंत्र में पुनः मेध्यातिथि कण्वः पद आया है। यहां पर भी सायण मेध्यातिथि का अर्थ पूर्ववत् ही करता है।

उसका शब्द इस प्रकार है—

मेध्यातिथि र्याग योग्या अतिथय ऋत्विग्रूपा यस्य तादृशः—

ऋग्वेद १।११२ १५ में आया उपस्तुत पद विशेषण रूप में प्रयुक्त है। उसका अर्थ सम्यक् स्तुत है। सायण भी उसे वम्र का विशेषण मानता है। सायण ने यहां पर वम्र कलि और पृथि को व्यक्तिविशेष मानकर महान् भ्रम पैदा किया है। ऋग्वेद ८।५।२५ में भी उपस्तुत पद आया है। यहाँ पर कण्व, प्रियमेध और शिञ्जार पद भी आये हैं। इनकी व्याख्या पूर्व द्वितीय प्रकरण में हम कर आये है। यहां पर भी आया "उपस्तुत" पद स्तोता यजमान अथवा विद्वान् का द्योतक है। सायण ने यहां पर इस उपस्तुत पद के अर्थ करने में ग़लती की है। अतः उसके आधार पर पाश्चात्यों ने भी अपनी कल्पना खड़ी कर ली है। ऋग्वेद १०।११५।८ में उपस्तुतस्य पद आया है। चूंकि इस सूक्त के द्रष्टा ऋषि के रूप में वृष्टिहव्य के पुत्र उपस्तुत का

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नाम है अतः यहाँ पर इण्डेक्स कर्त्ता ने अपनी कल्पना करली वस्तुतः यहां पर भी उपस्तुत व्यक्ति विशेष नहीं। यहां पर भी उपस्तुत का अर्थ स्तोता, विद्वान् या यजमान है। ऋग्वेद ८।१०३।८ में "उपस्तुतासः" पाठ आया है। यह बहुवचन ही इस बात का द्योतक है कि उपस्तुत व्यक्ति विशेष नहीं है। "उपस्तुतासः" का अर्थ स्तोतारः है। सायण ने भी यहां पर "उपस्तोतारः" अर्थ ही किया है। ऋग्वेद १०।११५।९ में वृष्टिहव्यस्य पुत्रा उपस्तुतास ऋषयः "पाठ आया है। जिसका अर्थ साधारणतया वृष्टिहव्य के पुत्र उपस्तुत ऋषि लोग—होगा। वृष्टिहव्य क्या है प्रथम इसका ही विचार करना चाहिए। वृष्टयर्थं हव्यं यस्य स वृष्टिहव्यः। अथवा वृष्टयां हव्यंस्य सवृष्टिहव्यः। अर्थात् वृष्टि के लिए जिसकी हवि हो, अथवा वृष्टि काल में जो अग्नि में हवि डालता हो वह वृष्टिहव्य है। इस प्रकार वर्षकामेष्टि का करने वाला याज्ञिक विद्वान् यजमान, अथवा वर्षाकाल में यज्ञ करने वाला वेदाध्यायी वेदज्ञ वृष्टिहव्य का अर्थ होगा। वर्षाकाल में चातुर्मास्येष्टि होती है। वेदज्ञ लोग आर्ष कर्म में प्रवृत्त होते हैं। वेदाध्ययन चलता है। अतः उस कर्म का कर्त्ता वृष्टिहव्य कहलाता है। ऐसे विद्वान् के मन्त्रार्थवेत्ता स्तोता पुत्र ही यहाँ पर "वृष्टिहव्यस्य पुत्रा उपस्तुतास ऋषय" अर्थ से अभिप्रेत हैं। इस प्रकार उपस्तुत का जो अर्थ यहां पर दिया गया है उस के आधार पर इस पद से युक्त सभी मंत्रों की संगति सरलता से लग जावेगी। अतः यहां पर मंत्रार्थसंगति नहीं लिखी गयी। पाश्चात्यों ने उन्हें जो गायक मानलिया है वह भी इस स्तोता को ही ध्वनित करता है।

उरुक्षय—

इण्डेक्सकर्तावों के अनुसार गायक और उपासक उरुक्षयों के परिवार का ऋग्वेद १०।११८। ८–९ में वर्णन है।

परन्तु यह भ्रममात्र है। चूँकि सूक्त का मंत्रद्रष्टा ऋषि भी उरुक्षय उपाधिवाला है अतः यह कल्पना खड़ी कर ली गयी। वस्तुतः उरुक्षय कोई व्यक्ति या परिवार विशेष नहीं। ऋग्वेद १०।११८।८ में "उरुक्षयेषु" बहुवचन पाठ आया है अतः सुतराम् प्रकट हो जाता है कि यह व्यक्तिवाचक नाम नहीं है। उरु का अर्थ महान् एवं विस्तीर्ण है। क्षय का अर्थ निवास है। अतः उरुक्षय का अर्थ विस्तृत निवास स्थान होगा। परन्तु जब बहुव्रीहि समास किया जावेगा तब इसका अर्थ विस्तृत निवास वाला यजमान, याज्ञिक आदि होगा। उरुक्षयेषु का अर्थ सायण ने भी इस आठवें मन्त्र में विस्तृत निवास आहवनीय आदि किया है। वह लिखता है "उरुक्षयेषु विस्तीर्णेषु निवासेष्वाहनीयादिषु।" नवें मन्त्र में सायण ने "उरुक्षयाः" का अर्थ "बहुनिवासाः यजमानाः—अर्थात् बहुत निवासों वाले यजमान किया है। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में "क्षये" पद पड़ा है। जिसका अर्थ "निवास में" है। यह भी प्रमाणित करता है कि "क्षय" का अर्थ निवास है।

उशनाः काव्यः—

इण्डेक्स के रचयितावों के अनुसार उशनाः काव्य एक प्राचीन ऋषि है। ऋग्वेद में यह बहुधा वर्णित अर्ध—काल्पनिक व्यक्ति ज्ञात होता है। विशेषरूप से यह कुत्स और इन्द्र से सम्बद्ध मालूम पड़ता है।

२५

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यहाँ पर अर्ध काल्पनिक व्यक्ति कहने से ही प्रकट है कि इण्डेक्सकर्तावों को भी इसके व्यक्तिविशेष होने में सन्देह है। क्योंकि कथा-कहानियों में कल्पित पात्र कोई व्यक्तिविशेष ही हो—यह आवश्यक नहीं। ऋग्वेद [1]४।२६।१ में इन्द्र कहता है कि मैं मनु हूँ, मैं ही सूर्य हूँ और मैं ही कक्षीवान्, कवि और विप्र हूँ। मैं चमकीले वज्र को धारण करता हूँ और मैं ही उशना कवि हूँ। यहाँ पर मन्त्र ने ही स्पष्ट कर दिया कि उशना इन्द्र का नाम है। वह कोई व्यक्तिविशेष नहीं। यह एक यौगिक पद है। वेद में "उशना" का प्रयोग दो प्रकार का पाया जाता है। कहीं पर "उशना काव्य" प्रयोग है और कहीं पर केवल उशना प्रयोग है। ऋग्वेद १।८३।५; १।१२१।१२; ६।२१।११; ८।२३।१७; ९।८७।३—स्थलों में उशना काव्य का प्रयोग है। ऋग्वेद १।५१।१०; १।१३०।९; ४।१६।२; ५।३१।८; ५।३४।२; ८।७।२६; ९।९७।७; १०।२२।६ और १०।४१।७ में केवल उशना का प्रयोग है। इसमें भी पुनः भिन्न प्रकार का प्रयोग पाया जाता है। ऋग्वेद १।५१।१० ऋग्वेद १।८४।५; १।१२१।१२; ऋग्वेद १।१३१।९, ४।१६।२, ५।३१।८ ५।३४।२; ६।२१।११; ८।७।२६, ८।२३।१७; १०।२२।६; ९।९७।७, ९।८७।३ में सर्वत्र "उशना" पद आकारान्त प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद १०।४०।७ में "उशनाम्" पद स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुआ है और सायण ने यहां पर इसका अर्थ "कमनीयां स्तुतिम्" अर्थात् कमनीय स्तुति किया है। ऋग्वेद ५।३४।२ पर "उशना" का अर्थ कामयमान है ऐसा सायण ने एक पक्ष में अर्थ किया है। "उशना" को कवि का पुत्र काव्य और भार्गव कहा जाता है। परन्तु सायण ने १।८४।५ पर उशना काव्यः का अर्थ करते हुये "कवेः पुत्रः उशना भृगुः" लिखा है। यहाँ पर उशना पद भृगु के लिए प्रयुक्त है—ऐसा सायण का विचार जान पड़ता है। "उशनाः" पद वस्तुत; सान्त है। अतः अन्त में प्रथमा विभक्ति के एक वचन में "उशनाः" प्रयोग होता है। वेद के इन स्थलों पर कहीं भी सान्त उशना पद का प्रयोग नहीं दिखलायी पड़ता। इन सब भेदों को बिना जाने हुये इण्डेक्स में एक सा ही आलाप कर दिया गया है। यदि आकारान्त प्रयोग वैदिक मानकर चला जावे तब भी भिन्नार्थता ही प्रकट करती है कि उशना कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। ताण्ड्यब्राह्मण [2]७।५।२० में उशनस् काव्य को असुरों का पुरोहित माना गया है। असुर पद से एक तरफ मेघ का अर्थ निकलता है और दूसरी तरफ प्रक्रियान्तर से आसुरी एवं अदैवी वृत्ति वाले लोग। दोनों ही अर्थों को लेने पर "उशनस्" का अर्थ आधिदैविक पदार्थविशेष और पुरोहित अथवा कवि विद्वान् होगा। जैसा पहले दिखलाया गया है इन्द्र स्वयं ऋ० ४।२६।१ में अपने को उशना काव्य कह रहा है। फिर यह नितराम् उचित है कि यह व्यक्तिवाचक नाम नहीं। कवि का पुत्र काव्य कहाता है। काव्य का अर्थ बड़ा कवि हुआ। उशनाः पद कान्त्यर्थक वस् धातु से बना है। इसका अर्थ है कान्तिमान् अथवा सदा कामना करने वाला। उशना=को भार्गव भी कहा जाता है। भृगु के गोत्र का होने से यह भार्गव है।

१—अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवां कविरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेहं कविरुशना पश्यता मा॥

२—उशना वै काव्योऽसुराणां पुरोहित आसीत्॥ ता० ७।५।२०

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भृगु का अर्थ तपस्वी यजमान है। निरुक्त से यह अर्थ निकलता है। दूसरा अर्थ भृगु का अग्नि तेज है। अग्नि का जो तेज पानी में है वह भृगु कहलाता है। इसी कारण इसको वारुणि भी कहा जाता है। मेघस्थ जलों में भी तेज विद्यमान है। वह भृगु है। इसी कुल में उत्पन्न शब्द करने वाला विद्युत्तेज कवि है। क्योंकि यह भी गड़गड़ाहट का शब्द करता है। उसका पुत्र मेघ को पिघलाने वाला तेज वस्तुतः उशना काव्य है। भृगु के विषय में प्रथम प्रकरण में अंगिरा के साथ देखें। निरुक्तकार इन्हें माध्यमिक देवगण मानते हैं। ऋग्वेद १।५१।१० में उशना को इन्द्र की शक्ति को तीक्ष्ण करने वाला लिखा है। अतः यह उशना का अर्थ वहाँ पर सार्थक है। क्योंकि यह तेज इन्द्र की शक्ति का उत्तेजक है ही। इन्द्र का अर्थ प्रक्रियान्तर में करने पर कवि एवं विद्वान् अर्थ घटेंगे। ऋग्वेद १।१२१।१२ में भी यही संगत होगा। प्रक्रिया के अनुसार इनको घटित किया जा सकता है। ऋग्वेद १।१३१।६ में भी अर्थसंगति ठीक ठीक लग जावेगी। ऋग्वेद २।१६।२; ऋग्वेद ५।३१।८; ऋग्वेद ६।२०।११; ऋग्वेद ८।७।२६; ऋग्वेद ८।२३।१७ ऋग्वेद ६।८७।३; ऋग्वेद ६।६७।७; ऋग्वेद १०।२२।७ में उशना के इन स्वीकार किये गये अर्थों से प्रक्रियानुरोधेन अर्थसंगति लग जावेगी। ऋग्वेद १०।४०।७ में "उशना" पद कमनीय स्तुति के अर्थ में प्रयुक्त है। ऋग्वेद ५।३४।२ में "उशना" के "कामयमानः" और ऊपर दिये गये अर्थ भी घट सकते हैं। इन्द्र भी उशना काव्य है अतः इन्द्र के जितने अर्थ भिन्न भिन्न प्रक्रियावों में होंगे वे अर्थ उशना काव्य के भी हो सकेंगे।

ऊर्णावती—

इण्डेक्स के अनुसार लुडविग के मत में यह सिन्धु नदी की एक धारा है। परन्तु यह ग़लत है। ऋग्वेद १०।७५।८ में नदी प्रसंग में यह नदीसामान्य है, नदीविशेष नहीं। जिस नदी के किनारे ऊन पैदा होता हो उसका नाम ऊर्णावती है। कोई भी इस प्रकार वाली नदी हो सकती है जिसे ऊर्णावती कहा जावे। दूसरे यह सिन्धु का विशेषण भी हो सकता है। सिन्धु का अर्थ पूर्व दिखला चुके हैं। प्रथम प्रकरण में देखा जा सकता है।

ऋक्ष—

ऋक्ष एक संरक्षक का नाम है ऐसा इण्डेक्स कहती है। ऋग्वेद ८।६८।१५ में इसका वर्णन है और अगली ऋचा में इसके पुत्र आर्क्ष का वर्णन है। लुडविग के ऋग्वेदानुवाद में भी ऐसा ही वर्णित है।

परन्तु यह कल्पना भी निराधार है। चूंकि सायण ने इस मंत्र को ऋक्ष और अश्वमेध की दानस्तुति में माना है और ऐसा ही अर्थ भी किया है—इसलिए यह भ्रम पाश्चात्य विद्वानों को भी होगया। वस्तुतः यह ऋक्ष कोई व्यक्तिविशेष नहीं है, ऋक्ष पद का अर्थ नक्षत्र भी होता है। निरुक्त ३।२० इसमें प्रमाणभूत है। अतः ऋक्षमधीते वेद च आर्क्षः। अर्थात् जो ऋक्ष का अध्ययन करे अथवा उसे जाने वह आर्क्ष है। यास्क ने निरुक्त ४।३२ पर "ऋक्ष" का कण्टक अर्थ किया है। जो शत्रुओं के वास्ते कण्टक हो उसे ऋक्ष कहते हैं। उसका पुत्र आर्क्ष है। ऋच् स्तुत्यर्थक से ऋक्ष पद बन सकता है, जिसका अर्थ स्तावक वा स्तोता होगा। ऋक्ष का पुत्र आर्क्ष अर्थात् अधिक स्तुति करने वाला होगा। इस प्रकार नक्षत्रविद्याविद्, स्तोता, अथवा शत्रुविनाशक

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

राजा अर्थ को देने वाला यह आर्क्ष पद ठहरेगा। इसी प्रकार ऋक्ष पद का कण्टक, नक्षत्र, स्तावक आदि अर्थ है। इस दृष्टि से "ऋक्ष का सूनु" शत्रुनाशक राजा का पुत्र राजा, नक्षत्र का पुत्र नाक्षत्र प्रकाश, तथा स्तावक का पुत्र स्तोता होगा। आर्क्ष के भी लगभग सभी अर्थ प्रक्रियावश हो सकेंगे। इसी मंत्र में "इन्द्रोत" पद भी पड़ा है। इन्द्र से ऊत अर्थात् इन्द्र से रक्षित का नाम इन्द्रोत है। अथवा इन्द्र में ओत अर्थात् व्याप्त शक्ति का नाम इन्द्रोत है। प्रक्रियानुसार वायु में व्याप्त प्राणशक्ति, यजमान, भक्त आदि अर्थ इन्द्रोत के हो सकते हैं। तीसरा पद "अश्वमेध" आया है। "अश्वमेध" शतपथ [1] ६।४।२।१८ के अनुसार आदित्य का नाम है। शतपथ [2] १३।२।२।१ और [3] १३।१।६।३ के अनुसार राष्ट्र का नाम अश्वमेध है।

इस भाँति अश्वमेध के आदित्य, यजमान और राष्ट्र आदि अर्थ होते हैं। प्रक्रियानुसार इन का ग्रहण किया जा सकता है। अश्वमेधसम्बन्धी अथवा अश्वमेधकर्त्ता, अथवा अश्वमेध के पुत्र का नाम आश्वमेध होगा।

मंत्रसंगति अर्थ के साथ निम्न प्रकार की जा सकती है—

ऋजाविन्द्रोत आ ददे हरी ऋक्षस्य सूनवि।
आश्वमेधस्य रोहिता ॥ ऋ० ८।६८।१५

अर्थ—

इन्द्र में व्याप्त प्रणशक्ति में ऋजुगामी प्रोणोदानों को धारण करता हूँ, नक्षत्र-पुत्र=प्रकाश में हरणशील रक्त और श्वेत दो किरणों को धारण करता हूँ तथा आदित्यसम्बन्धी प्रकाश में लाल रंग के प्रातःकालिक और अस्तकालिक दोनों प्रकाशों को धारण करता हूँ। अर्थात् इन को जानता हूँ।

याज्ञिक प्रक्रिया में—

यजमान एवं परमेश्वर में संलग्न-भक्त में दो ऋजुगामी घोड़ों, शुभविनाशक राजा अथवा स्तोता राजा में दो तेज घोड़ों और अश्वमेध के कर्त्ता अथवा राष्ट्ररक्षक राजा में दो लाल घोड़ों को प्राप्त करता हूँ। अर्थात् इनसे इन घोड़ों का ग्रहण करता हूँ।

ऐसे ही अध्यात्म-प्रक्रिया में भी अर्थ लग सकेगा।

ऋग्वेद ८।६८।१६ वें मंत्र में आतिथिग्व आर्क्ष और आश्वमेध पद आये हैं। आतिथिग्व का अर्थ पूर्व "अतिथिग्व" पद का अर्थ करते समय कर दिया है। आर्क्ष का अर्थ भी पूर्व पंक्तियों में दे दिया है। आश्वमेध का अर्थ अत्यन्त यजनशील यजमान अथवा अश्वमेध का कर्त्ता एवं राष्ट्र रक्षक राजा होगा।

मंत्रार्थसंगति निम्न प्रकार होगी—

सुरथाँ आतिथिग्वे स्वभीशुरार्क्षे। आश्वमेधे सुपेशसः। ऋ० ८।६८।१६

१—असावादित्योऽश्वमेधः। श० ६।४।२।१८
२—यजमानो वा अश्वमेधः। श० १३।२।२।१
३—राष्ट्रं वा अश्वमेधः। श० १३।१।६।३

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अर्थ—

गतिशील वायुस्थ प्राणशक्ति में रमणीय प्राणों, नाक्षत्र प्रकाश में उत्तम किरणों और आदित्य तेज में उत्तम रूपों को प्राप्त करता अथवा जानता हूँ। यहाँ पर अतिथिग्व पद में आया "अतिथि" पद "अत सातत्य गमने" से बनाया जावेगा। जिस का अर्थ गति होगा। अभीशु का अर्थ किरणें होता है। पेशः निघण्टु ३।७ में रूप नाम में पठित है।

यज्ञप्रक्रिया में निम्न अर्थ होगा—

अतिथि की सेवा करने वाले राजा से उत्तम रथों से युक्त घोड़ों, स्तोता यजमान से उत्तम घोड़ों और राष्ट्ररक्षक एवं अश्वमेध यज्ञ कराने वाले राजा से अच्छे रूपों वाले सुन्दर घोड़ों को दान में प्राप्त करता हूँ।

आध्यात्मिक प्रक्रिया में भी इसी प्रकार अर्थान्तर से मंत्रार्थसंगति लगायी जा सकती है।

मंत्र १७ में "अतिथिग्व इद्रोत" पद आया है। यहाँ पर भी पूर्ववत् अर्थयोजना की जा सकेगी। यहाँ पर सायण ने जो अर्थ प्रकार दिखलाया है ठीक नहीं है। प्रतिज्ञा तो दो राजावों के दानस्तुति की करता है और आ जाती हैं तीन की दानस्तुतियाँ। पुनः इस को सिद्ध करने का वह व्यर्थ ही विफल प्रयास करता है।

ऋजीश्वन्—

ऋजीश्वन् ऋग्वेद में कई बार प्रयुक्त है।

परन्तु सदा ही अस्पष्ट रूप में है और मालूम पड़ता है। यह वैदिक इण्डेक्स का लेख है।

परन्तु यहाँ पर यह स्पष्ट किया जाता है कि ऋजीश्वन् पद ऋग्वेद में जिन स्थलों पर भी प्रयुक्त है बहुत ही स्पष्ट है। हाँ! वह किसी व्यक्ति के इतिहास को नहीं स्पष्ट करता। इसलिए इण्डेक्सकर्ता को भले ही अस्पष्ट लगे। ऋग्वेद १।५३।८ में "ऋजिश्वानम्" पद का प्रयोग है और वहाँ पर इन्द्र द्वारा मेघों के संहार समय में उसकी रक्षा का वर्णन है। ऋजिश्वा "ऋजु अश्नुते श्वयते वा ऋजिश्वान्" अर्थात् सरलगति को व्याप्त करने वाला अथवा सरलगति मनुष्य, राजा, यजमान, विद्वान् ऋजिश्वा है। शतपथ [1]१४।१।२।२२ में यजुः ३०।१० के हवाले के साथ सूर्य को "ऋजुः" कहा गया है। अतः ऋजु अर्थात् सूर्य को प्राप्त एवं सूर्य में व्याप्त प्रकाश ही ऋजिश्वा है। "ऋजू श्वानौ यस्य सः ऋजीश्वान्"—अर्थात् सरलगति रात्रिदिन वाले सूर्य को "ऋजीश्वा" कहा जा सकता है। अथवा सरल कुत्तों वाले व्यक्ति को भी ऋजीश्वान् कहा जा अथर्व ८।१।९ के अनुसार कौषीतकी[2] में शबल और श्याम नाम के दिन और रात्रि रूपी कुत्ते माने गये हैं। ये यम के कुत्ते हैं। यम नाम सूर्य का है और रात्रि और दिन उसके दो श्वान् हैं। श्वा शु यायी अर्थात् शीघ्रगामी है। रात्रि और दिन जल्दी व्यतीत होते रहते हैं। इस प्रकार "ऋजिश्वन्" के सूर्यप्रकाश, सूर्य, सरलगति मनुष्य, राजा, विद्वान्, यजमान अथवा सरल

१— असौ वै लोको ऋजुः सत्यꣳह्यृजुः सत्यमेष य एष सूर्यः तपति। श० १४।१।२।२२

२—अहव शबलो रात्रिः श्यामः—कौ० २।९

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कुत्तों का पालक मनुष्य अर्थ हो सकते हैं। यहाँ पर ऋग्वेद १।५१।५ में लिखा है कि "प्र ऋजिश्वानं दस्युहत्येष्वाविथ" पाठ पड़ा है। इसका अर्थ दैवत प्रक्रिया में यह होगा कि इन्द्र = वायु अथवा विद्यु त् मेघ के युद्धों में सूर्य के प्रकाश एवं सूर्य का बचाव करता है। आध्यात्मिक प्रक्रिया में अथ यह होगा—

हे परमेश्वर ! अथवा विद्वन् आप बुराइयों के साथ चलने वाले संग्राम में सरलगति स्तोता अथवा उपासक की रक्षा करते हो।

अधियाज्ञिक प्रक्रिया में निम्न अर्थ होगा।

हे इन्द्र ! महाराज ! आप चोर डाकुवों के युद्ध में विद्वान्, राजा अथवा यजमान अथवा कुत्तों के पालक की रक्षा करते हो। चोर डाकुवों से कुत्ते भौंक कर बचाते हैं अतः उनका पालन भी आवश्यक है।

ऋग्वेद १।५३।८; ऋ० १।१०१।१; ६।२०।७; ८।४९।१०; में ऋजिश्वन् पद के इस अर्थ के अनुसार मंत्रार्थसंगति लग गावेगी।

ऋग्वेद १०।९९।११ मेरे इस स्वीकृत अर्थ की और भी पुष्टि करता है। यहाँ पर "ऋजिश्वा" को औशिज कहा गया है। औशिज की व्याख्या कक्षीवान् के प्रकरण में कर दी गयी है। पूर्व प्रकरण में देखें। उशिग् पद कान्तिकर्मावश् धातु से बना है। उसका पुत्र औशिज है। अतः औशिज प्रकाशार्थ और ज्ञानार्थ दोनों को लिये हुये है और यह मेरे पूर्व किये गये "ऋजिश्वा" के अर्थ से पूरी संगति खा जाता है। यहाँ वेद मंत्र ने ही ऋजिश्वा को औशिज कह कर इस भाव को स्पष्ट कर दिया है। ऋग्वेद १०।१३८।३ मंत्र "ऋजिश्वा" के प्रकाशार्थक होने का और भी द्रढ़ीकरण करता है।

मंत्र निम्न प्रकार है—

वि सूर्यो मध्ये अमुचद्रथं दिवो विददासाय प्रतिमानार्यः।
दृढ़ानि पिप्रोरसुरस्य मायिन इन्द्रो व्यास्यच्चकृवाँ ऋजिश्विना॥

ऋ० १०।१३८।३

अर्थ—

सूर्य द्यु लोक के मध्यमे अपने रथ = किरणजाल को छोड़ता है। जब इन्द्र विद्यु त्=गमनशील होकर घेरने वाले मेघ के प्रतिकार को करने लगता है, मायावी जल को पिये हुये (अन्दर धारण किये हुये) असुर = मेघ के दृढ़ बलों को सूर्य प्रकाश से काटता हुआ बिखेर देता है।

ऋज्राश्व—

इण्डेक्स की दृष्टि में ऋज्राश्व वार्षागिरों में एक है। यह अम्बरीष, सुराधस्, सहदेव और भयमान के साथ ऋग्वेद में प्रयुक्त है। ऋग्वेद में अन्यत्र एक संग्राम में यह विजेता के रूप में प्रयुक्त है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इण्डेक्सकर्त्तावों को यहां पर भी भ्रम इस लिए हैं कि इन्होंने सायण का अनुकरण किया हैं। सायण ने ऋग्वेद १।१००।१६-१७ मंत्रों वाले सूक्त का ऋषि ऋज्राश्व आदि को माना है। इससे यह कल्पना खड़ी कर ली गयी है। ऋज्राश्व का साधारण अर्थ अम्बरीष का अर्थ करते समय कर दिया गया है। विशेष यहां पर कर दिया जाता है। ऋग्वेद १।१००।१७ में "वार्षागिराः" पद आया है। इसकी व्याख्या अम्बरीष की व्याख्या करते हुये कर दी है। "ऋज्राश्व का अर्थ है सरलगति से युक्त घोड़ों वाला। आधिदैवत पक्ष में ऋजुगामी किरणों वाला अर्थ होगा। आत्मपक्ष में सरल इन्द्रियों वाला अर्थ सकेगा। इस प्रकार ऋजुगामी घोड़ोंवाला राजा, सेनापति, विद्वान्, ऋजुगामी किरणों वाला सूर्य, ऋजु इन्द्रियों वाला ज्ञानी आदि इस शब्द के अर्थ निकलेंगे। परन्तु इनकी संगति प्रक्रियानुसार लगायी जावेगी। ऋग्वेद १।११७।१४ में "ऋज्रेभिः" "अश्वैः" पद प्रयुक्त हैं। यहाँ पर "गतिशील अर्थात् शीघ्रगामी घोड़ों से" यह अर्थ निकलेगा। सायण ने भी इस स्थल पर ऐसा ही अर्थ किया है। "ऋजु" धातु गत्यर्थक है। अतः "ऋजु" का अर्थ सरस-गामी, सुन्दरगति, अथवा शीघ्रगति होगा। ऋज्राश्व कोई व्यक्तिविशेष नहीं। ऋग्वेद १।११७।१६ में भी "ऋज्राश्व" पद आया है। यास्क ने इससे पूर्व के १६ वें मन्त्र की व्याख्या नि० ५।२१। पर की है। यहाँ पर प्राकृतिक कल्पित आख्यान दिखलाया है। यास्क ने नि० ५।२० पर चन्द्रमा को "वृक" कहा है। पुनः ऋग्वेद के १।११७।१६ का हवाला आदित्य के वृक कहे जाने के प्रमाण के रूप में दिया है। वह दिखलाना चाहता है कि चन्द्रमा और आदित्य दोनों ही "वृक" शब्द से दैवत प्रक्रिया में लिए जा सकते हैं। इसका वर्णन दूसरे प्रकरण में मैं कर चुका हूँ। यास्क ने पुनः लिखा है कि वृद्धवाशिनी अर्थात् शृगाली भी वृकी है। उसके प्रमाण में ऋग्वेद १।११७।१७ को उद्धृत किया है। इस मन्त्र में भी ऋज्राश्व पद है। यह सन्दर्भ यह बतलाता है कि यास्कानुसार यह यौगिक शब्द है। ऋग्वेद १।१००।१६–१७ मन्त्रों के अर्थ की संगति विविध प्रक्रियावों में पूर्वोक्त ऋज्राश्व पद के दिये गये अर्थों से लग जाती है। ऋग्वेद १।११७।१६–१७ में कल्पित आख्यानगर्भित दैवत अर्थ के प्रत्यक्ष भासित होते हुये भी याज्ञिक और अध्यात्म प्रक्रिया में अर्थ घट जावेंगे।

शतं मेषान्वृक्ये मामहानं तमः प्रणीतमशिवेन पित्रा।
आक्षी ऋज्राश्वे अश्विनावधत्तं ज्योतिरन्धाय चक्रथुर्विचक्षसे॥

ऋ० १।११७।१७

अर्थ—

सूर्य ने अपनी सैकड़ों किरणों को वृकी = चन्द्रमा की पत्नी रात्रि को सायंकाल में दे दिया। इस पर क्रुद्ध हुये पिता = द्यु लोक ने सर्वत्र अन्धकार फैलाकर उसे अन्धा कर दिया। प्रातः-काल में उषा के पूर्व होने वाले अरुण और श्वेत प्रकाश ने पुनः दर्शन की हेतुभूत शक्ति को जोड़ दिया और उसे देखने की साधन भूत किरणों से युक्त कर दिया। मेष पद मिष् दर्शनार्थक धातु से यास्क ने निरुक्त ३।१६ पर सिद्ध किया है। अतः इसी आधार पर यहाँ पर किरण अर्थ किया गया है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आधियाज्ञिक अर्थ—

तीव्रगति अश्वों वाला सेनापति जिस समय प्रजा के सैकड़ों लोगों को शत्रु सेना को दे देता है उस समय प्रजापालक राजा क्रुद्ध होकर उसे अधिकारहीन कर अन्धे के समान किंकर्तव्यविमूढ बना देता है। पुरोहित और मन्त्री पुनः उस सेनापति में विवेकशक्ति पैदा कर देते हैं और उसे पुनः कार्य करने में समर्थ बना देते हैं। अन्य प्रक्रिया में भी इसी प्रकार योजना की जा सकती है। ऋग्वेद १।११६।१६ और ऋग्वेद १।११७।१८ मन्त्रों की संगति भी इसी आधार पर लग जावेगी। अतः यहाँ पर विस्तारभय से इन का अर्थ नहीं दिया जा रहा है।

ऋणञ्चय—

वैदिक इण्डेक्स ऋग्वेद ५।३१।१२–१४ में आये ऋणञ्चय को "रुशमों" का राजा मानती है। परन्तु यह कल्पना भी सायण के विचारों की भूमिका से प्रसूत है। वास्तव में ऐसा नहीं। ऋणञ्चय का अर्थ है ऋणों का चयन करने वाला। पितृऋण, देवऋण और ऋषि ऋण नाम से तीन ऋण प्रत्येक गृहस्थ के ऊपर होते हैं। इन ऋणों को मानकर इनका अदा करने वाला गृहस्थ ऋणञ्चय है। यहाँ पर "रुशम" पद से भी किसी जनपद या व्यक्ति का नाम नहीं सिद्ध होता है। रुशम पद ज्वलनार्थक रुच् धातु से बना है। यास्क ने निरुक्त ६।१४ पर रुशत् पद की भी सिद्धि इसी प्रकार की है। इस प्रकार रङ्ग अथवा वर्ण और सुन्दर मनुष्य के लिए रुशम-शब्द का प्रयोग है। ऋणञ्चय ऋणों का पालन करने वाला गृहस्थ मनुष्य है, इस बात की सिद्धि मन्त्र से ही हो जाती है। क्योंकि ऋग्वेद ५।३०।१२ वें मन्त्र में ऋणञ्चय का विशेषण "नृणां नृतमस्य" आया है। इस का अर्थ है कि वह मनुष्यों में मनुष्यतम अर्थात् श्रेष्ठ मनुष्य है। "रुशम" पद कार्य करने वाले कार्यकर्त्तावों के अर्थ में भी प्रयुक्त हो सकता है। यह ऋग्वेद ५।३०।१२–१५ मन्त्रों में आया है। इन सभी मंत्रों की अर्थसंगति इस दिये गये अर्थ के आधार पर लग जावेगी।

एकद्यु :—

इण्डेक्स ने इसे कवि का नाम माना है। चूंकि इस सूक्त का ऋषि भी एकद्यु है अतः यह भ्रम हुआ है। वस्तुतः एकद्यु कोई व्यक्ति नहीं। "द्यौः" पद निघण्टु में (१।९) में अहर्नाम में पढ़ा गया है। इसलिए एक दिन वाले को एकद्यु कहा जावेगा। संन्यासी एवं विद्वान् अतिथि एक दिन ही एक स्थान पर निवास करता है अतः वह एकद्यु है। द्यौः पद जैमिनीयोपनिषद् ४।२२।११ में वाणी के लिए प्रयुक्त है। इसलिये एक वाक् वाले मनुष्य को एकद्यु कहा जाता है। जो एक बार कह दिया उस पर दृढ़ रहने वाला मनुष्य एकद्यु है। अर्थात् अमोघवाक् मनुष्य एकद्यु है। इस प्रकार एक दिन निवास करने वाला विद्वान् अतिथि अथवा अमोघवाक् मनुष्य एकद्यु है। इस अर्थ के अनुसार ऋग्वेद ८।८०।१० मंत्र की संगति लग जावेगी। आधिदैवत प्रक्रिया में एकमात्र प्रकाशमान द्यौ अर्थ लगेगा। आत्मा के साधन बुद्धि (महत्तत्त्व) का नाम भी द्यौः है। अतः आध्यात्मिक प्रक्रिया में एकमात्र प्रकाशिका बुद्धि अर्थ ग्रहण किया जा सकता है। यजुः २५।५४ में द्यौः को पूर्वचित्तिः कहा है। यह महत्तत्त्व का नाम है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ऐतिश—

ऐतिशप्रलाप का हवाला देकर वैदिक इण्डेक्स ने यहाँ पर ऐतिश के प्रलाप का जिक्र किया है। परन्तु यहाँ भी वह कोई व्यक्ति नहीं है। ऐतरेय ६।३२[1] में आयु को ऐतशप्रलाप कहा गया है।

और्व—

वैदिक इण्डेक्स कहती है कि यह उरु अथवा उर्व का वंशज है और ऋग्वेद ८।१०२।४ में भृगु से सम्बन्ध रखते हुये प्रयुक्त है। संभवतः यह स्वयं भृगु ही है। भृगु के सम्बन्ध में पूर्व लिखा जा चुका है। प्रथम प्रकरण और द्वितीय प्रकरण में देखें। उर्व्यां भवः और्वः—अर्थात् पृथ्वी में उत्पन्न और्व है। "उर्वी" पद निघण्टु १।१ में पृथ्वी अर्थ में पढ़ा गया है और ३।३० में द्यावापृथिवी अर्थ में पठित है। अतः पृथिवीस्थ एवं द्यावापृथिवीस्थ अग्नि और्व भृगु है। उरु निघण्टु ३।१ में बहु नाम में पढ़ा गया है। उसका पुत्र अत्यन्त महान् ही और्व है। इस प्रकार और्व भृगु का अर्थ महातपस्वी होगा। द्यावापृथिवी के ज्ञान को रखने वाले को भी और्व कहा जावेगा। इस प्रकार भूस्तरविद्या और खविद्या के वेत्ता को और्वभृगु कहा जा सकता है।

औलान—

इसकी व्याख्या देवापि के प्रसंग में कर दी गई है।

औशिज—

इसकी व्याख्या कक्षीवान् के प्रसंग में कर दीगई है। द्वितीय प्रकरण में देखें।

कक्षीवान्—

वैदिक इण्डैक्स के अनुसार कक्षीवान् ऋग्वेद में बारबार प्रयुक्त हुआ है और यह एक ऋषि का नाम है। कभी कभी इस का प्रयोग अन्यत्र भी हुआ है। यह औरत नौकरानी उशिज का वंशज मालूम पड़ता है। चूँकि उसकी उपाधि पज्रीय है अतः वह पज्र परिवार का मालूम पड़ता है। उसके वंशज लोग पज्र कहे जाते हैं। ऋग्वेद १।१२६ सूक्त में वह उस राजकुमार स्वनयभव्य की प्रशंसा करता है जो कि सिन्धु पर रहता था और जिसने कक्षीवान् को भव्य दान दिया था। इत्यादि।

यहाँ पर भी इण्डेक्स का लेख ठीक नहीं है कक्षीवान् कोई व्यक्तिविशेष नहीं। इस पर अधिक प्रकाश मैंने द्वितीय प्रकरण में निरुक्त आदि प्रमाणों से डाला है। यहाँ पर फिर भी थोड़ा सा विचार किया जाता है। कक्षीवान् का अर्थ कक्ष्यवान् है। प्रत्येक मनुष्य कक्षा = कुक्षि से पैदा होता है अतः वह कक्षीवान् है। कक्षा के अर्थ हाथी घोड़े हैं, ऐसा स्कन्दस्वामी ने माना है। पूर्व यह दिखलाया जा चुका है। अतः हाथी घोड़ों वाला कक्षीवान् है। मनुष्यमात्र कक्षीवान् है।

१—आयुर्वा ऐतशप्रलापः। ऐ० ६।३२

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हाथी घोड़ों वाला कक्षीवान् है। पहले बतलाया जा चुका है कि ऋग्वेद ४।२६।१ के अनुसार इन्द्र कक्षीवान् है। सायण ने यहाँ पर खींच तान करके अपने मत की पुष्टि करने का प्रयत्न तो बहुत किया है परन्तु वह सफल नहीं है। वह कक्षीवान् को व्यक्तिविशेष मान कर दीर्घतमा द्वारा अंगदेश राजा के स्वनय की दासी उशिज् में उत्पन्न मानता है। उसकी यह मान्यता यहाँ पर खण्डित हो जाती है। यदि कक्षीवान् ऐसा ही व्यक्तिविशेष हो तो इन्द्र फिर क्यों कर अपने को कक्षीवान् कहेगा। विचित्र बात तो यह है कि ऋग्वेद ४।२६ सूक्त में इन्द्र और वामदेव दोनों की उक्ति का वर्णन सायण मानता है। प्रथम मंत्र में वह अर्थ भी ऐसा ही करता है। परन्तु इन्द्र और वामदेव अपने को कक्षीवान् क्यों कहेंगे और हो भी कैसे सकते हैं यदि कक्षीवान् व्यक्तिविशेष का नाम है। प्रकाश का पुत्र होने से सूर्य भी कक्षीवान् है। क्योंकि वह आकाश में वायु की परिधियों (कक्षावों) से युक्त है। वामदेव का अर्थ जीवात्मा है। वह कुक्षि में जन्म धारण करता ही है। अतः वह अपने को कक्षीवान् कह सकता है। परन्तु यह सब उस पद को यौगिक मानने पर ही हो सकता है।

उशिज् दासी का नाम है और उससे उत्पन्न कक्षीवान् औशिज है—यह सायण की कल्पना भी बे सिर पैर की है। यास्क ने उशिग् पद वश् कान्त्यर्थक धातु से बनाया है। "उशिजः" निघण्टु ३।१५ में मेधाविनाम में पठित है। अतः मेधावी का पुत्र मेधावान् ही औशिज है। कोई भी विद्वान् औशिज कहा जा सकता है। कक्षीवान् ही औशिज है—यह कल्पना ग़लत है। सायण ने महाभारत में वर्णित कपोलकल्पित इतिहास की शरण ले वेद के विज्ञान को दूषित किया। पाश्चात्यों ने भी यद्यपि सायण का अनुकरण किया परन्तु सायण की त्रुटि भी उन्हें मालूम होगयी, ऐसा ज्ञात होता है। वैदिक इण्डेक्स ने यही कारण मालूम पड़ता है कि कक्षीवान् को औशिज मानते हुये भी ऋग्वेद १।१८।१ और १।११२।११ में इसे पृथक् नाम माना है। सायण ने १।१८।१ पर भी कक्षीवान् अर्थ लिया है। ऋग्वेद १।१२२।१-२ मंत्रों में "कक्षीवान्" विशेष्य के न होने पर भी सूक्त का द्रष्टा ऋषि कक्षीवान् होने से "औशिज" पदोंका अर्थ भी उसने कक्षीवान् किया है। जब कक्षीवान् से भिन्नार्थक भी औशिज हैं तो फिर सर्वत्र कक्षीवान् अर्थ उसका कैसे हो सकेगा। प्रमाण के रूप में ऋग्वेद १०।९९।११ वें मंत्र को लिया जा सकता है। यहां पर "औशिज" पद ऋजिश्वा का विशेषण है। यहाँ पर सायण ने "उशिजः पुत्रः ऋजिश्वा" अर्थ किया है। यदि कक्षीवान् ही औशिज है तो फिर ऋजिश्वा को औशिज कैसे कहा जा सकता हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद १।११२।११में "औशिजाय वणिजे दीर्घश्रवसे" पद पड़े हैं। यहाँ पर सायण व्यर्थ की कल्पना करता है। वह कहता है कि उशिज् नाम की दीर्घतमा की पत्नी है। उसका पुत्र दीर्घश्रवा है। इसके लिए प्रमाण कुछ नहीं दिया। यदि उशिक् का पुत्र केवल कक्षीवान् है तो फिर यहां दीर्घश्रवा औशिज कैसे हो गया। वह दीर्घतमा का पुत्र है—यह कहाँ से कल्पित कर लिया। इसलिये "उशिज्" मेधावी है और उसका पुत्र "औशिज" मेधावी एवं विद्वान् है। यही अर्थ मानना चाहिए किसी भी विद्वान् मेधावी के लिए यह प्रयुक्त हो सकता है। यास्क की बात को न ग्रहण कर सायण ने पदे पदे अपनी अनर्गल कल्पना कर डाली है। अब कक्षीवान् पज्र परिवार का है—इस का भी थोड़ा सा विचार कर लेना चाहिए। अंगिरस् पज्र हैं—यह मानने पर कक्षीवान् सङ्गित

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पदार्थ ठहरता है और सामान्य नाम ठहरता है—व्यक्तिविशेष नहीं। क्योंकि जब पज्र् (अंगिरस्) लोग ही व्यक्तिविशेष नहीं तो फिर कक्षीवान् कैसे व्यक्तिविशेष ठहरेगा। "अंगिरस्" के प्रसंग में विशेष वर्णन कर दिया है। पज्र पद का प्रयोग एक वचन और बहुवचन दोनों में मिलता है। ऋग्वेद १।१२२।७ में "पज्रे" पद एकवचन में है। सायण ने यहाँ पर "कक्षीवति" सप्तमी में अर्थ किया है। ऋग्वेद १।१२२।८ में "पज्रेभ्य" पद आया है। इसका अर्थ सायण ने अंगिरस् गोत्रोत्पन्न कक्षीवान् लोग किया है। ऋग्वेद १।११७।१० में "पज्रासः" पद आया है। यहाँ पर बहुवचन में यह प्रयोग है। सायण ने यहां पर "पज्रासः" का अर्थ अंगिरसां गोत्रोत्पन्ना यजमानाः किया है। अत्र सोचना चाहिए कि यदि कक्षीवान् पज्र है और वह व्यक्तिविशेष है तो फिर वह बहुवचन में कैसे प्रयुक्त हो सकेगा। यदि वह बहुवचन में प्रयुक्त है तो यह सिद्ध है कि कक्षीवान् कई हैं—एक नहीं। परन्तु सारे पज्र कक्षीवान् लोग हैं—यह कैसे सिद्ध हुआ। क्या सभी पज्रों को कक्षीवान् कहा जा सकता है? यदि एक से अधिक कक्षीवान् हैं तो बताना चाहिए कि वे व्यक्तिविशेष कैसे और दीर्घतमा तथा उशिज् दासी के पुत्र कैसे हैं। यदि सायण की इतिहास सम्बन्धी कल्पना ठीक है तो फिर वह "पज्रासः" का अर्थ अंगिरस् गोत्रोत्पन्न यजमान क्यों करता है। इन बातों से यह सिद्ध है कि पज्र व्यक्तिविशेष नहीं। पज्र भी यजमान आदि अनेक अर्थों का वाचक पद हैं। यह किसी के भी विशेषण रूप में प्रयुक्त हो सकता है। केवल कक्षीवान् को ही पज्र कहा जा सके—यह ग़लत धारणा हैं।

यास्क ने निरुक्त ५।२२ पर ऋग्वेद ६।५६।४ मंत्र में आये "पज्रहोषिणी" पद की व्याख्या की है। उसने यहाँ पर पज्रहोषिणौ का अर्थ प्रार्जितहोषिणौ अर्थात् प्रभूत यागवाले किया है। सायण ने भी यहां पज्रः प्रार्जितः प्रसिद्धो होषो घोषः स्तोत्रं ययोस्तादृशौ—अर्थात् अधिक प्रसिद्ध स्तोत्र रूप होष है जिनके लिए ऐसे—अर्थ किया है। यहां पर अंगिरस् गोत्रोत्पन्न कक्षीवान् को वह कैसे भूल गया—यह समझ में नहीं आता। इसलिए कहना पड़ेगा कि सायण ने व्यर्थ की बहुत सी कल्पनायें करके वेद के महत्व को बिगाड़ा है।

अस्तु, कक्षीवान् का अर्थ है मनुष्य, सूर्य, इन्द्र अथवा हस्ती और अश्वों वाला। इस अर्थ के अनुसार समस्त मन्त्रों की अर्थसंगति लगायी जा सकती है। ऋग्वेद १।१८।१ की संगति निरुक्त में लगा दी गयी है। ऋग्वेद १।११७।६ में "पज्रियेण कक्षीवता" पद है। यहाँ पर "प्रार्जित मनुष्य अथवा ऊपर दिखलाया गया यजमान, हस्त्याश्वयुक्त|मनुष्य अर्थ घट जावेगा। प्रक्रियावश दूसरे अर्थ भी घट सकेंगे। ऋग्वेद १।१२६।२ में कक्षीवान् का अर्थ ऐसा ही घटेगा। पुनः ऋ० १।१२६।३ में "स्वनय" का अर्थ होगा अपनी नीति चलाने वाला मनुष्य अथवा राजा। अथवा अपनी नीति एवं व्यवहार का नाम स्वनय है। "वधूमन्तः" का अर्थ है वहनशील वस्तुवों से युक्त। कक्षीवान् का अर्थ ऊपर दिया हुआ ही लगेगा। ऋग्वेद १।१२६।४ में भी इसी प्रकार कक्षीवान् की अर्थसंगति लग जावेगी। परन्तु १।१२६।४–५ में आये "पज्राः" पद का अर्थ "यजमान" आदि करना होगा। ऋग्वेद ८।६।१ में कक्षीवान् का अर्थ पूर्ववत् है। द्व्यश्व, दीर्घतमा और वैन्य—यजमान एवं विद्वान् अर्थ को बताने वाले हैं। यहाँ पर "ऋषि" विशेषण इनके विद्वान् होने के भाव को और भी स्पष्ट कर देता है।

ऋग्वेद ६।७४।८ की भी अर्थसंगति ऊपर दिये गये अर्थ से घट जावेगी। ऋग्वेद १०।२५।१० की संगति पूर्वोक्त अर्थ के आधार पर लग जावेगी। ऋग्वेद १०।६१।१६ में भी अर्थ संगति

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पूर्वोक्त अर्थ के आधार पर घटेगी। ऋग्वेद १०।१४३।१ में अश्विनियों द्वारा कक्षीवान् को रथ की उपमा के साथ सदा नया करना लिखा है। इसका तात्पर्य यह है कि गुरु और उपदेशक सदा मनुष्य की बुद्धि को नवीन करते रहें जिससे वह नया होता रहे।

दो मन्त्र जिनकी अर्थसंगति कठिन है, यहाँ पर अर्थ के साथ दिये जाते हैं।

अददा अर्भां महते वचस्यवे कक्षीवते वृचयामिन्द्र सुन्वते।
मेनाभवो वृषणश्वस्य सुक्रतो विश्वेत्ता ते सवनेषु प्रवाच्या॥
ऋ० १।५१।१३

१—अर्थ—

हे इन्द्र! (विद्वन्) आप स्तुति करने वाले, यज्ञकर्ता मनुष्य के लिए विश्लेषण-योग्य अर्भा = क्रिया एवं बुद्धि को प्रदान करते हैं। हे सुक्रतो! (उत्तमकर्मशालिन्) आप हवि और घी की यज्ञ में वर्षा करने वाले यजमान की वाणी होते हो। यज्ञों में आपकी ये सारी क्रियायें प्रशंसा के योग्य हैं। यज्ञ में यजमान का ऋत्विग् बनकर विद्वान् उसकी वाणी ही बनता है। निघण्टु १।११ में मेना वाणी नाम में पठित है। तैत्तिरीय ३।६।१७।४–५ में यजमान को अश्व कहा गया है। यथा—यजमानो वा अश्वः। तै० ३।६।१७।४–५।

२—अर्थ—

इन्द्र = विद्युत् सब की प्रशंसा के पात्र, अन्न आदि को पैदा करने के कारणभूत, महान् सूर्य के लिए छिन्न भिन्न करने वाली क्रिया को प्रदान करती हैं। अनेक कर्मों को सिद्ध करने वाली वह वर्षा के कारणभूत विजातीय तेज एवं वज्र की वाणी का रूप धारण करती है। उसकी समस्त क्रियायें शिक्षा के साधन भूत सवनों में वर्णनीय हैं। शतपथ १३।१।२।६ में "वज्रोऽश्वः" वज्र को अश्व कहा गया है। श० ६।१३।३।२२ में "अग्निरेष यदश्वः" अग्नि को अश्व कहा गया है।

युवं नरा स्तुवते पज्रियाय कक्षीवते अरदतं पुरन्धिम्।
कारोतराच्छफादश्वस्य वृष्णः शतं कुम्भाँ असिञ्चतं सुरायाः॥
ऋ० १।११६।७

अर्थ—

१—हे आचार्य और पुरोहित! आप लोग नेता हैं और स्तावक यजनशील मनुष्य को बुद्धि प्रदान करते हैं। यज्ञ में हवि आदि की अग्नि में वर्षा करने वाले यजमान के शफाकार (खुर के आकार वाले) पात्र से ओषधि के रस अथवा अन्न के सैकड़ों घड़ों को लोगों को प्रदान करते हो।

२—शरीर को वहन करने वाले प्राणापान, क्रियाशील (पज्रियाय—में पज्र शब्द पद् धातु से बना है, ऐसा ग्रहणकर) स्तवनशील मनुष्य को बुद्धि (बाह्यज्ञान) एवं शरीर की धारक शक्ति को प्रदान करते हैं। (पुर नाम शरीर का है और उसकी धारक शक्ति को पुरन्धि कहा जाता है) तथा शक्तिशाली शरीर के शफाकार मुख कूप से अन्नों के सैंकड़ों घड़ों का जाठराग्नि को सिंचन कर देते हैं। जीवन में जितना भी खावें पचा देते हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

३—प्राण और उदान जलों के वाहक हैं और अग्निपुंजों से उत्पन्न प्रशंनीय सूर्य के लिए विविध वस्तुवों एवं लोकों के धारण की शक्ति प्रदान करते हैं। वर्षणशील तेज के शफाकार कारोतर=कूप (अन्तरिक्ष) से जल के सैकड़ों घड़ों को सिक्त करते हैं। अथवा कूप से सैकड़ों जलों के घड़ों के समान वर्षक तेज से सैकड़ों घड़े जल का सिञ्चन करते हैं। अश्विनी प्राणापान का नाम है और प्राणोदान का भी। पहले प्रकरण में यह दिखलाया गया है। पुरन्धि पद नाम में निघण्टु ४।३ में पठित है अतः अनेकार्थक हैं। कारोतर पद निघण्टु ३।२३ में कूप नाम में पठित है। सुरा निघण्टु १।१२ में जल नाम में पठित है। तैत्तिरीय १।३।३।५ में "अन्नं सुरा" अन्न को सुरा कहा गया है। शत० १२।८।१।४ में जल और ओषधि के रस को सुरा कहा गया है।

कण्व—

वैदिक इण्डेक्स के अनुसार कण्व एक प्राचीन ऋषि का नाम है। ऋग्वेद और बाद के साहित्य में बार बार इसका वर्णन है। इसके पुत्र और वंशजों का भी बहुधा वर्णन है। विशेषकर ऋग्वेद के ८ वें मण्डल में। इस मण्डल और प्रथम मण्डल के ये एक भाग के निर्माता हैं और यह इनके परिवार से सम्बद्ध है। इसका एक वंशज भी एक वचन में अकेला प्रयुक्त है अथवा अपत्यार्थक कण्व नार्षद के रूप में भी प्रयोग पाया जाता है। इसके अतिरिक्त कण्वाः सौश्रवासः के रूप में भी तैत्तिरीय, काठक और मैत्रायिणी आदि में प्रयोग पाया जाता है। कण्व के परिवार का सम्बन्ध अत्रि के परिवार से पाया जाता है। लेकिन इस का कोई विशेष महत्व नहीं दिखलायी पड़ता है। अथर्व वेद के एक प्रकरण में (अथर्व ११।२५ सूक्त) निश्चित वे शत्रुता के साथ वर्णित पाये जाते हैं।

वैदिक इण्डेक्स के कर्त्तावों की वैदिक-साहित्यानभिज्ञता के कारण ऐसी दृष्टि बन गयी है। कुछ सूक्तों का ऋषि "कण्व" देखकर उन्होंने कल्पना कर ली कि यह कोई व्यक्तिविशेष है। बहुवचन में प्रयोग और अपत्यार्थ में प्रयोग देखकर कण्व के वंशजों और परिवार की भी धारणा इन्होंने गढ़ ली। इसमें बहुत कुछ दोष सायण का है कि जिसने वेद के इस अत्यन्त प्रसिद्ध शब्द का अर्थ न समझकर इसे व्यक्तिवाचक पद समझा। तथा इसे एक ऋषि का नाम मान लिया। वस्तुतः वेद में कण्व कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। निघण्टु ३।१५ में "कण्व" पद मेधाविनाम में पठित है। इससे इसका अर्थ मेधावी है—यह सुतराम् स्पष्ट है। परन्तु इन इण्डेक्सकर्त्तावों को इस का पता नहीं था। इन्हें तो ओल्डेनवर्ग, हिलेन्त्रेड्थ, वर्गोजीन, तथा लुडविग जैसे लोगों के विचारों पर अपनी सम्मति बनानी थी। इन्हें इतना भी नहीं ज्ञात हो सका कि ये ओल्डनवर्ग आदि स्वयं भी वेदानभिज्ञ हैं। कण्व पद मेधावी के अर्थ में वेदों में प्रयुक्त है और जितने वेदसम्बन्धी स्थल वैदिक इण्डेक्स ने उद्धृत किये हैं सभी स्थलों पर यह अर्थ घटेगा। वेदों में सामान्य शब्द से भी अपत्य वाचक प्रत्यय होते हैं। साथ ही इनमें पुत्रादि का व्यवहार भी पाया जाता है। इसको देखकर पुत्र और वंश आदि की कल्पना खड़ी करना वेदानभिज्ञता का द्योतक है। पूर्व प्रकरणों में मैं इस विषय पर प्रकाश डाल चुका हूँ। काण्व, कण्वायन, कण्व के पुत्र, और कण्व के सूनु आदि प्रयोग इसी प्रकार के हैं। कण्ववत् प्रयोग कण्व के सदृश अर्थ को देने वाला है। कण्वासः अथवा कण्वाः आदि बहुवचनान्त प्रयोग इस बात को सिद्ध करते हैं कि कण्व कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। ऋग्वेद १।३६।८, १०।११, १७।१९; ऋग्वेद १।३९।७,९; ऋग्वेद १।४७।५; ऋग्वेद १।११२।५; ऋग्वेद

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

१।११८।७; ऋग्वेद १।१३६।६; ऋग्वेद ५।४१।४; ऋग्वेद ८।५।२३,२५; ऋग्वेद १०।११५।५; ऋग्वेद १।१५०।५ अथर्व ४।३७।१; अथर्व ७।१५।१; अथर्व १८।३।१५ तथा यजुर्वेद १७।७४ आदि स्थलों में सर्वत्र कण्व का प्रयोग मेधावी अर्थ में ही है ।

कण्व के व्यक्तिविशेष न होने का एक और भी प्रमाण यह है कि यदि यह व्यक्तिवाचक पद होता तो इसमें आतिशायिक "तमप" प्रत्यय न प्रयुक्त होता । परन्तु ऋग्वेद १।४८।४ में "कण्व ऐषां कण्वतमः" पाठ प्रयुक्त है । यहाँ पर कण्व इनमें कण्वतम है—यह कथन ही बतलाता है कि यह व्यक्ति नहीं । ऋग्वेद १०।११५।५ में अग्नि को "कण्वतमः कण्वसखा" कहा गया है । यह तभी हो सकता है जब उसे यौगिक और सामान्य पद माना जावे । ऋग्वेद ५।४१।४ में त्रित का विशेषण "कण्वहोता" पद आया है । यह तभी हो सकता है जब कण्व को व्यक्तिविशेष न माना जावे ।

ऋग्वेद ८।६।११; ऋग्वेद ८।५।२।८; अथर्व २।१८।३ में "कण्ववत्" का प्रयोग "मेधावी के समान" अर्थ को देने वाला है । ऋग्वेद ८।२।२२ में "कण्वमन्तम्" पद "मेधावी से युक्त" अर्थ में प्रयुक्त है ।

"कण्वाः" और "कण्वासः" बहुवचनान्त पदों का प्रयोग भी यह सिद्ध करता है कि कण्व व्यक्तिविशेष नहीं । ऋग्वेद १।१४।२ में कण्वाः; ऋग्वेद १।४१।५ में कण्वासः; ऋग्वेद १।३७।१ में कण्वाः; ऋग्वेद १।३७।१४ में कण्वेषु' ऋग्वेद १।४४।८ में कण्वासः; ऋग्वेद १।४६।७ में कण्वासः; ऋग्वेद १।४७।२ में कण्वासः, ऋग्वेद १।४७।४ में कण्वासः, ऋ० १।४७।१० में कण्वानाम्, ऋ० १।४९।४ में कण्वाः, ऋ० ८।२।१६ में कण्वाः, ऋ० ८।३।१६ में कण्वाः, ऋ० ८.४।२ में कण्वासः, ऋ० ८।४।३ में कण्वेषु ऋ० ८।५।४ में कण्वासः, ऋ० ८।६।३ में कण्वाः, ऋ० ८।६।२१ में कण्वाः, ऋ० ८।६।३१ कण्वासः; ऋ० ८.६।३४ में कण्वाः, ऋ० ८।६।४३ में कण्वाः ऋ० ८।७।३२ में कण्वासः ऋ० ८।८।३ में कण्वानाम् , ऋ० ८.६।१४ कण्वेषु ऋ० ८।३२।१ में कण्वाः; ऋ० ८।३३।३ में कण्वेभिः, तथा ऋ० ८।३४।४ में कण्वाः प्रयोग हैं ।

"प्रस्कण्व" पद की व्याख्या निरुक्त ३।१७ में यास्क ने "कण्वस्य पुत्रः कण्वप्रभवो यथा प्राग्रम् की है । अर्थात कण्व का पुत्र अत्यन्त मेधावी ही प्रस्कण्व है । इसी प्रकार कण्वस्य पुत्रः कण्वस्य सूनवः, काण्व और काण्वायन के भी अत्यन्त मेधावी ही अर्थ होगे । ऋग्वेद १।४५।५ में कण्वस्य सूनवः; पदों का प्रयोग है । ऋग्वेद ८।८।४ में "कण्वस्य पुत्रः" का प्रयोग है । पुनः ऋ० ८।८।८ में भी "कण्वस्य पुत्रः" का प्रयोग है । ऋग्वेद ८.५५।४ में काण्वायनाः प्रयोग है । ऋग्वेद ८।१।८, ऋ० ८।२।४०; ८।४।२०, ८।७।१९; ८।९।३; ८।९।९ तथा ८।१०।२ में काण्वः पद प्रयुक्त हुये हैं ।

ऋग्वेद १।११७।८ में कण्व और नार्षद शब्द पृथक् पृथक् प्रयुक्त है । नार्षद का कण्व से कोई सम्बन्ध नहीं । नरः सीदन्ति आस्मिन्निति "नृषद" यज्ञः तस्य पुत्रः कर्त्ता वा नार्षदो यजमानः । अर्थात् मनुष्य इसमें बैठते हैं अतः यज्ञ का नाम नृषद् है । नृषद् का कर्त्ता नार्षद यजमान है ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ऋग्वेद १।३६।११ में "मेध्यातिथिः" पद भी कण्व के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। इस का अर्थ है यागयोग्य अतिथि है जिसके वह मेध्यातिथि है। अतः अतिथियों की पूजा करने वाला मेधावी—ही इसका अर्थ है।

अत्रि के साथ कण्व पद ऋ० १।१३९।९ में तथा ऋ० १०।१५१।५ में आया है। परन्तु यहाँ पर अन्यथा कल्पना का कोई स्थान नहीं। यहाँ पर मनु, पूर्व अंगिरा, मनु भारद्वाज, गविष्ठिर, त्रसदस्यु आदि पद भी पड़े हैं। ये सभी यौगिक हैं। अत्रि भी कोई व्यक्तिविशेष नहीं। अत्रि की व्याख्या पहले प्रकरणों में आ चुकी है। अतः चारों वेदों में जहाँ पर भी कण्व पद प्रयुक्त है, मेधावी अर्थ को लेकर ही प्रयुक्त है। अथर्व एवं यजुः के जो उदाहरण वैदिक इण्डेक्स में दिये गये हैं वहाँ पर भी ऐसा ही अर्थ है।

कमद्यु—

इण्डेक्स का कथन है कि यह विमद की पत्नी के रूप में एक वार ऋग्वेद में प्रयुक्त दिखलायी पड़ती है। यह पुरुमित्र की योषा, निस्सन्देह उसकी लड़की ज्ञात होती है। यह विमद के साथ अन्यत्र भी वर्णित है। मालूम पड़ता है कि विमद ने इसे अपनी पत्नी के रूप में इसके पिता की इच्छा के विरुद्ध ग्रहण किया था।

यह कल्पना भी सायण की थोथी भित्ति पर आधारित है। सायण ने इस पर एक इतिहास खड़ा कर लिया है अतः वैदिक इण्डेक्स के रचयितावों को भी यह भ्रम हुआ। विमद कोई व्यक्ति नहीं है। विगत मद वाले को विमद कहा जाता है। अथवा विशेष हर्ष वाले को विमद कहा जाता है। इसी प्रकार कमद्यु भी कोई व्यक्तिवाचक पद नहीं। यह भी सामान्य पद है। केन मादयति सुखयति हर्षयति कमद्युः। सुख से आनन्दित करने वाले को कमद्यु कहा जाता है। अथवा के सुखे माद्युति इति कमद्युः अर्थात् सुख में हर्षित। क नाम प्रजापति का भी है। प्रजापति में प्रसन्न रहने वाली को कमद्यु कहते हैं। कम् प्रजापतिम् मदत्यर्चति इति कमद्युः। यह भी हो सकता है।

इस प्रकार मंत्र का अर्थ निम्न प्रकार होगा—

भुज्युमंहसः पिपृथो निरश्विना श्यावं पुत्रं वध्रिमत्या अजिन्वतम्।
कमद्युवं विमदायोहथुर्युवं विष्णाप्वं विश्वकायाव सृजथ ॥
ऋ० १०।६५।१२

१—अर्थ—

हे आचार्य और पुरोहित! आप भोगसामग्री को अथवा भुज्यु = यज्ञ को विनष्ट होने अथवा बुराई से बँचाते हो। आप वध्रिमति = जितेन्द्रिया के पुत्र को श्याव=ज्ञानयुक्त बनाते हो। (जिन्त्वर्गितिकर्मा नि० २।१४)। मदरहित अथवा विशेष हर्ष वाले युवा ब्रह्मचारी को सुख से हर्षित, अथवा परमात्मा की स्तुति करने वाली स्त्री प्राप्त कराते हो। तथा विश्वकाय = विशेष ज्ञान वाले विद्यार्थी के लिए पवित्रता अथवा शुभ्रज्ञान अथवा विष्णु = यज्ञ को व्याप्त करने वाले कर्म देव यज्ञादि देते हो। ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थ में जाने के समय आचार्य लोग गुणकर्म से कन्या का चुनाव कर ब्रह्मचारी को प्रदान करते हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सायण ने ८।८७।३ पर विष्णवादीन् कर्मणा व्याप्नोति विष्णापूः ऐसा अर्थ किया है ।

२—अर्थ—

सूर्य और चन्द्रमा जल को विनाश से बँचाते है। वायु के बन्धनों से युक्त अन्तरिक्ष के पुत्र प्रकाश को गतिमान करते हैं । विशेष हर्ष के साधन वायु को जलसंचारिणी शक्ति प्रदान करते हैं। तथा विश्व के सुख के लिये पवित्रता और शुद्धता देते हैं । 'भुज्युः' को (यजु० १८।४२ के अनुसार) शतपथ ९।४।१।११ में यज्ञ कहा गया है । यज्ञो वै भुज्युर्यज्ञो हि सर्वाणि भूतानि भुनक्ति । तुग्र्या निघण्टु १।१२ में जल का नाम है। तुग्र्या का पुत्र तौग्र्य ही भुज्य है अतः वह जल है ।

सायण आदि इस को व्यक्तिगत इतिहास में जोड़ते हुये इसके साथ ऋग्वेद १।११७।२० को सम्बद्ध करते हैं । परन्तु यह उनका भ्रममात्र है । मन्त्र और उसकी अर्थसंगति निम्न प्रकार है—

अधेनुं दस्रा स्तर्यं विषक्तामपिन्वतं शयवे अश्विना गाम् ।
युवं शचीभिर्विमदाय जायां न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषाम् ॥

ऋ० १।११७।२०

१—अर्थ—

अश्विनी = रात्रिकाल का सन्नाटा और तमोभाग पृथ्वी पर ओषधियों को ओस आदि प्रदान करते हैं। (दस्रौ) ये सोने वाले (शयवे) मनुष्य के लिए (गाम्) पृथ्वी को अन्धकाराच्छादित, सान्द्र और (अधेनु) शब्द रहित निस्तब्ध कर देते हैं। ये ही अपने कर्मों से (पुरुमित्र) सूर्य की (योषा) पुत्री सायंतनी उषा को विमद = विशेष हर्ष के साधन प्रातःकालिक प्रकाश की जाया के रूप में प्रदान करते हैं। धेनु पद निघण्टु १।११ में वाणी अर्थ में पढ़ा गया है। अतः "अधेनु" का अर्थ निस्तब्ध है। अश्वनी का अर्थ पूर्व द्वितीय प्रकरण में देखे। "शयु" का अर्थ शयन करने वाला है। बहुतों का मित्र पुरुमित्र है और वह सूर्य है।

२—अर्थ –

हे आचार्य-पुरोहित ! आप लोग अर्थों को दोहन करने वाली आलसी की बन्ध्या वाणी को भी अर्थ से संसक्त एवं अर्थयुक्त बना देते हैं। आप अपने प्रज्ञा, कर्म, और वाणी से सर्वमित्र आचार्य की अग्नि को ब्रह्मचर्यव्रत पूर्ण कर गृहस्थसुख चाहने वाले ब्रह्मचारी स्नातक (विमद) के लिये (जाया) गार्हपत्य अग्नि के रूप में ले जाते हैं। अर्थात् ब्रह्मचर्य पूर्ण किये विद्यार्थी के लिए गृहस्थाश्रम प्रदान करते हैं । अथवा पुरुमित्र=परमेश्वर की वाणी (योषा) को (विमद) मदरहित ब्रह्मचारी के लिए (जाया) फल देनेवाली अर्थात् सर्वार्थों की प्रकाशिका बना देते हो। शची पद निघण्टु १।११; २।१; और ३।९ में क्रमशः वाणी, कर्म, और प्रज्ञा नाम में पठित है। "योषा वा अग्निः" शतपथ १४।९।१।१६ में योषा अग्नि को कहा गया है । पुनः शतपथ १।४।४।४ में वाक् को योषा कहा गया है । योषा हि वाक्। ऐतरेय ८।२४ में (जाया) गार्हत्यः (अग्निः) जाया गार्हत्य अग्नि को कहा गया है। पुरुमित्र का अर्थ है सबका मित्र अथवा सभी जिसके मित्र हों । परमेश्वर और आचार्य अर्थ प्रक्रियानुसार लिये जा सकते हैं। विमद का अर्थ विशिष्टहर्ष वाला

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अथवा विगतगर्व है। यहाँ पर पुरुमित्र को व्यक्तिविशेष मानकर उसकी कन्या का विमद से सम्बन्ध कराने की कल्पना निराधार और अनर्गल है।

सायण आदि ने अपनी कल्पना को साधार बनाने के लिए ऋग्वेद १०।३९।७ मन्त्र की शरण ली है। परन्तु यहाँ पर भी वह कृतमनोरथ नहीं हो सका। इस मन्त्र में "शुन्ध्युवं" पद आया है। सायण यहाँ पर पुरुमित्र की कन्या को शुन्ध्यु नाम वाली बतलाता है। परन्तु उसे यह भी परिज्ञान नहीं है कि शुन्ध्यु पद का प्रयोग यौगिक है। यास्क ने शुन्ध्यु के कई अर्थ किये हैं। निरुक्त [1]४।१६ पर यास्क कहता है कि शुन्ध्यु आदित्य है। अपनी धारणा को फलवती करने के लिए सायण ने उल्टा ही लगाया है।

वास्तविक मन्त्रार्थ-संगति निम्न प्रकार है—

नासत्याभ्यां बर्हिरिव प्रवृञ्जे स्तोमाँ इयर्म्यभ्रियेव वातः।
यावर्भगाय विमदाय जायां सेनाजुवा न्यूहतू रथेन ॥

ऋ० १।११६।१

१—अर्थ—

यज्ञ की भाँति मैं सत्यवादी आचार्य और पुरोहित की प्रशंसा करता हूँ। तथा जिस प्रकार वायु मेघस्थ विद्युतों को प्रेरित करता है वैसे ही मैं उनकी प्रशस्ति करता हूँ। ये दोनों सेना को भी जोड़ते हैं और ज्ञान प्रदान कर्म से बाल ब्रह्मचारी को (जाया) रचनात्मक अथवा उत्पादयित्री विद्या प्राप्त कराते हैं।

२—अर्थ—

मैं (वैज्ञानिक) जल का जिस प्रकार सम्पादन करता हूँ उसी प्रकार सत्यभूत ऋण और धन विद्युत् की प्रक्रिया का भी सम्पादन करता हूँ। तथा जिस प्रकार वायु मेघस्थ जलों को हिला देता है उसी प्रकार मैं इनके गुण बखानता हूँ। ये दोनों अपनी गति के माध्यम से (अर्भग) गतिशील वायु के लिये उत्पादक शक्ति प्रदान करते हैं और इन्द्र की पत्नी अर्थात् ऐन्द्री शक्ति से युक्त हैं।

बर्हि पद निघण्टु ५।२ और १।१२ में क्रमशः पद और जल नाम में पठित है। पद नाम में होने से यह बह्वर्थक है। 'रथ' पद निघण्टु में पद नाम में पठित है। अर्भग पद ऋ गत्यर्थक धातु से बना है। गोपथ उत्तरार्ध २।६ "सेनेन्द्रस्य" सेना को इन्द्र की पत्नी कहा है। इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी है। निरुक्त १२।४६ में इन्द्र की पत्नी को इन्द्राणी बतलाया गया है। यह ऐन्द्री शक्ति ही इन्द्र की पत्नी है। इन्द्र नाम विद्युत् का है। उसकी दो धारायें हैं ऋण और धन। ये ऋण और धन ही अश्विनी हैं। शयु पद ऋ० १।११६।२२, ऋ० १।११७।२० और ऋ० १।११८।८ में भी आया है। शोधनहेतु से आदित्य, शकुनि और आपः शुन्ध्यु हैं।

मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार है—

युवं रथेन विमदाय शुन्ध्युवं न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषणाम्।
युवं हवं वध्रिमत्या अगच्छतं युवं सुषुतिं चक्रथुः पुरन्धये ॥

ऋ० १०।३९।७

१—शुन्ध्युरादित्यो भवति शोधनात्। शकुनिरपि शुन्ध्युरुच्यते। शोधनादेव। उदकचरो भवति आपोऽपि शुन्ध्युवः उच्यंते शोधनादेव।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

१—अर्थ—

अहोरात्र सूर्य की अग्नियों के शोधक प्रकाशपुञ्ज को रथ = अपनी प्रवृत्ति के माध्यम से विशेष सुख के साधन भूत अन्न अथवा वनस्पति के लिए पहुँचाते हैं। आकर्षणमय बन्धनों से युक्त पृथिवी की चहल पहल (इवं) को प्रगति देते हैं तथा शरीर की धारक शक्ति (पुरंधि) को नवीन करते हैं।

२—अर्थ—

दोनो कान गुरु अथवा महात्मा की वाणी के शोधक तत्वज्ञान प्रकाश को अपने (रथ) व्यापार से विमद = गर्वरहित विनम्र मनुष्य को प्राप्त कराते है। ये वध्रिमति = वायु की परिधियों से युक्त आकाश कक्षा के शब्द-वेग को प्राप्त कराते हैं और बुद्धि को शक्ति देते रहते हैं।

रथ शब्द निघण्टु ५।३ में पद नाम में पठित है। अतः वह अनेकार्थक है। "शुन्ध्यु" अनेकार्थक है। क्योंकि शोधन का हेतु कोई भी अर्थ इससे लिया जा सकता है। यास्क का प्रमाण दे दिया गया है। विमद और पुरुमित्र के अर्थ कर दिये गये हैं वध्रिमति का अर्थ भी पहले किया जा चुका हैं। बन्धन युक्त इसका अर्थ है। प्रक्रियानुसार अनेकार्थ इसके होते हैं। शतपथ १४।६।१।१६ में "योषा वाऽग्निः" योषा अग्नि को कहा गया है। पुनः १।४।४।४ में वाणी को योषा कहा गया है।

सायण ने ऋग्वेद १।११६।२ का भी अर्थ अपनी कल्पना पर किया है।

कवष—

कवष ऋग्वेद ७।१८।१२ में उनमें से एक के रूप में वर्णित है जिनको इन्द्र ने द्रुह्यु के साथ तृत्सु के लिए फेंक दिया था। अनुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद १० वें मण्डल के ३३ वें सूक्त के साथ कई सूक्तों का कर्त्ता कवष है। ये ३२ वें और ३३ वें सूक्त कुरुश्रवण और उसके वंशज उपमाश्रव राजा का वर्णन करते हैं। यह वैदिक इण्डेक्स का कथन है।

परन्तु यह धारणा भी ठीक नहीं। कवष को कुछ सूक्तों का ऋषि देखकर ऋग्वेद ७।१८।१२ में आये कवष को कवष नामी व्यक्ति मान लिया गया। यह कल्पना युक्तियुक्त नहीं। कु शब्दे धातु से कवष पद बना है। इसका अर्थ है व्यर्थ का शब्द करने वाला अथवा बहुविध अनर्गल प्रलाप करने वाला। निघण्टु २।१४ में कु धातु को गत्यर्थक बताया गया है। इसके अनुसार चढ़ाई करने वाला अर्थ होगा। द्रुह्यु निघण्टु २।३ में मनुष्य नाम में पठित है। यह पद भी इस मन्त्र में पड़ा है। "श्रुतं" का अर्थ है सुनने वाला। जो सुनता हो और करता न हो। "वृद्ध" का अर्थ है बढ़ा हुआ। "आपः" पद निघण्टु ५।३ में पद नाम में पठित है। अतः अनेकार्थक है।

मन्त्र की सङ्गति इस प्रकार लगेगी—

अध श्रुतं कवषं वृद्धमप्स्वनु द्रुह्युं नि वृणग्वज्रबाहुः।
वृणाना अत्र सख्याय सख्यं त्वायन्तो ये अमदन्ननु त्वा॥

ऋ० ७।१८।१२

अर्थ—

वज्रबाहुः = बलशाली बाहुवों वाला राजा सुन कर न करने वाले, बढ़े हुये आक्रमणकारी अथवा कुत्सित शब्दों को करने वाले अथवा आह्वान करने वाले राजा और द्रोह करने वाले

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मनुष्य को संग्राम में मार देता है। जो लोग इस राजा को प्रसन्न करते हैं और मैत्री चाहते हुये इसकी ही कामना करते हैं वे मित्रता भाव को प्राप्त करते हैं।

कशु—

इण्डेक्स के अनुसार यह एक राजा का नाम है।

इसका एक बार वर्णन ऋग्वेद ८।५।३७ में आया है। इसका अपत्यार्थक नाम चैद्य है।

इण्डेक्स का यह मत सायण पर आधारित है। वस्तुतः = इसका भाव ऐसा नहीं है। यह कशु पद भी यौगिक है। इसकी रचना "काशृ" दीप्त्यर्थक धातु से हुई है। इसका अर्थ है प्रकाश-मान् एवं सुप्रसिद्ध मनुष्य। ऋग्वेद ८।५।३९ में "चेदयः" पद बहुवचनान्त आया है। अतः यह कोई व्यक्तिविशेष तो हो ही नहीं सकता है। चेदि पद चिञ् चयनार्थक धातु से बना है। धन, वैभव आदि का चयन करने वाला चेदि है। उसका पुत्र अर्थात् अधिक चयन करने वाला महा सम्पन्न चैद्य कहलाता है। चैद्य ऋ० ८।५।३७ और ८।५।३८ में आया है। अतः चैद्य कशु का अर्थ है वैभव चयनशाली सुप्रसिद्ध मनुष्य एवं राजा। मन्त्रों की अर्थसङ्गति इस आधार पर लग जावेगी।

कश्यप—

इण्डेक्स इसे ऋषि का नाम मानती है। ऋग्वेद ९।११४।२ में इसका प्रयोग है। चूँकि इस सूक्त का ऋषि भी कश्यप है और सायण ने अर्थ भी ऐसा ही किया है अतः यह विचार इण्डेक्सकर्त्तावों ने बना लिया। वास्तविक स्थिति इसके विपरीत है। सूक्ष्मार्थों के द्रष्टा ऋषि को कश्यप कहा जाता है। बृहदारण्यक २।२।४ में वाम नासिका को कश्यप कहा गया है। कश्यप का अर्थ प्रथम प्रकरण में कर दिया है। सूक्ष्मार्थद्रष्टा कश्यप है। इससे मन्त्रार्थ सङ्गति भी लग जावेगी। सामवेद और अथर्ववेद के मन्त्रों की अर्थसङ्गति भी इस आधार पर लग जावेगी।

कानीत —

इण्डेक्स के अनुसार यह कनीत का पुत्र है और यह पृथुश्रवा का अपत्यवाची विशेषण है।

परन्तु यहाँ पर भी विचार करने पर ज्ञात होगा कि यह व्यक्तिवाचक नाम नहीं है। सायण ने ऋग्वेद ८।४६।२१ में इसका अर्थ करते हुये लिखा है। कानीते कनीतपुत्रे कन्यायाः पुत्रे = अर्थात् कन्या के पुत्र कनीत के पुत्र को कानीत कहा जाता है। यह पृथुश्रवा का नाम है। परन्तु यहाँ पर भी यदि यही क्षण भरके लिए मान लिया जावे तब भी कनीत कोई व्यक्ति नहीं ठहरता। पृथुश्रवाः का अर्थ भी पृथुधनः अर्थात् अधिक धन वाला है। श्रवः पद निघण्टु २।७ और २।१० में क्रमशः अन्न और धन नाम में आया है। इस प्रकार अधिक अन्नवाला अथवा अधिक धनवाला "पृथुश्रवाः" कहलावेगा। निरुक्त ४।२४ पर यास्क ने श्रवः का अर्थ प्रशंसा भी किया है। इस प्रकार अधिक प्राशंसित अर्थ हो जावेगा। यास्क ने नि० १२।१ पर भी श्रवः का ऐसा ही अर्थ किया है। वहाँ पर उसने श्रवस्यु पद की व्याख्या की है।

अब रही "कानीत" की बात। "क" का अर्थ सुखकर है। अतः "का सुखककारी नीतिः यस्य स, कनीतिः तस्य पुत्रः कानीतः" अर्थात् सुखकारक नीति वाला कनीति है और उसका पुत्र कानीत

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है। अर्थात् उत्तम नीति चलाने वाला। कं सुखं नीतः प्राप्तः कनीतः तस्य पुत्रः कानीतः। सुख को प्राप्त को कनीत कहा जाता है और इसका पुत्र कानीत है अथवा कनीत ही कानीत है। ऋग्वेद ८।४६।२४ में पृथुश्रवाः का विशेषण कानीत और सुराधस् पड़ा है। यह भी पूर्व किये गये "पृथुश्रवाः" पद के अर्थ को सम्पुष्ट करता है। ऋग्वेद के ८।४६।२१ और २४ मन्त्रों की सङ्गति इस अर्थ के साथ लग सकेगी। कानीत पद ऋग्वेद ८।४६।२१ और ८।४६।२४ मन्त्रों में आया है।

कीकट—

इसकी व्याख्या प्रथम प्रकरण में की जा चुकी है।

कुत्स—

इसकी भी व्याख्या आर्जुनेय की व्याख्या के अवसर पर की गयी है।

कुभा—

इसकी व्याख्या अनितभा के प्रसङ्ग में की गयी है।

कुरुङ्ग—

इसकी व्याख्या द्वितीय प्रकरण में की गयी है।

कुरुश्रवण—

कुरु पद निघण्टु ३।१८ में ऋत्विङ् नाम में पठित है। अतः कुरुवों की सुनने वाला कुरुश्रवण है। इसका अर्थ उपमाश्रवस् के प्रसङ्ग में कर दिया है।

कुशिक—

इसका अर्थ नदीसूक्त में आये विश्वामित्र की व्याख्या करते हुये द्वितीय प्रकरण में कर दिया गया है।

कृप—

इण्डेक्स के अनुसार कृप का वर्णन ऋग्वेद ८।३।१२ एवं ८।४।२ में रुशम और श्यावक के साथ इन्द्र के प्रतिपालित के रूप में पाया जाया है। परन्तु यह धारणा भी ग़लत है और इन शब्दों के अर्थ के साथ कृप का वास्तविक अर्थ दिया जाता है। ऋग्वेद ८।३।१०–१२ में पौर, रुशम, श्यावक, कृप और स्वर्णर पद आये हैं। पौर का अर्थ पुरी में रहने वाला है। रुशम पद रुश् ज्वलनार्थक धातु से बना है। यह ज्वलनार्थक धातु है इसका प्रमाण निरुक्त २।१६ और ६।१४ में देखें। इसका अर्थ होगा दीप्तिमान। श्यावक श्यैङ् गत्यर्थक धातु से बना है जिसका अर्थ ज्ञानी होगा। कृप धातु निघण्टु ३।१४ में अर्चनार्थक है। अतः कृप का अर्थ होगा अर्चना करने वाला। इस प्रकार पुरी में रहने वाला मनुष्य पौर है। पुरु बहुत को कहा जाता है। पुरु सम्बन्धी पौर होगा जिसका अर्थ अति अधिक है। ऐसी व्याख्या करने पर इस मन्त्र में प्रथम पद की अर्थ योजना भिन्न प्रकार से करनी होगी। रुशम, श्यावक, कृप के अर्थ क्रमशः दीप्तिमान मनुष्य, ज्ञानी मनुष्य और अर्चना करने वाला मनुष्य—होंगे।

मन्त्रार्थसङ्गति निम्न प्रकार है—

> शग्धि नो अस्य यद्ध पौरमाविथ धिय इन्द्र सिषासतः।
> शग्धि यथा रुशमं श्यावकं कृपमिन्द्र प्रावः स्वर्णरम् ॥
>
> ऋ० ८।३।१२

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हे इन्द्र ! इस जगत् का वह महान् धन हमें दे जिससे कि आप उत्तम कर्मों का सम्पादन करने वालों की रक्षा करते हैं। हे भगवन् इन्द्र जैसे आप दीप्तिमान, ज्ञानी और उपासक की रक्षा करते हैं वैसे ही स्वर्णर = यजमान की भी रक्षा करें और समर्थ बनावें। ऋग्वेद ८।४।२ में रुम, रुशम, श्यावक, और कृप, पद आये हैं। रुशम, श्यायक और कृप के अर्थ पूर्व दिखलाये अनुसार हैं। रुम का अर्थ उपदेष्टा वक्ता है। यह पद रु धातु से बना है। मन्त्रसङ्गति यहाँ पर इन अर्थों के आधार पर लग सकेगी। प्रक्रियान्तर में इनके अर्थ यौगिक दृष्टि से और भी किये जा सकते हैं।

कृष्ण—

कृष्ण इण्डेक्स के अनुसार एक ऋषि का नाम है। इसका वर्णन ऋग्वेद के ८ वें मण्डल के ८५ वें सूक्त में आया है। इण्डेक्स का यह भी कहना है कि ८ वें मण्डल के ८६ वें सूक्त का ऋषि प्रथानुसार वह स्वयं अथवा उसका पुत्र विश्वक है।

यहां पर यह ज्ञात होना चाहिए कि कृष्ण भी कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। उसका पुत्र विश्वक है—यह व्यर्थ की कल्पना है। ऋग्वेद ८।८७।१-३ मन्त्रों में विश्वक पाठ पड़ा है। अतः उससे कृष्ण के पुत्र होने की इसकी कल्पना की गई होगी। परन्तु इसमें कोई तथ्य नहीं। विश्वक पद का अर्थ है विशेषज्ञाता। यह "श्वा" गत्यर्थक धातु से बना है। ऋग्वेद ८।८५।३–४ में कृष्ण पद आया है। कृषी विलेखने धातु से कृष्ण पद बना है। इसका अर्थ किसान है। इससे अर्थ संगति यहाँ पर लग जावेगी। कृष्ण का अर्थ आकर्षक पदार्थ भी हो सकता है। जो प्रक्रियानुसार समन्वित किया जा सकता है। कृष्ण का अर्थ काला भी है। "अहश्च कृष्णमहरर्जुनञ्च" इस ऋग्वेदीय मन्त्र की व्याख्या करते हुये यास्क ने २।२१ पर "कृष्णम् अहः" का अर्थ रात्रि लिया है।

कौरयाण—

वैदिक इण्डेक्स का कथन है कि यह पाकस्थामन् का पितृसूचक नाम है। परन्तु होपकिन्स ने जर्नल ऑफ़ दी एशियाटिक ओरियण्टल सीरीज १७६० संख्या २ में लिखा है कि यहाँ पर पाकस्थामा न अभिप्रेत होकर कौरयाण ही स्वयं अभिप्रेत है। परन्तु यह कल्पना समाप्त हो जाती है जब निरुक्त ५।१५ को हम देखते हैं। वहाँ पर यास्क ने उस मन्त्र का ही उद्धरण दिया है। वह स्वयं ही कौरयाण की व्याख्या कृतयान करता है। अर्थात् शत्रुवों पर चढ़ाई करने वाला अथवासफलयान कौरयाण है। यह पाकस्थामा का विशेषण है। पाकस्थामा का भी अर्थ देखिये। "पाक" पद निघण्टु ३।८ में प्रशस्य अर्थ में पढ़ा गया है। स्थाम पद स्था धातु से बना है जिसका अर्थ स्थिति अथवा बल है। इस प्रकार प्रशस्य स्थिति एवं बल जिसका है उस मनुष्य को "पाकस्थामा" कहा जाता है। कौरयाण पाकस्थामा का अर्थ है सफलयान प्रशस्तवल मनुष्य। सायण ने यहाँ पर यद्यपि व्याकृति करके पाकस्थामा का अर्थ परिपक्वल किया है। परन्तु वह ऐसा करते हुये भी यहाँ पर इसे व्यक्तिविशेष मानता है जो सर्वथा ग़लत है। यहाँ पर मन्त्र में कौरयाण पाकस्थामा इन्द्र का विशेषण भी बन सकता है। उस अवस्था में मन्त्र का अन्वय इस प्रकार होगा—

कौरयाणः पाकस्थामा इन्द्रः मरुतश्च यं मे दु; (अदुः) ।
विश्वेषां त्मना शोभिष्ठम् दिविधावमानम् (तद्ः) उपेव ॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

निरुक्त प्रक्रिया के आचार्यों के अनुसार यही अर्थ ठीक होगा। इस प्रकार का अर्थ करने पर सायण का किया अर्थ ग़लत हो जावेगा। सायण को मालूम पड़ता है निरुक्तप्रक्रिया का पता नहीं था। अथवा हठधर्मी से ऐसा सर्वत्र अनर्गल अर्थ ही वेदमन्त्रों का करता गया है।

कृवि—

क्रिवि को इण्डेक्स के कर्त्ता सिन्धु और असिक्नी पर बसा हुआ मानते हैं। परन्तु इनकी अनभिज्ञता पर यहाँ पर हँसी आती है कि इन्हें किसी पद का अर्थ भी नहीं मालूम। जो भी शब्द मिला उससे व्यक्ति का नाम ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया। कृवि पद निघण्टु ३।२३ में कूप नाम में पढ़ा गया है। इसका अर्थ कुवाँ है। अश्विनी और मरुद्-गण कुवें के पानी को ठीक रखते हैं और बढ़ाते हैं अतः उसका मंत्रों में वर्णन है। ऋग्वेद ८।२०।२४ और ८।२२।१२ में आया है। यहाँ पर अश्विनी = प्राण और उदान तथा मरुद्गण = वायुवों के द्वारा कूप के पानी का ठीक बना रहना और बढ़ते रहना लिखा है। नदियों का नाम ही मरुद्वृधाः है। सायण ने भी यहाँ पर कृवि का अर्थ कूप ही किया है। मंत्रार्थसंगति इस आधार पर लग जावेगी।

गङ्गा—

ऋग्वेद १०।७५।५ में वर्णित है और इसकी व्याख्या प्रथम प्रकरण में कर दी गयी है। गंगा गमनात्—वेग के साथ दूर तक जाने वाली नदी गंगा कहलाती है। निरुक्त ने भी ऐसी ही व्याख्या की है। गंगा, यमुना आदि शरीरस्थ नाडियों के भी नाम हैं।

गन्धार—

वैदिक इण्डेक्स कहती है कि ऋग्वेद और अथर्ववेद में जिसे गान्धारी कहा गया है उन लोगों के नाम का ही पश्चाद्वर्ती रूप गान्धार है। वस्तुतः गन्धयुक्त प्रदेश का नाम ही गन्धार अथवा गन्धारी हैं। ऋग्वेद १।१२६।७ में और उससे पूर्व मंत्र में पति-पत्नी का संवाद है। सायण आदि ने व्यर्थ ही उसका अर्थ अश्लील बनाने का प्रयत्न किया है। अथर्ववेद में आये गन्धार पद का भी यही अर्थ है। प्रथम प्रकरण में इस पर लिखा जा चुका है।

गयप्लात—

इण्डेक्स के अनुसार यह ऋग्वेद १० मंडल के ६३ वें और ६४ वें सूक्त का कर्त्ता है और प्लति का पुत्र है। इसीलिए यह प्लात है। परन्तु यहाँ पर यह मालूम होना चाहिए कि इण्डेक्स के कर्त्ता ने प्लात पद अनुक्रमणी को देखकर और सायण का अनुकरण करके बना लिया है। मंत्रों में केवल "प्लतेः सूनुः" पाठ ही पाया जाता है—प्लात नहीं। चूँकि इन सूक्तों का ऋषि "गय प्लात" कहा गया है अतः यह विचार बना लिया गया है। यहाँ भी यह स्पष्ट समझना चाहिए कि न तो प्लति कोई विशेष व्यक्ति है और न गय ही। निघण्टु २।२, २।१० और ३।४ में क्रमशः गय पद अपत्य, धन और गृह अर्थ में पठित है। गोपथ पू० ५।१४ में सोम को गय कहा गया है। शतपथ १४।८।१५।७ में "प्राणा वै गयाः" प्राणों को गय कहा है। इस प्रकार गय पद के अनेक अर्थ हैं। इण्डेक्स ने जिन मंत्रों का प्रमाण दिया है उन में तो "प्लतेः सूनुः" पाठ मंत्रों के प्रथम अर्ध में पड़े हैं और "गयेन" तृतीयान्त पाठ दूसरे अर्ध में पड़ा है। दोनों का

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सम्बन्ध भी काठिन्य से जुड़ता है। दोनों को पृथक् रखने पर भी मंत्र की अर्थसंगति सुन्दर ढंग से लग सकती है। ऋग्वेद १०।६४।१६ में "गयः" पद आया है। वहाँ पर प्लति पद का नाम भी कहीं पर नहीं है। सायण ने इसे गय नाम का ऋषि ही अर्थ लिया है। यद्यपि यहाँ पर "गय" का अर्थ धन लगाया जा सकता है और समस्त पदों को मेधावी का विशेषण रख कर उसे कर्त्ता बनाया जा सकता है। उदाहरण के रूप में मंत्रार्थ दे दिया जाता है—

एवा कविस्तुवीरवाँ ऋतज्ञा द्रविणस्युर्द्रविणश्चकानः।
उक्थेभिरत्र मतिभिश्च विप्रोऽपीपयद्गयो दिव्यानि जन्म॥

अर्थ—

इस भांति इस यज्ञ में कान्तदर्शी, स्तुतिकर्त्ता अथवा कर्मण्य, यज्ञ का ज्ञाता, धन की कामना करने वाला, पशु आदि धनों को चाहता हुवा मेधावी पुरुष स्तुतियों, बुद्धि और कर्मों के द्वारा गय=अपत्य, धन एवं दिव्य वस्तुवों, जन्म आदि को बढा सकता है। यदि सायण के अनुसार अर्थ किया जावे तो "गय" के विशेषण कवि; तुवीरवान्, ऋतज्ञाः द्राविणस्युः, द्रविणश्चकानः और विप्र—ठहरेंगे। इससे गय व्यक्तिविशेष है—यह अघट कल्पना ही ठहरेगी। "गय" का अर्थ "अपत्य" है। कोई भी अपत्य गय कहला सकता है। यह पुत्रसामान्य का वाचक है। "प्लतिः" पद प्र+अतिः से बना है। अतिः अतनम्—गतिरित्यर्थः। "अतिः" अत् सातत्य-गमने से बना है। प्र उपसर्ग है। प्रकृष्टा अतिर्यस्य सः प्रातिः। अर्थात् विशेष गति वाला एवं प्रगतिशील व्यक्ति प्रति है। र और ल का भेद न होने से प्लति बन गया है। प्र+अतिः में पररूप होगया है दीर्घ नहीं हुआ है। प्रगतिशील का पुत्र—यह "प्लतेः सूनुः" का अर्थ है। यदि इसे गय का विशेषण बनाया जावे और प्लति को गय का पिता माना जावे तब भी गय का अर्थ अपत्य या पुत्र ही रहेगा। तथा प्लतिः का अर्थ प्रगति मानकर उसका पुत्र गय माना जावेगा। गोपथपूर्वार्ध ५।१४ ("तद्यद्गच्छति तस्माद्गयः") में गय पद को गम् गत्यर्थक धातु से बनाया गया है। इस दृष्टि से "गय" का अर्थ ज्ञाता, विज्ञ मनुष्य भी लिया जा सकता है। मंत्रार्थसंगति इन अर्थों से आसानी से लग सकती हैं।

गविष्ठिर आत्रेय—

इण्डेक्स की धारणा है कि ऋग्वेद और अथर्व में यह एक ऋषि है।

यहाँ पर भी "आत्रेय" पद सायण के आधार पर जोड़ लिया गया है। क्योंकि ऋग्वेद ५।१ मंण्डल का वह ऋषि है तथा मंत्र में गविष्ठिर पद आया है। वस्तुतः सूक्त में कहीं पर आत्रेय पद नहीं आया है। ऋग्वेद १०।१५०।५ में गविष्ठिर और अत्रि पद साथ आये हैं। परन्तु उसका यह तात्पर्य नहीं कि गविष्ठिर आत्रेय है। यदि क्षण भर के लिए माना भी जाय तो भी गविष्ठिर ऋषिविशेष नहीं ठहरता। क्योंकि अत्रि स्वयं ही कोई व्यक्ति नहीं। फिर उसका पुत्र व्यक्तिविशेष कैसे हुआ। अस्तु! गविष्ठिर पद का अर्थ करना चाहिए। "गौ" पद निघण्टु १।१;१।४;१।११; ३।१६ और ४।१ में क्रमशः पृथिवी, साधारणनाम, वाणी, स्तोता और पद अर्थ में पठित है। इसके अनुसार "गविस्थिरः गविष्ठिरः" इस व्युत्पत्ति को आधार बनाकर पृथिवी में स्थिर, गति में स्थिर, वाणी में स्थिर, स्तोतृवृन्द में स्थिर और ज्ञान, गमन; प्राप्ति एवं मोक्ष में स्थिर मनुष्य

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

गविष्ठिर है। ब्राह्मण ग्रन्थों में "गौ" के अनेक अर्थ हैं। इनके आधार पर भी इस पद के अनेक अर्थ होते हैं। अथर्व वेद में भी ऐसी हो संगति लगती है। मंत्रार्थसंगति में इस अर्थ के अनुसार कोई बाधा नहीं आती है।

गाङ्ग्य—

वैदिक इण्डेक्स इसे उरुकक्ष की उपाधि बतलाती है। अथवा यह वृत्तों के एक समूह की उपाधि है। वह इस में रॉथ, वेबर और ओल्डेनवर्ग की भी सहमति प्रकट करती है।

परन्तु यहाँ पर भी इण्डेक्सकर्त्ता लोग सारभूत बात को नहीं समझ सके। मालूम यह भी पड़ता हैं कि इन्होंने "उरुः कक्षः" पद को भी "उरुकक्ष" एक पद समझ लिया। यह कितनी अनभिज्ञता है। ऋग्वेद ६।४५।३१ से "गाङ्ग्यः" पद आया है। गंगा कोई व्यक्तिवाची नदी नहीं है—यह प्रथम प्रकरण में दिखला चुका हूँ। यहाँ पर गङ्गा आकाश गङ्गा के लिए प्रयुक्त मानी जा सकती है। पृथिवी पर विस्तृत गति से जाने वाली नदी गङ्गा है। इस प्रकार गाङ्ग्य का अर्थ आकाश-गङ्गा सम्बन्धी होगा। पृथिवी पर विस्तृत नदी में पैदा होने वाला गाङ्ग्य कहलावेगा। सायण ने मंत्र का अर्थ ही नहीं समझा। मंत्रार्थ निम्न प्रकार होगा—

अधि बृबुः पणीनां वर्सिष्ठे मूर्धन्नस्थात्।०
उरुः कक्षो न गाङ्ग्यः॥ ऋ० ६।४५।३१

१—अर्थ—

पणि = मेघों का बृबु = ध्वंसक इन्द्र अत्यन्त ऊँचे स्थान मेघों की मूर्धा पर आकाश गङ्गा सम्बन्धी विस्तीर्ण कक्ष = प्रदेश के समान स्थित है।

२—पणिः

— सूदखोर वणिओं का बृबु = विनाशक राजा इनके ऊँचे शिर पर उसी प्रकार सवार रहता है जिस प्रकार बड़ी नदी में उत्पन्न विस्तृत काई अथवा शिवाल नदी के जल पर स्थित रहता है।

यहाँ पर यदि बृबु को पाणियों का तक्षा माना जावें तब भी पाणियों का छेदक ही ठहरेगा। पणि का अर्थ वणिज् और असुर दोनों माना जाता है। असुर कहने पर मेघ के अर्थ को यह देता है। बृबु पद भ्रंश धातु से बनाया जावेगा। यास्क ने निरुक्त २।२२ पर जलवाचक बृबु पद की निरुक्ति (भ्रंशतेर्वा) भ्रंश धातु से भी की है। वही नियम बृबु में भी लगेगा।

गुङ्गु—

यह पद ऋग्वेद १०।४८।८ में आया है और इसकी व्याख्या मैंने अतिथिग्व के प्रसङ्ग में कर दी है।

गैरिक्षित—

इण्डेक्स इसे गिरिक्षित का वंशज और त्रसदस्यु का अपत्यार्थक नाम मानती है। गिरौ क्षितिः क्षयोऽस्यास्ति स गिरिक्षितः—अर्थात् पर्वत पर अथवा मेघ में निवास हो जिसका वह गिरिक्षित है। गिरिक्षित एव अथवा गिरिक्षितस्यापत्यो गैरिक्षितः अर्थात् गिरिक्षित ही गैरिक्षित है या उसका अपत्य भी गैरिक्षित है। इस प्रकार मन्त्रसंगति लगायी जा सकेगी। पौरुकुत्स्य और त्रसदस्यु की व्याख्या द्वितीय प्रकरण में की जा चुकी है। अर्थात् महास्त्रधारी और दस्युत्रासन राजा इसके अर्थ हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

गोत्र (गोत्रा)—

यह मेघार्थक है। गोत्रा पद पृथिवी का वाचक है। राथ ने इसका अर्थ गोसमूह और गिल्डर ने इसका अर्थ समूह माना है। राथ का अर्थ सेएट पीटर्सबर्ग कोष में पाया जाता है और गिल्डनर का अर्थ Vedishe Studien नामक ग्रन्थ में मिलता है। निघण्टु १।१ और १।१० में क्रमशः गोत्रा और गोत्र पद पृथ्वी और मेघ अर्थ में दिखलाये गये हैं।

गोपवन—

गो, इन्द्रिय, वाणी और ज्ञान को पवन = पवित्र रखने वाला गोपवन है। गो शब्द के अनेक अर्थ निघण्टु में माने गये हैं—यह मैं गविष्ठिर पद की व्याख्या के प्रसङ्ग में इसी प्रकरण में दिखला चुका हूँ। गां पातीति गोपः गोपश्चासौ वनश्च गोपवनः। अथवा गोः पवनः पावकः गोपवनः। जो गो, इन्द्रिय, स्तोता, वाणी और ज्ञान का पालक तथा वन = वननीय = श्रेष्ठ है वह गोपवन है। अथवा गो आदि का पवित्र करने वाला, प्राप्त करने वाला, गोरवन है। मन्त्रार्थ सङ्गति इस अर्थ के अनुसार लगानी चाहिये जो सरलता से लग जावेगी।

गोमती—

जिसके प्रदेश में गाय आदि अधिक हों ऐसी नदी गोमती कहलाती है। जिसके पानी में सूर्य की किरणें खुली पड़ती हों वह नदी गोमती है। जिसमें मिट्टी अधिक हो पत्थर आदि न हों और बहुत गहरी न हो वह भी गोमती कही जा सकती है। गो पृथ्वी का नाम भी है। ऋग्वेद १०।७५।६ में यह पद आया है और अर्थसङ्गति सुन्दर रूप में लग जाती है।

गोशर्य—

इण्डेक्स इसे अश्विनी लोगों के प्रतिपालित का नाम बतलाती है। परन्तु यह भी व्यक्ति का नाम नहीं है। गोशर्य का अर्थ होगा—इन्द्रियों से शीर्ण अर्थात् जितेन्द्रिय। गोभिः शर्यः गोशर्यः। शर्या पद निघण्टु २।५ में अंगुलि नाम में पढ़ा गया है। पुनः ४।२ में पद नाम में भी पठित है। इस प्रकार गतिशील अंगुलियों वाला गोशर्य कहलावेगा। अथवा गमनशील शर्या = इषुवों वाला गोशर्य है। यास्क ने नि० १०।२६ पर "शर्याम्" का अर्थ शरमयी इषु किया है। इस प्रकार जितेन्द्रिय, गमनशील अंगुलियों वाला कुशल, और गमनशील वाणों वाला मनुष्य गोशर्य है। प्रक्रियान्तर में इसी आधार पर अन्य अर्थ भी निकल सकता है। ऋग्वेद ८।८।२०; तथा ८।५०।१० में यह पद आया है और अर्थसङ्गति की दृष्टि से भी यह अर्थ ठीक बैठता है।

घोषा—

वैदिक इण्डेक्स कहती है कि घोषा अश्विनियों के प्रतिपालित के रूप में ऋग्वेद के दो सन्दर्भों में प्रयुक्त है। संभवतः यह पति प्राप्त करने वाली बतलायी गयी है और पति का नाम अर्जुन है यद्यपि यह समंजस नहीं मालूम पड़ता है।

यहाँ पर इण्डेक्सकर्त्ता लोग कितना सन्देहमय वर्णन करते हैं। पति का अर्जुन नाम वर्णन करने के बाद भी लिखते हैं कि यद्यपि यह समञ्जस नहीं। कैसी इनकी विचित्र चातुरी है। घोषा पद ऋग्वेद १।११७।७; ऋ० १०।४०।५ और १।१२२।५ में आया है। इन स्थलों पर कहीं भी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वह व्यक्तिवाचक नाम नहीं है। कक्षीवान् की पुत्री मानने वालों के विचार से वह व्यक्तिविशेष सिद्ध नहीं होती। जब कक्षीवान् ही व्यक्तिविशेष नहीं मनुष्य-सामान्य है तो उसकी पुत्री भी मनुष्य सामान्य ही होगी। घोषा पद घुष् घोषार्थक धातु से बना है। घोषणा एवं प्रार्थना करने वाली विवाहिता स्त्री घोषा है। गृहस्थाश्रम में अनेक बाधायें आती हैं। कभी पति विशेष बीमार हो जाता है अथवा मर जाता है तो राज्यनियम से नियोग आदि की व्यवस्था की जाया करती है। उस अवस्था में स्त्री राजा-पुरोहित आदि से इस व्यवस्था के लिए याचना करती है। ऋग्वेद १०।४० वें सूक्त में इस गृहस्थाश्रम स्थिति कीका वर्णन है। अश्विनी के अनेक अर्थ होते हैं। लगभग सभी अर्थ इस सूक्त में मन्त्रों में घटित हो सकते हैं। ऋग्वेद १०।४०।५ मन्त्र में घोषा का वर्णन आया है। परन्तु उसी सूक्त का २ या मन्त्र "कुहस्विद्दोषा कुहवस्तोरशिना" आदि है। इसमें नियोग का वर्णन है। यहाँ पर अश्विनी का एक अर्थ विवाहित स्त्री और पुरुष भी है। पुनः इसी सूक्त के आठवें मन्त्र में "विधन्तम् विधवामुरुष्यथः" पद आये हैं जिनके द्वारा परिचर्या करने वाले मनुष्य और विधवा की रक्षा का वर्णन है। पुनः १० वें मन्त्र में बतलाया गया है कि—"हे अश्विनी लोग! मनुष्य जीव को लक्ष्य करके रोते हैं। (स्त्री) को यज्ञ में बैठाते हैं। गृहस्थ धर्म में उसके साथ दीर्घ बाहुबन्धन धारण करते हैं। वननीय इस धन (स्त्री) को उसके पिता-माता से ग्रहण करते हैं। पतियों के लिए स्त्रियाँ परिष्वजनार्थ सुख देती हैं। ऋग्वेद १०।४०।२ मन्त्र की व्याख्या यास्क ने भी निरुक्त ३।१५ पर नियोग के भाव को दर्शाने वाली ही किया है। ऋग्वेद १।१२२।५ में घोषा के द्वारा अर्जुन = श्वेतरूप (श्वेत दाग़) के नाश करने के लिये अश्विनी की प्रशंसा की गयी है। वस्तुतः यहाँ पर घोषा स्त्री है। पति को यदि श्वेत कुष्ठ हो जाता है तो वह वैद्य और विद्वान् से उसके नाश के लिए कहती है। ये सारी स्थितियाँ यह प्रकट करती हैं कि घोषा विवाहिता स्त्री है। नियोग की व्यवस्था तथा गृहस्थाश्रम का यहाँ पर सूक्त में प्रतिपादन है।

मन्त्रार्थसङ्गति निम्न प्रकार है—

युवां ह घोषा पर्यश्विना यती राज्ञ ऊचे दुहिता पृच्छे वां नरा।
भूतं मे अह्न उत भूतमक्तवेऽश्वावते रथिने शक्तमर्वते ॥
ऋ० १०।४०।५

अर्थ—

हे नेता अश्विनी = राजा और पुरोहित! चारों तरफ घूमती हुई मैं दीप्तिमान् मनुष्य अथवा राजा की पुत्री घोषा = विवाहिता स्त्री आप से कहती हूँ और पूछती हूँ कि मेरे दिन व्यतीत करने की व्यवस्था करें, रात्रि के बिताने के लिए व्यवस्था करें। अश्वयुक्त रथवाले बलवान् पुरुष के लिए मुझे देने में समर्थ हों।

युवं नरा स्तुवते कृष्णियाय विष्णाप्वं ददथुर्विश्वकाय।
घोषायै चित् पितृषदे दुरोणे जूर्यन्त्या अश्विनाव दत्तम् ॥
ऋ० १।११७।७

अर्थ—

हे सब के नेता राजा और पुरोहित! आप स्तुतिशील कृषक के पुत्र विशिष्ट योग्यता वाले मनुष्य के लिए विशेष ज्ञान एवं क्रिया कौशल देते हैं। हे अश्विनी! पिता के घर में वृद्धावस्था को प्राप्त करती हुई घोषा = विवाहिता विधवा स्त्री को आप पुनः पति प्रदान करते हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आवो रुवण्युमौशिजो हुवध्यै घोषेव शंसमर्जुनस्य नंशे ।
प्र वः पूष्णे दावन आँ अच्छा वोचेय वसुतातिमग्नेः ॥

ऋ० १।१२२।५

अर्थ—

हे देवगण ! मैं मेधावी उसी प्रकार आप के लिए रमणीय स्तुति को आप के लिए हवि प्रदान करने के लिए सुन्दरता से बोलता हूँ जिस प्रकार विवाहितता स्त्री पति के अथवा अपने श्वेत दाग को नष्ट करने के लिये वैद्य और प्राणविद्यावेत्ता की प्रशंसामयी याचना करती है । हे देव गण ! फल के दाता पूषा के लिए तथा अग्नि के लिए मैं आप सम्बन्धी हवि का स्तवन करता हूँ अर्थात् प्रदान हूँ । अर्जुन निघण्टु ३।७ में रूप नाम में पठित है । सायण ने श्वेतवर्ण त्वग्रोग अर्थ किया है । परन्तु इस भाव को न समझकर इण्डेक्सकर्त्ताओं ने अर्जुन को घोषा का पति बना दिया । कैसा लालबुझक्कड़ का काम किया है । पुनः सन्देह भी प्रकट कर दिया है ।

चित्र—

इण्डेक्स का कथन है कि चित्र कई एक व्यक्तियों का नाम है । ऋग्वेद ८।२१।१८ में चित्र नाम के राजा की दान स्तुति है ।

इण्डेक्स के रचयितावों को यहाँ पर भी भ्रम हुआ है । सायण ने भी ऐसा ही भ्रम पैदा किया है । क्योंकि वह इस मंत्र में चित्र के दान को मंत्र का देवता मानता है । बहुत सा भ्रम तो ये सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता भी पैदा करते हैं । वस्तुतः चित्र पद का अर्थ है—चायनीय पूजनीय, महनीय आदि । यह पद चायृ पूजार्थक धातु से बना है । यास्क ने ४।४ पर ऐसा ही अर्थ किया है । पुनः यास्क ने २।१६ पर चित्र का अर्थ ऐसा ही किया है । चित्र पद ऋग्वेद ८।२१।१७-१८ में आया है । इन दोनों में ही इस अर्थ में लग सकता है । सायण ने अपनी कल्पना से अर्थ किया है और वह सर्वथा ग़लत है ।

इन्द्रो वा घेदियन्मघं सरस्वती वा सुभगा ददिर्वसु । त्वं वा चित्र दाशुषे ॥

ऋ० ८।२१।१७

अर्थ—

हे भगवन् ! इन्द्र वस्तुतः इस कृषि से उत्पन्न धन को देता है, अथवा सुभगा माध्यमिका वाक् विद्युत् वा नदी इस धन को देती हैं अथवा आप इस चायनीय पूज्य धन को देते हैं अर्थात् ये सभी देते हैं । यहाँ पर चित्र पद चायनीय धन के लिए प्रयुक्त है ।

चित्र इद्राजा राजका इदन्यके यके सरस्वतीमनु ।
पर्जन्य इव ततनद्धि वृष्ट्या वृष्ट्या सहस्रमयुता ददत् ॥

ऋ० ८।२१।१८

अर्थ—

राजा, अथवा छोटे राजे एवं अन्य लोग सरस्वती = वर्षा की अधिष्ठात्री वाक् अथवा नदी को लक्षित कर चायनीय धन को उसी प्रकार विस्तृत करते हैं जिस प्रकार मेघ वृष्टि से सहस्र एवं

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

श्रयुत धन को प्रदान करता है। ऋग्वेद ८।२१।१ मंत्र में भी चित्र पद आया है परन्तु वहाँ पर चायनीय अर्थ को ही देता है। सायण भी वहाँ पर चित्र राजा अर्थ नहीं करता। यदि कोई कहे कि पूर्वोक्त (ऋ० ८।२१।१७–१८) मंत्रों में क्रमशः "चित्र" और "चित्रः" पद आये हैं, एक में संबोधन और दूसरे में प्रथमा है तो भी चित्र का अर्थ राजा लगाना ठीक नहीं क्योंकि सायण ने ऋ० ८।२१।१८ में चित्रः पद दिया है। वस्तुतः यह भी १७ वें मंत्र जैसा ही "चित्र" पद है। ऋग्वेद ५।३६।१ में भी "चित्र" पद आया है। यास्क ने इसका अर्थ "चायनीय" किया है। सायण ने यहाँ पर इसे इन्द्र का विशेषण माना है और "हे चायनीयं अद्रिवः इन्द्र !" अर्थ किया है। इसी प्रकार यास्क ने २।१६ पर "चित्रः प्रकेतः" पदों में चित्रः को प्रकेतः का विशेषण माना है। यदि सायण को विभक्ति का ही बड़ा ख्याल करना था तो उसे ऋ० ८।२१।१८ में उसकी दृष्टि से आये "चित्रः" को राजा का विशेषण बनाना चाहिए था। इस प्रकार विभक्तियों में व्यत्यय तो हुआ ही करते हैं अतः पूर्वोक्त चित्र पद का अर्थ मंत्रों में ठीक ही दिया गया है। वहाँ पर कोई विभक्ति दोष नहीं रह जाता है।

चित्ररथ—

इण्डेक्स का कहना है कि "चित्ररथ" दो व्यक्तियों का नाम है। ऋग्वेद ४।३०।१८ में वर्णित है। परन्तु इण्डेक्सकर्त्ताओं को यह ज्ञान नहीं हो सका कि वहाँ पर "अर्णाचित्ररथौ" पाठ है। केवल चित्ररथ ही दो व्यक्ति नहीं हैं। जब साधारण सी बात का ज्ञान इन्हें नहीं तो फिर ये किस प्रकार वेद के विषय में हस्तक्षेप करते हैं। "अर्णाः" निघण्टु १।१२ में जल अर्थ में पठित है। चित्ररथ मेघ को कहा जाता है क्योंकि इसका विद्युन्मय चित्र विचित्र रथवत् आकार होता है।

मंत्रार्थसंगति निम्न प्रकार है—

उतत्या सद्य आर्या सरयोरिन्द्र पारतः ।
अर्णाचित्ररथावधीः ॥ ऋ० ४।३०।१८

अर्थ—

इन्द्र = विद्युत् आर्य = गमनशील इन अर्णाचित्ररथौ = जलवाष्प और मेघ को सरयु = सरणशील एवं शब्दमयी मेघकक्षा के पार मार गिराता है। "सरः" निघण्टु १।११ और १।१२ में क्रमशः वाणी और उदक नाम में पठित है। इस प्रकार "सरयुः" का अर्थ वाणी, गर्जना से युक्त अथवा जल से युक्त अन्तरिक्षकक्षा ठीक ही है।

चुमरी–चुमुरि—

वैदिक इण्डेक्स का यह सुझाव है कि चुमरी दभीति के शत्रु का नाम है। दभीति के लिए इन्द्र के द्वारा अपने साथी धुनी के साथ पराजित यह चुमरी ऋग्वेद में वर्णित है। किसी किसी स्थल पर ये दोनों शम्बर, पिपरू और शुष्ण के साथ इन्द्र के द्वारा कुचले गये बतलाये गये हैं। इन्द्र ने इनके दुर्गों को नष्ट कर दिया था। यहाँ पर यह कहना असम्भव है कि यह तथ्यतः मनुष्य है, अथवा असुर अर्थ को देने वाला है। परन्तु अगर यह मनुष्य के अर्थ में वर्णित है तो चुमुरी उस आदमी का रूप है जो आर्य नहीं हो सकता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यहाँ पर इण्डेक्स की कल्पना कितनी निराली है। सन्देह भी करना और निर्णय भी देना इसके कर्त्तावों का अद्भुत कार्य है। इण्डेक्स के अनुसार मालूम पड़ता है कि चुमरी और चुमुरी दो रूपों में यह पद ऋग्वेद में है। परन्तु ऋग्वेद ६।१८।८; ६।२१।१३; ६।२६।६; ७।१६।४; १०।११४।६; २।१६।६ स्थलों में सर्वत्र चुमुरि ही पाठ है। चुमरी पाठ नहीं मिलता। किसी संस्करण में ऐसा मिला हो तो कहा नहीं जा सकता है। मुद्रणालय की ग़लती से भी कभी कभी ऐसा हो जाता है। धुनि शब्द चुमुरी के साथ बहुधा पाया जाता है। अतः धुनि पद पर ही प्रथम विचार कर लिया जाता है। निघण्टु १।१३ में बहुवचनान्त धुनि पद नदी अर्थ में दिखलाया गया है। यास्क ने ऋग्वेद १०।८९।५ की व्याख्या करते हुये निरुक्त ५।१२ पर धुनि का अर्थ कंपाने वाला इन्द्र अथवा सोम किया है। अर्थात् इन्द्र अथवा सोम का इसे विशेषण माना है। ऋग्वेद ६।२०।१२ में इन्द्र को ही "धुनिः" विशेषण दिया गया है। सायण ने भी यहां पर "शत्रुवों का कम्पयिता" अर्थ किया है। मन्त्रार्थ और भी अधिक प्रकाश धुनि के अर्थ पर डालता है—

त्वं धुनिरिन्द्र धुनिमतीॠर्णोरपः सीरा न स्रवन्तीः।
प्र यत्समुद्रमति शूरपर्षि पारया तुर्वशं यदुं स्वस्ति ॥

ऋ० ६।२०।१२

अर्थ—

हे इन्द्र! आप मेघ आदि को हिला देने वाले हैं। आप नदी के समान बहती हुयी कम्पन वाली अथवा शब्द वाली (छम छम करती हुई) जल धारावों को (वृष्टि द्वारा) प्राप्त कराते हो। हे शूर इन्द्र! आप आकाश (समुद्र) को अथवा समुद्र को जलों से भर देते हो तथा सुख के साथ कृषक और कर्मशील मनुष्य को पार लगाते हो।

यहां पर स्पष्ट हो गया कि धुनि इन्द्र का विशेषण है। इन्द्र मेघों का भेदन करके घोर वृष्टि करता है। धुनि का अर्थ जहां कम्पाने वाला है वहां दूसरा अर्थ शब्द करने वाला भी है। ऊपर के मन्त्र में "धुनिमतीः" पद पड़ा भी है। इस प्रकार यह पद "धूञ् कम्पनार्थक" और "ध्वन" शब्दार्थक धातुवों से बनेगा। दोनों अर्थों को लेते हुये यह एक प्रकार का मेघ ठहरेगा। दोनों ही गुण मेघ में पाये जाते हैं। वह कांपता भी है, लोगों को कँपाता भी है (डर से अथवा ठण्डी से) और गर्जता भी है। दूसरी प्रक्रिया में लोगों को डराने वाला और व्यर्थ में बहुत गर्जना करने वाला मनुष्य भी हो सकता है। इसी प्रकार चुमुरि का भी अर्थ करना उपयुक्त है। जब धुनि एक प्रकार का मेघ है तो चुमुरी भी मेघ का एक प्रकार ही होगा। चुमुरी पद चमु अदनार्थक धातु से बना है। कई मेघ ऐसे हैं जो पानी को ग्रहण किये रहते हैं और छोड़ते नहीं। ऐसे प्रकार के मेघ चुमुरी कहे जा सकते हैं। साथ ही प्रक्रियान्तर में "चुमुरि" खाने वाले अर्थात् उड़ाऊ खाऊ मनुष्य के लिए भी प्रयुक्त होता है। इन्द्र जब विद्युत् या वायु के अथवा सूर्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है तब धुनि और चुमुरि का अर्थ मेघप्रकार होगा। जब यह राजा अर्थ में प्रयुक्त होगा तब इनका अर्थ इस प्रकार के मनुष्य होगा। ऋग्वेद ७।१६।५ में धुनि और चुमुरि को दस्यु कहा गया है। दस्यु पद 'दसु उपक्षये' धातु से बनता है। इसका अर्थ है जो रस एवं जलों को क्षीण करता है। यास्क ने ७।२३ पर ऐसा ही अर्थ लिया है। ऋग्वेद १।५९।६ में दस्यु पद मेघार्थक ही आया

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है। इस प्रकार दस्यु मेघ भी है और शुभ कर्मों का उपक्षय करने वाला डाकू चोर और बुरा कर्म करने वाला मनुष्य भी दस्यु है। दस्यु विशेषण भी धुनि और चुमुरि के उस कहे गये अर्थ की सिद्धि करता है । ऋग्वेद ६।१८।८ में जो पिप्रु, शम्बर और शुष्ण पद चुमुरि और धुनि के साथ आये हैं वे भी यह सूचित करते हैं कि ये मेघ हैं । निघण्टु १।१२ में शम्बर मेघ नाम में पठित है। यास्क ने भी ७।२३ पर शम्बर का अर्थ मेघ ही किया है। इसी प्रकार शोषक होने और पूरक होने से जल को सोख लेने वाला मेघ शुष्ण है और जल से पूरित मेघ पिप्रु है ।

दभीति पद पर भी विचार करना उपयुक्त है । दभीति पद जब भाव में लिया जावेगा तब इसका अर्थ हिंसा, मारना आदि होगा। परन्तु जब कर्त्ता अर्थ में प्रयुक्त होगा तब इसका अर्थ हिंसा करने वाला अथवा मारने वाला होगा । अर्थात् दुष्टों का हनन करने वाला राजा दभीति है और काम, क्रोध आदि शत्रुवों का हन्ता मनुष्य, उपासक एवं यजमान दभीति है । ऋग्वेद ६।२०।१३ में दभीति को इध्मभृतिः समिधाधारी, और हवि आदि अन्न और सोमों से दीप्तिमान कहा गया है। इससे स्पष्ट हो गया कि दभीति याज्ञिक है। अतः याज्ञिक एवं यजमान दभीति है। इन तीनों पदों का अर्थ स्पष्ट हो जाने से मन्त्रार्थसंगति में कोई बाधा नहीं रह जाती। इन्हीं अर्थों के आधार से धुनि—चुमुरि वाले सारे मन्त्रों की अर्थसंगति लगेगी ।

चेदि—

चयनकर्त्ता को चेदि कहा जाता है—यह पूर्व कशु की व्याख्या के प्रसङ्ग में लिख चुके हैं।

च्यवतान मारुताश्व—

इण्डेक्स के अनुसार यह मरुताश्व का पुत्र है और प्रत्यक्ष रूप में ऋग्वेद की एक दान-स्तुति में एक राजा का नाम है। किसी प्रकार दो भिन्न व्यक्ति भी हो सकते हैं।

यहां पर भी विचित्र ही लीला है। ऋग्वेद ५।६३।९ में "मारुताश्व" पद षष्ठी विभक्ति में है और "च्यवतान" प्रथमा में। फिर भी इण्डेक्सकर्त्तावों ने अपना तुक जोड़ने की कोशिश की है जो व्यर्थ और निराधार है । मरुत् के समान वेग वाले घोड़ों वाले मनुष्य एवं राजा को मरुताश्व कहा जाता है। वही व्याकरण से स्वार्थ में मारुताश्व हो गया है । अथवा मारुता अश्वा यस्य स मारुताश्वः—अर्थात् वायुवेग वाले अश्व हैं जिसके वह मारुताश्व है। मन्त्र में आया च्यवतान कोई व्यक्ति नहीं जो मरुताश्व का पुत्र हो। च्यवतानः का अर्थ "च्यावयन्" है । सायण ने भी यहां पर च्यवतानः का अर्थ च्यावयन् ही किया है । मन्त्रार्थसंगति सरलता से इस आधार पर लग जावेगी ।

च्यवन च्यवान—

इस विषय में द्वितीय प्रकरण में लिखा जा चुका है ।

जमदग्नि—

यह कल्पित ऋषियों में से एक है और ऋग्वेद में बार बार इसका वर्णन आया है। कुछ सन्दर्भों में इसका नाम इस प्रकार आता है कि उससे यह प्रकट होता है कि वह ही इस सूक्त का कर्त्ता है एक बार इसका सम्बन्ध विश्वामित्र से पाया जाता है। दूसरे सन्दर्भों में केवल इसका वर्णन

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मात्र है। जमदग्नि लोग भी एक बार अथर्ववेद, यजुर्वेद और ब्राह्मणों में वर्णित हैं। यह एक बहुत परिचित और बार बार प्रयुक्त व्यक्ति है। यह विश्वामित्र केमित्र और वसिष्ठ के प्रतिस्पर्धी के रूप में दिखायी पड़ता है।

इण्डेक्स ने जो कुछ लिखा है उससे जमदग्नि एक कल्पित ऋषि मालूम पड़ता है। परन्तु इससे वह ऐतिहासिक व्यक्तिविशेष है और सूक्त का निर्माता है यह किस प्रकार सिद्ध होता है। इण्डेक्स का वर्णन बहुधा सन्देहप्रद हुआ करता है। यहां पर भी यह सन्देह बना ही हुआ है। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर जमदग्नि पद आया है। यजुर्वेद, अथर्व और ब्राह्मण ग्रन्थों में भी यह पद अनेकों बार आया है। परन्तु इसके भिन्न भिन्न अर्थ मिलते हैं। कोई जमदग्नि नाम का ऋषि भी इतिहास में हो गया हो परन्तु उसका वेद के जमदग्नि से कोई सम्बन्ध नहीं। वेद में जमदग्नि व्यक्ति-विशेष के अर्थ में नहीं है। जमदग्नि और यमदग्नि दोनों प्रकार के रूप मिलते हैं। यास्क ने नि० ७।२५ पर "यमदग्निभिराहुतः" की प्रतीक देकर यमदग्नि की सिद्धि की है। यास्क कहता है—यमदग्नयः प्रयमिताऽग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा। अर्थात् प्रयमित अग्नि वाले अथवा प्रज्वलित अग्नि वाले जमदग्नि हैं। इस प्रकार जमदग्नि का अर्थ तपस्वी और याज्ञिक विद्वान् होगा। यमदग्नि और जमदग्नि दोनों एक ही हैं। यहाँ पर जमदग्नि का प्रयोग बहुवचनान्त है और ऋग्वेद ३।५३।१६ में भी ऐसा ही प्रयोग है। यह प्रयोग ही सिद्ध करता है कि यह व्यक्तिवाचक नहीं। इस मन्त्र में एक विशेष बात यह है कि इसमें "पलस्तिजमदग्नयः" पद है। पलस्ति का अर्थ वृद्ध एवं ज्ञान-वृद्ध और अनुभववृद्ध है। यह विशेषण बतलाता है कि जमदग्नि विद्वान् का नाम है। परन्तु भौतिक जगत् में दैवी पदार्थों का नाम भी जमदग्नि है, यह पहले प्रकरण में लिखा गया है और यहां पर संक्षेप में बताया जाता है।

यजुर्वेद ३।६२ में जमदग्नि और काश्यप आँख और कान के लिए प्रयुक्त हैं त्र्यायुषं जमदग्नेः काश्यपस्य त्र्यायुषम्। यजुर्वेद १३।५२ में मन को भरद्वाज ऋषि; १३।५६ में चक्षु को जमदग्नि ऋषि; १३।५७ में श्रोत्र को विश्वामित्र ऋषि, और १३।५८ में वाणी को विश्वकर्मा ऋषि कहा गया है। ऐतरेय आरण्यक २ में गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज आदि नाम प्राण के कहे गये हैं। बृहदारण्यक १।३।२१ में प्राण को बृहस्पति, और ब्रह्मणस्पति कहा गया है। पुनः बृहदारण्यक २।२।४ में दक्षिण कान को गोतम और वाम कर्ण को भरद्वाज; दाहिनी आँख को विश्वामित्र और बायीं आँख को जमदग्नि, दक्षिण नासिका को वसिष्ठ और बायीं नासिका को कश्यप एवं वाणी को अत्रि कहा गया है।

शतपथ [1]८।१।२।३ में यजुर्वेदीय १३।५६ मन्त्र की व्याख्या करते हुये लिखा गया है कि चक्षु ही जमदग्नि ऋषि है क्योंकि इससे ही जगत् को देखते हुये मानना एवं जानना हुआ करता है। पुनः शतपथ [2]१३।२।२।१४ में प्रजापति को जमदग्नि कहा गया है। जमत् पद निघण्टु १।१७ में ज्वलने वाली वस्तु का नाम है। "जमति" जम् धातु का प्रयोग नि० २।१४ में गत्यर्थक माना गया है। इस प्रकार ज्वलिताग्नि और ज्ञाताग्नि विद्वान् जमदग्नि हुये। ऋग्वेद ५।६७।३; ८।१०१।८; ३।५३।१५;

१—चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत्पश्यति अथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः। श० ८।१।२।३

२—प्रजापतिर्वै जमदग्निः। श० १३।२।२।१४

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

३।५३।१६; ३।६२।१८; ६।६२।२४; ६।६५।२५; और १०।१६८।४ में जमदग्नि पद का प्रयोग है और सर्वत्र अर्थसंगति लग जाती है। जमदग्नि के अर्थ को पुष्ट करने के लिए एक विशेष बात यहाँ पर यह लिखने योग्य है कि ऋग्वेद [1]९।६७।५१ में कहा गया है कि "हे सोम = परमेश्वर ! आप सब के प्राप्त करने योग्य हैं। आप हमें दिव्य और पार्थिव समस्त धन दें। जिससे (नः) हम सब जमदग्नि की भाँति आर्षेयधन (ज्ञान) को प्राप्त करें। पूङ् धातु निघण्टु २।१४ में गत्यर्थक लिखी गयी है। तदनुसार "पूयमानः" का अर्थ यहाँ पर कर दिया है। जमदग्नि विश्वामित्र का मित्र और वसिष्ठ का प्रतिस्पर्धी है—यह सब कल्पना मनःप्रसूत है। हाँ—पूर्व दिये गये बृहदारण्यक के प्रमाण में दाहिनी आँख को विश्वामित्र और बायीं आँख को जमदग्नि कहा गया है अतः इनकी मैत्री की कल्पना की जा सकती है। परन्तु दाहिनी नासिका को वसिष्ठ कहा गया है अतः जमदग्नि के बिल्कुल तिरछे वसिष्ठ की स्थिति है। इसलिए यदि प्रतिस्पर्धा की कल्पना की गई हो तो कुछ थोड़ा सा तथ्य हो सकता है।

अथर्व २।३२।३ में जमदग्नि का अर्थ अग्नि भी हो सकता है और वैद्य भी हो सकता है।

जातुष्ठिर—

इण्डेक्स ने बतलाया है कि सायण और लुडविग (Translation of the Rigveda ३,१५२) ने इस शब्द को व्यक्तिवाचक नाम मानकर व्याख्या की है। परन्तु रॉथ (पीटर्सबर्ग कोष) ने इसे विशेषण पद माना है और इसका अर्थ स्वभावतः शक्तिशाली किया है।

यहाँ पर रॉथ की बात में कुछ तथ्य है परन्तु लुडविग आदि की कल्पना व्यर्थ और समझ से शून्य है। सायण ने भी विकल्प में "जातु कदाचित् सर्वदा स्थिरस्य" अर्थात् सदा स्थिर अर्थ किया है। इस प्रकार जातुष्ठिर का अर्थ सदा स्थिर है और मंत्रार्थसंगति भी इससे लग जाती है। ग्रासमैन ने इसका अर्थ "स्वभाव अथवा जन्म से शक्तिशाली" किया है। (देखें वैदिक इण्डेक्स)।

तरन्तः—

यह पुरुमीढ के साथ ऋग्वेद ५।६१।१० में श्यावाश्व के एक संरक्षक के रूप में प्रयुक्त दिखलाई पड़ता है। यह वैदिक इण्डेक्स का लेख है।

परन्तु यहाँ पर भी इण्डेक्स का लेख सायण पर आधारित है और वह भ्रमजनक है। तरन्तः कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। सायण ने यहाँ पर एक बड़ी भारी कहानी खड़ी की है जो अनर्गल है। इसका वस्तुतः वेद के इस सूक्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। पुरुमीढ और श्यावाश्व का अर्थ पूर्व दिखलाया जा चुका है। बहुत धन अथवा एहवाला पुरुमीढ है। तेज चाल के घोड़ों वाला श्यावाश्व है। "तरन्तः" का अर्थ तरणशील अर्थात् कठिनाइयों को पार करने वाला राजा अथवा मनुष्य है। वैसे भी कोई तरल एवं पिघला पदार्थ प्रक्रियानुसार तरन्त कहा जा सकता है। विदन्तोऽश्वा यस्य स विददश्वः तस्यापत्यं वैददश्विः—अर्थात् बहुत अश्वों वाला विददश्व है और उसका पुत्र वैददश्वि है। अर्थात् बहुत घोड़ों वाला लब्धाश्व पुरुष एवं राजा। ऋग्वेद ५।६१।६ में आये शशीयसी का अर्थ प्रशंसनीया है जो स्त्री के लिए प्रयुक्त है। अर्थात् स्त्री उस पुरुष से

१—अर्षा नो अर्षं दिव्या वसून्यभि विश्वा पार्थिवा पूयमान।
अभि येन द्रविणमश्नवामाऽऽर्षेयं जमदग्निवन्नः॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भी अधिक प्रशंसनीय और वसीयसी हो जाती है जो न धन रखता है और न देवोपासना प्रार्थना और यज्ञादि करता है। यह मंत्र का भाव है। सायण ने यहां पर शशीयसी का अर्थ इस नाम की स्त्री किया है। यह अर्थ नितराम् विपरीत है।

तरुक्ष—

वैदिक इण्डेक्स ने इसे भी आदमी का नाम माना है। परन्तु यह ग़लत है। यह किसी व्यक्तिविशेष का नाम नहीं है। तरुक्ष का अर्थ तारक है और वह मंत्र में आये "दास" का विशेषण है। बल्बूथ पद बल संवरणार्थक धातु से बना है। इसका अर्थ है धनादि पदार्थों से आच्छादित। अर्थात् प्रभूत धन वाला। निघण्टु ३।२० में दास धातु दानार्थक है। इससे "दास" पद बना है। इसका अर्थ है दाता। "मैं मेधावी तारक धनादि से सम्पन्न (बल्बूथ) दाता से सैकड़ों वस्तुयें प्राप्त करता हूँ"—यह ऋग्वेद ८।४६।३२ मंत्र के पूर्वार्ध का अर्थ है।

तार्क्ष्य—

इण्डेक्स ने इसे त्रसदस्यु का वंशज माना है। परन्तु जिस मंत्र का हवाला दिया है उस में "तृक्षि" पद है और त्रासदस्यव उसका विशेषण आया है। तृक्षि को तार्क्ष्य बना लेना बुरा नहीं परन्तु मन्त्र में उसका हवाला देना बुरा है। मन्त्र में तार्क्ष्य पद नहीं है। "तृक्षि" पद है और उसका अर्थ है ज्ञान का प्यासा। अथवा अज्ञान का विनाशक। त्रासदस्यव का अर्थ पूर्व कर दिया गया है। त्रसदस्यु का पुत्र अर्थात् शत्रुसंहारक। शत्रुसहारक ज्ञान पिपासु अज्ञान विनाशक राजा वा मनुष्य ही "त्रास्यदस्यव तृक्षि" का अर्थ है। ऋग्वेद ८।२२।७ में यह पद आया है और अर्थसंगति इससे लग जाती है।

तिरश्ची—

वह भी व्यक्तिविशेष नहीं। तिर्यगञ्चतीति तिरश्च्यावयति तिरश्चिनोति वा तिरश्ची। अर्थात् तिर्यक् गमन करने वाला, = तिरछी चाल चलने वाला नीतिज्ञ, अथवा इधर उधर से सब तरफ से स्तुति करने वाला अथवा सब तरफ से संग्रह करने वाला मनुष्य तिरश्ची है। वायु को तिरश्ची कहा जा सकता है। प्रक्रियानुसार अनेकार्थ हो सकता है। ऋग्वेद ८।६५।४ में यह पद आता है। मन्त्रार्थसंगति इस अर्थ से लग जाती है।

तिरिन्दिर—

इण्डेक्स कहती है कि तिरिन्दिर दानस्तुति के प्रकरण में ऋग्वेद ८।६।४६-४८ में आया है। यह पर्शु के साथ प्रयुक्त है और स्तोता को इसके द्वारा दान दिया गया वर्णित है।

यहां पर भी यह कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। तिरिन्दिर का अर्थ है अत्यन्त तरणशील। जो संग्राम और कठिनाइयों को आसानी से तैर जावे वह तिरिन्दिर है। यह पर्शु का पुत्र है यह कल्पना निराधार है। सायण का यहां पर इस प्रकार का अर्थ करना अनर्गल है। पर्शु पद के अनेक अर्थ हैं। स्पृश् धातु से पर्शु पद बनता है जिसका अर्थ पार्श्वास्थि है। यास्क ने निरुक्त ४।३ पर ऐसा ही अर्थ किया है। परान् शृणाति इति पर्शुः कूपेष्टका = अर्थात् कुयें की ईंट। यह अर्थ भी निरुक्त ४।७ के अनुसार है। निघण्टु २।१९ के अनुसार शृणाति वधार्थक है। इस

२९

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दृष्टि से शत्रुवों का वध करने वाला (परान् शृणाति इति पशुः) पशु है। तिरिन्दिर पद तॄ प्लवन-तरणार्थक धातु से बनेगा। तिरिन्तिरः में "न्ति" के के तकार को दकार हो गया है। इस प्रकार संग्राम का विजेता शत्रुवों का बध करने वाला राजा अथवा मनुष्य तिरिन्दिर पशु है। मंत्रार्थसंगति इस आधार पर लग जाती है।

तुग्र—

इण्डेक्स के अनुसार यह ऋग्वेद में भुज्यु के पिता और अश्विनियों द्वारा प्रतिपालित के रूप में वर्णित है। तदनुसार यह तुग्र्य तुग्र्या के नाम से भी पुकारा गया है। एक पृथक् तुग्र ऋग्वेद के कुछ स्थलों में इन्द्र के शत्रु के रूप में वर्णित है।

यहाँ पर इस पर विचार करने से पूर्व यह लिखना आवश्यक है कि इस समस्त कल्पना का आधार सायण का भाष्य है। उसने इन मंत्रों का भाष्य ही ऐसा किया है। इसको देखकर इन वेद के मर्म को न समझने वाले लोगों ने भी वैसा ही लिख दिया है। वस्तुतः तुग्र्या पद निघण्टु १।१२ में जल अर्थ में पढ़ा गया है। सायण ने ऋग्वेद ८।३२।२० में आये "तुग्र्ये" पद की व्याख्या करते हुये इसका अर्थ "उदके" लिखा है। साथ ही बुसम् तुग्र्यम्" इति उदकनामसु-पाठात्—से निघण्टु का हवाला भी दिया है। यद्यपि वर्तमान नैघण्टुक पाठ "तुग्र्या" मिलता है फिर भी पाठान्तर से "तुग्र्यम्" पाठ भी मिलता है। सायण ने इस पाठान्तर का ही अनुसरण किया है। यह अर्थ करते हुये भी वह लगभग सर्वत्र तुग्र, तुग्र्य और तौग्र्य एवं निष्टौग्र्य पदों का अर्थ व्यक्तिवाचक तुग्र का पुत्र करता है। कितनी बड़ी मतिहीनता की बात है। ऋग्वेद १।३४।१२ में "तुग्र्यासु" पाठ आया है। यहाँ पर निघण्टु के अनुसार जल अर्थ संघटित होता है। सायण यहाँ पर लिखता है "तुग्रशब्दोऽन्तरिक्षवचनः। तत्र भवास्तुग्रियाः। तुग्राद्धन् इति घन्। तस्य इयादेशः। इकार लोपश्छान्दसः। नित्वादाद्युदात्तत्वम्। अर्थात् तुग्र का अर्थ अन्तरिक्ष है। तुग्र से होने वाली तुग्रियाः है। परन्तु इकार का छान्दस लोप हो जाने से "तुग्र्याः" रूप बन गया है। यहाँ पर सायण "तुग्र" पद का अर्थ अन्तरिक्ष ले रहा है। यदि इस परिपाटी का अनुरण सर्वत्र करता तो तुग्र्य का अर्थ व्यक्तिविशेष न करता। वह इस महान् ग़लती से बच जाता। ऋग्वेद १।११६।३; १।११७।१४; ६।२०।८; ६।२६।४; ६।६२।६ तथा १०।४९।४ में "तुग्र" पद का प्रयोग भिन्न भिन्न विभक्तियों में हुआ है। सायण ने इन स्थानों पर अपना "अन्तरिक्ष" अर्थ छोड़कर व्यक्तिवाचक अर्थ ही किये हैं।

सायण की वैचिती की पोल और भी खुल जाती है जब हम इन सभी मंत्रों पर विचार करते हैं। सायण ने ऋग्वेद १।११६।३ मंत्र में आये "तुग्र" पद का अर्थ "अश्विनी का प्रिय कोई ऋषि" किया है। इसको वह वार वार अन्य मंत्रों में भी दुहराता गया है और यहाँ तक कि तौग्र्य, निष्टौग्र्य और तुग्र्य पदों की व्याख्या में भी इसी आधार पर अर्थ किया है। बहुधा मंत्रों में तुग्र के पुत्र भुज्यु की अश्विनी लोगों द्वारा रक्षा का वर्णन मिलता है। सायण के अनुसार ये अश्विनी समुद्र से अपनी नौका से भुज्यु को पार लाये। परन्तु ऋग्वेद ६।२०।८; ६।२३।४ में इन्द्र द्वारा तुग्र का वध लिखा है। इन दोनों स्थलों पर सायण ने अन्तरिक्ष अर्थ भी छोड़ दिया, तुग्र नाम का ऋषि अर्थ भी त्याग दिया और तुग्र नाम का असुर अर्थ किया है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ऋग्वेद १०।४९।४ में इन्द्र स्वयं कहता हैं कि मैं कुत्स के लिए तुग्र का मर्दन करता हूँ। सायण का तुग्र ऋषि कहाँ चला गया। क्या अश्विनी लोग जिस तुग्र के पुत्र भुज्यु की समुद्र से रक्षा करते है इन्द्र उसे राक्षस समझकर मारता हैं। एक स्थल पर तुग्र ऋषि है और दूसरे स्थान पर असुर है—यह किस प्रकार ठीक है। यह गोलमाल ही इस बात को सिद्ध करता है कि तुग्र का वास्तविक तत्व सायण की समझ में नहीं आया। इसे देखकर इण्डेक्स ने अपना पिण्ड यह कहकर छुड़ाया कि यह तुग्र भिन्न है जो इन्द्र का शत्रु है।

ऋग्वेद १०।३९।४; १।११८।६; १।११७।१५; १।१८२।५-७ तथा ऋग्वेद ८।५।२२ में "तौग्र्य" पद का प्रयोग बिभक्त्यन्तर से है। सायण ने यहाँ पर बहुधा तुग्र के पुत्र भुज्यु को तौग्र्य कहा है और ऐतिहासिक अर्थ ही किया है।

ऋग्वेद ८।४।२३; ८।३२।२० और ८।७४।१४ में "तुग्र्य" पद आये हैं। सायण ने ८।३२।२० में जल अर्थ किया है और अन्य स्थलों पर तुग्र का पुत्र भुज्यु अर्थ ही किया है। इन भिन्न भिन्न स्थितियों में ऋग्वेद में "तुग्र" आदि पदों का प्रयोग पाया जाता है। अब देखना यह है कि तुग्र पद का वास्तविक अर्थ क्या है। तुग्र्या पद तो जलार्थक है यह पूर्व कहा ही जा चुका है। "तौग्र्य" पद उनसे समूहार्थ में बना है। तुग्र्या का समूह अथवा तुग्र्या का पुत्र तौग्र्य है। यह पद हर अवस्था में जल का ही अर्थ देगा। क्योंकि वार वार कहा जा चुका है कि अपत्यार्थक प्रत्यय वेद में जड़ पदार्थों में भी होते हैं। तुग्र्य पद भी जलार्थक है अथवा यह भी तुग्र्या से बना हुआ है। दोनों अवस्थावों में जल का ही अर्थ देगा। अथवा तुग्र ही तौग्र्य है—इस प्रक्रिया को यहाँ पर अपनाया जा सकता है। अब रह जाता है "तुग्र" पद का अर्थ। वह भी मंत्र की आन्तरिक स्थितियों के अध्ययन से स्पष्ट हो जावेगा। सायण १।३२।१२ पर तुग्र का अर्थ अन्तरिक्ष करता है। यह दिखलाया जा चुका है। अतः अन्तरिक्ष में होने वाला जल तुग्र अथवा तौग्र्य होगा—यह तो सुतराम् सिद्ध हो जाता है। निरुक्त ४।१९ पर ऋग्वेदीय १०।३९।४ मंत्र की प्रतीक "च्यवन" पद के लिए उद्धृत की गयी है। इसी मंत्र में "तौग्र्य" पद भी है। स्कन्द स्वामी ने तौग्र्य को लेकर इसके आख्यान को बतलाया है। यह आख्यान नित्य पदार्थों का है और आश्विन सूक्तों में पाया जाता है। इस नित्याख्यान को न समझ कर सायण ने एक अनित्य इतिहास खड़ा कर दिया। इस मंत्र में "निष्टौग्र्यमूहथूरद्भ्यस्परि" पाठ द्वितीय अर्ध में आया है। इसका अर्थ है कि अश्विनी जल के समूह को अन्तरिक्ष में इधर से उधर चारों तरफ वहन करते हैं। तौग्र्य का अर्थ जल का समूह है। आपः निघण्टु १।३ में अन्तरिक्ष अर्थ में पठित है। ऋग्वेद १।११६।३ में "तुग्रोह भुज्युमश्विनोदमेघे ......अवाहाः" वाक्य मंत्र के पूर्वार्ध में आया है। यहाँ पर यह भाव व्यक्त होता है कि तुग्र ने भुज्यु को उदमेघ में छोड़ दिया और अश्विनियों ने उसे धारण किया। यहाँ पर भी उदमेघ पद पड़ा है। सायण इसका अर्थ समुद्र समझता है। परन्तु यह उदकसेक्ता अन्तरिक्ष के अर्थ में प्रयुक्त है। निघण्टु १।३ में समुद्र पद भी अन्तरिक्ष नाम में पढा गया है। अतः समुद्र पद भी यदि इस सम्बन्धी किसी मंत्र में आया है तो उसका भी अन्तरिक्ष अर्थ निकलेगा। ऋग्वेद १।११८।६ में निष्टौग्र्यं पारयथः समुद्रात्" पाठ है। इसका अर्थ है कि अश्विनी जल समूह का समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष से पार लगाते हैं। ऋग्वेद १।१८२।६ ठे मंत्र का पूर्वार्ध निम्न प्रकार

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है—अवविद्धं तौग्र्यमप्स्वन्तरनारम्भणे तमसि प्रविद्धम्। इसका अर्थ है कि आलम्बनरहित अन्तरिक्ष में अवविद्ध और निरालम्बन वाले तम (वाष्प) में बढ़े हुये जल समूह को—अश्विलोग पार करते हैं।

पुनः १।१८२।७ में कहा गया है कि कः स्विद्वृक्षो निष्ठितो मध्ये अर्णसो यं तौग्र्यो नाधितः पर्यषस्वजत्—अर्थात् कौन सा वृक्ष आकाशीय कुहरों के मध्य में है कि जिसको चाहता हुआ वह पकड़े।" ऋग्वेद ८।५।२६ में वृत्र के विशेषण के रूप में और्णवाभम्, अहीशुवम् और अर्बुदम् पदों का प्रयोग है और इन्द्र के द्वारा इसका मारा जाना तथा हिम से बध किया जाना लिखा है। यहां पर सभी पद् मेघार्थ को परिपुष्ट कर रहे हैं। आच्छादक आभा वाला होने से मेघ और्णवाभ है। नित्येतिहास को गर्भ में लिए हुये ऋग्वेद ६।६२।६ मंत्र सुन्दर प्रकाश डालता है। इसी के भाव को भली प्रकार न समझ कर भुज्यु का तुग्र को पिता मानकर अनित्येतिहास कल्पित कर लिया गया। मंत्र का पूर्वार्ध निम्न प्रकार है—

ता भुज्युं विभिरद्भ्यः समुद्रात्तुग्रस्य सूनुमूहथू रजोभिः। अर्थात् अश्विनी लोग अद्भ्यः समुद्रात् = व्यापक अन्तरिक्ष से तुग्र के सुनु = पुत्र भुज्यु को रजकणों द्वारा धारण एवं वहन करते हैं। इस प्रकार इन मंत्रों के परिशीलन से यह पता चला कि तुग्र का अर्थ मेघ है। उससे उत्पन्न जल भुज्यु अथवा तुग्र्य या तौग्र्य है। भुज अनवने धातु से भुज्यु पद बना है जिसका अर्थ हैं खाया जाने वाला। जल खाया जाता ही है।

ऋग्वेद ८।४।२३ में "अस्तं वयो न तुग्र्यम्" पद आये हैं। इसका अर्थ है कि जिस प्रकार गतिशील (वयः) किरणें जल को अपने गृह आकाश को ले जाती हैं। वयः का ऐसा ही अर्थ यास्क ने निरुक्त ४।३ पर किया है। यह "विः" का बहुवचन है। "विः" का अर्थ पक्षी भी होता हैं। ऋग्वेद ८।७४।१४ में "वयो न तुग्र्याम्" पद आये हैं। इनका अर्थ हैं कि जिस प्रकार "वयः" पक्षी लोग अथवा गमनशील किरणें जल को ले जाते हैं उसी प्रकार—। यह उपमार्थक है। इस प्रकार सर्वत्र मंत्रार्थसंगति लग सकेगी।

तुर्व—

इण्डेक्स कहती है कि यह तुर्वश लोगों अथवा राजा का नाम है। परन्तु यह ग़लत है। तुर्व का अर्थ तूर्णं अथवा त्वरितगति मनुष्य है। ऋग्वेद १०।६२।१० में यह पद आया है और इसका यह अर्थ ही मंत्रार्थसंगति का करने वाला है। यह कोई व्यक्तिविशेष नहीं, तुर्वश भी तो निघण्टु में मनुष्यार्थक है।

तुर्वश—

इण्डेक्स कहती है कि तुर्वश ऋग्वेद में बहुधा एक आदमी के नाम अथवा लोगों के नाम के रूप में प्रयुक्त है। सामान्येन इसका सम्बन्ध यदु के साथ है। यह एक वचन और बहुवचन आदि रूपों में प्रयुक्त है। इत्यादि।

इण्डेक्स ने यद्यपि इस विषय पर बहुत विस्तार दिया है परन्तु वह व्यर्थ है। सायण ने भाष्य में ऐसे स्थलों का अर्थ बहुधा इण्डेक्स के विचार से मिलता जुलता ही किया है। सायण की नक़ल करने वाले उससे आगे और क्या बढ़ सकते हैं। अपना कोई पांडित्य हो तो बात भी। निघण्टु २।३ में तुर्वश, यदु, पुरु, अनु, द्रुह्यु, आदि सभी मनुष्यार्थ में पढे गये हैं। ये शब्द वेद में

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मनुष्यार्थ में प्रयुक्त हैं। इस तथ्य को न समझ कर इनको व्यक्तिविशेष अथवा किसी जनपद के जनविशेष कहना वैदिक साहित्य से अपनी अनभिज्ञता का प्रकाश करना है। ऋग्वेद १।१०८।८ में यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु और पुरु—सभी पद आगये हैं। ये सभी मनुष्यार्थक और यौगिक हैं। ये कोई व्यक्तिविशेष नहीं। सभी मंत्रों की अर्थसंगति निघण्टु में दिये गये तुर्वश के अर्थों से लग जाती है। प्रक्रियाविशेष में यौगिक अर्थ करके अर्थसंगति भी लगायी जा सकती है।

तुर्वीति—

इण्डेक्स कर्त्तावों का कथन है कि यह ऋग्वेद में अनेकों वार "वाय्य" के साथ अथवा अकेले भी प्रयुक्त हुआ है। तीन संदर्भों में इन्द्र का इसे बाढ़ में सहायता देना वर्णित है। लुडविग ने अनुमान लगाया है कि यह तुर्वशों और यदुवों का राजा है। परन्तु इस विचार के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं है यद्यपि संभवतः यह तुर्वश जाति का है।

यहाँ भी वेद की यौगिक प्रक्रिया को न समझ कर यह सब मनःप्रसूत धारणा बनायी गयी है। तुर्वीति वस्तुतः कोई व्यक्तिविशेष नहीं। तुर्वीतिः का अर्थ है तूर्णवीतिः अर्थात् कुशाग्रबुद्धि अथवा आशुप्रज्ञ वा तीक्ष्णप्रज्ञ। यास्क ने निरुक्त ६।१४ पर "तुर्वणिः" का अर्थ तूर्णवनिः किया है। वही प्रकार यहां पर भी बर्ता जावेगा। "वय्य" का भी विचार करना यहां पर अभिप्रेत है। "वय्य" पद के अर्थ में भी सायण की बुद्धि कुण्ठित ही रही। ऋग्वेद १।५४।६ में वह "वय्य" पद को तुर्वीति पद का विशेषण बनाकर इसका अर्थ "वय्यकुलजं" अर्थात् वय्यकुलोत्पन्न करता है। अर्थात् वय्य कुलोत्पन्न तुर्वीति नाम का राजा सायण के अनुसार यहाँ पर वय्य तुर्वीति है। परन्तु ऋग्वेद २।१३।१२ में वह वय्य और तुर्वीति को पृथक् व्यक्ति बताता है। यहाँ पर वह कहता है कि वय्य नाम का कोई व्यक्ति वहाँ पर वय्य पद से अभिप्रेत है। ऐसा ही अर्थ वह ऋग्वेद ४।१६।६ मंत्र में भी करता है। यह सायण का रवैया उसकी कल्पना की निरर्थकता और उससे अनभिज्ञत्व को प्रकट करता है। सायण जहाँ जैसा मन में आता है ऊटपटांग मार देता है। उसके अर्थ की कोई संगति नहीं। वय्य पद दो प्रकार से बनाया जावेगा। प्रथम प्रकार यह है कि "वि" का पुत्र वय्य है। "वि" गत्यर्थक पद है। वि को अण् प्रत्यय करने पर "वाय" बनता है परन्तु यहाँ पर यकार को द्वित्य और ह्रस्वत्व दोनों बहुल करके होंगे। दूसरा प्रकार यह है कि वि धातु से सीधे यत् का निपातन करके वय्य बना लिया जावे। दोनों अवस्थावों में वय्य का अर्थ वेगवाला, अथवा ज्ञानवाला होगा। अतः ज्ञान वाला अथवा गतिशील मनुष्य वय्य है। मंत्रार्थसंगति इस आधार पर लग जावेगी। प्रक्रियानुरोधेन अर्थान्तर भी इन पदों का हो सकेगा। यह तुर्वीति तुर्वशों का राजा है अथवा तुर्वशों की जाति का है—इत्यादि कल्पनायें व्यर्थ और निराधार हैं। यहाँ पर सुन्दोपसुन्दन्याय से इण्डेक्स और लुडविग दोनों का मत खण्डित हो जाता है। तुर्वीति पद ऋग्वेद में १।५४।६; २।१३।१२; ४।१६।६; १।३६।१८; १।६१।११; १।११२।२३; १।६१।११ स्थलों में आया है। विशेषता की बात तो यह है कि ऋग्वेद १।११२।२३ में तुर्वीति, दभीति ध्वसन्ति, पुरुषन्ति पद एक साथ आये हैं। सायण ने यहां पर तुर्वीति पद को "तुर्वी" हिंसार्थक धातु से बनाया है। अर्थात् तुर्वीति का अर्थ शत्रुवों का हिंसक है। दभीति पद को दम्भु दम्भे धातु से निष्पन्न किया है। ध्वसन्ति की निष्पत्ति ध्वंसु गतौ से की है। पुरुषन्ति का अर्थ पुरु सनोति ददाति इति पुरुषन्तिः किया है। परन्तु अर्थ सब का व्यक्तिवाचक ले लिया है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तूर्वयाण—

इण्डेक्स के अनुसार यह ऋग्वेद में वर्णित एक राजा का नाम है। परन्तु यह ठीक नहीं है। यह व्यक्तिवाचक पद नहीं है। ऋग्वेद ६।१८।१३ में आये "तूर्वयाण" पद का अर्थ सायण ने त्वरितगमन दिवोदास किया है। यह कल्पना उसकी अपनी है। वस्तुतः तूर्वयाण का अर्थ त्वरितगमन वाला राजा अथवा मनुष्य है। प्रक्रियान्तर में वायु और सूर्य भी हो सकता है। ऋग्वेद १।५४।१० में आये तूर्वयाण का भी यही अर्थ है।

तृक्षिः—

तार्क्ष्य के प्रसंग में इसकी व्याख्या कर दी गयी है।

तृत्सु—

ऋग्वेद में यह व्यक्तिवाचक नाम के रूप में एक वार एक वचन और अनेकों बार बहुवचन के रूप में प्रयुक्त है, ऐसा इण्डेक्सकर्त्तावों का मत है।

परन्तु ऋग्वेद में तृत्सु कोई व्यक्तिविशेष नहीं। बहुवचन का प्रयोग ही इस बात का प्रमाण है कि यह व्यक्तिवाचक नाम नहीं है। तृत्सु पद तृञ् धातु से बना है। इसका अर्थ है तैरने की की इच्छा करने वाला। संसार के दुःखों से पार तैरने वाला तृत्सु है। अथवा हिंसार्थक मान कर इसका अर्थ काम आदि शत्रुवों का वध करने वाला होगा। ऋग्वेद ७।१८।७; ७।१८।१५; ७।१८।१९; ७।३३।५-६; ७।८३।४,६८ मंत्रों में तृत्सु पद प्रयुक्त है। परन्तु ७।१८।१३ में एकवचन में प्रयोग है और सर्वत्र बहुवचन में प्रयोग है। ऋग्वेद ७।८३।८ मन्त्र तृत्सु के इस दिये गये अर्थ पर और भी अधिक प्रकाश डालता है। इस मन्त्र में "श्वित्यञ्चः कपर्दिनः धिया धीवन्तः विशेषण "तृत्सवः" के पड़े हैं। इससे ज्ञात होता है पवित्र (श्वित्यञ्चः) जटाधारी (कपर्दिनः) बुद्धि से बुद्धिमान (धिया धीवन्तः) जन तृत्सु हैं। सायण ने ऋग्वेद ७।१८।७ मन्त्र के अर्थ में तृत्सु का अन्वय गलत किया है। साथ ही "तृत्सुभ्यः" को पंचमी विभक्ति में माना है। तृत्सुभ्यः का अर्थ हिंसकेभ्यः किया है। परन्तु अन्यत्र यह अर्थ संगत नहीं कर सका है। वस्तुतः इस मन्त्र में "तृत्सुभ्यो नॄन् युधा अजगन्" ऐसा अन्वय करना चाहिए। इससे तृत्सु के अर्थ में फेर फार की जरूरत नहीं पड़ेगी। सभी मन्त्रों में अर्थसंगति पूर्वोक्त दिये गये तृत्सु पद के अर्थ के आधार पर लग सकती है।

तृष्टामा—

इण्डेस ने नदी का नाम माना है। परन्तु इसके परिचय में साधनों का अभाव माना है। वस्तुतः वह कोई विशेष नदी नहीं है। इण्डेक्स के कर्त्तावों को और सायण को केवल भ्रम मात्र है। ऋग्वेद १०।७५।६ में यह पद प्रयुक्त है और इसका अर्थ क्षिप्रगामिनी जलधारा है।

तौग्य्—

इसका अर्थ तुग्र के प्रसंग में कर दिया है।

त्रसदस्यु—

इसका अर्थ द्वितीय प्रकरण में पौरुकुत्स के इतिहास का निराकरण करते हुए दे दिया गया है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

त्रासदस्यव—

अतिथिग्व और तार्क्ष्य के प्रसङ्ग में इसका अर्थ कर दिया गया है।

त्रित—

इसका अर्थ द्वितीय प्रकरण में त्रित के इतिहास के निराकरण के अवसर पर कर दिया गया है।

त्रिशोक—

इण्डेक्सरचयितावों का कथन हैं कि त्रिशोक एक प्राचीन काल्पनिक ऋषि का नाम है जिसका कि ऋग्वेद और अथर्व वेद में वर्णन है।

इण्डेक्स का मत यहाँ पर भी समुचित नहीं दीख पड़ता है। ऋग्वेद १।११२।१२; ८।४५।३० और १०।२९।२ में त्रिशोक पद आया है। त्रिशोक का वास्तकि अर्थ तीन प्रकार की चमक वाला। अथवा तीनों लोकों में चमक रखने वाला। अथवा तीनों प्रकार के प्रकाश (मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक) वाला। अथवा तीन प्रकार के दुःखों वाला संसारी मनुष्य। इस प्रकार सूर्य, अग्नि और आत्मा तथा मनुष्य अर्थ प्रक्रियानुसार त्रिशोक से निकलेंगे। मन्त्रार्थसंगति भी अच्छे प्रकार सेलग जावेगी।

त्रतन—

इण्डेक्स के दृष्टिकोण से त्रैतन दीर्घतमाः का शत्रु एक दास है। ज्ञात होता हैं कि इसने दीर्घतमा को एक युद्ध में उद्यत किया और उसे परास्त किया। ऋग्वेद १।१५८।५ में यह प्रयुक्त हैं।

इण्डेक्स ने यहां पर सायण और बृहद्देवता आदि पुस्तकों का अनुसरण किया है। महाभारत में दीर्घतमा की बहुत लम्बी अनर्गल कथा लिखी है। उसी का पल्लवन सायण ने भी मन्त्रों में कर दिया। महाभारत की कथा वस्तुतः अनर्गल है और ऋग्वेद के मन्त्रों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। सायण का मन्त्रों से ऐसी अनर्गल कथा का समर्थन करना उसकी वेदरहस्यानभिज्ञता का प्रमाण है। यहाँ पर विशद विचार करना अभिप्रेत है। त्रैतन पद जिस मन्त्र में आया है उससे अगले मंत्र में "दीर्घतमाः" पद भी पड़ा है। दीर्घतमा को औचथ्य और मामतेय कहा गया है। औचथ्य पद का प्रयोग ऋग्वेद १।१५८।१, ४, में आया है। उचथ पद का अर्थ है स्तुति करने वाला। वही स्वार्थ में अण् प्रत्यय होकर औचथ्य कहलाता है। औचथ्य स्तोता का पुत्र औचथ्य है। मामतेय का अर्थ है ममता का पुत्र। ममता ममत्व को कहा जाता है। यह मेरा है—इत्यादि भावना ममता है ममता वाला मामतेय कहलाता है। मामतेय पद का प्रयोग ऋग्वेद १।१४७।३; १।१५८।६; १।१५२।६ और ४।४।१३ में आया हुआ है। दीर्घतमा पद ऋग्वेद १।१५८।६, ८।९।१० में प्रयुक्त है। दीर्घतमा का अर्थ है "दीर्घं तमः यस्य स दीर्घतमाः" अर्थात् अधिक अन्धकार वाला गर्भ में आने वाला जीव दीर्घतमाः है। क्योंकि अज्ञान से वह गर्भ में आता है। और गर्भ भी घोर अन्धकार का सूचक है। यहाँ पर कई लोग आपत्ति यह उठा सकते हैं कि ऋग्वेद ८।९।१० में उसका विशेषण ऋषि लिखा हुआ हैं फिर वह गर्भ में आने वाला अथवा आने को उद्यत जीव

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ऋषि कैसे हो सकता है। इसका समाधान यह है कि ऋषि पद तो गत्यर्थक धातु से बना है और प्रत्येक दर्शनीय, समझ वाले, गतिशील पदार्थ आदि के लिए प्रयुक्त हो सकता है। इन्द्रियाँ भी ऋषि और प्राण भी ऋषि कहे जाते हैं। अतः ऋषि पद के प्रयोग से कोई आपत्ति नहीं।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में रहने से जीव का नाम त्रित है। उसका किया हुआ या उससे सम्बद्ध त्रैतन है। अथवा जाति, आयु, और भोग रूप तीन फलों का दाता होने से त्रैतन है। अथवा कर्म, विपाक और वासना की स्थितियों में रहने से त्रैतन है। दास पद कर्म के लिए है। यह दास पद दानार्थक दास धातु से भी बन सकता है और दसु उपक्षयार्थक धातु से भी बनाया जा सकता हैं। फलों का दाता होने से वह दास है अथवा अज्ञान का निमित्त बनकर मोक्ष को फल-पर्यन्त रोक रखता है। अतः दास दीर्घतमा को अनेक भोगों में पछाड़ता रहता है।

मन्त्रार्थ सङ्गति निम्न प्रकार है—

वसू रुद्रा पुरुमन्तू वृधन्ता दशस्यतं नो वृषणावभिष्टौ।
दस्रा यद्द्रेक्ण औचथ्यो वां प्र यत्सस्राथे अक वाभिरूती॥

ऋ० १।१५८।१

अर्थ—

गर्भ में आने वाला जीव (औचथ्य) कहता हैं कि कामनावों के वर्षक व्याधियों के शामक, शरीर में और जगत् में वास करने वाले, रुद्ररूप, शरीर की वृद्धि करने वाले अभीष्ट साधक, बहुधा शक्तियों वाले प्राणापान (अश्विनी) मुझे हर प्रकार की शारीरिक सम्पत्ति दें और विस्तृत करें। अपनी प्रशस्त रक्षणक्रिया से मेरी रक्षा करे।

दूसरे और तीसरे मन्त्र की सङ्गति सरल है अतः यहां पर नहीं लगायी।

उपस्तुतिरौचथ्यमुरुष्येन्मा मामिमे पतत्रिणी विदुग्धाम्।
मा मामेधो दशतयश्चितो धाक् प्र यद्वां बद्धस्त्मनि खादति क्षाम्॥

ऋ० १।१५८।४

अर्थ—

गर्भ में आने वाला जीव कहता है—कि मुझ स्तोता की स्तुति रक्षा करें। ये रात्रि और दिन (पतत्रिणी) मुझे न जलावें। दश माश पर्यन्त रहने वाला संचित इन्धनवत् यह गर्भजरायु मुझे न जला देवे। प्राणपानों से युक्त अपने में बद्ध यह गर्भ उत्पन्न होकर जमीन को खाता हैं। अर्थात् जमीन पर लोटता हैं। उरुष्यती निरुक्त ५।२३ में रक्षार्थक हैं।

न मा गरन्नद्यो मातृतमा दासा यदीं सुसमुब्धमवाधुः।
शिरो यदस्य त्रैतनो वितक्षत्स्वयं दास उरो अंसावपि ग्ध॥

ऋ० १।१५८।५

अर्थ—

वह जीव पुनः कहता हैं—मातृतमा नाडियां (नद्यः) मुझे न निगल जावें जिससे संकुचिताङ्ग मुझ को कर्म भी न पछाड़ गिरावें। यदि यह त्रिविध फलदाता कर्म मेरे शिर, हृदय

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

और स्कन्ध को काटे (पछाड़े) तो वह अपने शिर, हृदय और स्कन्द को काटे। निघण्टु ५।३ में नदी पद नाम में पठित है अतः नाड़ी अर्थ यहां किया है।

दीर्घतमा मामतेयो जजुर्वान्दशमे युगे।
अपामर्थं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः ॥

ऋ० १।१५८।६

अर्थ—

प्राणापान की महिमा से ममता वाला, यह गर्भ में आने वाला जीव दशवें मास में गर्भ से बाहर आता है। मन फल को प्राप्त होने वाले कर्मों का सारथि बनता है। जॄ धातु नि० ४।१ में पद नाम में है। इससे जजुर्वान् पद बना है। युग पद का अर्थ काल विशेष है। यास्क ने निरुक्त ४।२० पर ऐसा ही माना है और सायण ने भी ऐसा ही अर्थ किया है। गोपथ पू० २।१०, उत्तरार्ध ५।४ में मन (मन एव ब्रह्मा) को ब्रह्मा कहा गया है। अतः यहां पर ब्रह्मा का अर्थ मन किया गया है।

मामतेय सम्बन्धी मन्त्रों की संगति निम्न प्रकार है—

आ धेनवो मामतेयमवन्ती ब्रह्मप्रियंपीपयन्त्सस्मिन्नूधन्।
पित्वो भिक्षेत वयुनानि विद्वानासाविवासन्नदितिमुरुष्येत् ॥

ऋ० १।१५२।६

अर्थ—

मन है मित्र जिसका ऐसे ममता वाले जीव को गायें रक्षा करती हुई अपने दूध से तृप्त करती हैं। यह खाने पीने की क्रियावों को जानता हुआ मुख से खाने के लिए अन्न (पित्वः) मांगता है और प्राणापान की सेवा करता हुआ—अखण्डित शक्ति (अदिति) शारीरस्थ प्रकृति की रक्षा करता है।

ये पायवो मामतेयं ते अग्ने पश्यन्तो अन्धं दुरितादरक्षन्।
ररक्ष तान्सुकृतो विश्ववेदा दिप्सन्त इद्रिपवो नाह देभुः ॥

ऋ० १।१४७।३

अर्थ—

अग्नि की जो रक्षक शक्तियां ममतायुक्त, गर्भ में आने वाले, जीव को अन्धकार में देखती हुई पतन आदि बुराइयों से बँचाती हैं उन उत्तम कर्मकर्त्री शक्तियों की रक्षा सर्वज्ञ भगवान् (विश्ववेदाः) करता है। उसी की कृपा से इसे विरोधी एवं अपघातक शक्तियां भी नहीं दबा सकती हैं।

यद्वां कक्षीवां उत यद्व्यश्व ऋषि यद्वां दीर्घतमा जुहाव।
पृथी यद्वां वैन्यः सादनेष्वेवेदतो अश्विना चेतयेथाम् ॥

ऋ० ८।९।१०

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अर्थ—

इन प्राण और अपान अथवा माता-पिता (अश्विनी) इस जगत् में जिस प्रकार विचरणशील कक्षीवान् = बन्धनयुक्त जीव पुकारता एवं ग्रहण करता है, जिस प्रकार गर्भ में आने वाला जीव स्वीकार करता है, जिस प्रकार इन्द्रियों से युक्त जीव स्वीकार करता है, अथवा जिस प्रकार आत्मा सम्बन्धी विस्तृत शक्ति इन्हें ग्रहण करती है इसी प्रकार ये भी इन सब की रक्षा का ख्याल रखते हैं। वेन निघण्टु ५।४ में पद नाम में है और कौषीतकी ८।५ में आत्मा अर्थ में प्रयुक्त है (आत्मा वै वेनः) अतः यहाँ पर वैन्य का अर्थ "आत्मसम्बन्धी" किया गया।

ये पायवो मामतेयं ते अग्ने पश्यन्तो अन्धं दुरितादरक्षन् ।
ररक्ष तान्सुकृतो विश्ववेदा दिप्सन्त इद्रिपवो नाह देभुः ॥

ऋ० ४।४।१३

अर्थ—

प्राण की जो रक्षक शक्तियें ममतावाले, गर्भ में आने वाले जीव को अन्धकारमय गर्भ में देखते हुये दोषों से बंचाती हैं उनकी (विश्ववेदाः) समस्त शरीर में विद्यमान् अग्नि रक्षा करता है। इसी कारण विघातक शक्तियें अपने कार्यों को करते हुए भी उसे आक्रान्त नहीं कर सकती हैं। देवता का अर्थ प्रक्रियानुसार बदलने पर इन मन्त्रों को अर्थसंगति भी उसी प्रकार यौगिक आधार पर प्रकरणान्तर से भी की जा सकेगी।

त्रैवृष्ण त्र्यरुण—

इण्डेक्स के अनुसार एक राजा का नाम है जो त्रिवृष्ण का वंशज है।

वस्तुतः तत्व ऐसा नहीं। त्र्यरुण कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। त्रिवृषण भी कोई व्यक्तिविशेष नहीं। अरुण पद का अर्थ यास्क ने ४।२१ पर आरोचन किया है। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक त्रिविध शक्तियों से प्रकाशमान मनुष्य त्र्यरुण है। प्रक्रिया विशेष में सूर्य भी अर्थ इसका हो सकता है। अथवा चन्द्रमा भी त्र्यरुण कहा जा सकता है। त्रिविध प्रकार के सुखों की वर्षा करने वाला (आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक) त्रिवृषन् है। त्रिवृषन् का पुत्र त्रैवृष्ण है। इस प्रकार मन्त्रों की अर्थसंगति भी लग जाती है। यह पद ऋग्वेद ५।२७।१–३ मन्त्रों में प्रयुक्त है।

दभीति—

इसकी व्याख्या धुनि और चुमुरि की व्याख्या के प्रसङ्ग में कर दी गई है।

दशग्व—

इण्डेक्स का कथन है कि यह एक व्यक्ति का नाम है जिसकी इन्द्र ने सहायता की थी।

परन्तु वह सर्वथा ग़लत है। यह व्यक्तिवाचक नहीं है। यास्क ने निरुक्त ११।२१ पर नवग्वाः का अर्थ नवगति और नवनीत-गति किया है। इसी प्रकार यहाँ पर भी दशग्व का अर्थ दशगति होगा। दशों अंगुलियों से गति करने वाला कुशल दशग्व है। अथवा दशों दिशाओं में गति करने वाला दशग्व है। प्रक्रिया विशेष से सूर्य और कुशल मनुष्य इसके अर्थ होंगे। ऋग्वेद में

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

१।६२।४ में "नवग्वैः" और दशग्वैः दोनों पद आये हैं । इन का विशेषण "विप्रैः" भी पड़ा है । इस प्रकार ये अंगिरोगण हैं । ये नवग्वा भी हैं और दशग्वा भी हैं । अंगिरावों का वर्णन पूर्व किया जा चुका है । ये जहाँ भौतिक जगत् के पदार्थ हैं वहाँ इनसे ज्ञानिजन और याज्ञिक जनों का भी बोध होता है । ऋग्वेद २।३४।१२ में भी "दशग्वाः" का वर्णन है । यहाँ मंत्र में बताया गया है कि इन दशग्वों ने प्रथम संसार यज्ञ को धारण किया । पहले भी बतलाया जा चुका है कि संसार यज्ञ की दैवत प्रक्रिया में इन का हाथ है । ऋग्वेद ३।३९।५ में लिखा है कि इन्द्र ने नवग्वा और दशग्वा अंगिरावों के सहयोग से मेघों से छिपायी गयी सूर्य किरणों को पाया और अन्धकार में गये हुये सूर्य को प्राप्त किया । ऋग्वेद ४।५१।४ में उषा का अपने प्रकाश के द्वारा सप्तास्य नवग्व और दशग्व में प्रकाशित होना दिखलाया गया है । यहाँ पर सप्तास्य कहने से जहाँ भौतिक जगत् में अंगिरा अग्नि का नाम है वहाँ याज्ञिक प्रक्रिया में याज्ञिक के अर्थ में भी यह लगता है । भौतिक जगत् में सात ज्वालायें अग्नि के सप्त मुख हैं परन्तु यज्ञ प्रक्रिया में ७ छन्द याज्ञिक विद्वान् के मुख हैं । ऋग्वेद ५।२९।१२ में आया है कि नवग्व और दशग्व अंगिरा लोग सोम को निचोड़ कर इन्द्र की अर्चना करते हैं । यहाँ पर भी प्रक्रियानुसार दोनों अर्थ लगेगा । ऋग्वेद १०।६२।५ में अंगिरावों को अग्नि से उत्पन्न बतलाया गया है । निरुक्त ३।१७ पर इस मन्त्र की व्याख्या भी है । पुनः ऋग्वेद १०।६२।६ में तो इस पहेली को और भी स्पष्ट कर दिया गया है ।

जिसका मन्त्रकलेवर निम्न प्रकार है—

ये अग्नेः परिजज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि ।
नवग्वो नु दशग्वो अंगिरस्तमः सचा देवेषु मंहते ॥

अर्थात्—

विविध रूपोंवाले जो अंगिरा लोग द्युलोक में अग्नि से चारों तरफ उत्पन्न होते हैं उनमें नवग्व और दशग्व अंगिरस्तम है और यह देवों में स्थित हो महत्व को प्रकट करते हैं । यहाँ पर स्पष्ट कर दिया गया कि ये दैवतप्रक्रियानुसार होने वाली सृष्टिरचना के कारण तत्त्व हैं । इस प्रक्रिया का दूसरे प्रकरण में वर्णन किया जा चुका है जिसका नाम देवसृष्टि है । प्रक्रियानुसार इनका अर्थान्तर भी होता है । इनको आख्यानविद् क्या मानते हैं और नैरुक्त क्या मानते हैं—यह पूर्व प्रकरण में वर्णित किया जा चुका है ।

दशव्रज—

इण्डेक्स इसे आश्विन के प्रतिपालित का नाम बतलाती है । परन्तु यह व्यक्तिवाचक नाम नहीं है । ऋग्वेद ८।८।२०; ८।४९।१ और ८।५०।९ में यह पद आया है । वस्तुतः दश व्रज है जिसके उसका नाम दशव्रज है । व्रज पद निघण्टु १।१० में मेघ नाम में पठित है । समूह और गोसमूह अथवा गोष्ठान के लिए भी प्रयुक्त होता है । इस प्रकार प्रक्रियान्तर में दशव्रज का अर्थ दशमेघों-वाला, दश गोशालाओं वाला होगा । अथवा दश इन्द्रियों का समूह है जिसके उसको दशव्रज कहा जाता है । मंत्रों की अर्थसंगति इस आधार पर लग सकेगी ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दशोणि—

इण्डेक्स इसे इन्द्र द्वारा रक्षित और पाणियों का शत्रु मानती है। परन्तु "दशोणि" व्यक्तिविशेष नहीं है। यह ऋग्वेद ६।२०।४ में कवि का विशेषण है और इसका अर्थ बहुत हवि वाला है। पुनः ऋग्वेद ६।२०।४ में यह मेघ के अर्थ में है।

दस्यवे वृक—

इण्डेक्स का कहना है कि इसका अर्थ दस्यु का वृक है और यह एक आदमी का नाम है जो ऋग्वेद में चार वार प्रयुक्त हुआ है। एक सूक्त में यह ऋषि कहा गया है परन्तु दो दूसरे सूक्तों में यह स्पष्ट एक राजा और दस्युवों पर विजयी, तथा गायक का एक उदार संरक्षक कहा गया है। यह बहुत आवश्यक नहीं है कि यहां इन दो प्रकार के वर्णनों से दो विभिन्न व्यक्तियों की कल्पना की जावे। क्योंकि "ऋषि" पद राजत्व से बिलकुल असमंजस नहीं है। यह पूतक्रतु और उसकी पत्नी पूतक्रता का पुत्र है।

इण्डेक्स ने यहाँ पर भी व्यर्थ की कल्पनाभित्ति खड़ी की है। इसके कर्त्ता पर हंसी आती है कि इसने "दस्यवे वृकः" पद का अर्थ दस्यु का भेड़िया किया और इसे एक आदमी का नाम माना। यह बात ऐसी ही है कि कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा भानुमती ने कुडवा जोड़ा। क्योंकि दस्यवे अन्यत्र भी अन्वय खाता है। "वृकः" भी अन्यत्र अन्वय खाता है। कई भाष्यकार ऐसा ही अन्वय करते हैं। अगर एक साथ ही अन्वित मान लिया जावे तब भी यह इन्द्र का विशेषण होगा किसी व्यक्ति का नाम नहीं। दस्यु का वृक यह अर्थ ही लिया जावे—यह ठीक नहीं। दस्यु के लिए विकर्तन अर्थ भी हो सकता है। वृकः का अर्थ विकर्तन करके इन्द्र का विशेषण बनाया जा सकता है और "दस्यवे" को अन्यत्र अन्वित किया जा सकता है। यह पूतक्रतु और पूतक्रता का पुत्र है—यह ही सूचित करता है कि यह भेड़िया नहीं हो सकता। दस्युवों का भेड़िया होना और साथ ही पूतक्रतु का पुत्र होना कितना विषम है। इन्द्र ही वस्तुतः पूतक्रतु है। इण्डेक्स ने पूतक्रता को पूतक्रतु की पत्नी वर्णित किया है परन्तु भाष्यकार लोग इसे उसकी माता कहते हैं। इन्द्र अदिति के आठ पुत्रों में में एक है अतः ऐसा अर्थ लिया जाता है। पूतक्रता का अर्थ अदिति होगा। क्रतु पद निघण्टु २।१ और ३।९ में क्रमशः कर्म और प्रज्ञा अर्थ में पढ़े गये हैं। अतः पवित्र कर्म एवं प्रज्ञा वाला पूतक्रतु है। जब इन्द्र का अर्थ सूर्य एवं विद्युत् होगा उस समय पूतक्रतु का अर्थ पवित्र कर्मवाला होगा। जब राजा अथवा आत्मा अर्थ में प्रक्रियानुसार प्रयुक्त होगा तब पवित्र कर्म एवं पवित्र प्रज्ञावाला अर्थ निकलेगा। क्रतु का अर्थ यज्ञ भी होता है। तदनुसार पवित्र यज्ञ वाला भी अर्थ पूतक्रतु का हो सकेगा। पूतक्रतुरेव पौतक्रतः—अर्थात् पूतक्रतु ही पौतक्रत है। "वृकः" पद के वेद में अनेक अर्थ हैं। यास्क ने निरुक्त ४।२० पर वृक का अर्थ चन्द्रमा दिया है। पुनः आदित्योऽपि वृक उच्यते—ऐसा कहकर आदित्य को भी वृक कहा है। यास्क ने वृक का हल अर्थ नि० ६।२६ पर ग्रहण किया है। अतः यह नितराम् सिद्ध है कि वृक यौगिक पद है। यौगिक पद होने से इसका अर्थ विकर्तन भी होता है। दस्यु का अर्थ दुष्ट भी है और मेघ भी। प्रक्रियान्तर से दोनों अर्थ गृहीत होंगे। इस प्रकार "दस्यवे वृकः" का अर्थ मेघ का विकर्तन अथवा दुष्टों का विकर्तन इन्द्र होगा। इन्द्र का अर्थ राजा, सूर्य और आत्मा तीनों होंगे।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इस पद का प्रयोग ऋग्वेद ८।५१।२; ८।५५।१ और ८।५६।१-२ में है। इन मंत्रों की अर्थसंगति निम्न प्रकार है—

पार्षद्वाणः प्रष्कण्वं समसादयच्छयानं जिव्रिमुद्धितम् ।
सहस्राण्यषिसासद्गवामृषिस्त्वोतः दस्यवे वृकः ॥

ऋ० ८।५१।२

१—अर्थ—

परुषवाक्, (तड़क का कारण) मेघ का विकर्तन करने वाला, प्रकाशमय इन्द्र (सूर्य एवं विद्युत्) अकेले अपनी रक्षा करता हुआ प्रष्कण्व = क्वणनशील (गर्जना वाले) जीर्ण, ऊर्ध्वस्थ शयन करते हुये मेघ को काटता है । और सहस्रों किरणों को आकाश में विस्तृत करता है । बाण पद निघण्टु१।११में वाणी अर्थ में है। "कण्व" पद को क्वणन अर्थ में ग्रहण किया है। "गौ" किरणों का नाम है ।

२—अर्थ—

दस्यु=चोर डाकू का विकर्त्तन परुषवाक् ज्ञानी स्वयं रक्षित राजा समाधि में शयन करने वाले, जीर्ण, उर्ध्वस्थित मेधावी को प्राप्त करता है और सहस्रों गायों को प्रदान करता है । "समसादयत्" का मारना और प्राप्त करना दोनों ही अर्थ है । "त्व" का अर्थ एक है। निरुक्त में इसे देखा जा सकता है । अतः "त्वोतः पद का अर्थ अकेले रक्षित अथवा स्वयं रक्षित किया है ।"

भूरीन्द्रस्य वीर्यं व्यख्यमभ्यायति । राधस्ते दस्यवे वृक ॥

ऋ० ८।५५।१

अर्थ—

इन्द्र का पराक्रम महान् है—और सब तरफ से आता है यह मैं (उपासक एवं विज्ञान-वेत्ता) जानता हूँ । हे दस्यु के विकर्त्तन इन्द्र ! आप का धन प्रशंसनीय है । यहाँ मन्त्र के प्रथम अर्ध में परोक्ष करके वर्णन है और दूसरे अर्ध में प्रत्यक्ष करके वर्णन है ।

प्रति ते दस्यवे वृक राधो अदर्श्यह्रयम् । द्यौर्न प्रथिना शवः ॥

ऋ० ८।५६।१

अर्थ—

हे मेघ के विकर्तन इन्द्र ! तुम्हारे अनवद्य धन को मैं देखता हूँ । यह धन द्युलोक के समान विस्तृत है ।

दश मह्यं पौतक्रतः सहस्रा दस्यवे वृकः । नित्याद्रायो अमंहत ॥

ऋ० ८।५६।२

अर्थ—

पवित्रकर्मा, मेघ का विकर्त्तन इन्द्र मुझ स्तोता को (दश सहस्र =) अत्यधिक धन सदा प्रदान करता है ।

तत्रो अपि प्राणीयत पूतक्रतायै व्यक्ता । अश्वानामिन्न यूथ्याम् ॥

ऋ० ८।५६।४

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अर्थ—

आकाश में सर्वतः गन्ता (व्यक्ता) इन्द्र द्युलोक में अदिति के लिए (पूतक्रतायै) अश्वों की संहति के समान किरणों को बिखेरता है। अदिति प्रकाश का नाम भी है और अदिति पृथिवी का भी नाम है।

ऋग्वेद ८।६८।१७ में भी "पूतक्रतु" पाठ आया है। परन्तु यहाँ यह "इन्द्रोत" का विशेषण है। इन्द्रोत की व्याख्या पहले की जा चुकी है। "पूतक्रतो" का अर्थ "शुद्धप्रज्ञे" अथवा "शुद्धकर्मोपेते" होगा। सायण ने भी यही अर्थ किया है।

दस्यु—

दस्यु पद का अर्थ मेत्र आदि दिखलाया जा चुका है।

दाक्षायण—

इण्डेक्स के कर्त्ताओं का कथन है कि दाक्षायण दक्ष का वंशज है और अथर्व वेद एवं यजुर्वेद में वर्णित है। यह शतानीक को सोना देने वाले के रूप में वर्णित है।

यहाँ पर भी इण्डेक्स कर्त्ताओं ने धोखा खाया है। दाक्षायण पद का प्रयोग अथर्व १।३५।१-२ और यजुर्वेद ३४।५१-५२ में प्रयुक्त है। यहाँ पर वह हिरण्य का विशेषण है। दक्ष नाम अग्नि का है। दहति वस्तुजातमिति दक्षः। अग्नि से सोना उत्पन्न होता है। इसीलिए उसे आग्नेय कहा जाता है। आग्नेय होने से उसका नाम दाक्षायण है। अथवा अग्नि में दग्ध किया हुआ—भस्म बनाया गया सोना दाक्षायण हिरण्य कहलाता है। इसको खाने अथवा सोने को धारण करने से नैरोग्य प्राप्त होता है। इसीलिये इन मन्त्रों में इसे दीर्घायु देने वाला कहा गया है। शतानीक का अर्थ है सौ सेनाओं का सेनानी। यह भी व्यक्तिवाचक नहीं है। इण्डेक्सकर्त्ताओं की कल्पना कितनी ऊटपटांग है।

दार्भ्य—

इण्डेक्स का मत यहाँ पर सायण और बृहद्देवता पर आधारित है। उस सम्बन्ध की कथा केवल अनर्गल प्रलाप है। मन्त्र से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। दर्भेषु साधुः दार्भ्य अथवा दर्भाणां पयोक्ता दार्भ्यः। यज्ञ में दर्भ का प्रयोग करने वाला याज्ञिक दार्भ्य है। अथवा दर्भैः सिद्धः सम्पन्नो दार्भ्यो यज्ञः। यज्ञ को दार्भ्य कहा जा सकता है। यह ऋग्वेद ५।६१।१७ में प्रयुक्त है।

दिवोदास—

अतिथिग्व के प्रकरण में इसकी व्याख्या की जा चुकी है।

दीर्घतमा—

इसकी व्याख्या त्रैतन के प्रसंग में की जा चुकी है।

दाशराज्ञ—

दश राजाओं से संवृत्त होने वाले संग्राम का नाम दाशराज्ञ है। यह पद ऋग्वेद ७।३३।२,५; ७।८३।८ और अथर्व १०।१२८।१२ में प्रयुक्त है। सुदास का भी इन स्थानों में वर्णन है। सुदास् का अर्थ उत्तम दान वाला है। यह कोई व्यक्तिविशेष नहीं। जब व्यक्तिविशेष नहीं तो फिर

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उसका दश राजाओं के साथ होने वाला युद्ध इतिहास का पोषक क्यों कर हो सकेगा। सायण ने भी दाशराज्ञ का अर्थ ऐसा ही किया है।

दुर्गह—

इण्डेक्स के लेख के अनुसार यह ऋग्वेद ८।६५।१२ में वर्णित है जहाँ पर इसके पोते अपनी दानशीलता के लिये प्रशंसित किये गये हैं।

वस्तुतः ऋग्वेद ८।६५।१२ में आया हुआ दुर्गह कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। दुर्गह का अर्थ है दुःख में डूबा हुआ। अथवा दुःख से आलोडनीय अर्थात् दुराधर्ष।

मन्त्रार्थसंगति निम्न प्रकार है—

नपातो दुर्गहस्य मे सहस्रेण सुराधसः। श्रवो देवेष्वक्रत ॥

ऋ० ८.६५।१२

अर्थ—

अरक्षित एवं दुःख में पड़े हुये मुझ स्तोता के सम्बन्धीजन देवों के यज्ञादि से प्रसन्न होने पर उत्तम धन वाले होते हैं और यश प्राप्त करते हैं।

ऋग्वेद ४।४२।८ में दौर्गह पद आया है। यहाँ पर दुर्गह एव दौर्गहः—ऐसा अर्थ होगा। दौर्गह निघण्टु १।१४ में अश्वनाम में पठित है। यह अर्थ भी लिया जा सकता है।

मन्त्रार्थसंगति निम्न प्रकार है—

अस्माकमत्र पितरस्ते आसन्त्सप्त ऋषयो दौर्गहे बध्यमाने।
त आयजन्त त्रसदस्युमस्या इन्द्रं न वृत्रतुरमर्धदेवम् ॥

ऋ० ४।४२।८

अर्थ—

प्रजा कहती है कि—राजा के घोड़े अथवा दुर्धर्ष सेनापति के शत्रुओं द्वारा बाँध लिए जाने पर इस राज्य के जो अनुभवी वृद्ध जन हैं वे और सप्त ऋषियों के समान जो ऋत्विजन हैं वे इस राज्य की सेना में वृत्र का वध करने वाले इन्द्र के समान देवकल्प शत्रुत्रासन राजा को संगत करते हैं। प्रक्रियान्तर में भी यौगिक आधार पर अर्थसंगति लगायी जा सकेगी।

दुःशीम—

इण्डेक्स कहती है कि यह संभवतः व्यक्तिवाचक नाम है और इस प्रकार इसका अर्थ कुरुश्रवण का शत्रु होगा। लुडविग (Translation of Rigved 3, 166) का ख्याल है कि यह पशु अथवा पर्शियन था। परन्तु यह अधिकांश में सम्भव नहीं और यह शब्द सरलतया विशेषण है और इसका अर्थ ईर्ष्यालु है।

अस्तु जो भी हो यहाँ पर इण्डेक्स को कुछ समझ में तो आया कि यह विशेषण है। फिर भी उसने गोलमाल और अनभिज्ञताद्योतक शब्दों का ही प्रयोग किया है। दुःशीम पद ऋग्वेद १०।९३।१४ वे मन्त्र में आया है। इसका अर्थ है दुःखकर सीमा वाला। अर्थात् बड़ी सीमा वाला विस्तृत।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मन्त्रार्थसंगति निम्न प्रकार है—

प्र तद्दुःशीमे पृथवाने वेने प्र रामे वोचमसुरे मघवत्सु ।
ये युक्त्वाय पञ्च शतास्मयु पथा विश्राव्येषाम् ॥

अर्थ—

सीमारहित आकाश में वेन = सूर्य के विस्तृत (पृथवाने) हो जाने पर अथवा महान् यज्ञ के विस्तृत होने पर, तथा राम = रात्रि के अन्धकार में, असुर = मेघ के समय में मघवत् = धन प्राप्ति के कर्मों में मैं यजमान उन समस्त देवों की स्पष्ट सुनने योग्य ढंग से स्तुति = प्रशंसा करता हूँ जो हमारे प्रति अच्छी कामना रखते हैं और यज्ञ एवं उपदेश के मार्ग से हमें (पञ्च शाता) सैकड़ों गुणों एवं शक्तियों से युक्त हो प्राप्त होते है। निघण्टु १।७ रम्या रात्रि का नाम है अतः राम्यां रम्यां वा भवः राम = शार्वरं तमः। अर्थात् रात्रि का नाम रम्या और राम्या हैं। उसमें होने वाले अन्धकार का नाम राम है। वेन निघण्टु ३।१७ में यज्ञ के नाम में पठित है। पुनः ५।४ में पद नाम में पठित है और सूर्य भी इसका अर्थ है। असुर निघण्टु १।१० में मेघ अर्थ में पढ़ा गया है।

नोट—दुःशासु पद का भी ऋग्वेद १०।९३।१४–१५ में हवाला दिया गया है परन्तु वहाँ पर वह नहीं है। दुःशीम पद है।

दृषद्वती—

इण्डेक्स ने इसको भी एक नदीविशेष माना है परन्तु यह ठीक नहीं। दृषद्वती का अर्थ है पत्थरों वाली। जिसमें पत्थर बहते हों अथवा जो पथरीली भूमि में बहती हो वह दृषद्वती है। यह नदीसामान्य है। नदीविशेष नहीं। ऋग्वेद ३।२३।४ में इस पद का प्रयोग हुआ है।

देवक (मान्यमान)—

इण्डेक्स के अनुसार ऋग्वेद ७।१८।२० में तृत्सुवों के शत्रु और शम्बर से सम्बद्ध के रूप में प्रयुक्त मालूम पड़ता है।

परन्तु यहाँ पर भी कोई तथ्य इण्डेक्स के कथन में नहीं है। यह कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। मन्यमान कोई व्यक्तिविशेष नहीं बल्कि गर्व और स्वगर्वगर्भितता का सूचक है। मन्यमान ही मान्यमान है। ऋग्वेद २।११।२ में मन्यमान और अमर्त्य दास के विशेषण है। दास पद का अर्थ उपक्षय करने वाला मेघ है। इसी से मन्यमान—अर्थात् गर्वीला कहा गया है। सायण ने इस मन्त्र में मेघ का ही वर्णन किया है। वह "अमर्त्यं मन्यमानम्" का अर्थ इकठ्ठा ही करता है। अपने को अमर्त्य मानने वाले दास = मेघ को इन्द्र मारता है—यह अर्थ सायण की दृष्टि से निकलेगा। उसने असुर पद भी जोड़ा है परन्तु यह मेघ का ही वाचक है।

इसी दृष्टि से यहाँ पर ऋग्वेद ७।१८।२० में भी "मान्यमान देवक" का अर्थ मेघ ही होगा। यहाँ पर देवक शब्द में देव पद के साथ ह्रस्वार्थ में क प्रत्यय हुआ है। अथवा जल का दाता एवं विद्युत् का प्रकाश स्थान होने से मेघ देवक हैं। यह वस्तुतः देव नहीं है अदेव अर्थात् असुर है अतः इसमें "क" प्रत्यय हुआ है। क्योंकि वैदिक विज्ञान में वृत्रदल = मेघदल असुर हैं और इन्द्रदल देव है। मन्त्रार्थसंगति लग जाती है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

देववत्—

इण्डेक्स के अनुसार देववत् ऋग्वेद ७।१८।२२ में दानस्तुति में सुदास् के पूर्वज के रूप में प्रयुक्त है। परन्तु यह यहाँ पर भी स्मरण रहे कि देववत् कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। सुदास् पैजवन की व्याख्या पहले विश्वामित्र और नदियों के इतिहास के निराकरण के अवसर पर कर दी है। देववत् का अर्थ है देवों वाला अर्थात् यज्ञकर्त्ता। सुदास् का अर्थ है उत्तम दानी। पैजवन का अर्थ है वेग वाला एवं प्रगतिशील। अतिथिग्व की व्याख्या को भीदेखें।

मन्त्रार्थसंगति निम्न प्रकार है—

द्वे नप्तुर्देववतः शते गो द्वा रथा वधूमन्ता सुदासः।
अर्हन्नग्ने पैजवनस्य दानं होतेव सद्म पर्येषि रेभन्॥
ऋ० ७।१८।२२

अर्थ—

हे विद्वन्! मैं योग्य पुरोहित होता के समान स्तुति करता हुआ यज्ञशाला में आता हूँ और अपतनशील देवों की यज्ञ द्वारा तृप्ति करने वाले अत्यन्त वेगशील शक्ति वाले दानी राजा से दो सौ गायें और वहनशील = ढोकर ले जाने योग्य पदार्थों से युक्त दो रथों के दान को प्राप्त करता हूँ। प्रक्रियान्तर में अर्थान्तर भी निकलेगा। सुदास् की व्याख्या निरुक्त के आधार पर पूर्व विश्वामित्र और नदी के इतिहास में की जा चुकी है। पैजवन की भी व्याख्या वहीं पर की गई है। "नप्तुः" पद यहाँ पर मन्त्र में षष्ठी में है परन्तु इसका अर्थ पुत्र का पुत्र नहीं है। अपतनशील इसका अर्थ है। निघण्टु ३।३० में द्यावापृथिवी को "नप्त्र्यौ" कहा गया है। यह यौगिक आधार पर ही हो सकता है। वही यौगिक आधार यहाँ पर भी लिया गया है।

देववात—

इण्डेक्स के मत में यह एक भारत राजा का नाम है और ऋग्वेद ३।२३।२ में प्रयुक्त है तथा यह दृषद्वती, सरस्वती और आपया पर यज्ञ करता हुआ वर्णित है।

वास्तविक तत्व को यहाँ पर प्रकट किया जाता है जिससे ज्ञात हो जावेगा कि इण्डेक्स की धारणा ग़लत है और कल्पना की वह दीवार है जो रेत पर खड़ी है। ऋग्वेद ३।२३।२ में देवाश्रवा और देववात दोनों ही पद प्रयुक्त हैं। साथ ही भारत विशेषण भी दिया हुआ है। परन्तु भारत का अर्थ भारत राजा है—यह ग़लत है। भारत पद यौगिक है, नाम का सूचक नहीं है। निघण्टु ३।३ में भरत और भारत दोनों ही पद ऋत्विग् के अर्थ में पठित हैं। जब भरत और भारत दोनों ही पद ऋत्विक् अर्थ को देते हैं तो फिर उनसे भरतवंशी राजा की कल्पना किस प्रकार की जा सकती है। शतपथ [1]६।८।१।१४ में प्रजापति को भरत कहा गया है और यजुर्वेद १२।३४ की प्रतीक भी दी गयी है। पुनः [2]१।४।२।२ और [3]१।५।१।८ में अग्नि को भरत कहा गया है तथा निरुक्ति भी दिखला दी गयी है।

१—प्रजापतिर्वै भरतः, स हीदꣳसर्वं बिभर्त्ति।

२—एष (अग्निः) हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद्भरतोऽग्निरित्याहुः।

३—एष (अग्निः) उ वा इमाः प्रजा प्राणो भूत्वा बिभर्त्ति तस्माद्वेवाह भरतवदिति।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कौषीतकी [1]३।२ में भी अग्नि को भरत कहा गया है। ऐतरेय [2]२।२४ में प्राण को भरत वर्णित किया गया है। यह तो भरत की बात हुई अब भारत पद को लीजिए। शतपथ [3]१।४।२।२ में अग्नि को भारत भी कहा गया है। पुनः शतपथ [4]१।४।२।२, कौषीतकी ३।२ और तैत्तिरीय ३।५।३।१ में अग्नि को ब्राह्मण और भारत दोनों ही कहा गया है।

भारत पद की व्याख्या कर दी गयी अब देववात की भी व्याख्या करनी उचित है। देवान् वाति प्राप्नोति यज्ञविज्ञानयोः द्वारेणेति देववातः। अथवा देवैः वातः प्राप्तः यज्ञेषु स देववातः। अर्थात् यज्ञ और विज्ञान के द्वारा देव शक्तियों को प्राप्त करने वाला या जानने वाला देववात है। अथवा यज्ञों में देवों से प्राप्त यजमान देववात है। "वात" पद "वा" गतिगन्धनयोः धातु से बना है। ऋग्वेद ३।२३।३ में "दैववात" अग्नि के विशेषण के रूप में दिया गया है। अर्थात् अग्नि को ही दैववात कहा गया है। साथ ही यह भाव प्रकट किया गया है कि "दश [5] अंगुलियें पूर्ववर्त्ती, सुजात, प्रिय अग्नि को मातृषु = माता के समान अन्दर रखने वाली अरणियों में उत्पन्न करती हैं। हे देवश्रव = देवों के निमित्त यज्ञ में अन्न देने वाले! तू इस देवों तक हुत को पहुँचाने वाले (दैववात) अग्नि की प्रशंसा करो जो यज्ञों में जनों के वश में होता है। यहाँ पर देववात का भाव पूर्णरूप से प्रकट हो गया। अब देवश्रवाः का भी अर्थ देखिये। देवों के निमित्त है श्रवः अर्थात् अन्न जिसका। अथवा देवों = विद्वानों की सुनने वाला। इस प्रकार देववात और देवश्रवा दोनों ही यज्ञ कर्त्ता यजमान एवं याज्ञिक मनुष्य हैं। भारत विशेषण भी ठीक ही है।

मंत्रार्थसंगति निम्न प्रकार है—

अमन्थिष्टां भारत रेवदग्निं देवश्रवा देववातः सुदक्षम्।
अग्ने वि पश्य बृहताभि रायेषा नो नेता भवतानुद्य न्॥

अर्थ—

यज्ञ को करने वाले यज्ञ के देवों के ज्ञाता और यज्ञ के देवों के निमित्त हवि देने वाले दो याज्ञिक यज्ञ की अग्नि का मन्थन करते हैं क्योंकि यह संपदा को देने वाला है। यह अग्नि दर्शन का साधन बनता है और हमारे लिए धन प्राप्त कराता है तथा दिन प्रति दिन यज्ञ भावनावों द्वारा मार्गदर्शक बनता है। इस मंत्र सम्बन्धी सूक्त में यज्ञ का और यज्ञाग्नि का स्पष्ट वर्णन है। अतः ऐसा अर्थ कर दिया है। प्रक्रियानुरोधेन अन्य अर्थ भी इसी प्रकार संगत होंगे।

१—अग्निर्वै भरतः स वै देवेभ्यो हव्यं भरति। कौ० ३।२

२—प्राणो भरतः। ऐ० २।२४

३—एष (अग्निः) उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्त्ति तस्माद्वेवाह भारतेति।

४—अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारत।

५—दश क्षिपः पूर्व्यं सीमजीजनन्त्सु जातं मातृषु प्रियम्।
अग्निं स्तुहि दैववातं देवश्रवो यो जनानामसद्वशी॥
ऋ० ३।२३।३

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

देवश्रवस्—

इसका व्याख्यान देववात की व्याख्या के प्रसंग में कर दिया गया है।

देवापि आर्ष्टिषेण—

इसकी व्याख्या देवापि के इतिहास के निराकरण के प्रकरण में कर चुके हैं।

दैववात—

देववात ही दैववात है। अथवा देववात का पुत्र अत्यन्त याज्ञिक एवं वैज्ञानिक मनुष्य दैववात है। अपत्यार्थक प्रत्यय वेद में सामान्यवाचक शब्दों से भी होते हैं। देववात के व्याख्यान में इसको देखें। यह पद ऋग्वेद ४।१५।४ और ६।२७।७ में प्रयुक्त है।

द्योतन—

इण्डेक्स कहती है कि यह सायण के अनुसार एक राजा का नाम है। परन्तु मंत्र की अन्तःसाक्षी यह बतलाती है कि यह व्यक्तिवाचक नाम नहीं। द्योतन पद का अर्थ प्रकाशमान है। अथवा प्रकाश को ही द्योतन कहा जाता है। द्योतन करने वाला भी द्योतन कहला सकता है। अतः प्रकाशन और प्रकाश करने वाला पदार्थ अथवा मनुष्य द्योतन है। मंत्रार्थसंगति इस आधार पर सरलता से लग सकती है। मंत्र में स्पष्ट बतलाया गया है कि प्रकाशार्थ मेघों को इन्द्र काटता है। इस मंत्र में दशोणि, वेतसु तूतुजि और तुग्र आदि भिन्न भिन्न प्रकार के मेघों का वर्णन है।

द्रुह्यु—

इण्डेक्स के अनुसार यह निवासियों का नाम है और ऋग्वेद में अनेकों बार प्रयुक्त है।

वस्तुतः द्रुह्युषु पद ऋग्वेद १।१०८।८ में प्रयुक्त है। अनेक और स्थानों पर भी प्रयुक्त है और तुर्वश आदि की व्याख्या करते हुये इस पर प्रकाश भी डाला जा चुका है। द्रुह्यु निघण्टु २।३ में मनुष्यार्थ में प्रयुक्त है। यह मनुष्यार्थक है किसी देश के निवासी लोगों का नाम नहीं है।

ध्वन्य—

इण्डेक्स के रचयिता कहते हैं कि प्रकट रूप में ध्वन्य लक्ष्मण के पुत्र का नाम है।

कितनी विचित्र बात हैं कि सायण के पीछे चलने वाले इन महानुभावों को सब जगह नाम और इतिहास ही दिखलायी पड़ता है। सायण तो था ही वेदतत्त्वानभिज्ञ। उसके पीछे चलने वाले उसी अवस्था को प्राप्त हो सकते हैं। लक्ष्मण पद का अर्थ लक्ष्म वाला। अर्थात् चिह्न और लक्षणों से युक्त लक्ष्मण है। शतपथ [1] ८।४।४।११ में लिखा हैं कि जिसके मुख पर लक्ष्म = लक्षण होता है उसको लोग पुण्यलक्ष्मीक कहते हैं। ८।४।४।११ [2] में ही और ८।५।४।२ [3] पर लिखा है कि जिसकी दायीं तरफ लक्ष्म = लक्षण हो अथवा सर्वत्र लक्षण हों वह पुण्यलक्ष्मीक कहा जाता है। इस प्रकार लक्षणों से युक्त का नाम लक्ष्मण है। लक्ष्मीः और लक्ष्मण दोनों पद एक ही प्रकार की धातुओं से बनते हैं। लक्ष्मण पद लभ्, लक्ष् लाञ्छ, लष्, लग

१—तस्माद्यस्य मुखे लक्ष्म भवति तं पुण्यलक्ष्मीक इत्याचक्षते।

२—तस्माद्यस्य दक्षिणतो लक्ष्म भवति तं पुण्यलक्ष्मीक इत्याचक्षते।

३—तस्माद्यस्य सर्वतो लक्ष्म भवति तं पुण्यलक्ष्मीक इत्याचक्षते।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

धातुओं से बनता है। निरुक्त ४।११ को इस अर्थ में आधार माना गया है। इस प्रकार उत्तम लक्षणों से युक्त का नाम लक्ष्मण है और उससे सम्बद्ध का नाम लक्ष्मण्य है। अथवा लक्ष्मीयुक्त ही लक्ष्मण्य है। ध्वन्य पद का अर्थ है ध्वनि करने वाला। मंत्र की ध्वनियों को करने वाला ध्वन्य है। इस प्रकार लक्ष्मण्य ध्वन्य का अर्थ है उत्तमलक्षणों से युक्त मंत्रविद्। ऋग्वेद ५।३३।१० में यह पद प्रयुक्त है और इस मंत्र की अर्थसंगति इस आधार पर लग जावेगी।

नभाक—नाभाक—

नभाक के विषय में इण्डेक्स का कथन है कि यह एक ऋषि का नाम है। पपन्तु यह भी व्यक्तिवाचक नाम नहीं है। ऋग्वेद ८।४०।४–५ मंत्रों में नभाक पद आया है। इस का अर्थ कई प्रकार से किया जा सकता है। नभ्नाति व्याप्नोति मेघनेति नभाकम् मेघयुक्ताकाशः। अथवा न भाति न प्रकाशते इति नभाकम्। अर्थात् मेघ से व्याप्त आकाश अथवा न प्रकाशित होने वाला आकाश। इस प्रकार मेघयुक्त आकाश नभाक का अर्थ है। नभाकस्य सम्पादकः नाभाकः वायुरित्यर्थः। नभाक को सम्पादित करने वाला वायु नाभाक है। अथवा नभति हिनस्ति दुर्गुणान् पाप्मानि वा इति नभाकः—अर्थात् पापों एवं बुराइयों को दूर करने वाला नभाक है। और नभाकस्य पुत्रः नाभाकः निष्पापः। अथवा नभाक एव नाभाकः। अर्थात् नभाक का पुत्र निष्पाप नाभाक है अथवा नभाक ही नाभाक है। ऋग्वेद ८।४०।४–५ मन्त्रों की अर्थसंगति पापों को दूर करने वाले मनुष्य के अर्थ में नभाक पद को लेकर लग सकेगी। प्रक्रियान्तर में पूर्वोक्त अन्य अर्थ भी घटाये जा सकते हैं। ऋग्वेद ८।४१।२ में नाभाक पद आया है। इसकी व्याख्या प्रकरण दो में कर दी है। फिर भी नाभाक के ऊपर दिये गये अर्थों से इस मन्त्र की भी अर्थसंगति लग जावेगी।

नमी-साप्य—

इण्डेक्स में लिखा है कि नमी साप्य एक मनुष्य का नाम है। वेबर (Indesche Studien 1, 231-232) का ख्याल है कि यह एक पुरोहित के रूप में वर्णित है। लेकिन इण्डेक्स कहती है कि सन्दर्भ एक राजा के अर्थ को प्रकट करने में अधिक उपयुक्त मालूम पड़ते हैं, इत्यादि।

इण्डेक्स ने यहाँ पर बहुत बड़ी कल्पना की है। वह नमी साप्य वैदेह को ही यहाँ पर वर्णित समझती है। इसका वर्णन पंचविंश ब्राह्मण २५।१०,१७ में मिलता है। वह यह भी कहती हे कि यह नमुचि के साथ होने वाले युद्ध में भी एक स्थान पर प्रदर्शित हैं। नमी साप्य विदेह और नमुचि के युद्ध में कितना अन्तर है। पहला ऐतिहासिक है जब कि दूसरा (नमुचि) अनैतिहासिक है। नमुचि का युद्ध इन्द्र से है। यह किसी व्यक्तिका इतिहास नहीं। अस्तु यहां पर यह मालूम होना चाहिए कि वेदमंत्रस्थ नमी साप्य नमी साप्य का वैदह से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऋग्वेद १।५३।७ में नमी के तृतीयान्त "नम्या" पद का प्रयोग है। यह वही स्थल है जिसको इण्डेक्स नमुचि के युद्ध से सम्बद्ध बतलाती है। यहाँ पर "नम्या" पद अर्थ सायण ने सख्या का विशेषण माना है और अर्थ किया हैं "नमनशीलेन सहायभूतेन वज्रेण। इस प्रकार यहां पर तो इण्डेक्स का मत बन नहीं सका। निघण्टु १।७ में "नम्या" रात्रि अर्थ में पढ़ा गया है। ऋग्वेद १०।४८।९ मे भी "नमी साप्य" आया है। यहाँ पर सायण ने नमी का अर्थ स्तोता किया है और साप्य

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

को विशेषण बना कर सर्वाश्रयणीय अर्थ किया है। वह लिखता हैं—नामकत्वान्नमः स्तोत्रम्। तदस्या स्तीति नमी स्तोता साप्यः सर्वैराश्रयणीयः ॥ वस्तुतः "नमी" पद नम धातु से बना है जिसका अर्थ है नमनशील और साप्य का अर्थ है अर्चना करने वाला एवं स्तोता। सप् धातु निघण्टु ३।१४ में अर्चना अर्थ में पढ़ी गयी है। इससे "साप्य" पद बना है। ऋग्वेद ६।२०।६ में भी यही अर्थमंत्रार्थसंगति में संगत होगा और अन्यत्र भी।

नहुष—

इण्डेक्स का कहना है कि नहुष ऋग्वेद में अनेकों बार प्रयुक्त है। परन्तु ठीक अर्थ निश्चित नहीं है। लुडविग की (Translation of the Rigved 3. 206)वहुष में एक विशेष जाति का भास मिलता है जो घोड़ों की धनी थी सिन्धु और सरस्वती पर रहती थी और भरत लोगों और सिन्धु लोगों की मित्र थी। इस का सम्बन्ध कक्षीवान् और वार्षागिर लोगों से था तथा इसकाराजा मशर्शार और आयवस है। रॉथ (Saint Petursburg Dictionary S. V.) नहुष का सामान्यार्थ एक ऐसा पड़ोसी समझता है जो अपने ही लोगों के एक व्यक्ति का विरोधी है। रॉथ की यह व्याख्या "नहुषो नहुष्टरः" (पड़ोसी से भी समीपवर्ती) वाक्यांश से प्रमाणित होती है। ऋग्वेद के दो सन्दर्भों में नहुष का भी वही अर्थ मालूम पड़ता है जो अर्थ नहुष का है। परन्तु एक सन्दर्भ में यह एक आदमी के व्यक्तिवाचक नाम के रूप में दिखलायी पड़ता समझा जाता है। सम्भवतः नहुष् मूलतः मनु की भाँति का एक आदमी था।

यह तो हुआ इण्डेक्स का मत। अब वास्तविक स्थिति पर विचार किया जाता है। यद्यपि इण्डेक्स स्वयं भी सन्देह का लेख प्रकट कर रही हैं फिर भी साथ ही भ्रम भी पैदा करती जा रही है। इण्डेक्स द्वारा प्रदर्शित समस्त स्थलों की जांच पड़ताल करने पर पता चलता है कि सारी कल्पनायें निर्मूल हैं। वास्तविक बात यहाँ पर यह भी जान लेनी चाहिए कि नहुष् और नहुष दोनों प्रकार का प्रयोग मिलता है। परन्तु अर्थ दोनों का समान है। यह इण्डेक्स ने भी माना है। इस बात को और भी स्पष्ट रूप में निघण्टु प्रकट करता हैं। क्योंकि उसमें (नि० २।३) "नहुषः" और "नहुषाः" दोनों ही बहुवचनान्त पाठ मनुष्य अर्थ में पढ़े गये हैं। ऋग्वेद ६।२२।१० में "नाहुषाणि" पाठ आया है। यह वृत्रा = वृत्राणि का विशेषण है। वृत्राणि का अर्थ बुराइयाँ है। नाहुषाणी का अर्थ "मनुष्य सम्बन्धीनि" अर्थात् मनुष्य सम्बन्धी है। सायण ने भी यही अर्थ किया है। ऋग्वेद ६।४६।७ में "नाहुषीषु" पाठ आया है। यहाँ "कृष्टिषु" में कृष्टि का अर्थ प्रजा है। नाहुषी का अर्थ मानुषी है। सायण ने भी मनुष्य सम्बन्धिनी अर्थ किया है। ऋग्वेद ६।८८।२ में "नहुष्याणि" पद आया है। यहाँ पर भी मनुष्यसम्बन्धी-नि" अर्थ ही अभिप्रेत है। सायण ने भी यही अर्थ किया है। ऋग्वेद ६।६२।२ में "नहुष्यैः" पाठ है। यहाँ पर भी "मनुष्यैः" की तरह "नहुष्यैः" का अर्थ भी करना चाहिए। अतः यहाँ पर "नहुष्यैः" का अर्थ "मनुष्यैः" है। ऋग्वेद ८।६।२४ में "नाहुषीषु" पाठ आया है। यह "विक्षु" का विशेषण है। विट् का अर्थ प्रजा है। उसी का यह सप्तमी में बहुवचनान्त रूप है। अतः यहां पर भी "नाहुषी" का अर्थ मनुष्यसम्बन्धिनी ही है। सायण ने भी ऐसा ही अर्थ किया हैं। ऋग्वेद १।१००।१८ में भी "नाहुषीषु विक्षु" पाठ आया है। यहाँ पर भी "मनुष्य सम्बनीषु" अर्थ ही अभिप्रेत है। सायण ने भी यही अर्थ किया है। ऋग्वेद ५।१२।६ में "नहुषस्य शेषः" पाठ है। यहाँ पर "नहुष"

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अकारान्त पद है। षष्ठी विभक्ति में प्रयुक्त है और इसका अर्थ मनुष्य है। ऋग्वेद ७।७।५ में नहुषः पद छठीं विभक्ति में है। यह नहुष् का रूप है और इसका अर्थ मनुष्य है। ऋग्वेद ७।९५।२ में "नाहुषाय: पांठ है। यहाँ पर "नहुष" पद का रूप है और नहुष एव नाहुषः तस्मै— यह अर्थ लेना चाहिए। ऋग्वेद ८।८।३ में "नहुषः" पद है। यह नहुष् का द्वितीया बहुवचन का रूप है। यहाँ पर भी मनुष्य ही अर्थ है। ऋग्वेद ८।४६।२७ में भी "नहुषे" पद है। यहाँ पर चतुर्थी विभक्ति का नहुष् पद का रूप है। ऋग्वेद १०।८०।६ में "मनुषः नहुषः" पाठ आया है। यहाँ पर "मननशील मनुष्य लोग" अर्थ लेना चाहिए।

नहुष् पद यौगिक है—

इसमें और भी प्रबल प्रमाण मिलते हैं। ऋग्वेद १०।४९।८ में इन्द्र अपने को नहुष् से भी नहुष्टर कहता है। इन्द्र के अनेकों अर्थ हैं। अतः सभी अर्थों में यह अन्वित होगा। नहुष् पद नह बन्धनार्थक धातु से बना है। अतः यहाँ पर बन्धक से भी बन्धकतर अर्थ निकल सकता है। सायण ने ऐसा ही अर्थ किया है। यदि नहुष् व्यक्ति होता तो उसमें आतिशायिक तरप् प्रत्यय नहीं लग सकता था। परन्तु यहाँ पर "नहुष्टरः" पद पड़ा ही है। पुनः ऋग्वेद १०।९९।८ में इन्द्र को नहुषः नृतमः कहा गया है। यह और भी स्पष्ट कर देता है कि नहुष पद यौगिक है। "शिम्यु" के साथ जो सम्बन्ध बतलाया जाता है वह भी किसी इतिहास की सूचना नहीं देता है। ऋग्वेद ७।१८।५ में "शिम्यु" पद आया है। यहाँ पर "शिम्यु" का अर्थ बाधक है। सायण ने भी "बाधमानं" अर्थ किया है और "पापं" का विशेषण माना है। ऋग्वेद १।१००।१८ में "शिम्यून्" पद आया है। यहाँ पर भी शमयितॄन् अर्थात् वध करने वाले अर्थ में इसका प्रयोग है। यह मन्त्रस्थ "दस्यून्" का विशेषण है। ऋग्वेद १।१२२।१५ में "मशर्शार" और "आयवस" पद आये हैं। परन्तु ये नहुष से कोई सम्बन्ध रखते हों ऐसा नहीं प्रकट होता। आयवस का अर्थ है सर्वत्र-प्राप्तान्न और मशर्शार का अर्थ है मशक की भांति सुनने वाला अथवा शत्रुवों का मर्दन करने वाला। आयवस के व्याख्या प्रसङ्ग में इसकी व्याख्या को देखें। "वार्षागीर" कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। अम्बरीष की व्याख्या के अवसर पर इसकी व्याख्या की गई है। ऋग्वेद १।३१।११ में भी नहुष का अर्थ मनुष्य है। प्रक्रियान्तर में यौगिक अर्थ किया जा सकता है। इस विस्तर के बाद यह परिणाम निकला कि इण्डेक्स का मत अनर्गल और कल्पनामात्र है।

नाभाक—

इस विषय में नभाक की व्याख्या के प्रसङ्ग में लिख चुका हूँ।

नाभानेदिष्ठ—

नाभानेदिष्ठ मनु के पुत्र का ही नाम हो—ऐसा नहीं। ऐतरेय ५।२७, गोपथ उत्तरार्ध ६।८ में (रेतो वै नाभानेदिष्ठः) रेत को नाभानेदिष्ठ कहा गया है। ताण्ड्य २०।९।२ में रेत को (रेतो हि नाभानेदिष्ठीयम्) नाभानेदीष्ठीय वर्णित किया गया है। ऋग्वेद १०।६१।१८ में नाभानेदिष्ठ आया है यह सारा सूक्त वैश्वदेव सूक्त है। इस में विशेष रूप से विश्वदेव लोगों का वर्णन है। इस हेतु सारा सूक्त वैज्ञानिक तथ्यों से भरा है। इस सूक्त के १७ वें मन्त्र में अग्नि का वर्णन है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इसको दोनों लोकों में होने से द्विबन्धु कहा गया है। पुनः १८ वें मन्त्र में नाभानेदिष्ठ का वर्णन है। यहाँ पर इसको तद्बन्धु = अर्थात् सूर्य का बन्धु कहा गया है। अतः यह नाभानेदिष्ठ सूर्य अथवा अग्नि का बन्धु हैं। नाभानेदिष्ठ यहाँ पर वायु का नाम है। वह जहाँ अग्नि का सखा है वहाँ सूर्य का बन्धु भी है।

ऋग्वेद १० ६१।१८ और १९ वाँ मन्त्र इस पर सुन्दर प्रकाश डालते हैं जो निम्न प्रकार हैं—

तद्बन्धुः सूरिर्दिवि ते धियंधा नाभानेदिष्ठो रपति प्र वेनन्।
सा नो नाभिः परमास्य वा घाहं तत्पश्चा कतिथाश्चिदास॥

ऋ० १०।६१।१८

अर्थ—

सूर्य का बन्धु द्यु लोक में सरणशील सूर्य के कर्म को तीव्र करने वाला नाभानेदिष्ठ = वायु वेनन् = गति करता हुआ (निघण्टु २।१४ में "वेनतिः" गतिकर्मा है) प्ररपति = शब्द करता है। यह द्यु लोक नाभानेदिष्ठ की उत्कृष्ट नाभि है और सूर्य का अधिष्ठान है। यह नाभानेदिष्ट सूर्य के पश्चात् कतिपय कार्यों का पूरक है। जड़ पदार्थों का "अहम्" आदि प्रयोग टूट जाता है और अन्य पुरुष में वर्णन हो जाता है जब वे भौतिक अर्थ को बतलाते हैं। यह नियम यहाँ पर भी अर्थ करते समय बर्ता गया है।

इयं मे नाभिरिह मे सधस्थमि मे देवा अयमस्मि सर्वः।
द्विजा अह प्रथमजा ऋतस्येदं धेनुरदुहज्जायमानाः॥

ऋ० १०।६१।१९

१—अर्थ—

यह द्यु अथवा माध्यमिका वाक् नाभानेदिष्ठ की नाभि हैं। इस नभोमण्डल में इसका सधस्थ = स्थान है। ये सूर्य की किरणें इस (नाभानेदिष्ठ) की अपनी बनी हुई हैं। द्विजाः=आंगिरसगण अथवा मरुद्गण आदि ऋत = सृष्टि नियम के प्रथमजा हैं। माध्यमिका वाक् उत्पन्न होती हुई इस समस्त = विश्व का दोहन करती है। यहाँ पर मन्त्रों में ही स्पष्ट है कि नाभानेदिष्ठ वायु का नाम है। नाभानेदिष्ठ का प्रक्रियान्तर में अर्थ नाभि में स्थित प्राण अथवा योगी पुरुष होगा। योगी पुरुष नाभिस्थान में धारणा को जमाता है।

नारद—

इण्डेक्स के अनुसार यह अथर्ववेद में कई स्थलों पर काल्पनिक ऋषि के नाम के रूप में वर्णित है। परन्तु नारं ददाति इति नारदः—इस व्युत्पत्ति के अनुसार मेघ का नाम नारद है। नार नाम जल का है और उसका देने वाला मेघ नारद है। मेरी पुस्तक वैदिक ज्योति के "अप्सराः" प्रकरण में नारद के विषय में प्रकाश डाला गया है। मनुष्य के लाभार्थ होने वाले ज्ञान का नाम भी "नार" है अतः इसका देने वाला भी नारद हो सकता है। अथर्व वेद ५।१९।९; १२।४।१६; और १२।४।२४, ४१ में यह पद प्रयुक्त है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नार्षद—

इण्डेक्स के वर्णनानुसार यह नृषद् का वंशज है और कण्व का पितृसूचक नाम है (अर्थात् कण्व का गोत्रापत्य) और अथर्व वेद ४।१९।२ में इसका प्रयोग है। ऋग्वेद के एक सन्दर्भ में भी ऐसा प्रयोग है। यह अश्विनी लोगों का पालित और रुशती का पति मालूम पड़ता है। लेकिन एक तीसरे सन्दर्भ में ऋग्वेद में यह नाम असुर को दिया गया मालूम पड़ता है। यद्यपि यह निश्चित नहीं।

इण्डेक्स यहाँ कितनी सन्देहमयी भाषा का प्रयोग कर रही है। सब बातें लिख कर भी जब प्रतिद्वन्द्वी बात उपस्थित हुई तो उसे अनिश्चित करके छोड़ देती है।

नार्षद पद पर यहाँ पर विचार किया जाता है। नृषद् का अर्थ प्राण है—

ऐसा शतपथ [1]६।७।३।११ में लिखा है। पुनः शतपथ [2]६।२।१।८ में भी प्राण को नृषत् कहा गया है। ऐतरेय [3]४।२० में सूर्य को नृषत् का गया है। इन प्रमाणों में शतपथ ने यजुर्वेद १२।१४, और १७।१२ का हवाला भी दिया है।

इस प्रकार "नृषु सीदतीति नृषद्" अर्थात् मनुष्यों में रहने वाला नृषद् है। प्राण भी मनुष्यों में रहता है। अग्नि भी मनुष्यों में रहता है। मनुष्य जिसमें बैठते हैं—ऐसे यज्ञ का नाम भी नृषद् है। निघण्टु १।१४ में नरः पद अश्व नाम में भी है। अतः अश्व पर बैठने वाला मनुष्य भी नृषद् है। नृषद् ही अथवा नृषद का पुत्र नार्षद है। इस प्रकार अश्वारोही, सूर्य का पुत्र प्रकाश, अथवा मेघ और याज्ञिक तथा प्राण अग्नि आदि नार्षद कहलायेंगे। इन अर्थों को प्रक्रियानुसार समन्वित किया जा सकता है। एक विचार यह है कि नार्षद पद कण्व के लिए प्रयुक्त है। यदि ऐसा भी माना जावे तो कोई आपत्ति नहीं आवेगी। क्योंकि उस अवस्था में भी नार्षद यौगिक बनकर याज्ञिक विद्वान्, अश्वारोही विद्वान् और सूर्य पुत्र मेघ, आदि अर्थों को देगा। कण्व का अर्थ जहां मेधावी है वहाँ विभिन्न धातुवों के अनुसार इससे भिन्नार्थ में भी इसका प्रयोग है। कण् धातु निघण्टु २।१४ में गतिकर्मा है। इसी प्रकार "कण्वति" २।१९ में बधार्थक है। मेघ अर्थ में कण्व का प्रयोग लेकर नार्षद् की व्याख्या करने पर इन दोनों धातुवों से कण्व की निष्पत्ति की जा सकती है। मेधावी अर्थ लेने पर गत्यर्थक धातु से संगति लगायी जा सकेगी। ऋग्वेद १०।३१।११ में कण्व को नृषद् का पुत्र कहा गया हैं।

मन्त्रार्थसंगति निम्न प्रकार है—

> उत कण्वं नृषदः पुत्रमाहुरुत श्यावो धनमादत्त वाजी।
> प्र कृष्णाय रुशदपिन्वतोधर्ऋतमत्र न किरस्मा अपीपेत्॥

१—प्राणो वै नृषन्मनुष्या नरस्तद्योऽयं मनुस्येषु प्राणोऽग्निस्तमेतदाह।

२—प्राणो वै नृषद्।

३—एष (सूर्यः) वै नृषद्।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अर्थ—

ज्ञानीजन मेघ को सूर्य अथवा अग्नि का पुत्र कहते हैं । (क्योंकि सूर्य ही वाष्प द्वारा उसे बनाता है ।) श्याव = गतिशील वाजी = इन्द्र अथवा सूर्य (आदित्यो वाजी तै० १।३।६।४; इन्द्रो वै वाजी—ऐ० ३।१८) धन को धारण करता हैं । यह मेघ कृष्ण–किसान के लिए रुशद् = रूप और श्री देता है । अग्नि एवं सूर्य के अतिरिक्त और कोई भी इस मेघ को ओस और जल नहीं देता है ।

ऋग्वेद १०।६१।११ में भी "नार्षद" पद आया है ।

इस मन्त्र की अर्थसंगति निम्न प्रकार है—

तदिन्न्वस्य परिषद्वानो अग्मन् पुरू सदन्तो नार्षदं बिभित्सन् ।
वि शुष्णस्य संग्रथितमनर्वा विदत्पुरु प्रजातस्य गुहा यत् ॥

अर्थ—

निश्चय ही इस लोक में इस इन्द्र—सूर्य की सर्वत्र फैलने वाली किरणें बहुत विस्तृत होती हुई नार्षद = सूर्य के पुत्र मेघ को भेदन करती हैं । बहुत प्रकार से उत्पन्न होने वाले अथवा बहुत प्रकारों में प्रकट होने वाले शुष्ण = अवर्षक मेघ की संग्रथित = ग्रन्थियों एवं गुप्त रहस्य को यह गतिशील सूर्य भली प्रकार प्राप्त कर लेता है । अनर्वा निघण्टु में ४।२ में पद नाम में है । अतः यहाँ पर गतिशील अर्थ किया है ।

रूशती का नार्षद पति है—यह कल्पना भी निरर्थक है । ऋग्वेद १।११७।८ में यह वर्णित है अतः उसकी अर्थसंगति यहाँ पर दी जाती है ।

युवं श्यावाय रूशतीमदत्तं महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय ।
प्रवाच्यं तद्वृषणा कृतं वां यन्नार्षदाय श्रवो अध्यधत्तम् ॥

ऋ० १।११७।८

अर्थ—

अश्विनी = द्यावा-पृथिवी श्याव = सूर्य के लिए रूशती = उषा देते हैं । कण्व = मेघ के लिए क्षोण = पृथिवीस्थ जल को देते हैं । इन अन्नादि के वर्षक अश्विनियों के कर्म की प्रशंसा की जानी चाहिए । ये याज्ञिक के लिए अन्न देते हैं । श्याव गत्यर्थक श्यैङ् धातु से बना है । क्षोण निघण्टु ४।३ में पद नाम में पठित है । महः निघण्टु १।१२ में उदक नाम में पढ़ा गया है ।

नीपातिथि—

इण्डेक्स कहती है कि यह ऋग्वेद में एक आदमी के नाम के रूप में प्रयुक्त है और इसको अनुक्रमणी ने एक सूक्त के ऋषि के रूप में बताया है ।

इण्डेक्स जैसा कहती है तदनुसार नीपातिथि पद ऋग्वेद ८।४६.६ और ८.५१।१ में प्रयुक्त है । परन्तु यहाँ पर यह व्यक्तिवाचक नाम के रूप में नहीं मालूम पड़ता है । इण्डेक्स ने अनुक्रमणी के आधार पर अपनी धारणा आधारित की है जो सर्वथा निर्मूल और व्यर्थ है । नीपातिथि का अर्थ है अतिथियों को प्राप्त करने और उनकी रक्षा करने वाला मनुष्य । नयति प्राप्नोतीति नी, पातीति पः नी च पः च नीपः, नीपः अतिथिभ्यो यः स नीपातिथिः । अथवा नयति पाति अतिथीन् इति

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नीपातिथिः। अर्थात् अतिथियों को प्राप्त करने वाला और रक्षा करने वाला मनुष्य। मन्त्रार्थ-संगति इस अर्थ से दोनों मन्त्रों की लग जाती है।

नृषद—

इसकी व्याख्या नार्षद के प्रसङ्ग में हो चुकी है।

नोधस्—

इण्डेक्स के लेखानुसार यह एक ऋषि का नाम है। परन्तु वास्तविकता यह है कि यह व्यक्तिवाचक नाम नहीं। "नोधाः" का अर्थ करते हुये यास्क ने ४।१६ पर लिखा है कि नोधा ऋषि र्भवति। नवनं दधाति। अर्थात् नोधा का अर्थ मंत्रज्ञ ऋषि है। नवन = स्तोत्रों का धारण करने वाला नोधा है। इस स्थिति में नोधा का अर्थ मंत्रज्ञ ऋषि और स्तावक है। जो लोग यह समझते हैं कि यह "गोतम" का पुत्र है वे ग़लती पर हैं। गोतम भी व्यक्तिवाचक नहीं है। गोतम प्राण का नाम है—यह पूर्व कहा जा चुका है। निघण्टु ४।१ और ५।५ में "गौः" पद पदनाम में पढ़ा है। पुनः १।११ में गौः वाङ् नाम में पठित है। पुनः ३।१६ में गौः पद स्तोतृनाम में पठित हैं। अतः ज्ञानी एवं स्तोतृतम का नाम गोतम है। तमप् प्रत्यय ही सूचित कर रहा है कि यह व्यक्तिवाचक नाम नहीं है। नोधाः का जो अर्थ ऊपर दिया गया है—इससे मंत्रार्थसंगति सर्वत्र लग जाती है। यह पद ऋग्वेद १।६१।१४; १।६२।१३; १।६४।१ और १।१२४।४ में प्रयुक्त है।

पक्थ—

ऋग्वेद ७।१८।७ में पक्थासः पद आया है परन्तु उसका अर्थ है हवि को पकाने वाले। सायण ने भी यही अर्थ यहाँ पर किया है। मंत्रार्थसंगति इससे लग जाती है। यह निवासियों अथवा किन्हीं लोगों का नाम नहीं है। इण्डेक्सकर्त्तावों का यहाँ पर भी व्यर्थ का भ्रम है।

पज्र—

इसका अर्थ "अंगिरः" और कक्षीवान् की व्याख्या के प्रसंग में कर दिया गया है।

पणि—

यह व्यक्तिवाचक पद नहीं है। मेघ और वणिज् के अर्थ में इसका प्रयोग होता है।

पराशर—

इसकी व्याख्या द्वितीय प्रकरण में कर दी गयी है। वहाँ निरुक्त के प्रमाण से इसकी व्याख्या की गयी है। पराशर पद निघण्टु ४।३ में पदनाम में पठित है।

परिक्षित—

इण्डेक्स का लेख इस विषय में हठधर्मी का है और निम्न प्रकार है—

"यह अथर्व वेद २०।१२७।७–१० में एक राजा के रूप में दिखलायी पड़ता है। जिसके राज्य में कुरुवों की सम्पन्नता और शान्ति बढ़ी चढ़ी थी। ऐतरेय ब्राह्मण इसकी व्याख्या करता है कि अग्नि ही परिक्षित है क्योंकि यह मनुष्यों में निवास करता है। रॉथ (Petursburg Dictionary S. V.) और ब्लूम फील्ड (Hymns of the Atharavaveda 690—691) अथर्व वेद में इसे मनुष्य के रूप में सर्वथा नहीं मानते हैं। यह सही हो सकता है लेकिन निश्चित नहीं।"

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यहाँ पर ऐतरेय और रॉथ एवं ब्लूम फील्ड का मत दिखाकर भी इण्डेक्सकर्त्ताओं ने अपनी टांग अड़ाना नहीं छोड़ा। तथा सन्देहमय वाक्य का अन्त में प्रयोग कर अपने अर्थ को सिद्ध करने की चेष्टा की। वस्तुतः परिचित् अग्नि और संवत्सर को कहा जाता है। ऐतरेय ६ ३२; गोपथ उत्तरार्ध ६।१२; और ऐतरेय [1]६।३२ में अग्नि और संवत्सर को परिचित् कहा गया है।

परुच्छेप—

इसकी व्याख्या द्वितीय प्रकरण में कर दी है।

परुष्णी—

का अर्थ हैं पर्ववती और कुटिलगामिनी नदी। यह नदीविशेष नहीं है। नदीसामान्य है। इसकी व्याख्या निरुक्त (६।२६) के आधार पर प्रथम प्रकरण में कर दी गयी है।

पर्शु—

स्पृश धातु से बना है और इसका अर्थ है संसार के दुःखों में फंसा हुआ। यह ऋग्वेद ८।६।४६ में आया है। इसकी व्याख्या "तिरिन्दिर" के प्रकरण में भी की गयी है।

पायु—

इण्डेक्स इसे भरद्वाजों में मानती है। परन्तु भरद्वाज स्वयं ही कोई व्यक्तिविशेष नहीं। पायु का वास्तविक अर्थ रक्षाशील है। ऋग्वेद ६।४७।२४ में भी यही अर्थ अभिप्रेत है। प्रक्रियानुसार अन्यार्थ भी यौगिकता के बल से किया जा सकता है।

पार्थव—

स्तुतियों एवं यज्ञों का विस्तार करने वाले पार्थव हैं। पृथु का अर्थ है यज्ञ आदि उत्तम कर्मों का विस्तार करने वाला पृथुरेव पार्थवः = अर्थात् पृथु ही पार्थव है। ऋग्वेद ६।२७।८ में "पार्थवानाम्" = बहुवचन में प्रयोग हैं। अतः यह व्यक्तिवाचक तो हो ही नहीं सकता। इसका अर्थ ऋत्विज् हैं। "दक्षिणा" पद भी मन्त्र में पड़ा है।

पार्थ्य—

इस पद का अर्थ भी कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। पृथि पद का अर्थ विस्तार है। विस्तार वाला एवं विस्तृत राज्य वाला राजा पार्थ्य है। ऋग्वेद १०।९४।१५ की अर्थसंगति इससे लग जाती है। इण्डेक्स ने सायण का अनुकरण कर इसे पृथि का वंशज माना है। परन्तु यह कल्पना कोई मूल्य नहीं रखती।

पार्षद्वाणः—

इसकी व्याख्या "दस्यवेवृकः" के प्रसंग में कर दी है। यह विशेषण पद है किसी का नाम नहीं है। यह पृषद्वान का वंशज है—यह कल्पना भी कोरी है। यह ऋग्वेद ८।५१।२ में प्रयुक्त है।

१—अग्निर्हीमाः प्रजाः परिक्षेत्यग्निः हीमाः प्रजाः परिक्षियन्दि। ऐ० ६।३२; अग्निर्वै परिक्षित्। ऐ० ६।३२; गो० उ० ६।१२; सम्वत्सरो वै परिक्षित् संवत्सरो हीदं सर्वं परिक्षयतीति। गो० उ० ६।१२ संवत्सरो वै परिक्षित्। ऐ० ६।३२

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पाशद्युम्न—

इस पद पर इण्डेक्स ने लिखा है कि यह एक राजा का नाम है और ऋग्वेद ७।३३।२ में इसको इन्द्र के द्वारा विशेषतया स्वीकार किये जाने की वसिष्ठ लोग मांग उपस्थित करते हैं।

परन्तु यहां पर भी यह समझना चाहिए कि यह व्यक्तिविशेष नहीं है। पाशद्युम्न का अर्थ है बद्धान्न अर्थात् यज्ञ आदि कार्यों में अन्न का प्रयोग न करने वाला। इसे "वायत" भी इसीलिए कहा गया है क्योंकि यह खाने पीने ही में लीन रहता है। वयत् पद "वी" खादनार्थक धातु से बना है। वयत् का पुत्र अधिक खाऊ-पीऊ वायत है। द्युम्न का अर्थ यास्क ने निरुक्त ५।५। पर यश और अन्न किया है। अतः बँधे अन्न वाला खावो-पीवो मे लगा हुआ राजा अथवा मनुष्य पाशद्युम्न है।

मन्त्रार्थसंगति भी इससे सरलता से लग जावेगी।

पुरुकुत्स

दूसरे प्रकरण में इसकी व्याख्या कर दी गयी है। बहुत शक्तिशाली, शत्रुवों का कर्त्तक अथवा बहुत स्तुति वाला पुरुकुत्स है।

पुरुकुत्सानी—

पुरुकुत्स की भाँति इसका भी अर्थ है। पुरुकुत्स की पत्नी पुरुकुत्सानी है। जैसे पुरुकुत्स कोई व्यक्तिविशेष नहीं है, ऐसे ही यह भी कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। पुरुकुत्स शब्दसामान्य है और यह पुरुकुत्सानी भी। ऋग्वेद ४।४२।९ में इसका प्रयोग है और अर्थसंगति भी वहाँ पर ठीक लग जाती है।

पुरुणीथ शातवनेय—

इण्डेक्स इसे शतवनि का वंशज कहती है। यह उसके अनुसार भरद्वाजों में से एक पुरोहित अथवा यजमान का नाम है।

वस्तुतः यह पद ऋग्वेद १।५९।७ में प्रयुक्त है। पुरुणीथ का अर्थ है बहुतों का नेता (पुरूणां नेता पुरुणीथः)। शातवनेय का अर्थ है शत यज्ञों को पूर्ण करने वाला। शतसंख्याकान् क्रतून् वनति संभजत इति शतवनिः तस्य पुत्रः शातवनेयः। अर्थात् शत यज्ञों के कर्त्ता का पुत्र शातवनेय है। यह अपत्यार्थक प्रत्यय वेद में शब्दसामान्य में भी होता है। अतः शातवनेय का अर्थ शतयज्ञों का कर्त्ता है। शतयज्ञों का कर्त्ता, सत्र का नेता राजा एवं मनुष्य शातवनेय पुरुणीथ है। मन्त्रार्थ-संगति इससे लग जाती है। भरद्वाजेषु का अर्थ इस मन्त्र में "यज्ञेषु" अथवा "ऋत्विक्षु" है।

पुरुपन्था—

अनेक मार्गों से युद्ध आदि कार्यों का सम्पन्न करने वाला पुरुपन्था है। यहाँ पर भी मन्त्र में आये भरद्वाज का अर्थ ऋत्विग् है। यह पद ऋग्वेद ६।६३।१० में आया है। यह भी व्यक्तिविशेष का सूचक नहीं है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पुरुमाय्य—

इण्डेक्स का लेख है कि यह ऋग्वेद ८।६८।१० में इन्द्र के प्रतिपालित के रूप में वर्णित है। परन्तु इस मन्त्र में प्रयुक्त "पुरुमाय्य" पद व्यक्तिवाचक नहीं। इण्डेक्स कर्त्तावों की यदि ऐसी धारणा हो तो वह निराधार है। "माया" पद निघण्टु ३।९ में प्रज्ञा अर्थ में पठित है। अतः पुरुमाय्य का अर्थ होगा "बहुप्रज्ञ"। सायण ने भी इस मन्त्र में ऐसा ही अर्थ इस पद का किया है। मन्त्रार्थसंगति इससे लग जाती है।

पुरुमित्र—

इसका अर्थ है बहुत मित्रों वाला अथवा बहुतों का मित्र। इसका अर्थ सूर्य भी हो सकता है और ऐसा मनुष्य एवं राजा भी। प्रक्रियानुसार अर्थ लिया जा सकता है। "कमद्यु" में इसकी व्याख्या की गई है। यह पद ऋग्वेद १।११७।२० और १०।३९।७ में आया है। अर्थसंगति पूर्व कमद्यु प्रकरण में लगायी गयी है।

पुरुमीढ—

इसका अर्थ है अधिक धन वाला। मीढ निघण्टु २।१० में धन नाम में पठित है। ऋग्वेद १।१५१।२; १।१८३।५, और अथर्व वेद ४।२९।४ तथा १८।३।१५ में यह पद आया है। अर्थसंगति सर्वत्र लग जावेगी।

पुरुषन्ति—

इण्डेक्स का लिखना है कि यह नाम ऋग्वेद में दो बार आता है। प्रथम स्थान में यह अश्विनियों के प्रतिरक्षित के रूप में प्रयुक्त मालूम पड़ता है और द्वितीय स्थान में वैदिक स्तोता को भेंट देता हुआ। दोनों ही अवस्थावों में यह ध्वसन्ति और और ध्वस्र के साथ है।

यहाँ पर यह ज्ञात होना चाहिए कि पुरुषन्ति पद ऋग्वेद १।११२।२३ में प्रयुक्त है और ध्वसन्ति के साथ प्रयुक्त है। परन्तु ऋग्वेद १०।५८।३ में वह ध्वस्र के साथ प्रयुक्त है। एक विशेषता की बात यह है कि ऋग्वेद १०।५८।३ में "ध्वस्रयोः" और पुरुषन्त्योः पद द्विवचन में प्रयुक्त हैं। यह प्रयोग ही सूचित करता है कि ये व्यक्तिविशेष नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि "ध्वसन्ति" और ध्वस्र की एकार्थता मालूम पड़ती है। यदि यह व्यक्तिविशेष होता तो फिर कहीं ध्वसन्ति और कहीं पर ध्वस्र पद का प्रयोग इसके लिए नहीं होता। यह शब्दसामान्य है अतः ध्वसन्ति और ध्वस्र दोनों ही पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त किये जा सकते हैं। "ध्वसन्ति" पद ध्वंस गत्यर्थक धातु से बना है। गति के जितने अर्थ हैं वे यहाँ पर ध्वसन्ति में सम्बन्वित हो सकते हैं। ज्ञानी, गतिशील, मुमुक्षु, त्यागी आदि अर्थ इसके हो सकते हैं। ध्वस्र भी इसी धातु से बना है अतः इसका भी यही अर्थ है। ध्वंस धातु से ध्वंसनार्थ में भी इस पद की रचना हो सकती है। ऐसी अवस्था में ध्वसन्ति और ध्वस्र का अर्थ काम क्रोध आदि शत्रुवों का ध्वंस करने वाला मनुष्य होगा। पुरुषन्ति का अर्थ है बहुत प्रदान करने वाला। पुरु सनोति ददातीति पुरुषन्तिः—अर्थात् अधिक दान देने वाला अथवा अधिक ज्ञान देने वाला पुरुषन्ति है। उपर्युक्त मन्त्रों की अर्थसंगति इस आधार पर लग जाती है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पुरुहन्मा—

इण्डेक्स इसे एक ऋषि का नाम बताती है। इसका कथन है कि ऋग्वेद की अनुक्रमणी के अनुसार यह आंगिरस है।

परन्तु वेद मंत्र में आया पुरुहन्मा पद व्यक्तिवाचक नहीं है। इण्डेक्स ने अनुक्रमणी का आधार लेकर अपना मत बना लिया जो ठीक नहीं। ऋग्वेद ८।७०।३ में पुरुहन्मा पद आया है। इस मंत्र वाले सूक्त का ऋषि भी पुरुहन्मा है अतः यह भ्रम पैदा हुआ। वस्तुतः पुरुहन्मा व्यक्तिवाचक नाम नहीं है। पुरु हन्तीति पुरुहन्मा—अर्थात् बहुतों को मारने वाला पुरुहन्मा है। हन् धातु हिंसा और गति दोनों अर्थों में है। अतः बहुत से शत्रुवों को मारने वाला अथवा बहुत सी बुराइयों और अज्ञानों का विनाशक पुरुहन्मा है। हन् को गत्यर्थक लेकर ज्ञानवैराग्य आदि को प्राप्त करने वाला अथवा बहुत जानने वाला अर्थ होगा। ऋग्वेद ८।७०।२ की अर्थसंगति इस आधार पर लग गाती है। प्रक्रियानुसार अर्थान्तर भी घटाया जा सकेगा।

पुरुरवा—

पुरुरवा व्यक्तिविशेष नहीं। इण्डेक्स ने जो कुछ लिखा है वह भी इसके व्यक्तिविशेष होने का साधक नहीं। अन्त में उसे भी सन्देह है कि यह वस्तुतः काल्पनिक व्यक्ति है अथवा कोई प्राचीन राजा है। मैंने अपनी पुस्तक वैदिकज्योति के "अप्सराः, प्रकरण में पुरुरवा और उर्वशी की व्याख्या विस्तृत रूप में कर दी हैं। निघण्टु ५।४ में पुरुरवा पदनाम में पठित है। इरा एवं इला का अर्थ पानी है अतः पानी से उत्पन्न होने से वह ऐलेय हैं। उर्वशी भी ४।५ में निघण्टु में पदनाम में पठित है। पुरुरवा मेघ, वायु और उपदेष्टा पुरुष आदि अनेक अर्थों में प्रक्रियानुसार लगेगा। इसी प्रकार उर्वशी भी विद्युत्, वाक् और स्त्री के अर्थ में प्रक्रियानुसार घटेगी।

पूतक्रतु—

"दस्यवे वृकः" में इसकी व्याख्या कर दी है। फिर भी ऋग्वेद ८।६८।१७ में जिसका संकेत इण्डेक्स ने किया है, भी पूतक्रतु कोई नाम नहीं है। यहां पर वह विशेषण है और उसका अर्थ शुद्धप्रज्ञ अथवा शुद्धकर्मोपेत है।

पूरु—

निघण्टु २।३ में मनुष्य अर्थ में पढा गया है। ऋग्वेद १।१०८।८ में भी यही अर्थ संगत है।

पृथि—

विस्तृत गुणों वाला अथवा ज्ञानादि गुणों का विस्तार करने वाला मनुष्य पृथि है। ऋग्वेद १।११२।१५ में यह अर्थ संगत है। प्रक्रियाभेद से अन्यार्थ भी हो सकता है।

पैजवन—

द्वितीय प्रकरण में विश्वामित्र और नदियों के इतिहास के अवसर पर इसकी व्याख्या कर दी गयी है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पौवक्रता—

का प्रयोग ८।५९।४ में है और इसकी व्याख्या दस्यवे वृकः की व्याख्या के अवसर पर कर दी गयी है।

पौर—

पूरु निघण्टु २।३ में मनुष्य अर्थ में पढा गया है। पुरु का पुत्र पौर है। इस प्रकार यह मनुष्यसामान्य है। अथवा पुरि भवः पौरः = अर्थात् गाँव एवं पुरी में रहने वाला पौर है। यह पद ऋग्वेद ८।३।१२ में प्रयुक्त है और अर्थसंगति वहाँ पर लग जाती है।

प्रमगन्द—

इसकी व्याख्या कीकट के इतिहास का निराकरण करते हुये प्रथम प्रकरण में करदी है।

प्रष्कण्व—

इसकी व्याख्या द्वितीय प्रकरण में "प्रियमेध" आदि सम्बन्धी इतिहास का निराकरण करते समय कर दी है।

प्रातर्दनिः—

यह भी कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। इण्डेक्स का यह कहना कि यह एक राजाविशेष का नाम है केवल सायण के भाष्य पर आधारित है। यह ठीक नहीं। शत्रुवों का प्रतर्दन करने वाला राजा प्रतर्दन है और उसका पुत्र प्रातर्दनि अर्थात् शत्रुवों का अत्यन्त विघातक—है। यह अर्थ ऋग्वेद ६।२६।८ मंत्र की अर्थसंगति में घट जाता है।

प्रियमेध—

इसकी व्याख्या प्रथम द्वितीय प्रकरणों में इस सम्बन्धी इतिहास के निराकरण के अवसर पर हो चुकी है।

प्लायोगि—

इसकी व्याख्या आसंग प्लायोगि की व्याख्या के अवसर पर की जा चुकी है।

बभ्रु—

इण्डेक्स में लिखा है कि ऋग्वेद में यह एक ऋषि का नाम है जिसने राजा ऋणञ्चय से दक्षिणा प्राप्त की थी।

परन्तु यहाँ पर भी यह ध्यान में रखने की बात है कि इण्डेक्स का मत सायण आदि पर आधारित है और चूंकि सूक्त का ऋषि भी बभ्रु है अतः ऐसा विचार पुस्तक कर्त्तावों ने सरलता से विना कुछ विचार किये ही बना लिया। यास्क ने निरुक्त ४।१५ पर बभ्रु का अर्थ घोड़ा किया है। परन्तु यहाँ पर बभ्रु का अर्थ है विशेष शोभायुक्त राजा एवं मनुष्य। अतिशयेन भातीति बभ्रुः। अथवा पौनःपुन्येन बिभर्ति इति बभ्रुः, अथवा अतिशयेन भरति इति बभ्रुः—अर्थात् ज्ञान से अतिशय प्रकाशमान, अत्यन्त धारक एवं पोषक, मनुष्य बभ्रु है। ऋग्वेद ५।३०।११,१४ तथा ऋग्वेद ८।२२।१० में यह पद प्रयुक्त है और इन सभी स्थलों पर अर्थसंगति लग जाती है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वल्हीक—

इण्डेक्स इसे अथर्ववेद ५।२२।५–७–९ मंत्रों में उस स्थान के लोगों का नाम मानती है और कहती है कि अथर्व में उक्त स्थल पर मूजवत, महावृषा और बाह्लीकों में ज्वर का जाना लिखा है।

परन्तु यह भी व्यक्तिवाचक नाम नहीं। यह देश—सामान्य है। अति वृष्टि वाले प्रदेश का नाम महावृषा है। मूजवत् उस पहाड़ी प्रदेश को कहा जाता है जहाँ पर मूज और घास आदि बहुत होते हैं। बहुत कुश और गांड़र अथवा बस्ती वाला प्रदेश बल्हीक है। यह किसी स्थान-विशेष का नाम नहीं है। मंत्रार्थसंगति लग जाती है।

बाहुवृक्त—

इण्डेक्स के अनुसार प्रकटरूप में यह एक ऋषि का नाम है जिसने कि युद्ध में शत्रुवों पर विजय प्राप्त की थी और ऋग्वेद ५।४४।१२ में उसका वर्णन है।

वस्तुतः ऋग्वेद ५।४४।१२ मंत्र में आये बाहुवृक्त पद का अर्थ कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। बाहुभ्यां वृक्तदर्भः वाहुवृक्तः। बाहुवों से दर्भ को स्वीकार करने वाला याज्ञिक बाहुवृक्त है। इण्डेक्स ने व्यर्थ में ही व्यक्तिविशेष की कल्पना करली है। बाहुवृक्त की ऐसी ही व्युत्पत्ति सायण ने भी की है। परन्तु अर्थ करने में भटक गया है।

बृहदुक्थ—

इण्डेक्सकर्त्ता का विचार है कि यह एक दुर्बोध सूक्त में ऋग्वेद में एक पुरोहित के रूप में बतलाया गया है। तथा १० वें मण्डल के दो सूक्तों में यह निश्चय ही एक ऋषि है।

यहाँ पर इण्डेक्सकर्त्ता को भ्रममात्र है। वस्तुतः बृहदुक्थ कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। शतपथ आदि ब्राह्मणों में उक्थ की अनेक प्रकार की व्याख्या मिलती है। शतपथ [1] १४।४।४।१ में वाणी को उक्थ कहा गया है क्योंकि समस्त नाम इसी से निकलते हैं। षडविंश ब्राह्मण [2] १।५ में भी वाणी को उक्थ कहा गया है। कौषीतकी ११।८ [3] और १७।७ में अन्नों को उक्थ कहा गया है। तैत्तिरीय [4] १।८।७।२ में प्रजा को उक्थ कहा गया है। ऐतरेय [5] ४।१,१२; गो० उ० ६।७; तथा तैत्तिरीय १।८।७।२ में पशुवों को उक्थ लिखा गया है। अग्नि, प्राण, और आदित्य को भी शतपथ १०।६।२।८; १०।४।१।४; तथा १०।६।२।९ में क्रमशः उक्थ कहा गया है। ताण्ड्य १९।६।२ में (क्रतुः) उक्थः षोडशिमान् भवति) क्रतु = यज्ञ को उक्थ लिखा गया है। उक्थ को निघण्टु ३।८ में "प्रशस्य" अर्थ में पढ़ा गया है। यास्क ने भी ११।३१ पर उक्थ्य का अर्थ "वक्तव्यप्रशंस" किया है। इससे "उक्थ" का प्रशंसा अर्थ निकलता है। उक्थ की व्याख्या करते हुये ब्राह्मण ग्रन्थों ने उक्+थम् मानकर व्याख्या की है। स्थापक को "थ" कहा गया है। प्राण

१—(वागिति) एतदेषां (नाम्नां) उक्थमतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति।

२—वागुक्थम्।

३—अन्नमुक्थानि।

४—प्रजा वा उक्थानि।

५—पशव उक्थानि।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"उक्" है और अन्न उसका "थ" है। अग्नि "उक्" है और आहुतियाँ उसके "थ" हैं। आदित्य उक् है और चन्द्रमा उसका "थ" है। यहाँ पर उपजीव्य को "थ" कहा गया है। अतः भौतिक जगत् में जितने महान् भूतिमत् पदार्थ हैं वे सभी उक् हैं और उनकी शक्तियाँ "थ" हैं। यह पद इतना विस्तृत अर्थ देता है कि इस में सभी भौतिक पदार्थों, उत्तमकर्मों और चेतनों का ग्रहण हो जाता है।

बृहदुक्थ का अर्थ भी दो प्रकार से किया जावेगा। एक तो कर्म धारय समास करके (बृहन् उक्थः) और दूसरा बहुव्रीहि समास करके (बृहन् उक्थो यस्य)। प्रथम प्रकार से बृहदुक्थ का अर्थ महदुक्थ होगा और अनेक अर्थों में घटेगा। इस प्रकार महान् सूर्य, अग्नि, प्राण, मनुष्य आदि अर्थ होंगे। दूसरे प्रकार से अर्थ करने पर बड़ी प्रशंसा का पात्र, महान् यज्ञों वाला; अधिक पशुवों वाला तथा महान् स्तावक आदि अर्थ निकलेगा। ऋग्वेद ५।१६।३, १०।५४।६ और १०।५६।७ मंत्रों की अर्थसंगति प्रक्रियानुसार इन अर्थों से लग सकेगी।

बृहद्दिव—

इण्डेक्स में लिखा है कि यह ऋग्वेद के एक सूक्त का कर्त्ता मालूम पड़ता है और यह अपने को अथर्वन् कहता है।

इण्डेक्स को यह धारणा सायण से मिली। ऋग्वेद १०।१२० सूक्त का ऋषि अथर्वा का पुत्र बृहद्दिव है। अतः इण्डेक्स के रचयिता ने सरलता से अपना मत इस आधार पर आधारित कर लिया। वस्तुतः बृहद्दिव का अर्थ अधिक प्रकाश अथवा ज्ञान वाला है। ऋग्वेद १०।१२०।८ में उसे "अग्रियः" कहा गया है। ज्ञानियों में अग्रगामी अथवा अग्रगण्य ज्ञानी बृहद्दिव कहलाता है। ऋग्वेद १०।१२०।९ में उसका विशेषण 'अथर्वा' आया है और सायण ने इसका अर्थ अथर्वा का पुत्र किया है। अतः इण्डेक्सकर्त्ता ने इसे आथर्वण मान लिया है। अथर्वाः और अथर्वाणः पद निघण्टु ५।६ और ५।५ में क्रमशः पद नाम में स्थित हैं। यास्क ने निरुक्त ११।१८ पर अथर्वा का अर्थ अथर्वण वाला किया है। थर्व धातु यास्क के अनुसार गत्यर्थक है और उससे थर्वण पद बनता है। न थर्वणं यस्यास्तीति अथर्वा—अर्थात् जिसमें थर्वण एवं चलायमानता न हो ऐसा स्थिरमति अथर्वा है। यह विद्वान् के अर्थ में भी है और गति मान न होने से मध्यमस्थानीय पदार्थ के अर्थ में भी है। आंगिरस् और आथर्वण गण भौतिक पदार्थों के भी सूचक हैं। यह अथर्वा बृहद्दिव का विशेषण भी बन सकता है और बिना विशेषण के भी अर्थ दे सकता है। ऋग्वेद १०।१२०।८ में बृहद्दिव महान् ज्ञानी के अर्थ में अथवा महान् प्रकाश वाले अर्थ में प्रक्रिया का ध्यान रखते हुये घटेगा। शतपथ ६।४।२।१ और ६।४।२।२ में (प्राणो वा अथर्वा; प्राणो अथर्वा) प्राण को अथर्वा कहा गया है। वहाँ पर यजुः ११।३२ का उद्धरण भी प्रस्तुत किया गया है। ऋग्वेद १०।१२०।९ में इन्द्र को बृहद्दिव अथर्वा का तन्व कहा गया है। इस प्रकार यह एक भौतिक पदार्थ है। जब इन्द्र का अर्थ वायु होगा तब अथर्वा का अर्थ प्राण होगा। प्राण का ही तनूः यह वायु है। ऐसी अवस्था में बृहद्दिव अथर्वा का विशेषण बनेगा। यदि अथर्वा को बृहद्दिव का विशेषण बनाया जावे तो बृहद्दिव का अर्थ सूर्य होगा। यह निश्चल अर्थात् किसी ग्रह का चक्कर न काटने के कारण अथर्वा है और इन्द्र = वायु उसका तनू = विस्तारक है। सूर्य के प्रकाश का वायु विस्तारक है भी। क्योंकि यह यदि कोई अवरोधक पदार्थ होता तो अन्तरिक्षस्थ प्रकाश पृथिवी पर लोगों को प्राप्त नहीं हो सकता।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वेक नाट—

इण्डेक्स के रचयिता की दृष्टि में यह पद ऋग्वेद ८।६६।१० में एक ही बार आया है। यहाँ पर इन्द्र के द्वारा वेक नाट और पणियों पर विजय प्राप्त करना लिखा है। हिलब्रे एडथ ने ब्रे नफर का समर्थन करते हुये वेक नाटों को बीकानेर से मिलता जुलता माना है।

यहाँ पर इन पाश्चात्य विद्वानों की कितनी अनर्गल कल्पना है। सायण ने भी "वेक नाट" का अर्थ व्याजखोर ही किया है। उसने भी यास्क का ही अनुसरण यहाँ पर किया है। हँसी की बात तो यह है कि वेक नाठ को बीकानेर किस प्रकार इन्होंने समझ लिया। कितनी अनभिज्ञता की उड़ानें हैं। वास्तव में एक का दो करने अथवा चाहने वाले ब्याजखोर को वेकनाट कहा जाता है। एक पैसा देकर दो मुझे देना—ऐसा अभिनय जो लोग दर्शाते हैं वे ब्याजखोर ही वेक नाट हैं। यास्क ने लिखा है—"वेक नाटाः खलु कुसीदिनो भवन्ति द्विगुणकारिणो वा द्विगुण-दायिनो वा द्विगुणं कामयन्त इति वा"—अर्थात् वेकनाट व्याजखोर हैं जो राशि को द्विगुण करते हैं, द्विगुण लेते हैं अथवा द्विगुण की कामना करते हैं। द्वौ एकस्य कृते इति "द्व्येक"। इसमें से द् का लोप हो गया है और वेक बाकी रह गया है। नाटः पद नट् धातु का है। [1]देवराज-यज्वन् ने निघण्टु की टीका में (४।३) ऐसा ही भाव दर्शाया है सायण ने भी इसी सरणि का अनुसरण किया है। ऋग्वेद ८।६६।१० में "पणीन्" पद भी पड़ा है। पणि वणिज् के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इससे भी तो "वेक नाट" पद के अर्थ को समझने में सहायता मिल सकती। परन्तु इन पाश्चत्यों को इतनी समझ कहाँ। थी इस मन्त्र में इन्द्र = राजा के द्वारा सूद खोर बनियों को दबाने का उपदेश है।

भरत—

इसकी विस्तृत व्याख्या देबवत्, देववात आदि की व्याख्या के प्रसंग में कर दी है। निघण्टु ३।१८ में भरत और भारत दोनों ही ऋत्विग् अर्थ में पठित हैं। शतपथ ब्राह्मण में भरत से अग्नि, प्रजापति और ऐतरेय में प्राण अभिप्रेत हैं। विस्तृत व्याख्या निर्दिष्ट स्थानों पर कर दी गयी है।

भरद्वाज

इण्डेक्स में इस विषय में लिखा है कि यह ऋग्वेद के छठें मण्डल के मन्त्रों का प्रख्यात रचयिता है। भरद्वाज और भरद्वाज लोग बार बार इस मण्डल में स्तोता के रूप में वर्णित हैं।

वैदिक इण्डेक्स का यह वर्णन ठीक नहीं है। मन्त्रों का कोई ऋषि कर्ता है—इसका निरा-करण मैंने प्रथम प्रकरण में सप्रमाण कर दिया है। भरद्वाज का बहुवचनान्त प्रयोग ही यह बतलाता है कि यह कोई व्यक्तिवाचक पद नहीं है। ऋग्वेद ६।१०।६; ६।२३।१०; ६।२५।६; ६।३५।४; ६।४७।२५, ६।५१।१५; ऋग्वेद १।५६।७ स्थलों में भरद्वाज का बहुवचनान्त प्रयोग हैं। निरुक्त ५।१७ में (भरणाद्भरद्वाजः) भृज् धातु से भरद्वाज पद की निरुक्ति है। यज्ञ में अन्न का भरण करने वाला भरद्वाज है। यह निरुक्ति ही सिद्ध करती है कि यह कोई व्यक्तिविशेष नहीं। शतपथ ८।१।१।६ में

१—एकं कार्षापणमृणिकाय प्रयच्छन् द्वौ मह्यं प्रदातव्याविस्येवमभिनयेन दर्शयन्ति। ततो द्विशब्दादेकशब्दाच्चाटयतेश्च वेकनाटाः।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

(मनो वै भरद्वाज ऋषिः) मन को भरद्वाज कहा गया है। और यजु० १३।५५ के हवाले के साथ यह वर्णन किया गया है। इससे भी यह निश्चित हो गया कि भरद्वाज वेद में कोई व्यक्तिविशेष नहीं।

ऋग्वेद १।५९।७ में "भरद्वाजेषु" पद आया है। इसका विकल्प में एक अर्थ सायण ने "यज्ञ" माना है। वह लिखता है "भरन्ति पोषयन्ति भोक्तॄनिति भरन्तः, तादृशाः वाजा येषु। भरद्वाजेषु पुष्टिकरहविर्लक्षणान्नवत्सु यागेषु"—अर्थात् भरद्वाजेषु का अर्थ हविर्लक्षणान्न वाला यज्ञ है। जब भरद्वाज का अर्थ याग है तो यह व्यक्तिविशेष किस प्रकार हो सकता है। ऋग्वेद १।११६।१८ में "भरद्वाजाय" पद आया है। यहाँ पर यह "दिवोदासाय" का विशेषण है। इसका अर्थ है संभ्रियमाण-हविर्लक्षणान्न यजमान। सायण ने भी यही अर्थ किया है। अन्न से लोगों का भरण करने वाला भरद्वाज है यह अर्थ भी भरद्वाज का लग सकता है। यहाँ भी प्रकट हो रहा है कि यह व्यक्तिविशेष नहीं क्योंकि व्यक्तिविशेष किसी विशेष्य का विशेषण नहीं बन सकता है। ऋग्वेद ६।१५।३ में "वीतहव्याय" और "भरद्वाजाय" दोनों ही पद आये हैं। यहाँ पर भरद्वाज को वीतहव्य का विशेषण बनाया जा सकता है। और वीतहव्य को भरद्वाज का विशेषण भी बनाया जा सकता है। यहाँ पर भी "संभृतहविर्लक्षणान्न" अर्थ ही भरद्वाज पद का सायण ने किया है। ऋग्वेद ६।४८।७ मन्त्र भरद्वाज के यज्ञार्थक होने में प्रकाश डालता है।

मन्त्र निम्न प्रकार हैं—

बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठय रेवन्नः शुक्र दीदिहि द्युमत्पावक दीदिहि ॥

ऋ० ६।४८।७

अर्थ—

दीपनादिगुणों से युक्त अत्यन्त युवा = शक्तिशाली तेजोयुक्त अग्नि ज्वालावों से और निर्मल तेज से भरद्वाज = यज्ञ में समिधान = जलता हुआ हमारे लिए धनदाता होकर प्रकाति होवे। यह द्युलोक में विद्यमान अथवा प्रकाश से युक्त अग्नि हमारे लिए प्रज्वलित होता रहे।

इण्डेक्स का कहना है कि भरद्वाज ६ ठें मण्डल के मन्त्रों का कर्त्ता हैं। परन्तु ऋग्वेद ६।६५।६ में "भरद्वाजवत्" प्रयोग आया है। मन्त्र में यह भाव बतलाया गवा है कि सूर्य की दुहिता पुराने लोगों की तरह हमारे लिए भी अन्धकार को दूर करती है और भरद्वाज की भाँति मुझ स्तोता के लिये भी ऐश्वर्य देती है। यदि भरद्वाज मन्त्र का कर्त्ता होता तो वह भरद्वाजवत् पद का क्यों प्रयोग करता। इससे तो अन्य ही भरद्वाज प्रतीत होता है। यह कठिनाई सायण को भी अनुभूत हुई और उसने लिखा—भरद्वाजवदितिवचनादन्योपि अस्ति भरद्वाजः। तथा च ब्राह्मणं—प्राणो वै भरद्वाजवत्—इति—अर्थात् भरद्वाजवत् इस कथन से मालूम पड़ता है कि दूसरा भी भरद्वाज है। इसलिए ब्राह्मण में कहा गया है कि—प्राण ही भारद्वाजवत् है यहाँ पर पाश्चात्यों की कल्पना की दीवार स्वयं ही ढह गयी।

ऋग्वेद १।११२।१३ में "विप्रं भरद्वाजं" पद है। यहाँ पर विप्र का विशेषण भरद्वाज हो सकता है और भरद्वाज का विशेषण विप्र हो सकता है। ऋग्वेद १० वें मण्डल के १५० वें सूक्त में यज्ञाग्नि का स्पष्ट वर्णन है। प्रक्रियान्तर से अर्थान्तर भी निकलता है। इस सूक्त के ५ वें मंत्र में भरद्वाज पद आया है। इसमें अत्रि, गविष्ठिर, कण्व, त्रसदस्यु, वसिष्ठ, पुरोहित आदि पद भी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आये हैं। अत्रि का अर्थ तापत्रयरहित, गविष्ठिर का अर्थ जितेन्द्रिय; कण्व का अर्थ मेधवी, त्रसदस्यु का अर्थ कामक्रोध आदि रहित, वसिष्ठ का अर्थ वासकतम अथवा वसुतम है। पुरोहित पद मंत्र में पड़ा ही है। जैसे ये सब व्यक्तिवाचक नहीं है वैसे ही भरद्वाज भी व्यक्तिवाचक नहीं है। भारद्वाज का अर्थ यज्ञ में अन्न का भरण करने वाला यजमान अथवा याज्ञिक एवं ऋत्विग् है। भारद्वाज की इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए इसी सूक्त के चौथे मंत्र को लिया जा सकता है।

मंत्र निम्न प्रकार है—

अग्निर्देवो देवानामभवत्पुरोहितोऽग्निं मनुष्या ऋषयः
समीधिरे। अग्निं महो धनसातावहं हुवे मृडीकं धनसातये॥

अर्थ—

प्रकाशमान अग्नि अन्य यज्ञ-देवों का अग्रस्थानी है। अग्नि को ऋषि और मनुष्य सभी जलाते हैं। यज्ञ में धन की प्राप्ति के लिए मैं यजमान भी महान् सुखदाता अग्नि को मंत्रों से प्रदीप्त करता हूँ। यहाँ पर स्पष्ट हो गया कि विद्वान् और साधारण मनुष्य सभी यज्ञ करते हैं। अतः भरद्वाज यज्ञकर्त्ता एवं ज्ञानी विद्वान् ही हो सकता है।

ऋग्वेद ६।१०।६ में "भरद्वाजेषु" का अर्थ "यागेषु" = अर्थात् यज्ञों में है। ऋग्वेद ६।१६।५, ६।१६। ३३; ६।१७।१४; ६।३।४; ६।४८।१३; और ६।६३।१० में भरद्वाज का अर्थ ज्ञानी, याज्ञिक अथवा अन्न से यज्ञ की सिद्धि करने वाला मनुष्य है। अन्य प्रक्रियावों में देवतानुसार अर्थान्तर भी हो सकेगा।

ऋग्वेद १०।१८१।१–३ मंत्रों में यज्ञसम्बन्धी विज्ञान प्रदर्शित किया गया है। रथन्तर साम और बृहत्साम आदि का दैवीसृष्टि में सूर्य, द्युः आदि पदार्थों से सम्बन्ध माना जाता है। किस प्रकार अन्तरिक्षस्थ कंपनों से इन सामों को प्रकट किया जाता है—इसका इन मंत्रों में विधान है। यज्ञ की प्रक्रिया किस प्रकार बनायी जाती है—यह भी वर्णित है। सायण ने इस विज्ञान को न समझ कर यहाँ पर अनर्गल इतिहास दिखलाने का प्रयत्न किया है।

मंत्रों का अर्थ निम्न प्रकार है—

१—प्रथश्चसप्रथश्च नामानुष्टुभस्य हविषो हविर्यत्।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोः रथंतरमाजभारा वसिष्ठ॥ १ ॥—

अर्थ—

जिसका प्रथ = प्रकृष्ट विस्तारवाला तथा सप्रथ = सर्व प्रकार से पृथु नाम है उस अग्नि और आनुष्टुभ = प्रजापतिसम्बन्धी अनुष्टुभछन्दोयुक्त हवि = हवनसाधनभूत जो हवि है उसको वसिष्ठ = प्राण अथवा यज्ञ—विज्ञनविद् पुरोहित प्रकट करता है। वह धाता, द्योतमान सविता और विष्णु (ये तीनों सूर्य की संज्ञायें हैं और ये अदिति के पुत्र हैं) से रथन्तर साम को ग्रहण करता है।

अविन्दन् ते अतिहितं यदासीद्यज्ञस्य धाम परमं गुहा यत्।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोर्भरद्वाजो बृहदाचक्रे अग्नेः॥ २॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अर्थ—

विश्वेदेव लोग, यज्ञ का जो ज्ञान देवगणों में छिपा रहता है और जो इस यज्ञ का परम रहस्य है उसको प्राप्त करते हैं। भरद्वाज = अन्न की धारक शक्ति अथवा ज्ञान का पोषक याज्ञिक धाता, प्रकाशमान सविता, विष्णु और अग्नि से बृहत् साम को ग्रहण करता है।

तेऽविन्दन्मनसा दीध्याना यजुः स्कन्नं प्रथमं देवयानम्।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोरासूर्यादभरन् घर्ममेते ॥ ३ ॥

अर्थ—

विश्वेदेव लोग एवं समस्त विद्वान् दीप्यमान होकर अपनी आन्तरिक शक्ति अथवा मन से यज्ञ में देवों के प्राप्त करने के साधनभूत यजु = याग कर्म को प्राप्त करते हैं। धाता, द्योतमान सविता, विष्णु और सूर्य से आसेचनीय घर्म को प्राप्त करते हैं।

इस वर्णन से यह ज्ञात हुआ कि किस प्रकार यज्ञ के आकार प्रकार और सामों को विद्वान् और दिव्यशक्तियाँ प्रकट करती हैं। भरद्वाज भी एक भौतिक पदार्थ है और याज्ञिक विद्वान् का सूचक है—यह भी यहाँ पर स्पष्ट हो जाता है।

शतपथ १४।६।२।१४ में प्राण को वसिष्ठ कहा है। ताण्ड्य ४।५।७ में प्रजापति को आनुष्टुभ (आनुष्टुभो वै प्रजापतिः) कहा गया है। ऋग्वेद ५।१३।४ में अग्नि को "सप्रथाः" कहा गया है।

भलानसः—

यह ऋग्वेद में पाँच जातियों (भलानसः, पक्थासः, विषाणिनः, शिवाः अलिनासः) में से एक का नाम है, जो कि दश राजावों के युद्ध में सुदास् के शत्रु के पक्ष में थे। परन्तु उनके विरोधी नहीं थे जैसा कि रॉथ और एक बार जिमर ने विचारा है। ज़िमर इन भलानसों का मूल निवास पूर्वी काबुलिस्तान में मानता है और उसका यह मानना बोलन पास के नाम के साथ तुलना करने पर आधारित है। यह तर्कतः संभाव्य विचार मालूम पड़ता है। यह विचार वैदिक इण्डेक्स के हैं।

परन्तु ऋग्वेद के जिस मन्त्र की प्रतीक इण्डेक्स ने दी है उसका विचार करने पर यह सारी धारणा ग़लत सिद्ध हो जाती है। ऋग्वेद ७।१८।७ में पक्थासः, भलानसः, अलिनासः, विषाणिनः और शिवासः पद आये हैं। परन्तु इनमें से एक भी व्यक्तिवाचक नहीं है। न कोई भी पद किसी जातिविशेष का ही द्योतक है। कितनी लम्बी कूद मारी पाश्चात्य विद्वानों ने परन्तु गिर कर पड़ गये गड्ढे में ही। "भलानसः" से बोलन पास की किसी प्रकार की भी तुलना नहीं है। भाषा विज्ञान से भी यह नहीं सिद्ध हो सकता है। केवल मनःप्रसूतियों पर कोई जो विचार चाहे भले ही खड़ा करे। ये सब ऋत्विज् अथवा यजमानों के विशेषण हैं और इनके लिए ही प्रयुक्त हैं। अथवा इस क्रिया या गुणों वाले यजमान भी इन पदों के अर्थ हैं। भलानसः का अर्थ है भद्रमुख; पक्थासः का अर्थ है हवि को पकाने वाले अथवा परिपक्व बुद्धि; अलिनासः का अर्थ है तप से अप्रवृद्ध; विषाणिनः = का अर्थ है कृष्णविषाणहस्त एवं दीक्षित और शिवासः = का अर्थ है यज्ञ द्वारा लोक का कल्याण करने वाले। ऐसे यजमान अथवा ऋत्विज् इन्द्र की मनन्त = स्तुति करते हैं। मन्त्र में यह भाव बतलाया गया है इसके पूर्वार्ध में। सायण ने भी यहाँ पर ऐसा ही अर्थ किया है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भुज्यु—

तुग्र् के व्याख्यानावसर पर इसका व्याख्यान कर दिया गया है ।

भृगवाण—

इण्डेक्स में इसे एक व्यक्ति शोभ का नाम कहा गया है । हवाला ऋग्वेद १।१२०।५ का दिया गया है । परन्तु यहाँ पर इण्डेक्सकर्त्ता ने केवल तुकमात्र लगाया है । वास्तव में "शोभे" क्रिया पद है, संज्ञापद नहीं । कितनी बड़ी अनभिज्ञता है कि क्रियापद को संज्ञापद मानकर पुनः उसे किसी व्यक्ति का नाम बताना । भृगवाण पद का अर्थ है भृगुवत् व्यवहार करने वाला । भृगुवदाचरतीति भृगवाणः । "घोषे" पद भी मन्त्र में पड़ा है । "घोष" निघण्टु १।११ में वाणी अर्थ में पठित है । सायण ने इसे घोषा का पुत्र माना है । यह उसकी अनभिज्ञतामात्र है । वस्तुतः अपने को भृगु मानना और वैसा न होना भृगुमन्यता अथवा भृगुवदाचारिता है । भृगु यज्ञ की हवि को पकाने वाला विद्वान् अथवा परिपक्व बुद्धि तपस्वी है ।

मन्त्रार्थ निम्न प्रकार है—

प्र या घोषे भृगवाणे न शोभे यया वाचा यजति पज्रियो वाम् ।
प्रैषयुर्न विद्वान् ॥

अर्थ—

जो स्तुतिमयी वाणी तपस्वी न होते हुये भी तपस्वी का व्यवहार करने वाले अतपस्वी के शब्द में शोभा नहीं पाती है और जिस वाणी से याज्ञिक अन्न और ज्ञान की प्राप्ति की इच्छा करता हुआ कर्तव्याकर्तव्य को जानने वाले विद्वान् के समान यज्ञ करता है वह वाणी सब ज्ञानों को देने में समर्थ है ।

भृगु—

इण्डेक्स ने लिखा है कि ऋग्वेद में और बाद के साहित्य में भृगु एक बिलकुल काल्पनिक ढंग का ऋषि है । यह वारुणि नाम को धारण करते हुये वरुण का पुत्र माना जाता है । बहुवचन में प्रयुक्त भृगु अग्नि के पूजक मालूम पड़ते हैं । ये ऋग्वेद में भृगु-नाम-प्रदत्त प्राचीन पुरोहित और पूर्वज मालूम पड़ते हैं । परन्तु यह बात उन तीन सन्दर्भों को छोड़कर घटित होती है जिनमें उन्हें प्रामाणिक रूप से एक ऐतिहासिक परिवार माना गया है । ये सन्दर्भ ऋग्वेद ७।१८।६; ८।३।९ और ८।६।१८ हैं । यह किसी प्रकार स्पष्ट नहीं है कि वे दश राजावों के युद्ध में संग्राम करने वाले योद्धा थे अथवा पुरोहित थे । भृगु लोग द्रुह्यु लोगों के साथ उनके पुरोहित के रूप में दिखलायी पड़ते हैं परन्तु यह निश्चित नहीं है ।

यह है मत वैदिक इण्डेक्स का । कितनी भ्रमात्मक भाषा का प्रयोग है । भृगुवों को काल्पनिक मानकर भी एक ऐतिहासिक परिवार माना गया है । परन्तु पुनः यह भी बतला दिया गया कि दश राजावों के युद्ध में ये पुरोहित थे अथवा योद्धा थे यह स्पष्ट नहीं । यह भी कहा गया कि द्रुह्यु लोगों के साथ उनके पुरोहित के रूप में ये दिखलायी पड़ते हैं परन्तु यह भी निश्चित नहीं । फिर क्या हैं—यह तो बतलाना चाहिए था । तीन स्थलों पर इन्हें ऐतिहासिक परिवार बताना और पहले इन्हें काल्पनिक मानना—यह भी विचित्र माया है । यहाँ भृगु के विषय में थोड़ा सा विचार किया जाता है ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वेदमन्त्रों का अर्थ तीन प्रक्रियावों में होता है—यह पूर्व दो प्रकरणों में और अपनी प्रसिद्ध पुस्तक वैदिक ज्योति में मैं दिखला चुका हूँ। इन्हीं प्रक्रियावों के अनुसार शब्दों के अर्थ में भी भिन्नता हो जाती है। भृगु का अर्थ भी इन प्रक्रियावों मे भिन्न भिन्न होता है। दैवत प्रक्रियानुसार भृगु एक वैज्ञानिक तत्व है। इसका विस्तार से वर्णन वैदिक साहित्य में मिलता है। मैंने द्वितीय प्रकरण में दैवी सृष्टि का वर्णन किया है। वहाँ पर पर्याप्त प्रकाश इस सम्बन्ध में डाला है। दैवत प्रक्रिया में भृगु का अर्थ देखना चाहिए। निघण्टु ५।५ में "भृगवः" पदनाम में पठित है। यह इस बात की सूचना देता है कि "भृगु" पद अनेकार्थक है। यास्कने ३।१७ पर लिखा है कि "अर्चिषु भृगुः सम्बभूव। भृगुर्भृज्यमानो न देहे=अर्थात् अर्चियों=ज्वालावों में भृगु पैदा हुआ और वह भृज्यमान है तथा देह में नहीं है। यास्क का सन्दर्भ जहाँ दैवत प्रक्रिया में ज्वालावों के उत्कट तेज को भृगु बतलाता है वहाँ याज्ञिक और अध्यात्मिक प्रक्रिया में यज्ञाग्नि के द्वारा परिपक्व ज्ञान वाला और विदेह तपस्वी अर्थों की ओर भी संकेत करता है। दैवत प्रक्रिया में भृगु एक प्रकार की अग्नि, तेज एवं ऊष्मा है। भौमाग्नि और जलस्थाग्नि और अग्नि के अन्य भेदों के अर्थ में भी इसका प्रयोग मिलता है। ऋग्वेदीय मंत्र (१०।४।६) की व्याख्या करते हुए निरुक्त ११।१९ [1] पर यास्क ने लिखा है कि ऋभुगण, अथर्वगण, आंगिरसगण, और भृगुगण प्रक्रियावों की भिन्नता से निरुक्त मत में माध्यमिक देवगण हैं, नित्येतिहास वालों के मत में पितृगण हैं। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि ये ऋषिगण हैं। यास्क का कथन तीनों प्रक्रियावों की दृष्टि से है। ऋषि पद का अर्थ यहाँ पर दिव्य पदार्थ और इन्द्रियाँ आदि हैं। गोपथ ब्राह्मण पूर्वार्ध [2] १।३ में लिखा है कि "श्रान्त तप्त जलों से जो रेत निकला उसको पकाने (और संतप्त करने) से भृगु पैदा हुआ। यही भृगु का भृगुपना है। यास्क का पूर्वोक्त भृज्यमान पद इसी ओर संकेत करता है। पुनः यह भृगु वारुणि क्यों है—इसका वर्णन करते हुये ताण्ड्य ब्राह्मण १८।९।१ [3] में लिखा है कि वरुण=उदान एवं जल के चुआने पर उसका जो तेज था वह भाग पड़ा और तीन प्रकार से गिरा और तीसरा जो था वह भृगु हो गया और पानी में प्रविष्ट हो गया। पुनः इसी रहस्य को खोलते हुये ऐतरेय ब्राह्मणकार [4] लिखता है—कि उस प्रजापति=विराट् के रेत से जो प्रथम प्रकाशित हुआ वह आदित्य हो गया, दूसरा जो था वह भृगु बन गया और उसको वरुण=उदान अथवा जल ने ग्रहण कर लिया—इसीलिए वह वारुणि भृगु है। वस्तुतः यही तेज जब पृथिवी में गृहीत हो जाता है तब वह और्व भृगु कहलाता है। पुनः शतपथ १।२।१।१३ [5] में वर्णित पाया जाता है कि भृगु और अंगिरा का तेज सब तेजों में

१—माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः। पितर इत्याख्यानम्। अथाप्यृषयः स्तूयन्ते।

२—ताभ्यः श्रान्ताभ्यः सन्तप्ताभ्यो (अद्भ्यः) यद्रेत आसीत् तदभृज्यत यदभृज्यत तस्माद्भृगुः समभवत् तद् भृगोः भृगुत्वम्। गोपथे

३—वरुणस्य वै सुषुवाणस्य भर्गोऽपाक्रामत्स त्रेधापतद्भृगुस्तृतीयमभवत् तृतीयमपस्तृतीयं प्राविशत्। ताण्ड्य

४—तस्य (प्रजापतेः) यद् रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवद् यद् द्वितीयमासी-त्तद्भृगुरभवत्तं वरुणो न्यगृहीत्तस्मात्स भृगुर्वारुणिः।

५—एतद्वै तेजिष्ठं तेजो यद्भृग्वङ्गिरसाम्। शतपथ

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तेजिष्ठ है। यहाँ पर "भृगूणामाङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्॥ इस यजुर्वेदीय (१।१८) मंत्र का हवाला भी दिया गया है।

गोपथ पूर्वार्द्ध २।८ में (वायुरापश्चन्द्रमा इत्येते भृगवः) वायु, आपस् और चन्द्रमा को भृगु कहा गया है इस प्रकार भृगु के अनेक अर्थ निकलते हैं। अब मंत्र की अन्तःसाक्षियों को भी देखना चाहिए। सर्व प्रथम उन्हीं स्थलों पर विचार किया जाता है जिनमें इण्डेक्स भृगु के एक ऐतिहासिक परिवार का वर्णन मानती है। ऋग्वेद ७।१८।६ में "भृगवः" और "द्रुह्यवः" पद आये हैं। "द्रुह्यवः" मनुष्यार्थ में पठित है—यह पूर्व इसके प्रसंग में कहा जा चुका है। भृगवः का अर्थ यहाँ पर हवि को पकाने वाले ऋत्विज् अथवा मनुष्य हैं। ये कोई व्यक्तिविशेष नहीं हैं। भृगु पद "भ्रस्ज पाके" से बनाया जाता है। ऋग्वेद ८।३।९ में "भृगवे" किसी व्यक्तिविशेष के लिए नहीं प्रयुक्त है। यहाँ पर भी तपस्वी और ऋत्विग् के अर्थ में ही इसका प्रयोग है। ऋग्वेद ८।६।१८ तो इस अर्थ पर और भी उत्तम प्रकाश डालता है।

मंत्र निम्न प्रकार है—

य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः। ममेदुग्र श्रुधी हवम्॥

अर्थ—

हे इन्द्र = परमेश्वर! जो यति हैं वे आपकी स्तुति करते हैं और जो तपस्वी विरक्त है वे आप की स्तुति करते हैं। हे सब से ओजस्वी प्रभो! मेरी भी प्रार्थना सुनो।

यहाँ पर यतयः और भृगवः का वर्णन है। यतयः से यति लोग अभिप्रेत हैं। भृगवः से यहाँ विदेह = विरक्त अभिप्रेत हैं। कितना स्पष्ट वर्णन है। यहाँ पर भृगु परिवार कहाँ से निकल आया यह इण्डेक्स के कर्त्ता लोगों को ही मालूम होगा। ऋग्वेद ३।२।४ में अग्नि को भृगूणां रातिम् उशिजम् और कविक्रतुम् कहा गया है। यह अग्नि भृगुवों का दाता, प्रकाशक और क्रान्तकर्मा है। इस कथन से ही प्रकट होता है कि भृगु का एक अर्थ ज्वाला का तेजपुंज है और दूसरा अर्थ ऋत्विज् वा याज्ञिक है। ऋग्वेद ३।५।१० में तो भृगुवों की आधिदैविक जगत् में विद्यमान तात्विकता का सुन्दर वर्णन मिलता है।

मंत्र अर्थसहित निम्न प्रकार है—

उदस्तम्भीत्समिधा नाकमृष्वो ३ ग्निर्भवन्नुत्तमो रोचनानाम्।
यदी भृगुभ्यः परि मातारिश्वा गुहा सन्तं हव्यवाहं समीधे॥

अर्थ—

महान् अग्नि समिधा = दीप्त प्रकाश से द्युलोक को धारण किये है और समस्त प्रकाशों में उत्तम है। यह ही मातरिश्वा होता हुआ भृगुवों = सूर्यरशमीस्थ अग्नियों एवं ज्वाला के तेजों से ऊपर आकाश में विद्यमान अग्नि को प्रकाशित करता है।

ऋग्वेद १।६०।१ में लिखा है कि मातारिश्वा = वायु दो अरणियों अथवा भूमि और द्युलोक में पैदा होने वाले प्रशस्त अग्नि को भृगु के लिए मित्र बनाता है। मंत्र का दूसरा अर्थ इस प्रकार है—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

द्विजन्मानं रयिमिव प्रशस्तं रातिं भरद्भृगवे मातरिश्वा यहाँ पर यज्ञकर्ता और दैवतपक्षीय अग्नि दोनों ही अर्थों की तरफ संकेत हैं। ऋग्वेद १।१२७।७ मंत्र में बहुत सुन्दरता से भृगु का वर्णन मिलता है। यहाँ पर याज्ञिक प्रक्रिया का अर्थ इतना स्पष्ट है कि उस से अधिक और स्पष्ट हो ही नहीं सकता है। इस मन्त्र में "उपवोचन्त भृगवो मथ्नन्तो दाशा भृगवः" पद पड़े हैं। इसका अर्थ यह है कि हवि को पकाने वाले अथवा पापों को जला देने वाले, दानशील अथवा प्रकाशमान भृगु = ऋत्विग् गण अथवा तपस्वी अग्नि का मन्थन करते हुये मन्त्र एवं स्तुति का उच्चारण करते हैं। यहाँ पर मन्त्र में "भृगवः" पद "भृगवः" का विशेषण है। सायण ने एक भृगु का अर्थ "भ्रष्टारो हविषां पापानां वा—अर्थात् हवि को पकाने वाले अथवा पापों को जलाने वाले" किया है।

ऋग्वेद १०।३६।१४ में "भृगवो न रथम्" उपमार्थक पद आया है। यहाँ पर भृगवः का अर्थ रश्मियाँ और रथ का अर्थ (असौ वा आदित्य एष रथः—श० ६।४।१।१५) आदित्य है। अर्थात् जिस प्रकार रश्मियें सूर्य को प्राप्त होती हैं वैसे ही हम अश्विनियों की प्रशंसा को करें। अथवा—जिस प्रकार भृगु = ऋत्विज् लोग रथ = सुख के साधन यज्ञ को प्राप्त करते हैं वैसे ही हम अश्विनियों के ज्ञान अथवा प्रशंसा को तक्ष् जाने और करें। तक्ष धातु निरुक्त ४।१९ में करोत्यर्थक है। ऋग्वेद २।४।२ में भी "भृगवः" का अर्थ दैवत प्रक्रिया में वायुयें अथवा किरणें हैं; अथवा मध्यास्थानी भौतिक पदार्थ है। तथा याज्ञिक प्रक्रिया में परिपक्कबुद्धि याज्ञिक है। ऋग्वेद ४।७।१ में भी यही दोनों अर्थ सङ्गत हैं। ऋग्वेद ४।१६।२० में "भृगवो नरथम्" का अर्थ "यज्ञ को ऋत्विजों के समान" अथवा "सूर्य को किरणों के समान" अथवा रथ को अग्निविद्या में परिपक्वबुद्धि तक्षावों के समान" होगा। और्व भृगु की व्याख्या और्व के प्रसङ्ग में की जा चुकी है।

ऋग्वेद १।५८।६ मन्त्र की अर्थसङ्गति निम्न प्रकार है—

दधुष्ट्वा भृगवो मानुषेष्वा रयिं न चारु सुहवं जनेभ्यः।
होतारमग्ने अतिथिः वरेण्यं मित्रं न शेवं दिव्याय जन्मने ॥

अर्थ—

इस होता, संमानार्ह, श्रेष्ठ एवं मित्र के समान सुखकर लोगों के लिए भली प्रकार प्रयोज्य अग्नि को भृगवः = ऋत्विज् एवं परिपक्वज्ञान पुरुष अथवा पाचक प्राण सुन्दर धन के समान मनुष्यों के मध्य में धारण करते हैं।

ऋग्वेद १।१४३।२ की अर्थसङ्गति निम्न प्रकार है—

यमेरिरे भृगवो विश्ववेदसं नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना।
अग्निं तं गीर्भिर्हिनुहि स्व आ दमे य एको वस्वो वरुणो न राजति ॥

अर्थ—

समस्त विश्व में विद्यमान जिस अग्नि को भृगवः = अग्नि की दिव्य तेजः शक्तियें अथवा विगतपाप ऋत्विज् लोग पृथिवी की नाभिः = मध्य में अथवा यज्ञवेदी में और भुवन की नाभि = मध्य में बल से धारण करते हैं और जो अग्नि आदित्य के समान वसुवों का प्रभु है उस अग्नि को हे यजमान! अपने गृह में यज्ञ के मन्त्रों के साथ प्राप्त कर अर्थात् धारण कर।

ऋग्वेद ६।१०१।१२ में भी भृगवः पद आया है।

३४

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जिसका अर्थ निम्न प्रकार है—

प्रसुन्वानस्यान्धसो मर्त्तो न वृत तद्वचः ।
अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः ॥

अर्थ—

हे मानव ! अन्धसः = अज्ञानान्धकार के कारण मरणधर्मा मनुष्य सुन्वान = स्तूयमान परमेश्वर अथवा उत्पन्न ज्ञान की बात को नहीं सुनता अथवा स्वीकार करता है। तू श्वा = निन्दनीय (श्वा काक इति कुत्सायाम् नि० ४।१८) अराधस = आराधना न करने सम्बन्धी कर्म को) (निरुक्त ५।१७—[अराधसम्] अनाराधयन्तम्) अपहत = छोड़ दे अथवा आराधनारहित निन्दित कर्म को छोड़ दे। जिस प्रकार भृगवः = ज्ञानी जन मख = महती अभिलाषा को छोड़ देते हैं। अथवा जिस प्रकार विदेह जीवन मुक्त सकाम कर्म को छोड़ देते हैं।

भेद—

इण्डेक्स के अनुसार यह सुदास् भारत तृत्सुवों का एक शत्रु है जिसे सुदास् ने यमुना पर परास्त किया था। परन्तु जिन स्थलों का इण्डेक्स ने हवाला दिया है उनको देखने पर यह कोई व्यक्तिविशेष नहीं मालूम होता है। ऋग्वेद ७।१८।१८ में "भेदस्य रन्धिं" (विन्द) पाठ है। यहाँ पर राजा को कहा गया है कि हे राजन् भेद = वैमनस्य के रन्धि=काबू को प्राप्त करो। यहाँ पर मन्त्र में भेद का अर्थ भेद रहने पर भी अर्थसङ्गति लग जावेगी और भेद का अर्थ भेदक = भेद पैदा करने वाला अथवा शत्रु लगाने पर भी सङ्गति लगेगी। ऋग्वेद ७।१८।१६ में भी "भेदं मुषायत्" पद आया है। यहाँ पर भी भेद के अर्थ भेद और भेदक दोनों ही सङ्गत हो सकते हैं। ऋग्वेद ७।३३।३ में आये भेद का भी इसी प्रकार अर्थ लग जाता है। ऋग्वेद ७।८३।४ में भी भेद पद आया है।

मन्त्रार्थसङ्गति निम्न प्रकार है—

इन्द्रावरुणा बधनाभिरप्रतिभेदं वन्वन्ता प्रसुदासमावतम्।
ब्रह्माण्येषां शृणुतं हवीमनि सत्या तृत्सूनामभवत्पुरोहितिः ॥

ऋ० ७।८३।४

अर्थ—

इन्द्रावरुणौ = सेनापति और पुरोहित प्रतिबन्धक साधनों से अप्रति = अपूरणीय भेद को अथवा भेदक को दूर करते हुये सुदास् = दानशील राजा की रक्षा करते हैं। संग्राम में शत्रुवों को पार करने वाले अथवा दुःखों से पार जाने की इच्छा करने वाले इन मनुष्यों की पुकार एवं स्तोत्र को सुनते हैं और इन यज्ञकर्त्ता तरणशील यजमानों अथवा योद्धावों के प्रति इन दोनों अर्थात् सेनापति की अग्रगामिता और पुरोहित का पुरोहितत्व सत्य होते हैं।

मगध—

मगध वस्तुतः कोई स्थानविशेष नहीं। कीकट की व्याख्या प्रथम प्रकरण में कर दी है। "मगध" पद अथर्व ५।२२।१४ में आया है। मस्ज मज्जनार्थक धातु से मग पद बनता है, जिसका अर्थ है डूबने के स्थान गड्ढे और छोटे मोटे पल्वल तालाब आदि। इनसे युक्त या इनको धारण करने वाला स्थान मगध है। जो गड्ढों, डबरों, पल्वलों आदि से युक्त स्थान हो उसका नाम मगध है। ऐसे स्थान पर मलेरिया अधिक होता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मत्स्य—

इण्डेक्स का दृष्टिकोण है कि ऋग्वेद ७।१८।६ में यह निवासियों के नाम के रूप में प्रयुक्त है और यहां पर ये सुदास् के अन्य शत्रुवों के साथ खड़े हैं। यद्यपि यह भी सम्भव है कि इस सन्दर्भ में यह मछली के अर्थ में ग्रहण किया जावे।

यहां भी दो प्रकार की भाषा यह प्रकट करती है कि इण्डेक्स के रचयिता महाशय को वेद विषय में अटकल पच्चू अनुमान मारने के अलावा और कुछ भी ज्ञान नहीं है। यहां पर मन्त्र में "मत्स्यासो निशिता अपीव" पाठ है। अतः "इव" पद यह सूचित कर रहा है कि यहां उपमा है। यहाँ पर मत्यास इव निशिता नियन्त्रिताः = अर्थ लगेगा। सायण ने भी इससे मिलता जुलता ही अर्थ किया है परन्तु आगे चलकर वह भी बड़बड़ा गया है। अस्तु! इसमें आश्चर्य की बात नहीं गड़बड़ाना इसके स्वभाव में निहित हैं। यहां पर मत्स्यासः इव = मत्स्यों के समान नियन्त्रित मनुष्य लोग अर्थ निकलता है। ऋग्वेद ७।१८।६ मन्त्र की सङ्गति इससे लग जाती हैं।

मनु—

इण्डेक्स भी इसे ऋग्वेद और बाद के साहित्य में ऐतिहासिक तथ्य से सम्बद्ध नहीं मानती है। मनु का अर्थ मननशील तथा मन है। ऋग्वेद ८।६३।१ में "मनुष्पिता" पद प्रयुक्त हैं। यहाँ पर पिता का अर्थ मन्त्रदः है और मनु का अर्थ मनस्वी है। मनस्मृति में भी लिखा है— अज्ञो भवति वै वालः पिता भवति मन्त्रदः—इत्यादि।

ऋग्वेद १।८०।१६ में भी "मनुष्पिता" पद प्रयुक्त है। ऋग्वेद १०।१००।५ में "यज्ञो मनुः प्रमतिर्नः पिता" अर्थात् यज्ञ मनु = मनन का साधन, प्रकृष्ट बुद्धि और कर्म का आधार तथा हमारा पिता = पालक होता हुआ सुख प्रदान करे। ऋग्वेद ४।२६।१ में इन्द्र अपने को मनु कहता है।

मन्त्रकृत्—

यह ऋग्वेद ६।११४।२ में प्रयुक्त है परन्तु यह किसी व्यक्ति का वाचक नहीं। मन्त्रकृत् का अर्थ मन्त्रद्रष्टा अथवा मन्त्रप्रयोक्ता है—

यह प्रथम प्रकरण में बतलाया जा चुका है।

ममता—

इसकी व्याख्या दीर्घतमस् के प्रसङ्ग में की जा चुकी है।

मशर्शार—

इसकी व्याख्या आयवस की व्याख्या के प्रसङ्ग में कर ही गई है। मशक के समान शत्रुवों की बात का सुनने वाला अथवा शत्रुवों को मारने वाला मशर्शार है।

मान—

अगस्त्य के प्रकरण में पहले इसकी व्याख्या की चुकी हैं। मान का अर्थ मान = प्रतिष्ठा हैं। अथवा माप एवं छन्द वा मन्त्र अर्थ भी निकलता है। ऋग्वेद १।१८६।८ में "मानस्य सूनुः" का अर्थ भी "मन्त्र का सूनु" मन्त्र का पुत्र अग्नि अथवा प्रतिष्ठा एवं संमान का पुत्र स्तोता वा यजमान है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मान्दार्य—

इसका अर्थ "स्तुति से प्रसन्न करने वाला" है। यह किसी व्यक्ति का नाम नहीं है। अगस्त्य के प्रसङ्ग में इसकी भी व्याख्या कर दी गयी है।

मामतेय—

इसकी व्याख्या "दीर्घतमाः मामतेय" की व्याख्या के प्रसङ्ग में कर दी गयी है।

मायव—

इण्डेक्स के अनुसार यह मायु अथवा मयु का वंशज है। यह ऋग्वेद १०।६३।१५ में एक संरक्षक के रूप में प्रयुक्त है और जैसा कि लुडविग का विचार है स्यात् यह संरक्षक राम है।

यहाँ पर यह ज्ञात होना चाहिए कि इण्डेक्स और लुडविग दोनों ही भूल में हैं। यह व्यक्तिविशेष नहीं है। निघण्टु १।११ में मायु पद वाङ्नाम में पठित है। अतः वाणी में कुशल या सिद्ध मनुष्य मायव है। वाक्कुशल व्यक्ति मायव है। ऋग्वेद १०।६३।१५ की मन्त्रार्थसङ्गति इस आधार पर लग जाती है।

मित्रातिथि—

अतिथि जिसके मित्र हैं वह मित्रातिथि है। अथवा मित्रवत् हैं अतिथि जिसके लिए वह मित्रातिथि है। इसकी व्याख्या उपमाश्रवस् के प्रसङ्ग में कर दी है।

मुद्गल—मुद्गलानी—

इसकी व्याख्या और समाधान द्वितीय प्रकरण में कर दिये गये हैं। भार्म्यश्व मुद्गल का इतिहास-निराकरण प्रसङ्ग देखना चाहिए।

मेधातिथि—मेध्यातिथि—

मेधाहं हैं अतिथि जिसके उसको मेधातिथि अथवा मेध्यातिथि कहा जाता है। कण्व की व्याख्या के प्रसङ्ग में इस पर प्रकाश डाला गया है।

यक्षु—

इण्डेक्स के कर्त्तावों का कथन है कि यह पद ऋग्वेद के एक सूक्त में एक बार एक वचन में प्रयुक्त है और एक बार बहुवचन में प्रयुक्त है। यह वह सूक्त है जो दश राजावों के साथ हुये सुदास् के युद्ध की प्रशंसा करता है। ये यक्षु लोग कौन थे और इन्होंने उस युद्ध में क्या भाग अदा किया—यह सुतराम् अनिश्चित है।

इण्डेक्सकर्त्तावों ने यहाँ पर भी ग़लती खायी है। साधारण व्याकरण जानने वाला भी जानता है कि यक्षु का अर्थ—"यष्टुमिच्छुः"—यज्ञ की इच्छा करने वाला है। यजनशील मनुष्य यक्षु है। वह एक भी हो सकता है और कई भी ऐसे हो सकते हैं। परन्तु यह व्यक्तिविशेष का बोधक नहीं है। ऋग्वेद ७।१८।६ में यह पद यज्ञ कुशल के अर्थ में प्रयुक्त है और तुर्वश का विशेषण है। सुदास् भी कोई व्यक्तिविशेष नहीं है और दाशराज्ञ युद्ध भी किन्हीं विशेष राजावों का युद्ध नहीं—यह पूर्व दिखलाया जा चुका है। ऋग्वेद।७।१८।१९ में भी यज धातु के विभिन्नार्थ में से सङ्गतिकरण, दान आदि अर्थों से युक्त मनुष्य ही अर्थ घटेगा। युद्ध की सङ्गतिकरण करने वाले भी "यक्षवः" कहला सकते हैं और यज्ञकुशलजन भी।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यमुना—

किसी दूसरी नदी की धारा से मिलकर बहने वाली नदीसामान्य यमुना है। प्रथम प्रकरण में इस विषय में लिख दिया गया है। ऋग्वेद ५।३२।१७; ७।१८।१९ और १०।७५।५ में यह अर्थ सर्वत्र सङ्गत हो जावेगा।

ययाति—

इण्डेक्स की दृष्टि से ययाति ऋग्वेद में एक पुरातन यज्ञकर्त्ता के रूप में एक बार आया है और एक बार प्रत्यक्षतः नहुष के वंशज के रूप में प्रयुक्त है।

पहले नहुष् के व्याख्या के अवसर पर यह बतलाया जा चुका है कि नहुष् अथवा नहुष कोई व्यक्तिविशेष नहीं अपितु मनुष्यार्थक पद है। फिर नहुष् का वंशज अथवा पुत्र ययाति हो और वह व्यक्तिविशेष हो यह किस प्रकार सम्भव है। ऋग्वेद १।३१।१७ में "ययाति" आया है। यहां पर वस्तुतः "ययातिवत्" पद है। अतिशयेन यातीति ययातिः—अर्थात् अत्यन्त गति, ज्ञान, मोक्ष और प्राप्ति वाला मनुष्य ययाति है। अत्यन्त ज्ञानी, अत्यन्त सक्रिय, अत्यन्त मुक्त ययाति का अर्थ है। ऋग्वेद १०।६३।१ में "नहुष्यस्य ययातेः बर्हिषि" पद आये हैं। इनका अर्थ है नहुष्य = मानव अथवा नियमों से नियन्त्रित ज्ञानी के यज्ञ में।

यव्यावती—

ऋग्वेद ६।२७।६ में यव्यावत्याम् पद आया है। इण्डेक्स के लेखक के अनुसार यह एक नदी का नाम है। हिलेब्रैण्ड्थ (Vedische Mythology) का विचार है कि ईरान में विद्यमान ड्जोवे (ज़्होबे) नदी जो कि इरियाब (हलियाब) के समीप है वही यव्यावती है। परन्तु इण्डेक्सकर्त्ता लिखता है कि इसके स्वीकार करने में कोई युक्ति एवं तर्क नहीं है।

यद्यपि यहाँ पर इण्डेक्स के लेखक की भाषा ही उसके पक्ष के खण्डन में पर्याप्त है फिर भी थोड़ा सा विचार किया जाता है। "यव्यावती" को यदि नदी अर्थ में माना जावे तो इसका अर्थ कोई नदीविशेष नहीं होगा। इसका अर्थ वह नदी है जिसमें कई नदियाँ आकर मिलती हैं। निघण्टु १।१३ में "यव्या" नदी अर्थ में पठित हैं। अतः "यव्याः सन्ति यस्यामिति यव्यावती" जिसमें बहुत सी नदियाँ हों उसका नाम यव्यावती। "यव्या" मिश्रणामिश्रण को भी कहा जाता है। अतः मिश्रणामिश्रण जिस क्रिया में हो उसका नाम "यव्यावती" है। चूँकि इससे सम्बद्ध मन्त्र में इन्द्र और असुर = मेघ के वध का वर्णन है अतः वर्षाकाल में मेघस्थ जल में होने वाली मिश्रणामिश्रण क्रिया ही यव्यावती है। शतपथ १।७।२।२६ (यव्या मासाः) में मासों को "यव्याः" कहा गया है। अतः मासों तक चलने वाली यज्ञक्रिया अथवा प्रक्रियान्तर से मासों की उत्पादिका अन्तरिक्ष की गति यव्यावती है। गुत्थमगुत्थ युद्ध की क्रिया का नाम भी यव्यावती है। यह पद "यु" मिश्रणायमिश्रणार्थक धातु से बना है। यहां पर दिये गये किसी भी अर्थ को प्रक्रियानुसार ऋ० ६।२७।६ मन्त्र में घटाया जा सकता है। अतः इण्डेक्स के लेखक की यह कल्पना निराधार है कि यव्यावती एक नदीविशेष है। हिलेब्रैण्ड्थ की कल्पना में तो कोई तर्क नहीं है—

ऐसा कहकर इण्डेक्स ने स्वयं ही उसे खण्डित कर दिया है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यदु—

इसको इण्डेक्स ने एक जाति अथवा जाति के राजा का नाम कहा है जो सर्वथा ही अनर्गल और आधारहीन है। निघण्टु २।३ में यह भी अनु, द्रुह्यु, तुर्वश और नहुष् की भाँति मनुष्य अर्थ में पढ़ा गया है। इण्डेक्स के रचियता को इसका परिज्ञान न होने से व्यर्थ में एक जगड्वाल खडा कर दिया है। ऋग्वेद १।३६।१८; १।५४।६, १।१७४।६; ४।३०।१७; ५।३१।८; ६।४५।१५; ८।४।७; ८।७।१८; ८।६।१४; ८।१०।५; ८।४५।२७; ६।६१।२; तथा १०।३६।८ मन्त्रों की अर्थसङ्गति इस आधार पर लग जाती है। ऋग्वेद १।१०८।८ में बहुवचनान्त प्रयोग है। वहाँ पर भी यह अर्थ लगेगा। परन्तु इन मन्त्रों का अर्थ करते समय यौगिक प्रक्रिया लेकर अर्थ करना चाहिए। जहाँ कई पद मनुष्यार्थक आवें वहाँ पर यौगिक प्रक्रिया से अन्तर करके अर्थ करना चाहिए।

याद्व—

इसका अर्थ यदुसम्बन्वी अर्थात् मनुष्यसम्बन्धी होगा। यदु का पुत्र यादव मानने पर भी मनुष्य का पुत्र मनुष्य ही अर्थ होगा। ऋग्वेद ७।१६।८ और ८।६।४६ का अर्थ इन आधारों पर लगाना चाहिए।

युध्यामधि—

इण्डेक्स के अनुसार यह एक राजा का नाम है जिसे सुदास् ने पराजित किया था।

परन्तु मन्त्र को देखने से यह धारणा पुष्ट नहीं होती। यह भी कोई व्यक्तिविशेष नहीं है और सुदास् भी कोई व्यक्तिविशेष नहीं। सुदास् नाम उत्तमदानी का है—यह दूसरे प्रकरण में दिखलाया गया है। इसलिए इण्डेक्स का वर्णन युक्तिहीन है। इसका अर्थ दो प्रकार से लगाया जा सकता है। प्रथम प्रकार यह है कि युधि को सप्तमी का रूप मानकर समास होने पर भी अलोप माना जावे। अथवा युधि को सप्तमी मानकर एक पद मान लिया जावे और "आमधिम्" को एक पद माना जावे और पद पाठ युधि आमधिम् रखा जावे। आमं रोगं दधाति इति आमधिः तम्—अर्थात् रोग को धारण करने वाला। अर्थात् संग्राम उपस्थित होने पर रोगी बन जाने वाला मनुष्य या सैनिक। अथवा समस्त पद मानकर सप्तमी विभक्ति का लोप न करके इसका अर्थ युद्ध का रोगी होगा। इस प्रकार युध्यामधि का अर्थ सदा युद्ध करने के लिए तत्पर रहने वाला (Warmonger) युद्ध रोगी है। युधि आमं दधातीति तम्। दूसरा प्रकार अर्थ करने का यह है कि—युध्यम् आमं दधातीति तम्—अर्थात् युद्ध करने योग्य आम = रोग को धारण करने वाला—युध्यामधि हैं। इस प्रकार इसका अर्थ युद्ध का भूखा रहने वाला शत्रु युध्यामधि है।

ऋग्वेद ७।१८।२४ मन्त्र की अर्थसङ्गति इस आधार पर बैठ जाती है।

रथप्रोष्ठ—

इण्डेक्स की यहाँ पर बड़ी भारी भूल है कि वह "रथप्रोष्ठ" पद को एक राजकीय परिवार मान रहा हैं। ऋग्वेद १०।६०।५ में "रथप्रोष्ठेषु" पद "असमातिषु" का विशेषण है। इसको "परिवार" मानना कितनी अनभिज्ञता की बात है। इसका अर्थ रथारूढ है। रथ के शरीर आदि अनेकार्थ हैं। तदनुसार इसका अर्थ भिन्न भिन्न होगा। असमाति के प्रकरण को देखना चाहिए।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रहूगण—

इण्डेक्स के अनुसार ऋग्वेद १।७८।५ में यह एक परिवार का नाम है और यह बहुवचन में प्रयुक्त है। लुडविग (Translation of the Rigveda 3, 1110) के अनुसार ये गोतम लोगों से सम्बद्ध थे जैसा कि गोतम रहूगण नाम से मालूम होता है।

वस्तुतः यहाँ पर भी लालबुझक्कड़ की तुक मारने का प्रयत्न लुडविग ने किया है। इण्डेक्स का भी यह कथन सत्य नहीं है कि रहूगण एक परिवार हैं। रहूगण कोई व्यक्तिविशेष नहीं हैं। "रहू" पद रहि गत्यर्थक धातु से बना है। गण पद और "गणा" पद निघण्टु १।११ में वाणी अर्थ में पढे गये हैं। अतः "रहव्यः गणा येषां ते रहूगणाः" अर्थात् गतिशील एवं ज्ञानमयी वाणी जिनकी है ऐसें मनुष्य रहूगण हैं। "गोः" भी निघण्टु १।११ में वाणी का वाचक है। यदि रहूगण के पुत्र को रहूगण कहा जावे और गोतम पर घटित किया जावे तो भी अर्थसंगति लग जाती है। ज्ञानमयी वाणी वाले का पुत्र गोतम = अत्यन्त स्तुति अथवा वाणी वाला मनुष्य इस प्रकार संगतार्थ होगा। गोतम का वर्णन इस के प्रसंग में कर दिया है। यहाँ यह भी स्मरण रहे कि "गौः" पद निघण्टु ३।१६ में स्तोतृ नाम मे पठित है। गोतम का अर्थ स्तोतृतम होगा। रहूगण भी ऊपर लिखे अनुसार स्तोता ही हुये। ऋग्वेद १।७८।५ की अर्थसंगति इस अर्थ के साथ लग जावेगी।

लक्ष्मण्य—

ध्वन्य के प्रसंग में इसकी व्याख्या कर दी गयी है।

लोपामुद्रा—

लोपामुद्रा को इण्डेक्स ने अगस्त्य की पत्नी माना है और लिखा है कि वह अगस्त्य के आलिंगन की याचना करती है।

यहाँ पर मुख्य रहस्य इण्डेक्सकर्त्तावों की समझ में नहीं आया और वे कल्पनावों की उड़ान में बहकर कुछ का कुछ लिख गये। सायण का इसमें अधिक दोष है। यह सूक्त वस्तुतः गृहस्थ-धर्म का वर्णन करता है। परन्तु इस को न देखकर में इसमें अनेक कल्पनायें करली गयीं। महाभारत आदि में जो दन्तकथायें अगस्त्य और लोपामुद्रा के विषय में मिलती हैं वे अनर्गल हैं और इस वेदसम्बन्धी विषय से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। वेद का अगस्त्य वही अगस्त्य नहीं जो महाभारत में वर्णित है।

लोपामुद्रा का वर्णन ऋग्वेद १।१७९।४ में मिलता है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के इस १७९ वें सूक्त का देवता वस्तुतः "दम्पती" है। दैवत के वर्णन में सायण आदि ने ग़लतियाँ की हैं। यह सारा सूक्त व्यावहारिक प्रक्रिया की दृष्टि से पति और पत्नी का संवाद है और वह नित्य है। अनित्य इतिहास की इस में कोई गन्ध भी नहीं है। विचित्र बात तो यह है कि सायण ने इस सूक्त के मंत्रों पर वक्ता और बोद्धा की उक्तियों का शीर्षक भी जोड़ दिया है। वह भी ठीक तरीके पर नहीं जुड़ सका है। इस सूक्त के ४ थे मंत्र को सायण ने अगस्त्य की उक्ति माना है परन्तु ऐसा है नहीं। यह लोपामुद्रा की उक्ति है। यास्क ने निरुक्त ५।२ पर इस मंत्र की प्रतीक दी है और वहाँ पर उसने यह लोपामुद्रा का ही विलाप माना है। यास्क का वचन वहाँ पर

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नित्येतिहास के रहस्य को समझाने के लिए है। परन्तु उसका भी अर्थ लोगों ने ग़लत समझा है। यास्क लिखता है—संरुद्धप्रजननस्य ब्रह्मचारिणः (रुधतः) । इति ऋषिपुत्र्या विलपितं वेदयन्ते ।······ ऋषिर्नदो भवति नदतेः स्तुतिकर्मणः । अर्थात् संरुद्धेन्द्रिय = ब्रह्मचारी गृहस्थ से सम्बद्ध ऋषि पुत्री का विलाप—इसे नित्येतिहासज्ञ जन समझते हैं। नद ऋषि है और वह नद् स्तुत्यर्थक धातु से बना है । यहाँ पर ऋषि पद प्रयोग कर देने मात्र से अन्यथा कल्पना करने की आवश्यकतानहीं है । ऋषि भी गृहस्थ हो सकता है । परन्तु यह एक सामान्यकथन है । यहाँ पर किसी विशेष का कंथन नहीं। गृहस्थाश्रम का व्यवहार याज्ञिकप्र–क्रिया में आता है। इस प्रक्रिया–सम्बन्धी अर्थ को समझाने के लिए मन्त्रस्थ नित्येतिहास को यास्क ने बताया है।

लोपामुद्रा का अर्थ स्त्री है। मोदनं मुद्रा हर्षः। लुप्ता मुद्रा यस्याः सा लोपामुद्रा अर्थात् जिसका हर्ष लुप्त है ऐसी स्त्री। अथवा मोदनं मुद् मुदं राति ददातीति मुद्रा । लोपां लुप्तां मुदं राति पुनर्ददाति लोपामुद्रा—अर्थात् लुप्त हुये आनन्द को पुनः देने वाली। मुद्रा पद धन और संपत्ति के लिए भी प्रयुक्त होता है। अतः लोपा लुप्ता मुद्रा यस्याः सा लोपामुद्रा। यह भी अर्थ बन सकेगा। मुद्रा पद का अर्थ हाव भाव भी होता है। इस दृष्टि से भी लोपा मुद्रा का अर्थ लगाया जा सकता है । अगस्त्य का अर्थ भी इसी ढंग पर अनेकों बन सकता है। अगस्त्य प्रकरण में मैंने दिखला भी दिया है। न गच्छतीति अगः स्थिरः अचलः अगवत् स्त्यायति तपस्तनोति इति अगस्त्यः । "स्त्यै" धातु संघात और शब्द दोनों ही अर्थों में है। अतः अगवत् स्थिरो भूत्वा स्त्यायति मंत्रानुच्चारपति स्तौति वा अगस्त्यः। न गच्छति मुञ्चति वीर्यं शीघ्रतया इति अगः। अगः। भूत्वा स्त्यायति गार्हस्थसुखानि रतिप्रमोदांश्चेति अगस्त्यः गृहस्थः। इस प्रकार वेदाभ्यासी, स्तोता, तपस्वी और गृहस्थ आदि अनेक अर्थ इस याज्ञिक व्यावहारिक प्रक्रिया में अगस्त्य पद के निकलते हैं । दैवत प्रक्रिया में भौमाग्नि और सूर्य अर्थ भी निकलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य आदि के पालन से स्थिरवीर्य वेदज्ञ गृहस्थ अगस्त्य है और विदुषी गृहस्थ स्त्री लोपामुद्रा है । गृहस्थ लोगों को मालूम है कि रतिकाल में किस प्रकार का प्रलाप मन में उत्पन्न होता है । स्त्री मन में क्या क्या सोचती है। वही अवस्था इस लोपामुद्रा सम्बन्धी सूक्त में वर्णित है। गृहस्थ धर्म का सूक्त सूक्त में प्रतिपादन है। यहाँ पर इस सूक्त के ४ थे मंत्र की संगति लगा दी जाती है । शेष मंत्रों की संगति स्वयं उसी आधार पर लग जाती है । यास्क ने जो ऋषि पद का प्रयोग किया उसका आधार ६ ठा मंत्र है। क्योंकि उसमें ऋषि पद प्रयुक्त है ।

नदस्य मा रुधतः काम आगन्निति आजातो अमुतः कुतश्चित् ।
लोपामुद्रा वृषणं नीरिणाति धीरमधीरा धयति श्वसन्तम् ॥

ऋ० १।१७९।४

अर्थ—

ब्रह्मचर्य को पूरा करके गृहस्थाश्रम को प्राप्त हुई पत्नी ब्रह्मचर्य पालन से स्थिरवीर्य पति के प्रति मन में कहती है—अथवा चिन्तन करती है—मुझको यह काम वीर्य को रोकने हारे ब्रह्मचर्ययुक्त वेदज्ञ पति से प्राप्त हुआ है अथवा वसन्त ऋतु आदि काम के व्यंजकों से प्राप्त हुआ है । इस पति से ही वस्तुतः प्राप्त हुआ है। ब्रह्मचर्य में जिसका परित्याग था उस गृहस्थसुख को फिर

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

से देने वाली धीरा पत्नी (लोपामुद्रा) वीर्य के सेचक बलवान् पति के पास जाती है और गंभीर श्वास लेते हुये बलिष्ट धीर पतिके आनन्द का पान करती है।

वत्स—

इण्डेक्स इसे स्तोता का नाम मानती है और कहती हैं कि यह ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर कण्व के पुत्र अथवा गोत्रापत्य के रूप में प्रयुक्त मालूम पड़ता है। परन्तु यह वत्स कोई व्यक्ति-विशेष नहीं है। वत्स का अर्थ शतपथ ११।३।१।१ में (मन एव वत्सः) मन है। तथा शतपथ १२।४।१।११ में वायु को वत्स कहा गया है (अयमेव वत्सोयोऽयंवायुः =) पवते। शतपथ १।८।१।२७ में वत्स से (वत्सा वै दैव्या अध्वर्यवः) दिव्य अध्वयु अभिप्रेत हैं। अतः वत्स के मन, वायु और स्तोता याज्ञिक आदि अनेकार्थ हैं जो प्रक्रियानुसार लगाये जा सकते हैं। ऋग्वेद ८।६।१ में वायु, मन और स्तोता अर्थों में से कोई भी प्रक्रियानुसार लगाया जा सकता है। ऋग्वेद ८।८।८ में "कण्वस्य पुत्रः ऋषिर्वत्सः" पाठ आया है अतः स्पष्ट है कि मेधावी का पुत्र मंत्रद्रष्टा याज्ञिक ही वत्स है। ऋग्वेद ८।६।१ में भी "वत्स" का अर्थ स्तोता याज्ञिक है। ऋग्वेद ८।११।७ में भी ऐसा ही अर्थ है।

वध्रिमती—

इण्डेक्स का कहना है कि यह एक औरत का नाम है जिस का पति नपुंसक था। ऋग्वेद में यह इस प्रकार से ही वर्णित दिखलायी पड़ती है। इसने अश्विनियों की कृपा से अपने पति के पुंसत्व को प्राप्त किया था और एक पुत्र प्राप्त किया था जिसका नाम हिरण्यहस्त था। यह पद संभवतः किसी प्रकार वर्णनात्मक मालूम पड़ता है।

इण्डेक्स ने यहाँ पर सायण का अनुकरण किया है परन्तु सायण स्वयं भी वध्रिमती पद का अर्थ समझने में असमर्थ रहा। केवल ऐतिहासिक कल्पना करता ही करता रहा। सायण के अर्थ में कितना परस्पर विरोध है यह भी देखने योग्य है। ऋग्वेद १।११६।१३ मंत्र में तो सायण वध्रिमती का अर्थ पण्डकवती राजपुत्री करता है। वह लिखता हैं—वध्रिमती वध्रिः पुत्रोत्पदानाशक्तः पण्डकः। तद्वती एतत्संज्ञा राजपुत्री। वह कहता है कि अश्विनी लोगों ने उसको सुवर्णमयपाणि, हितरमणीयपाणि हिरण्यहस्त नामक पुत्र दिया। उसके शब्द इस प्रकार हैं—आश्विनौ तस्यै हिरण्य-हस्तं सुवर्णमयपाणिं हितरमणीयपाणिं वा एतत्सज्ञं पुत्रं अदत्तम् प्रायच्छतम्॥ पुनः ऋग्वेद १।११७।२४ में वह लिखता है कि आश्विनौ हिरण्यहस्तं नाम पुत्रं वध्रिमत्या एतत्संज्ञायै ब्रह्मवादिन्यै अदत्तं प्रायच्छतम्—अर्थात् अश्विनी लोगों ने ब्रह्मवादिनी वध्रिमति को हिरण्यहस्त नामक पुत्र दिया। ऋग्वेद ६।६२।७ में—वध्रिमत्याः पुत्रर्थिन्याः=अर्थात् पुत्रार्थिनी वाध्रिमती अर्थ किया है। ऋग्वेद १०।३६।७ में वह इससे विपरीत अर्थ करता है। वहाँ पर लिखता है कि "संग्राम में छिन्न-हस्त वध्रिमती की पुकार को अश्विनियों ने सुना और आकर उसको हिरण्मय हस्त प्रदान किया"। इतना ही नहीं। वह निगमान्तर भी इस विषय में दिखलाता है—अजोहवीन्नासत्या करा वां महे यायन् पुरुभुजा पुरन्धिः। श्रुतं तच्छासुरिव वध्रिमत्या हिरण्यहस्तमश्विनावदत्तम्। ऋग्वेद १।११६।१३। यहाँ पर सायण की चाल कितनी उल्टी है। उसको पूर्वापर का कुछ पता ही नहीं। प्रस्तुत १०।३६।७ मंत्र में वह वध्रिमती को युद्ध में कटे हुये हाथवाली कहता है और हिरण्यहस्त का

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

का अर्थ सुवर्णमय हस्त करके उसको छिन्नहस्त के स्थान पर लगाना लिखता है। बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि इस विषय की पुष्टि में वह दूसरा निगमान्तर उसी ऋग्वेदीय (१।११६।१३) मंत्र को देता है जिसका अर्थ वह पूर्व इससे उल्टा कर चुका है। इस मंत्र में उसने वध्रिमती को राजकन्या और हिरण्यहस्त को इस नाम का पुत्र माना है। वहाँ पर तो ऐसा अर्थ कर दिया और यहाँ पर वह बतलाता है कि यह मंत्र वध्रिमती के कटे हुये हाथ के स्थान में हिरण्य के हाथ देने में यह दूसरा निगम है।

सायण के शब्द निम्न प्रकार हैं—

युवं युवां वध्रिमत्याः संग्रामे शत्रुभिश्छिन्नहस्तायाः हवं आह्वानम् अगच्छतम्। आगत्य च तस्मै हिरण्ययं हस्तं प्रायच्छतम्। तथा च निगमान्तरम्—अजोहवीन्नासत्या—इत्यादि। ऋग्वेद १०।४०।८ में केवल "विधवामुरुष्यथः" पाठ है। यहाँ पर वध्रिमती नाम भी नहीं है। फिर भी सायण "विधवाम्" का अर्थ "अपतिका वध्रिमती योध्री स्त्री" करता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह यहाँ पर वध्रिमती को विधवा कह रहा है। सायण का कितना अनर्गल प्रलाप है कि वह कहीं पर वध्रिमती को हिरण्यहस्त पुत्र की प्राप्ति लिखता है, कहीं पर हिरण्यहस्त का लगाया जाना लिखता हैं, कहीं पर वध्रिमती को नपुंसक पत्नी, और कहीं पर उसे अपतिका स्त्री कल्पित करता है। यह गड़बड़ी ही इस बात का प्रमाण है कि उसकी सारी ऐतिहासिक कल्पना निराधार है। इण्डेक्स कर्त्ताओं ने भी सायण का अनुकरण कर अपनी स्थिति वैसी ही बना ली।

अस्तु ! जो कुछ भी हो वध्रिमती कोई स्त्रीविशेष नहीं। वध्रिः षण्डकः तद्वती वध्रिमती = अर्थात् जिसका पति षण्डक हो ऐसी स्त्री वध्रिमती है। ऐसी स्त्री को (अश्विनी) = राजा और पुरोहित पुत्र की व्यवस्था विधान के अनुसार करते हैं। वध्रि का अर्थ बन्धन है और तद्वती अर्थात् नियम आदि बन्धनों से युक्त स्त्री वध्रिमती है। धर्म नियमों का पालन करने वाली स्त्री वध्रिमती है। इसको प्राणापान शक्ति देते हुये पुत्र प्रदान करते हैं। वध्रि का अर्थ प्रसवबद्धता अर्थात् वन्ध्यापन भी हो सकता है। बन्ध्यापने से युक्त स्त्री भी वध्रिमती हो सकती है। अश्विनी = वैद्य और प्राणाचार्य इसके बन्ध्यात्व को नष्ट कर सूर्य—सदृश पुत्र इसे प्रदान करते हैं। कमद्यु प्रकरण में भी इस पद के प्रक्रियान्तर से अर्थ किये गये हैं। वे भी देखने योग्य हैं। श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि वध्रि = बन्धन हैं जिसके ऐसी विद्या भी वध्रिमती है।

अब विचारणीय रह जाता है हिरण्यहस्त पद। हिरण्यहस्त सूर्य को कहा जाता है। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के ३५ वें सूक्त का देवता सविता = सूर्य है। इस सूक्त के १० वें मन्त्र में सविता को हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः" कहा गया है। ६ वें में इसे हिरण्यपाणिः और ८ वें मन्त्र में "हिरण्याक्षः" कहा गया है। चौथे मंत्र में उसे "हिरण्यशम्यम्" और पांचवें मंत्र में हिरण्यप्रगम्" पदों से सुसज्जित किया गया है। अतः इन प्रमाणों से हिरण्यहस्त सूर्य हुआ। हिरण्यहस्त के समान तेजस्वी पुत्र अर्थ मंत्रों में लिया जा सकता है। हिरण्यहस्त का अर्थ सूर्य होगा और उसे उपमा में ग्रहण किया जावेगा। हिरण्यहस्त का दूसरा भी अर्थ है। यथा हिरण्यं हस्तयोर्यस्य स हिरण्यहस्तः अर्थात् हाथों में सोना है जिसके वह हिरण्यहस्त है। गृहस्थ को ऐसा पुत्र चाहिए ही जो स्वर्ण आदि को प्राप्त करे। ऐतरेय ७।१८ में (यशो वै हिरण्यम्) यश को हिरण्य कहा गया है। इसके अनुसार यश हो हाथ में जिसके उसको हिरण्यहस्त कहा जावेगा। तैत्तिरीय ३।१२।५।१२ (तेजो हिरण्यम्) में तेज को

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हिरण्य बतलाया गया है। सूर्य अर्थ में लगाते समय हिरण्य का अर्थ ज्योति लिया जावेगा। शतपथ ६।७।१।२ और ताण्ड्य ६।६।१० में (ज्योतिर्वै हिरण्यम्) ज्योति का नाम हिरण्य है। अतः हिरण्यानि ज्योतींषि हस्ता इव यस्य स हिरण्यहस्तः सूर्यः—यह भाव निकलेगा। कौषीतकी ६।१३ और गोपथ उत्तरार्ध १।२ में (तस्मात् [सविता] हिरण्यपाणिरिति स्तुतः) सविता का नाम हिरण्यपाणि है। ऋग्वेद १।११६।१३; १।११७।२४; ६।६२।७; १०।३९७ और १०।६५।१२ में इन अर्थों से सङ्गति लगायी जा सकती है। जहाँ पर हिरण्यहस्त और पुत्र दोनों पद आये हैं वहाँ पर हिरण्यहस्त के समान अथवा हस्तों में स्वर्ण वाले पुत्र अर्थ किया जावेगा जहाँ पर केवल हिरण्यहस्त पद ही है वहाँ पर उपमार्थक अथवा सीधा कोई भी अर्थ लगाया जा सकता है। ऋग्वेद १०।६५।१२ में "श्यावं पुत्रं वध्रिमत्या अजिन्वतम्" पाठ है। यहाँ पर श्याव का अर्थ सक्रिय एवं गतिशील है और यह पुत्र का विशेषण है। यहाँ पर "हिरण्यहस्त" की कल्पना करना ही व्यर्थ है। सायण ने यर्थ में खींचा-तानी की है।

वरशिख—

इण्डेक्स मानती है कि यह एक नेता का नाम है जिसकी जाति ऋग्वेद में अभ्यावर्तिन् चायमान के द्वारा पराजित की गयी वर्णित है।

यहाँ पर भी इण्डेक्स का वर्णन विपरीत है। ऋग्वेद ६।२७।४–५ मन्त्रों में वरशिख पद आया है। परन्तु वहाँ पर इन्द्र के द्वारा इसका वध लिखा है। अभ्यावर्तिन् चायमान के द्वारा नहीं। इण्डेक्स का वक्तव्य त्रुटिपूर्ण है। वरा शिखा यस्य सः वरशिखो मेघः—अर्थात् श्रेष्ठ शिखा है जिसकी वह वरशिख है और वह मेघ है। अथवा वराः शिखाः ज्वालाः यस्य स वरशिखोऽग्निः अर्थात् श्रेष्ठ शिखा=ज्वालायें हैं जिसकी वह अग्नि ही वरशिख है। वरशिख का पुत्र मेघ है क्योंकि आदित्यस्थ अग्नि से ही मेघ को जन्म दिया जाता हैं। इन ऋग्वेदीय मंत्रों में क्रमशः "हरियूपीयायाम्" और यव्यावत्याम् पद आये हैं। इनका अर्थ नदी अथवा नगरी करना अनुपयुक्त है। ये न तो नदी हैं और न कोई नगरी हैं। सायण ने ऐसा अर्थ करके वेदार्थ को स्पष्ट करने में असमर्थता का प्रदर्शनमात्र किया है। यदि "हरियूपीया" कोई नदी अथवा नगरी है तो फिर उसे छठें मंत्र में "यव्यावती" कैसे कहा जाता। हरि शब्द का अर्थ किरणें एवं अर्चि हैं। हरणशील होने से सूर्य की रश्मियां हरि हैं। यास्क ने निरुक्त ७।२४ पर "हरयः" का अर्थ "हरणाः" किया है और "सुपतनाः" का विशेषण माना है। ऋग्वेद ६।४७।१८ में "युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश" पाठ आया है। इसका अर्थ करते हुये जैमिनीय उपनिषद् १।४४।५ में लिखा है कि सहस्रं हैत आदित्यस्य रश्मयः। तेऽस्य युक्तास्तैरिदं सर्वं हरति। तद्यदेतैरिदं सर्वं हरति। तस्माद्धरयः—अर्थात् सूर्य की सहस्र किरणें हैं। वे इससे युक्त हैं और इन्हीं से वह जल आदि का हरण करता है। चूँकि इन के द्वारा वह हरण करता है अतः ये हरि हैं। इस प्रकार "हरयः यूपाः इव यस्यां क्रियायाम् सा हरियूपीया तस्याम्–अर्थात् किरणें यूप के समान जिस क्रिया में हों उसे हरियूपीया कहते हैं। आन्तरिक्ष में मेघ के वध के समय में जो क्रिया किरणें किया करती हैं उसका नाम हरियूपीया है। इसी प्रकार मिश्रणामिश्रण एवं गुत्थमगुत्थ संघर्ष के कारण उसे ही यव्यावती कहा जाता है। मेघ को मारकर वर्षा करने में आकाश में यह क्रिया होती है। यह प्रक्रियाविशेष में अर्थ है। प्रक्रियान्तर में अर्थान्तर भी हो सकता है।

मन्त्रार्थसंगति इस आधार पर लग जाती है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वसिष्ठ—

वैदिक इण्डेक्स का मन्तव्य है कि वसिष्ठ वैदिक प्रथा के एक बहुत ही विख्यात पुरोहित का नाम है। ऋग्वेद का सातवाँ मण्डल इस से सम्बद्ध है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वसिष्ठ और वसिष्ठ लोगों का बहुधा वर्णन इस मण्डल में पाया जाता है। यद्यपि अन्य स्थलों पर भी यदा कदा इस प्रकार का वर्णन है। सदा वसिष्ठ का अर्थ कोई एक व्यक्तिविशेष हो—यह सर्वथा असंभव है। जैसा कि ओल्डेनवर्ग ने (Zeitscrifctdern Duetseher Morgenlandishchen Gesellschaft—42, 204) में लिखा है कि वसिष्ठ साधारणवस्था में सरलतया "वरिष्ठ" के अर्थ में प्रयुक्त है। परन्तु यह अस्वीकार करना आवश्यक नहीं है कि एक वास्तविक वसिष्ठ था। क्योंकि एक सूक्त (ऋग्वेद ७।१८) यह स्पष्ट बतलाता दिखलायी पड़ता है कि वह उसका रचयिता है और इसमें दश राजावों के युद्ध में उसकी सुदास के प्रति की गयी सहायता भी वर्णित पायी जाती है। विश्वामित्र के साथ दुश्मनी प्रत्यक्षतः वसिष्ठ के जीवन का मुख्य विषय है। विश्वामित्र पहले किसी समय सुदास् के गृहपुरोहित थे। परन्तु मालूम पड़ता है कि इस पद से पदच्युत कर दिये गये थे। इस कारण से कि उन्होंने सुदास् के शत्रुवों का पक्ष ग्रहण कर लिया था। तथा राजावों के वध में बहुत भाग अदा किया था। सुदास् के विजय का वर्णन करने वाले सूक्त में इस का पूरे तौर पर निर्देश है।

इण्डेक्स की मानी हुयी धारणावों के निरसन के लिये यहाँ पर कुछ विचार किया जाता है। प्रथम और द्वितीय प्रकरण में वसिष्ठ के विषय में पर्याप्त लिख आया हूँ। यहाँ पर, पुनः थोड़ा विशेष विचार अपेक्षित है।

विश्वामित्र और वसिष्ठ की शत्रुता के विषय में जो कुछ वैदिक इण्डेक्स में लिखा है वह सार और प्रमाण से हीन है। वसिष्ठ न तो कोई व्यक्तिविशेष है और न ऋग्वेद ७।१८ सूक्त में तथा ७।३३ ऐसी कोई बात ही मिलती है। चूँकि वसिष्ठ और विश्वामित्र याज्ञिक प्रक्रिया यौगिक अर्थ को लेकर श्रेष्ठता और सर्वमित्रता के गुण से पुरोहित एवं ऋत्विज् के अर्थ को भी बताते हैं अतः कल्पित नित्येतिहास की कल्पना करने वाले याज्ञिक सुदास् पैजवन का पुरोहित विश्वामित्र और वशिष्ठ दोनों को दिखलाते हैं अतः इन पाश्चात्य विद्वानों को यह रहस्य न मालूम होने से इतनी निराधार कल्पना करने का अवसर मिला। वसिष्ठ और विश्वामित्र पद यौगिक हैं। सुदास् पद भी यौगिक है। सुदास् अर्थात् उत्तम दानी मनुष्य एवं राजा के वसिष्ठ = वरिष्ठ एवं विश्वामित्र = सर्वमित्र पुरोहित अगुवा होता है। इससे व्यक्तिविशेष की कल्पना करना निराधार और असंगत है। एक ही पुरोहित गुणों से वसिष्ठ और सर्वमित्र भी हो सकता है। परन्तु पाश्चात्यों ने व्यक्तिविशेष मानकर धोखा खाया और विश्वामित्र तथा वसिष्ठ दो पुरोहितों की कल्पना देखकर वसिष्ठ और विश्वामित्र की शत्रुता आदि की कोरी कल्पनायें करलीं।

वसिष्ठ और वसिष्ठ लोग अर्थात् एक वचन और बहुवचन के प्रयोग वेद में कई स्थलों पर हैं। यह बहुवचन का प्रयोग ही यह बतलाता है कि वसिष्ठ कोई व्यक्तिविशेष नहीं। याज्ञिक, आधिदैविक आदि प्रक्रियात्रों के अनुसार वसिष्ठ पद अनेकार्थक है। मंत्रों में कहीं पर याज्ञिक प्रक्रिया वाला अर्थ आपाततः उद्भूत है और शेषार्थ अन्तर्हित है और कहीं पर प्रक्रियान्तर वाला अर्थ स्पष्ट भासित है और याज्ञिक अर्थ अन्तर्हित है। इन प्रक्रियावों की संगति के साथ वसिष्ठ पद के अनेकार्थ

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

निकल सकते हैं। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार मंत्रों से वसिष्ठ का अर्थ पुरोहित ऋत्विक् एवं विद्वान् आदि होता है। ऋग्वेद १०।१५१।४ में लिखा है कि अग्निदेव ही देवों का पुरोहित = अग्रगण्य है। अग्नि का ही प्रज्वालन यज्ञ में मनुष्य और ऋषि लोग करते हैं। यज्ञ में धन आदि की प्राप्ति के लिये हम सब अग्नि को ही प्रदीप्त करते हैं।

मन्त्र निम्न प्रकार है—

अग्निर्देवो देवानामभवत्पुरोहितोऽग्निं मनुष्या ३ ऋषयः समीधिरे ।
अग्निं महो धनसातावहं हुवे मृडीकं धनसातये ॥

ऋ० १०।१५१।४

इसके अनन्तर ऋग्वेद १०।१५१।५ मन्त्र वसिष्ठ के अर्थ को और स्पष्ट कर देता है—मन्त्र में लिखा है कि संग्राम अथवा समस्त व्यवहारों के कार्य में अग्नि त्रिविध तापरहित, अन्न वाले इन्द्रियजित, मेधावी एवं दस्युशातन मनुष्यों की और हमारी रक्षा करता है। वसिष्ठ पुरोहित = वरिष्ठ पुरोहित अग्नि की प्रशंसा करता है। वह सुखसम्पादन के लिए पुरोहित बनता है।

मन्त्र निम्न प्रकार है—

अग्निरत्रिं भरद्वाजं गविष्ठिरं प्रावन्नः कण्वं त्रसदस्युमाहवे ।
अग्निं वसिष्ठो हवते पुरोहितो समृडीकाय पुरोहितः ॥

ऋ० १०।१५१।५

यहाँ पर मन्त्र में आपाततः पुरोहित, याज्ञिक, एवं विद्वान् अर्थ भासित होता है। यह सूक्त भी अग्नि देवताक है और यज्ञ का आपाततः स्पष्ट प्रतिपादन करता है।

ऋग्वेद १०।१२२ सूक्त भी आपाततः यज्ञार्थ का प्रतिपादन करता है। इस सूक्त के ७ वें मन्त्र में लिखा है—

"इस उषा के विवासन=प्रभात में मनुष्यजन अग्नि को देवों का दूत बनाकर यज्ञ करते हैं। यज्ञ के अन्य देवगण अथवा विद्वज्जन महत्वलाभार्थ यज्ञ में अग्नि में हवि ग्रहण करते अथवा डालते हुये इसे बढ़ाते हैं।

मन्त्र निम्न प्रकार है—

त्वामिदस्यां उषसो व्युष्टिषु दूतं कृण्वाना अयजन्त मानुषाः ।
त्वां देवा महयाय्याय वावृधुराज्यमग्ने निमृजन्तो अध्वरे ॥

इसके आगे इस ऋग्वेद १०।१२२ सूक्त का ८ वां मन्त्र वसिष्ठ के अर्थ को स्पष्ट करता है। में वर्णित है कि—यज्ञों में अन्नदाता अग्नि को वेधसः = मेधावी वसिष्ठाः = पुरोहित लोग एवं ऋत्विग् जन मन्त्रों का उच्चारण करते हुये प्रज्वलित करते हैं। यह अग्नि यजमानों को धन की पुष्टि देता है और यह यज्ञ तथा अन्य यज्ञ देव सदा सुख के द्वारा हमारी रक्षा करते हैं। यहाँ पर भी याज्ञिक अथवा ऋत्विज् अर्थ स्पष्टतया दिखलायी पड़ता है।

ऋग्वेद १०।६६ सूक्त में विश्वेदेवों का नाम आ जाता है। इसमें भी आपाततः यज्ञार्थ दिखलाई पड़ता है और अन्यार्थ अन्तर्निहित हैं। इस सूक्त में देवों को ज्योतिष्कृत, यज्ञ का

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रचेतस् और इन्द्रज्येष्ठ का गया है। इस सूक्त के दूसरे मन्त्र में मरुतों को इन्द्रप्रसूत = इन्द्रप्रेरित और वरुणप्रशिष्ठ = वरुणानुमोदित कहा गया है। सूक्त में मरुत्, इन्द्र, वसु, आदित्य, अदिति, रुद्र, त्वष्टा, द्यावापृथिवी, इन्द्राविष्णु, सविता, वरुण, विष्णु, वायु, अश्विनी, पूषा, पर्जन्य, अग्निषोम, ऋभुगण, वातपर्जन्य, अन्तरिक्ष, समुद्र, सिन्धु, अज एकपात्, अहिर्बुध्न्य देवों का वर्णन है। यह वर्णन स्पष्ट करता है कि यहाँ पर याज्ञिक प्रक्रिया का स्पष्ट वर्णन है और दैवतार्थ इसके अन्दर निगूढ़ है। इस सूक्त के १४ वें और १५ वें मन्त्र में क्रमशः "वसिष्ठासः" और "वसिष्ठः" पद आये हैं। ये दोनों ही वसिष्ठ पद के याज्ञिक अर्थ को स्पष्ट करते हैं। १४ वें मन्त्र में लिखा है कि "देवों की स्तुति करते हुये वसिष्ठ = ऋत्विग् लोग पितृवत् = कर्मकांड में निपुण एवं रत कर्मकुशलों की भांति और ऋषिवत् = मन्त्रद्रष्टा, मन्त्रमर्मज्ञ ऋषियों की भाँति कल्याण के लिए मन्त्रमयी वाणी का प्रयोग करते हैं। ये देवजन प्रसन्न हुये बन्धु की भांति हम सब को यथेच्छ धन प्रदान करते हैं।

मन्त्र निम्न प्रकार है—

वसिष्ठासः पितृवद्वाचमक्रत देवाँ ईडाना ऋषिवत्स्वस्तये।
प्रीता इव ज्ञातयः काममेत्यास्मे देवासोऽवधूनुता वसु॥

ऋ० १०।६६।१४

इसके अनन्तर १५ वें मन्त्र के पूर्वार्ध में यह वर्णित पाया जाता है कि—"जिन देवों = दिव्यशक्तियों ने समस्त भुवन को धारण किया हुआ है उन स्थिर शक्तियों की यज्ञ में ज्ञानी पुरोहित बन्दना करता है।" इन प्रमाणों से यह सिद्ध है कि वसिष्ठ का अर्थ पुरोहित याज्ञिक आदि है।

ऋग्वेद ७।१२ सूक्त के तीसरे मन्त्र के पूर्वार्ध में लिखा है कि "अग्नि मित्र भी और वरुण भी है। वसिष्ठ = पुरोहित एवं याज्ञिक जन मतिभिः = ज्ञान और कर्म से इसको बढ़ाते हैं।"

मन्त्रार्ध निम्न प्रकार है—

त्वं वरुण उत मित्रो अग्ने त्वां वर्धन्ति मतिभिर्वसिष्ठाः।

ऋग्वेद ७।१२।३

ऋग्वेद ७।४२।६ मन्त्र भी इस याज्ञिक अर्थ को पुष्ट करता है। एवाग्निं सहस्यं वसिष्ठो रायस्कामो विश्वप्स्न्यस्य स्तौत्—अर्थात् धन की कामना करने वाला याज्ञिक विद्वान्, एवं पुरोहित समस्त धनों की सिद्धि के लिए बल के पुत्र अग्नि की प्रशंसा करता है।

ऋग्वेद ७।८० सूक्त उषोदेवताक है। इसके प्रथम मन्त्र से यह आशय आपाततः दिखलायी पड़ता है कि—द्यावापृथिवी को चारों तरफ से अपने आगमन से व्यावर्त्तित करती हुई और समस्त भुवनों को प्रकट करती हुई उषा के प्रति लक्ष्यकर मेधावी, एवं सब से पूर्ववर्त्ती वसिष्ठ = विद्वान् जन स्तावकों की वाणी के साथ साथ प्रतिबुद्ध होते = जागते हैं।

मन्त्र निम्न प्रकार है—

प्रति स्तोमेभिरुषसं वसिष्ठा गीर्भिर्विप्रासः प्रथमा अबुध्रन्।
विवर्तयन्तीं रजसी समन्ते आविष्कृण्वतीं भुवनानि विश्वा॥

ऋग्वेद ७।८०।१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वसिष्ठ का अर्थ ऋत्विज् पुरोहित एवं विद्वान है—

यह निम्न मन्त्र से और भी स्पष्ट हो जाता है—

> श्वित्यञ्चो मा दक्षिणतस्कपर्दा धियंजिन्वासो अभिप्रमन्दुः ।
> उत्तिष्ठन्वोचे परि बर्हिषो नॄन्नमे दूरादवितवे वसिष्ठाः ॥
>
> ऋग्वेद ७।३३।१

अर्थ—

श्वेतवर्ण = श्वेतवस्त्रधारी अथवा श्वेत बालों से युक्त, बुद्धि एवं कर्मों को जाग्रत करने वाले, दक्षिण भाग में चूडा से युक्त ऋत्विग् जन मुझ यजमान को ज्ञान और कर्म से हर्षित करते हैं। मैं यज्ञ से उठता हुआ इन यज्ञ नेतावों से कहता हूँ कि ये मुझ से कभी भी दूर न रहें।" यहाँ पर कितना स्पष्ट अर्थ दृष्टि में आ रहा है।

निघण्टु १।७; २।१०; में वसु पद क्रमशः रात्रि और धन नाम में पठित है। वसवः पद क्रमशः १।५ और ५।६ में रश्मि एवं पद नाम में परिगणित है। शतपथ ३।७।३।११–१३ में (पशवो वसु) पशुवों को वसु कहा गया है। ताण्डय ७।१०।१७ में भी ऐसा ही वर्णित है। शतपथ १।७।१।६–१४ में (यज्ञो वै वसुः) यज्ञ को वसु बतलाया गया है। पुनः शतपथ ६।३।२।१ के अनुसार (स एषो [अग्निः] ऽत्र वसुः) अग्नि वसु है। इस प्रकार धनवाला, रात्रि में दिखलायी पड़ने वाला, किरणवर्ती, ज्ञानवाला, पशुवों वाला, यज्ञ वाला और अग्निधारक पदार्थ वसिष्ठ कहलावेंगे। इस प्रकार प्रक्रियानुसार वसिष्ठ के अनेकार्थ होंगे। यजु० १३।५४ का हवाला देते हुये शतपथ ब्राह्मण ८।१।१।६ में (यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोऽथो यद्वस्तृतमो वसति वसति तेनोऽएव वसिष्ठः) कहा गया है कि श्रेष्ठ होने एवं वस्तृमतम होने से वसिष्ठ है। अर्थात् वसिष्ठ एवं वस्तृततम पदार्थ वसिष्ठ है। पुनः शतपथ २।४।४।२ में (एष [प्रजापतिः] वै वसिष्ठः) प्रजापति को वसिष्ठ कहा गया है। कौषीतकी २५।२ और २६।१५ में भी इसकी पुष्टि की गयी है। शतपथ ८।१।१।६ में (प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः) प्राण को वसिष्ठ ऋषि लिखा है। पुनः १४।६।२।१४ में प्राण को वसिष्ठ और वाणी को वसिष्ठा कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण १।२८ की दृष्टि से (अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः) अग्नि ही देवों का वसिष्ठ है। ब्राह्मणकार ने इस स्थल पर ऋग्वेद २।६।१ मन्त्र का हवाला भी दिया है। मन्त्र से भी अग्नि का वसिष्ठ होना सिद्ध होता है।

मन्त्र निम्न प्रकार है—

> नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवाँ असदत्सुदक्षः ।
> अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरः शुचिजिह्वो अग्निः ॥
>
> ऋग्वेद २।६।१

यहाँ पर अग्नि वसिष्ठ है—यह बहुत ही स्पष्ट है। साथ ही प्रक्रियान्तर से अग्नि का अर्थ विद्वान् लेने पर वह भी वसिष्ठ ठहरेगा। शतपथ २।४।४।२ और कौषीतकी २५।२ में प्रजापति को वसिष्ठ कहा गया है। साथ ही शतपथ १३।२।२।१४ में प्रजापति को (प्रजापतिर्वै जमदग्निः) जमदग्नि भी कहा गया है। यदि वस्तुतः वसिष्ठ किसी विशेष व्यक्ति का नाम होता तो प्रजापति के लिए क्यों कर प्रयुक्त होता। यदि किसी भी प्रकार प्रजापति वसिष्ठ होता तो फिर वह जमदग्नि कैसे हो सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि यह व्यक्तिविशेष नहीं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

एक समस्या पाश्चात्य विद्वान् और उनके पौरस्त्य अनुयायी यह खड़ी करते हैं कि ऋग्वेद ७।१८।२१ में "पराशरः शतयातुः" और वसिष्ठ तीनों पद क्रमशः कुल की सूचना देते हैं। यदि वसिष्ठ कोई व्यक्ति न होता तो यह क्रम क्यों वर्णित पाया जाता। यह क्रम सूचित करता है कि पराशर का पिता शतयातु = शक्ति और उसका पिता वसिष्ठ है। वे यह भी कह सकते हैं कि यास्क ने भी निरुक्त ६।३० में "पराशरः शतयातुर्वशिष्ठः" मन्त्र की प्रतीक देकर लिखा है कि "पराशरः पराशीर्णस्य वसिष्ठस्य स्थविरस्य जज्ञे"—अर्थात् पराशर का अर्थ पराशीर्णज है और यह अत्यन्त जीर्ण वसिष्ठ स्थविर के यहाँ जन्मा। इस प्रकार उनके अनुसार यह शक्ति का पुत्र और वसिष्ठ का नप्ता है।

परन्तु यह समस्या रेत की भित्ति पर खड़ी है। ऋग्वेद ७।१८।२१ मन्त्र के तीनों पदों को लेकर जो क्रम विपक्षी लोग बांधते हैं वह इसलिए कि एतत्सम्बन्धी महाभारतीय एवं प्रचलित आख्यान उनके मस्तिष्क में चक्कर दे रहा है। वस्तुतः वेद से इस आख्यान का कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर शक्ति पद तो इस मन्त्र में है भी नहीं। यहाँ पर तो "शतयातुः" पद है। पराशर और वशिष्ठ पद को देखकर इसका अर्थ शक्ति कर लिया जो ठीक नहीं। पराशर पद निघण्टु ४।३ में पद नाम में पठित है। अतः पराशीर्ण अर्थात् ज्ञान और अनुभव आदि में वृद्ध जीर्ण विद्वान् का पुत्र अतिविद्वान् मनुष्य पराशर है। बहुतों की अथवा सैकड़ों की एक साथ यातना करने वाला शतयातुः है। अथवा सैकड़ों प्रकार की गतियाँ एवं क्रिया कलाप जिसके हों वह शतयातु है। वसिष्ठ पुरोहित अथवा विद्वान् को कहा जाता है जैसा ऊपर दिखलाया गया है। यह अर्थ याज्ञिक प्रक्रिया को लेकर है।

यास्क को निघण्टुपठित पराशर पद की व्याख्या करनी थी। अतः उसने निरुक्त ६।३० में इसकी व्याख्या की और ऋग्वेद ७।१८।२१ मन्त्र की प्रतीक दी। यास्क की दृष्टि से यह पराशर कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। अन्यथा वह निघण्टु में इस पद का संग्रह ही क्यों करता। यास्क का भाव तो इतना स्पष्ट है कि जितना होना चाहिए। वह उसी स्थल पर कहता है कि इन्द्रोऽपि पराशर उच्यते। पराशातयिता यातूनाम्—अर्थात् इन्द्र भी पराशर कहा जाता है क्योंकि वह यातुवों = रक्षसों का पराशातयिता है। यास्क यहाँ पर अपने इस अर्थ की पुष्टि में ऋग्वेद ७।१०४।२१ मन्त्र की प्रतीक देता है "इन्द्रो यातूनामभवत् पराशरः—अर्थात् इन्द्र यातुवों का पराशर = विनाशक है। यदि यास्क कोई पराशर को व्यक्तिविशेष अभिप्रेत होता तो फिर वह इन्द्र को पराशर क्यों कहता और पराशर की निरुक्ति पराशातयिता क्यों करता। तथा ऋग्वेद के इस मन्त्र में पराशर का अर्थ भी कैसे सङ्गत होता। फिर यास्क ने निरुक्त में वसिष्ठ के साथ इसका सम्बन्ध क्यों जोड़ा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यास्क को याज्ञिक और दैवत प्रक्रियावों में नित्येतिहास को भी दिखलाना अभिप्रेत था। तदर्थ उसने ऐसा कहा। इस सूक्त में जिसमें यह मंत्र आया है दानशील राजा के दान का वर्णन है। अतः इसके गर्भ में नित्येतिहास है। इस दृष्टि को लेकर वशिष्ठ जो पुरोहित स्थानीय है उसका भी नित्येतिहास दिखला दिया गया है। वशिष्ठ जहाँ पुरोहित एवं ज्ञान अनुभव आदि से वृद्ध के अर्थ देने वाला है वहाँ पर दैवत और अध्यात्म पक्ष में जल तथा प्राण का वाचक भी है। पहले प्रकरण में कहा जा चुका है कि वसिष्ठ आच्छादित उदक संघात का भी नाम है। अन्तरिक्ष में यह जल संघात वायुवों से आच्छादित रहता है। जब यह आच्छादन ढीला हो जाता है तब इसे वृद्ध अथवा पराशीर्ण

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कहा जाता है। इसके बाद इस जल की अन्तरिक्ष में अनेकों गतियाँ हो जाती हैं। अतः इसे शतयातु कहा जाता है। पुनः जब वर्षा के जल के रूप में वह परिवर्तित हो जाता है तब उसे पराशर कहा जाता है। इन्द्र नाम वायु एवं विद्युत् का है।

इसी प्रकार अध्यात्म में श्रेष्ठ प्राण का नाम वसिष्ठ है। शतपथ ८।१।१।६ में (प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः) ऐसा ही लिखा है। यह प्राण सदा व्यय होते रहने से शीर्ण माना जाता है। इससे जठर प्रदेश में जो अग्निशक्ति पैदा होती एवं कायम रहती है वह शतयातु है। क्योंकि शरीर में यह सैकड़ों कार्यों को सिद्ध करती है। इस अग्नि से शरीर भर में जो चेतनासंचार अथवा प्राण संचार होता है वह पराशर है। चूँकि यह समस्त विघ्नों और व्याधियों का विनाशक है अतः इसे पराशर कहा जाता है। वस्तुतः यह वह बल है जो आत्मा के पूरक बल (Healing Power) का सहायक है आत्मा को इन्द्र कहा जाता है। चूँकि वसिष्ठ के साथ ऋषि पद भी लगता है और सप्तर्षि जो शरीर में सात प्राण विद्यमान हैं उनमें वसिष्ठ एक है अतः यास्क ने नित्येतिहास का भी संकेत किया अर्थ के खोलने की दृष्टि से। ऋषि इस जगत् में पदार्थ हैं। परन्तु उनके वर्णन में नित्येतिहास का गन्ध रहता है। अतः यास्क का ऐसा करना ठीक है।

यास्क द्वारा प्रतीक रूप में दिया गया मन्त्र और उसका अर्थ निम्न प्रकार है—

प्र ये गृहादममदुस्त्वाया पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः।
न ते सख्यं मृषन्ताधा सूरिभ्यः सुदिना व्युच्छान्॥

ऋ० ७।१८।२१

१—अर्थ—

हे इन्द्र = राजन् अथवा परमेश्वर अनुभवी वृद्ध का पुत्र परम अनुभवी विद्वान् (पराशर) सैकड़ों क्रियावों का साधक विद्वान् (शतयातु) और परम अनुभवी ज्ञानवृद्ध पुरोहित (वसिष्ठ) तुम्हारे सख्य की इच्छा से गृह में प्रशंसा अथवा स्तुति करते हैं। पालन करने वाले आपके सख्य को वे कभी भूलते नहीं। स्तोतावों के लिए सदा अच्छे दिन रहते हैं।

२—अर्थ—

इन्द्र = विद्युत् अथवा वायु के सहयोग की अपेक्षा करने वाले पराशर = वृष्टिजल, शतयातु = वाय्वान्दोलित बहुमुखी जल और आच्छादित जल (वसिष्ठ) अन्तरिक्ष गृह में स्थित रहते हैं। इस पालक (इन्द्र) के सहकार को नहीं छोड़ते।

स्तोतावों के लिए अच्छे दिन निवास करते हैं।

३—अर्थ—

चेतना-संचारक बल (पराशर) ऊष्मा-बल (शतयातु) और प्राण (वसिष्ठ) आत्मा का सहकार करते हुये गृह = शरीर सदृश गृह में प्रसन्न रहते = विचरते हैं। ये अपने पालक आत्मा के सख्य को नहीं छोड़ते। इसी से स्तोता और मनुष्यों के लिए अच्छे दिनों का वास रहता है।

वसिष्ठ के अर्थ को समझने के लिए एक और भी बात ध्यान देने की है। वह यह है कि संसार में विद्यमान भौतिक तत्वों को वेद में ऋषि, देव, पितर आदि कहा जाता है। दैवीसृष्टि जो यज्ञविज्ञान का मूल स्रोत है उसमें इन पदार्थों की यह विशिष्ठ संज्ञा रखी गयी है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ऋग्वेद १०।१४।६ मन्त्र निम्न प्रकार है—

अंगिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥

इस मन्त्र की व्याख्या यास्क ने निरुक्त ११।२१ पर की है। इस मन्त्र में आंगिरस, आथर्वण, भृगु गणों का वर्णन है। ऋभुगण भी वेद में वर्णित पाये जाते हैं। ये सृष्टिगत पदार्थ हैं। यास्क कहते हैं कि (माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः) नैरुक्तों के अनुसार ये माध्यमिक देव गण है। तथा ये ही (पितर इति आख्यानम्) आख्यानविद् याज्ञिकों के अनुसार पितर हैं और ऋषि (अथापृषयः स्तूयन्ते) के प्रकार से भी ये वर्णित किये जाते हैं। इससे ज्ञात हुआ कि दैवत, याज्ञिक और अध्यात्म की दृष्टि से ये ही देव, पितर और ऋषि कहे जाते हैं। वसिष्ठगण भी भौतिक पदार्थ हैं। ये जल के विविध प्रकार हैं। इन्हें ऋषि कहा जाता है और पितर भी। ऋग्वेद १०।१५।८ में इन्हें पितर (ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः) कहा गया है। पुनः ऋग्वेद ७।३३।८ में इन्हें ऋषि के रूप में वर्णित किया गया है। यास्क निरुक्त ११।१६ पर प्रतीक रूप में ऋषि वर्णना में इस मन्त्र को ही उद्धृत करता है।

मन्त्र निम्न प्रकार है—

सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः ।
वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः ॥

इस मन्त्र में वसिष्ठों की महिमा बतलायी गयी है। इन्हें सूर्य के समान प्रकाश वाला, समुद्र के समान गंभीर, वायु के समान वेग वाला और दूसरों से न अनुगमन करने योग्य गति वाला बतलाया गया है। इससे ज्ञात हुआ कि ये भौतिक पदार्थ हैं और आकाश में विद्यमान हैं। जल के सूक्ष्म कण अथवा सूक्ष्म वाष्पमय जल ही वसिष्ठ गण हैं। यह मन्त्र जिस सूक्त का है उसमें जल विज्ञान का वर्णन है। इनको ऋषि और पितर भिन्न भिन्न दृष्टियों और गुणों के कारण कहा गया है। यास्कप्रदर्शित प्रकार यहां पर तत्वार्थ पर पहुँचाता है।

इस मन्त्र से पूर्व (ऋग्वेद ७।३३।७) का मन्त्र निम्न प्रकार है—

त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतस्तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः ।
त्रयो धर्मास उषसं सचन्ते सर्वां इत्ताँ अनु विदुर्वसिष्ठाः ॥

इसका अर्थ निम्न प्रकार है—

अग्नि, वायु और सूर्य विश्व के धारक उदक (रेतः) को भुवनों (निघण्टु १।१२ जल नाम में) जलकारणों एवं लोकों में पैदा करते हैं। ऋषि, देव, पितर अथवा अग्नि, वायु सूर्य ये तीन प्रजायें ही श्रेष्ठ उत्पन्न प्रजा और प्रमुख ज्योति हैं। ये तीन प्रकार के ताप ही उषा का समन्वय करते हैं तथा इन सब को वसिष्ठाः = जलप्रतिश्याय अथवा जलीयपदार्थ प्राप्त करते हैं—अर्थात् इनके साथ साथ रहते हैं। वसिष्ठ का अर्थ जब ज्ञानी अथवा विज्ञानवेता होगा तब "विदुः" का अर्थ "जानते हैं" होगा। यहां पर भी मन्त्र से वसिष्ठों की स्थिति स्पष्ट होती है। ये जलीय पदार्थ हैं—

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यह दैवतप्रक्रियानुसार सुतराम् प्रकट हो जाता है।

ऋग्वेद ७।३३।९ मन्त्र इस भाव का और अधिक स्पष्टीकरण करता है।

मन्त्र निम्न प्रकार है—

त इन्निण्यं हृदयस्य प्रकेतैः सहस्रवल्शमभि सं चरन्ति।
यमेन दत्तं परिधिं वयन्तोऽप्सरस उपसेदुर्वसिष्ठाः॥

मन्त्रार्थ निम्न प्रकार है और दैवत प्रक्रिया में है—

"ये जलीय पदार्थ गुप्त रूप से अपनी अन्तवर्त्ती शक्तियों के कारण सहस्रों शाखावों में संचारित होते हैं। यम = सूर्य अथवा वायु अथवा अग्नि के द्वारा विस्तारित परिधि = सीमा अथवा आकाशस्थ परिधि को वेष्टित करते हुये अप्सरस्=विद्युतों अथवा मेघस्थ विद्युतों को प्राप्त करते हैं। अथवा यम = वायु ने इनकी जो सीमा कार्यकारणभाव से प्राण और उदान के रूप में नियत कर दी है उसको धारण करते हुये (पुनः अपने स्वरूप में आने के लिए) विद्युतों को प्राप्त होते हैं। यहाँ पर वसिष्ठ जल है—

इसका कितना प्रशस्त स्पष्टीकरण एवं वर्णन है।

इस मंत्र के बाद १०,११,१२ और १३ मंत्रों में जल का विज्ञान वर्णित है और स्पष्टतया वसिष्ठ जल है यह प्रतिपादित है। ऋग्वेद ७।३३।१२ में इस यम द्वारा विस्तारित परिधि के विषय को और भी स्पष्ट किया गया है। वहाँ पर मंत्र में आया है—यमेन ततं परिधिं वयिष्यन्नप्सरसः परिजज्ञे वसिष्ठः। अर्थात् वायु के द्वारा विस्तारित वायव्यमय सीमा को प्राप्त करते हुए विद्युत् के सम्बन्ध से वसिष्ठ = जल उत्पन्न होता है। अर्थात् जब प्राण और उदान रूपी वायव्य विद्युत् से मिलते हैं तब जल पैदा होता है। इस प्रकार वसिष्ठ का जल अर्थ हुआ। प्रक्रियान्तर से अर्थान्तर ही हो सकेगा।

इतिहासवादियों द्वारा व्यक्तिविशेष माना गया वसिष्ठ वेदमंत्रस्थ वसिष्ठ नहीं है। इतिहासवादी ऋषियों को मंत्रों का कर्त्ता मानते हैं। ऋग्वेद ७।९६।३ मंत्र का ऋषि वसिष्ठ है। इतिहासपद्धियों के अनुसार वह इस मंत्र का कर्त्ता ठहरेगा। परन्तु मंत्र में—गृणाना जमदग्निवत्स्तुवाना च वसिष्ठवत् पाठ है। जब वसिष्ठ ही मंत्रकर्त्ता है तो वह जमदग्निवत् के साथ वसिष्ठवत् पद कैसे प्रयुक्त करेगा। इस तृतीय पुरुष के प्रयोग से यह मालूम पड़ता है कि यह उससे अतिरिक्त और कोई वसिष्ठ है। इसलिये यह सिद्ध बात है कि वसिष्ठ कोई व्यक्तिविशेष नहीं। वह विद्वान् पुरोहित अथवा पदार्थसामान्य है। वेद में आये वसिष्ठ पद की संगति सभी मंत्रों में इन पूर्वोक्त अर्थों में प्रक्रियानुसार लग जावेगी।

ऋग्वेद ७।७।७; ७।९।५; ७।१३।३; ७।२२।३; ७।२३।१, ७।२३।६; ७।२६।५; ७।३३।१, २,३–४; ७।३७।४; ७।४२।६; ७।७०।७; ७।७३।३; ७।८०।१; ७।८८।४; ७।९०।७; ७।९१।७; ७।९५।६, ७।९६।३, ऋ० १०।६५।१५, १०।६६।१४, १०।१२२।८ और १०।१५०।५ मंत्रों में वसिष्ठ पद आपाततः पूर्व कहे गये याज्ञिक, विद्वान् ऋत्विज्, पुरोहित आदि अर्थों का ज्ञापक है। इन मंत्रों में आधिदैव और आध्यात्मिक अर्थ अन्तर्हित है। इसकी संगति भी वसिष्ठ पद के दिये अर्थान्तरों से लग जावेगी।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वसिष्ठ का भिन्नार्थ दिखाने में कई मंत्रों की व्याख्या पूर्व पंक्तियों में की जा चुकी है। उन मंत्रों की अर्थसंगति उसी प्रकार समझनी चाहिए। प्रक्रियान्तर से अर्थान्तर की संगति लग सकेगी।

ऋग्वेद ७।३३।४, ७।३३।१२,१३,१४; ७।३६।७, ७।४०।७, ७।५६।२, ७।७६।६, ७।७८।६ मंत्रों में दैवतार्थ आपाततः अवगत होता है और यहाँ पर जल, अर्थ में वसिष्ठ का प्रयोग है। प्रक्रियान्तरों में होने वाले अर्थ अन्तर्हित हैं और पूर्वोक्त प्रकार से संगत करना चाहिए।

ऋग्वेद ७।८६।५ मंत्र का अर्थ नीचे दे दिया जाता है क्योंकि इस में अर्थसंगति में स्यात् कठिनाई हो—

अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नोऽव या वयं चकृमा तनूभिः।
अव राजन्पशुतृपं न तायुं सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम्॥

अर्थ—

हे वरुण = वरणीय परमेश्वर! पित्र्या=मन से उत्पन्न हुये हमारे द्रोहों को दूर कीजिए। जो पाप या द्रोह हम अपने शरीरों एवं अंगों आदि से करते हैं या करने की इच्छा रखते हैं उनको दूर कीजिए। हे सर्वप्रकाशक प्रभो! पशु को तृप्त करने वाले चोर की भांति और रस्सी में बंधे वत्स की भाँति मुझ वसिष्ठ = उपासक अथवा स्तोता अथवा वरिष्ठ आत्मा (जो सब प्राणों का प्राण है) को बुराई और बन्धन से छुड़ाइये। जिस प्रकार चोरी करने वाला चोरी करने पर चोरी के दुर्गुण को छोड़कर उससे बच जाता है, और जिस प्रकार रस्सी में बंधा वत्स मनुष्य द्वारा विमुक्त किया जाता है वैसे ही मैं आत्मा बुराई और इस बन्धन से दूर किया जाऊँ।

इस प्रकार वसिष्ठ पद के अनेकार्थ हैं। प्रक्रियानुसार उनकी योजना करनी चाहिए।

वामदेव—

इण्डेक्स के अनुसार यह ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के मंत्रों का रचयिता है। वहाँ पर यह गोतम के पुत्र के रूप में दिखलायी पड़ता है।

परन्तु यह सारी कल्पना ग़लत है। ऋषियों के मंत्रकर्तृत्व का प्रथम प्रकरण में ही खण्डन किया जा चुका है। गोतम कोई व्यक्तिविशेष नहीं यह इसके प्रसंग में दिखला दिया गया है। "गो" पद निघण्टु ३।१६ में स्तोतृ नाम और ४।१ में पद नाम में पढ़ा गया है। अतः गोतम का अर्थ स्तोतृतम अथवा विद्वत्तम होगा। जब गोतम ही व्यक्तिविशेष नहीं तो फिर वामदेव किस प्रकार व्यक्तिविशेष हो सकेगा। निघण्टु ३।८ में "वाम" पद प्रशस्यनाम में पठित है। अतः वामः प्रशस्यो देवो यस्य स वामदेवः। अथवा वामाः देवाः यज्ञदेवा इन्द्रियाणि विद्वान्सो वा यस्य स वामदेवः। अर्थात् परमेश्वर जिसका प्रशस्य दव है ऐसा उपासक वामदेव है। अथवा यज्ञदेव; इन्द्रियाँ, एवं विद्वान् जिसके प्रशस्य हैं वह वामदेव है। इस प्रकार उपासक, यज्ञकर्त्ता, विद्वद्भक्त, और इन्द्रियजित् मनुष्य वामदेव है। ऋग्वेद ४।४।११ में पितुर्गोतमाद् पाठ है। इससे पाश्चात्यों ने गोतम को वामदेव का पिता मान लिया। वामदेव इस मंत्र का द्रष्टा ऋषि भी है अतः ऐसी तुक इन्होंने जोड़ ली। परन्तु उन्हें नहीं मालूम कि किसी ज्ञानी, वृद्ध आदि में पिता पद का व्यवहार हो सकता है। उसका अर्थ माता का पति रूप पिता ही हो यह आवश्यक नहीं। इसी मंत्र में अग्नि के साथ बन्धुता का भी वर्णन है तो क्या इसका अर्थ यह लगा लिया जावे कि

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अग्नि वामदेव का भाई है। वस्तुतः = यज्ञकर्त्ता के लिए अग्नि बन्धुवत् है और ऋत्विग् पितृवत् है। इस मंत्र में गोतम का अर्थ ऋत्विक्तम अथवा स्तोतृतम है। ऋग्वेद ४।१६।१८ में "वामदेव" पद आया है। वहां पर वामदेव के उपर्युक्त अर्थ से मंत्रार्थसंगति बैठ जाती है। ऋग्वेद ४।३२।६ और १२ मंत्रों में "गोतमाः" बहुवचनान्त पद आये हैं। ये ही इस बात को सिद्ध करते हैं कि गोतम कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। इन मंत्रों में भी "गोतम" का अर्थ स्तोतृतम अर्थात् अत्यन्त स्तोता ही होगा। अथर्व १८।३।१५-१६ में भी इसी प्रकार अर्थसंगति लगेगी।

वायत—

पाशद्युम्न के प्रसंग में इसकी व्याख्या करदी गयी है।

वार्षागिर—

अम्बरीष एवं ऋज्राश्व के प्रसंग में देखें।

वितस्ता—

प्रथम प्रकरण में नदीसम्बन्धी इतिहास के निराकरण में इसकी व्याख्या करदी गयी है।

विपाश्—

इसकी भी व्याख्या प्रथम प्रकरण में नदी सम्बन्धी इतिहास का निराकरण करते हुए कर दी गयी है।

विभिन्दु—

शत्रूणामत्यन्तभेदको विभिन्दुः = अर्थात् शत्रुवों का अत्यन्त भेदन करने वाला राजा एवं मनुष्य विभिन्दु है। ऋग्वेद ८।२।४१ में यह पद आया है और इस अर्थ के साथ संगति बैठ जाती है।

विमद—

इसकी व्याख्या कमद्यु के प्रसंग में कर दी गयी हैं।

विरूप—

इसकी व्याख्या द्वितीय प्रकरण और अंगिरा के प्रसंग में देखें।

विश्वकर्मा भौवन—

द्वितीय प्रकरण में देखें।

विषाणिन्—

इण्डेक्स के अनुसार यह तृत्सुवों के शत्रुवों की एक जाति है। परन्तु यह ठीक नहीं। ऋग्वेद ७।१८।७ में "विषाणिनः" पाठ आया है। वहां पर यह याज्ञिकों (ऋत्विजों) के लिए प्रयुक्त है। इसका अर्थ है "मृगविषाण धारण किये हुये" अथवा "मृगशृंगवाले"। सायण ने भी ऐसा ही अर्थ किया है। इण्डेक्स की कल्पना यहां पर निराधार है। सायण ने इस का अर्थ "दीक्षित" माना है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विष्णापु—

इण्डेक्स का लिखना है कि विष्णापु विश्वक का पुत्र है और जब यह खोगया तब अश्विनियों ने इसे प्राप्त कराया था।

इण्डेक्स की यह कल्पना सायण के मत पर आधारित है। सायण ने इस पद के अर्थ को ठीक प्रकार से नहीं समझा। वास्तविक रूप में विष्णापु किसी व्यक्तिविशेष का नाम नहीं है। विष्णापु पद दो प्रकार से सिद्ध होता है। एक तो कर्तृप्रत्ययान्त और दूसरा कर्मप्रत्ययान्त। अक अतः विष्णानि व्यापकज्ञानानि आप्नोति विष्णापुः। अथवा विष्णुम् यज्ञमाप्नोति विष्णापुः। अथवा विष्णश्च आपुश्च विष्णापुः। अथवा विष्णः आपुः विष्णापुः। विवेष्टीति व्याप्नोति अनेनेति विष्णं ज्ञानं अथवा विवेष्टीति विष्णः। आ समन्तात् पुनाति अनेन अथवा पुनाति इति आपु। इस दृष्टि से विष्णापुः के ज्ञानयुक्त अथवा यज्ञकर्त्ता मनुष्य, ज्ञान और पवित्रता, व्यापक पवित्रता आदि अर्थ होंगे। इसके साथ मंत्रों में आये "विश्वक" पद की भी दो स्थिति होगी। एक स्थिति में उसका अर्थ विश्व होगा और दूसरी स्थिति में उसका अर्थ विश्व की भावना वाला मनुष्य होगा। ऋग्वेद १।११६।२३; १।११७।७; ८।८६।३; और १०।६५।१२ में यह पद आया है। सभी स्थलों पर इस अर्थ से मंत्रार्थसंगति लग जाती है।

वीतहव्य—

इण्डेक्सकर्त्ता का विचार है कि वीतहव्य एक राजा का नाम है जो ऋग्वेद में भरद्वाज के साथ और सुदास के समकालीन के रूप में वर्णित है।

यद्यपि इण्डेक्सकर्त्ता को भी अन्त में संदेह हो गया कि यह विशेषण पद है फिर भी यहाँ पर थोड़ा सा लिखा जाता है। वीतहव्य का अर्थ है दत्तहविष्क—वीतं दत्तं हव्यं हविर्येन स वीतहव्यः। इस प्रकार यज्ञकर्त्ता अथवा यजमान अर्थ हुआ। ऋग्वेद ६.१५.२ में यह अर्थ घटित होगा। ऋग्वेद ६।१५।३ में यह भरद्वाज के विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त समझा जा सकता है और पृथक् भी। विशेषण न होने की स्थिति में यजमान अथवा याज्ञिक अर्थ होगा। ऋग्वेद ७।१६।३ में यह "सुदास्" का विशेषण है। इसी प्रकार अथर्व ६।१३७।१ की भी अर्थसंगति लग सकेगी।

वृचीवत्—

इण्डेक्स ने इसे एक जाति माना है परन्तु यह ठीक नहीं। यह कोई जातिविशेष नहीं है। यह मेघ के विशेष भेद हैं। अर्थ की दृष्टि से इसका भाव उल्टी एवं हिंसा क्रिया वाला होगा। विविध प्रकार की उल्टी अर्थात् लोक के लिए वर्षा न करके कुटिल क्रिया करने वाले मेघ वृचीवत् हैं। साथ ही कुटिलगति अथवा हिंसक मनुष्य भी "वृचीवत्" हैं। ऋग्वेद ६।२७।५,६,७ मंत्रों में यह पद आया है और वहाँ पर इस अर्थ के साथ संगति लग जाती है।

वृषगण—

इण्डेक्स के मत में यह एक स्तोता के परिवार का नाम है जो ऋग्वेद ६।९७।८ में एक बार ही प्रयुक्त हुआ है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

परन्तु यह "वृषगण" व्यक्तिवाचक पद नहीं। मंत्र में इसका प्रयोग बहुवचन में है। वृषगण का अर्थ है ज्ञान की वर्षा करने वाली वाणियों वाले मनुष्य। "गण" और "गणा" पद निघण्टु १।११ में वाङ् नाम में पठित हैं। अतः इसके अनुसार वृषा ज्ञानवर्षिकाः गणाः वाण्यः येषान्ते वृषगणाः—अर्थात् ज्ञानवर्षिका वाणी वाले वृषागण है। मंत्र में यह अर्थ संगत होता है। अथवा वृषाः वर्षकाः गणाः समूहाः एषान्ते वृषगणाः मरुतः अर्थात् वर्षा करने वाले गण समूह हैं जिनके ऐसे मरुत् लोग वृषगण हैं।

वृष्णाश्व—

इसकी व्याख्या कक्षीवान् की व्याख्या के अवसर पर कर दी गयी है। अधिकगति युक्त अश्वों वाला अथवा ऐसी इन्द्रियों वाला मनुष्य वृषणश्व है।

वृष्टिहव्य—

उपस्तुत के प्रसंग में इसकी व्याख्या देखें। वृष्ट्यर्थं हव्यं हविर्यस्य स वृष्टिहव्यः। अर्थात् वर्षा के निमित्त यज्ञ में हवि देने वाले याज्ञिक को वृष्टिहव्य कहा जाता है। यह पद ऋग्वेद १०।११५।९ में आया है। वहां पर अर्थ ठीक बैठता है।

वेन—

इण्डेक्स कहती है कि यह ऋग्वेद में एक उदार संरक्षक के रूप में प्रयुक्त है। परन्तु यह भ्रम इसलिए है कि सायण ने वेन का ऐसा ही अर्थ किया है और वैदिक परिपाटी वैदिक इण्डेक्स के कर्त्ता को ज्ञात नहीं थी। वस्तुतः वेन का अर्थ मेधावी, यज्ञ, मेघ, इन्द्र, आत्मा आदि है। निघण्टु ३।१५।; ३।१७ और ५।४ में वेन पद क्रमशः मेधावी, यज्ञ और पद नाम में पठित है। निरुक्त १०।३८ में वेन मेघ को कहा गया है। शतपथ ७।४।१।१४ में (असावादित्यो वेनः) आदित्य को वेन कहा गया है। कौषीतकी ८।५ में (इन्द्र उ वै वेनः) इन्द्र वेन है। कौषीतकी ८।५ में (आत्मा वै वेनः) आत्मा को वेन कहा गया है।

वेन के अर्थ को ऋग्वेद ८।६३।१ मंत्र निम्न प्रकार स्पष्ट करता है—

स पूर्व्यो महानां वेनः क्रतुभिरानजे।
यस्य द्वारा मनुष्पिता देवेषु धिय आनजे॥

अर्थात्—

यजमानों के कर्मों और प्रज्ञानों के द्वारा वह मुख्य यज्ञ अथवा इन्द्र प्राप्त होता है जिसके द्वारा देवों में ज्ञान को पालक मनस्वी प्राप्त करता है। ऋग्वेद १०।९३।१४ में आये वेन पद का अर्थ पूर्व कहे गये अर्थों में से घटेगा। प्रक्रियानुसार संगति लगानी चाहिए। "दुःशीम" की व्याख्या में भी इसका अर्थ देखना चाहिए। तिलक ने ऋग्वेदीय वेन का अर्थ वरुण (Venus) नक्षत्र लगाया है।

वैकर्ण—

इण्डेक्स ने इसे जातियों का नाम माना है जो सर्वथा ग़लत है। सायण को भी यहाँ पर कुछ नहीं सूझ पड़ा और उसने ऋग्वेद ७।१८।११ पर ऐसा ही अर्थ कर दिया। मंत्र में

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"परुष्ण्या वैकर्णयोः जनान्" पाठ है। परुष्णी को सायण नदीविशेष मानता है जो सर्वथा ही भ्रमपूर्ण है। परुष्णी की व्याख्या पूर्व की जा चुकी है। परुष्णी कुटिल गामिनी नदी को कहा जाता है। इसका कोई सीधा कोण नहीं होता है। ऐसा न होने से शत्रुवों से ख़तरा रहता है। सीमा भी सीधी नहीं बन पाती। अतः कोणरहित का नाम विकर्ण है। कर्ण का अर्थ कोण है। विकर्ण में होने वाले को वैकर्ण कहा जाता है। नदी के दो कूल होते हैं। कुटिल नदी के कूलों में कर्ण होता नहीं अतः वे विकर्ण हैं। इन विकर्ण कूलों पर रहने वाले को वैकर्ण कहा जाता है। जब शत्रु का दो दल कुटिल नदी के विगत कर्ण वाले दो कूलों पर खड़ा है तो राजा उसके जनों को मार भगाता है। मन्त्र में यही भाव है। मन्त्र कहता है कि कुटिल नदी के कोणरहित कूलों पर खड़े हुये (वैकर्णयोः) दो शत्रु दलों के जनों को राजा मार भगाता है।

वैतहव्य—

वीतहव्य की व्याख्या की गयी है। वीतहव्य का पुत्र अथवा वीतहव्य-सम्बन्धी वैतहव्य कहलावेगा। अतः यजमान अथवा याज्ञिक ही अर्थ इसका भी होगा। अथर्व ५।१८।१०–११ और ५।१९।१ में आये इस पद का ऐसा ही अर्थ लगाना चाहिए।

वैदथिन—

इण्डेक्सकर्त्ता के अनुसार यह "ऋजिश्वन्" का पिता है। परन्तु यह कोई व्यक्तिविशेष नहीं ऐसा समझना चाहिए। ऋजिश्वनन् की व्याख्या इसके प्रकरण में कर दी गयी है। विदथ पद का अर्थ यास्क ३।१२ पर ज्ञान किया है। पुनः निरुक्त ६।७ पर भी अर्थ किया है। वह कहता है "विदथानि = ज्ञानानि।" निरुक्त १।६ पर यज्ञ अर्थ अभिप्रेत है। पुनः निरुक्त ८।१२ "विदथेषु" का अर्थ यास्क ने यज्ञेषु किया है। यह पद विद् धातु से बना है। इस प्रकार विदथ वाला विदथिन् हैं। तथा उसका पुत्र वैदथिन है। विदथं ज्ञान यज्ञो वा अस्यास्तीति विदथिन् तस्यापत्यं वैदथिनः। इस प्रकार यज्ञसाधक और ज्ञानी वैदथिन पद के अर्थ है। ऋग्वेद ४।१६।१३ और ५।२९।११ में यह पद आया हैं। इनमें प्रथम ४।१६।१२ में यह ऋजिश्वन् का अर्थ विशेषण है और ५।२९।११ में इसका अर्थ याज्ञिक एवं ज्ञानी मनुष्य होगा।

वैददश्वि—

इण्डेक्स इसे विददश्व का वंशज मानती है और तरन्त का पितृसूचक नाम मानती है। परन्तु यह सुतराम् भ्रमात्मक है। ऋग्वेद ५।६१।१० में "तरन्त" और वैददश्वि पृथक् पृथक् हैं। सायण ने पुरुमीढ को वैददश्वि माना है। परन्तु यह कोई व्यक्तिविशेष नहीं है अतः दोनों ही कल्पनायें ग़लत है। विदन्तोऽश्वाः यस्य सन्ति विददश्वः तस्यु पुत्रः वैददश्विः—अर्थात् जानकार घोड़े हैं जिसके वह विददश्व है और उसका पुत्र वैददश्वि = शिक्षित घोड़ों वाला राजा अथवा मनुष्य है।

वैन्य—

वेन नाम यज्ञ अथवा मेधावी का है। यह वेन के प्रसंग में दिखलाया जा चुका है। अतः वेन = यज्ञ का साधक अथवा वेन = मेधावी का पुत्र वैन्य है। इस प्रकार यज्ञ की सिद्धि करने वाला मनुष्य अथवा अत्यन्त मेधावी वैन्य है। ऋग्वेद ८।९।१० की अर्थसंगति इस अर्थ से बैठ जाती है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वैशन्त—

इण्डेक्स ने इसे एक राजा का नाम माना है परन्तु यह वास्तविक अर्थ की अनभिज्ञता का प्रदर्शन है। सायण ने भी ऋग्वेद ७।३२।२ में आये इस पद का अर्थ पल्वल अथवा सोमाधार चमस लिया है। फिर इण्डेक्सकर्त्ता ने एक राजा अर्थ कहाँ से गढ़ लिया। यहाँ पर वस्तुतः यज्ञपात्र अर्थ अभिप्रेत है। इससे मंत्रार्थसंगति लग जावेगी। पाशद्युम्न के प्रसंग में भी इसे देखना चाहिए।

शकपूत—

इण्डेक्स के अनुसार शकपूत का अर्थ गोबर से पवित्र हुआ है और ऋग्वेद १०।१३२।५ में यह एक राजा का नाम है।

यहाँ पर इण्डेक्सकर्त्ता ने शक का गोबर अर्थ लिया है और उससे पूत को शकपूत कहा है। यह उसकी कितनी अनभिज्ञता है। वेद में "शक" शब्द का अर्थ जल और कर्म है। शकपूत एक राजा का नाम है यह भी ग़लत बात है। यह कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। निघण्टु १.१२ और २।१ में क्रमशः शक पद जल और कर्म अर्थ में पढ़े गये हैं। अतः—शकेन जलेन कर्मणा वा पूतः शकपूतः अर्थात् जल अथवा कर्म से पवित्र मनुष्य शकपूत है। ऋग्वेद १०।१३२।५ में यह अर्थ मंत्रार्थसंगति में ठीक पड़ता है।

शतयातु—

वसिष्ठ के प्रसंग में इसकी व्याख्या कर दी गयी है।

शत्रि आग्निवेशी—

यह भी कोई व्यक्तिविशेष नहीं। शत्रि का अर्थ शातन है। काम क्रोधादि शत्रुवों अथवा बुराइयों एवं दुश्मनों का शातन करने वाला शत्रि है। वेश पद का अर्थ गृह है। निघण्टु २।१ में वेशः पद कर्म नाम में पठित है। अग्नौ वेशः कर्म यस्यास्तीति अग्निवेशः तस्यापत्यमाग्निवेशी अथवा अग्न्यर्थं वेशः गृहमस्यास्तीति अग्निवेशः तस्यापत्यमाग्निवेशिः। अर्थात् अग्नि में हवन आदि कर्मों का करने वाला अग्निवेश है और उसका पुत्र याज्ञिक एवं अग्निहोत्र अग्निवेश है। अथवा अग्न्यागार वाला व्यक्ति अग्निवेश और उसका पुत्र आग्निवेशि है। यह शत्रि का विशेषण है। ऋग्वेद ५।३४।६ में यह पद आया है और इससे अर्थसंगति ठीक ठीक लग जाती है।

शम्बर—

इण्डेक्स के अनुसार यह ऋग्वेद में इन्द्र के एक शत्रु का नाम है। यह शुष्ण, पीरु आदि के साथ वर्णित है। इस को दास भी कहा गया है। यह कुलितृ का पुत्र है। यह अपने को एक स्थल पर "देवका" मानता है। इसके निन्यानवे किलों का भी वर्णन है। यह नपुंसक लिंग में भी एक स्थल पर प्रयुक्त है और वहाँ पर इस के किले के अर्थ में यह प्रयोग है।"

इन्द्र नाम विद्युत् का है। वृत्र और इन्द्र का युद्ध बहुत ही प्रसिद्ध रूपक है। वृत्र मेघ का नाम है। इसी प्रकार शम्बर भी मेघ है और वह इन्द्र का शत्रु है। इन्द्र शम्बर को काटता है। मेघ होने से वह पर्जन्य का दाता भी है अतः देव न होते हुये भी उसका देवगुण से देवक होना कोई अनुचित बात नहीं। मेघ के रहने का स्थान अन्तरिक्ष है। उसमें ९९ स्तर

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वायु और तरंगों के विद्यमान हैं। ये ही उसके किले है। इन स्तरों को इन्द्र ढीला कर छोड़ता है। शुष्ण आदि इसके साथी भी मेघ हैं। शम्बर जो मेघ है इसे ऋग्वेद ४।३०।१४ में "कौलितर" कहा गया है। यह क्यों ? इसका विचार किया जाता है। "कुलिश" पद निघण्टु २।२० में वज्र नाम में और ४।३ में पद नाम में पठित है। इस कुलिश पद की व्याख्या करते हुये यास्क ने निरुक्त ६।१७ पर लिखा है—कुलिश इति वज्र नाम कूलशातनो भवति—अर्थात् कुलिश का अर्थ वज्र है क्योंकि यह कूल का छेदन करने वाला होता है। कूल पद को यहाँ पर ह्रस्व होकर कुल हो गया है। स्कन्दस्वामी ने यहाँ पर लिखा है कि "कुलपर्वतान् श्यति पक्षच्छेदेन तनूकरोति—अर्थात् कुलपर्वतों = मेघों को पक्षच्छेदन द्वारा यह यह क्षीण करता है अतः कुलिश है। यास्क ने कूल+षद्लृ शातनार्थक धातु से माना और स्कन्द ने कुल+शो तनूकरणार्थक धातु से कुशिक पद सिद्ध किया है। इस प्रकार कूल अथवा कुल पद क्रमशः किनारा और कुल=कुटुम्ब के अर्थ में पाये जाते हैं। अतः "कूलं तरतीति कूलतरः—तथा च कुलं तरतीति कुलतरः" पद बनेंगे। इन का अर्थ होगा किनारे को तरने वाला अर्थात् जिसका किनारा या ओर छोर न मिले और कुटुम्ब= अर्थात् मेघकुल को लाँघ जाने वाला। कूलतरस्य कुलतरस्य वापत्यं तस्यायं वा कौलितरः। अर्थात् कूलतर अथवा कुलतर का अपत्य अथवा तत्सम्बन्धी कौलितर है। बिना ओर छोर वाला अथवा मेघकुल में भी बड़ा मेघ शम्बर कौलितर है। इसीलिए ऋग्वेद ४।३०।१४ में इसे बृहतः पर्वताद् अधि कौलितरः—अर्थात् महान् मेघ से भी अधिक कौलितर कहा गया है। पर्वत शब्द निघण्टु १।१० में मेघ नाम में पठित है। वर्षा न होने से कृष्यादि कर्मों का नष्ट करने वाला होने से वह दास है। इस भाव को न समझकर इण्डेक्सकर्त्ताओं ने इसे कोई व्यक्ति समझ लिया। ठीक है। वेद का यह रहस्य उनकी बुद्धि के बाहर की बात थी क्योंकि उन्हें वैदिक शास्त्रों का परिज्ञान नहीं था।

"शम्बराणि" पद का प्रयोग ऋग्वेद २।२४।२ में पाया जाता है। सर्वत्र शम्बर पद पुलिंग में प्रयुक्त है। परन्तु यहाँ पर नपुंसक लिंग और बहुवचन में प्रयुक्त है। यहाँ पर यह पद शम्बर के क़िलों के लिए नहीं प्रयुक्त है। यदि कोई इसका प्रयोग किलों के लिए मानता है तो वह वेदानभिज्ञ है। शम्बर पद वेद में पुलिंग और नपुंसक लिंग दोनों में पाया जाता है। पुलिंग में यह मेघ अर्थ का वाचक है और नपुंसक लिंग में जल और बल का वाचक है। निघण्टु १।१० में शम्बरः पद मेघ नाम में पठित है और १।१२ तथा २।६ में क्रमशः जल और बल नाम में पढ़ा गया है। अतः ऋग्वेद २।२४।२ में आया "शम्बराणि" पद "उदकानि" = जलों का वाचक है। इण्डेक्सकर्त्ताओं को यह नहीं ज्ञात था अतः अन्यथा कल्पना करली।

ऋग्वेद १।५१।६; १।५४।४; १।५९।६; १।१०१।२; १।१०३।८; १।११२।१४; १।१३०।७; २।१२।११; २।१४।६; २।१९।६; ४।२६।३; ४।३०।१४; ६।१८।८; ६।२६।५; ६।३१।४; ६।४४।१; ६।४७।२; ६।४७।२२; ७।१८।२०; ७।९९।५ में शम्बर पद आया है और सर्वत्र मेघ अर्थ से मन्त्रार्थसंगति लगती है। प्रक्रियान्तर में आवश्यकता पड़ने पर यौगिक अर्थ लेकर अर्थान्तर किया जा सकता है। परन्तु इन सभी स्थलों में प्रक्रिया की दृष्टि से अर्थान्तर का प्रभाव बहुधा दैवत पर पड़ेगा

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शर—

यह ऋग्वेद ८।७०।१३ में इन्द्र के लिए प्रयुक्त है। शतपथ ३।१।३।१३ में (वज्रो वै शरः) वज्र के लिए शर का प्रयोग है। मेघ आदिकों का वध करने के कारण इन्द्र को शर कहा गया है। ऋग्वेद ८।७०।१४ में भी इसी अर्थ में प्रयोग है।

शौरदेव्य—

इण्डेक्स शूरदेव का पुत्र शौरदेव्य मानकर इसे ऋग्वेद ८।७०।१५ में एक दानी राजा का नाम मानती है जिसने तीन स्तोतावों को एक बछड़ा दान में दिया था।

यहाँ पर इण्डेक्सकर्त्तावों की कितनी अनभिज्ञता है। वे संस्कृत तक भी नहीं जानते। शौरदेव्यः पद शौरदेवी का बहुवचन है। परन्तु ये इसे एक वचन मान कर शूरदेव का पुत्र मान रहे हैं। मन्त्र में कर्ता मघवा है परन्तु ये शौरदेव्य को कर्ता मान रहे हैं। यदि शौरदेव्य को एक वचन और पुलिंग पद माना जावे तो फिर वह मघवा का विशेषण बनेगा। इस मन्त्र के अर्थ में सायण भी अस्पष्ट है।

अतः मन्त्रार्थ नीचे दे दिया जाता है—

कर्णगृह्या मघवा शौरदेव्यो वत्सं नस्त्रिभ्य आनयत्।
अजां सूरिर्न धातवे ॥ ऋ० ८।७०।१५

अर्थ—

अपने दूध से शूर और देव = विद्वान् बनाने वाली (शौरदेव्यः) गायें कानों से पकड़ी हुई बछड़े के पास जिस प्रकार ला दी जाती हैं उसी प्रकार मघवा = इन्द्र अथवा परमेश्वर सूर्य लोकस्थ वाणी को कानों से ग्रहण योग्य करके (नः त्रिभ्यः) हम याज्ञिक, आत्मविद् और आधिदैवत दृष्टि वालों को प्राप्त कराता है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार (सूरि) स्वामी पानी पिलाने के लिए बकरी को कान पकड़ कर लाता है।

यहाँ पर कर्णगृह्या = का एक अर्थ है कान से पकड़ी हुई और दूसरा अर्थ कान से ग्रहण करने योग्य। शौरदेव्यः के भी दो अर्थ हैं। शूराश्च देवाश्च शूरदेवाः तेषां हितं शौरदेवम् तत्सम्बन्धिन्यः शौरदेव्यः अर्थात् शूर और विद्वान् के कल्याण को करने वाली। दूसरा अर्थ है—शूरः सूर्यः तत्र भवाः देव्य शौरदेव्यः—अर्थात् सूर्य लोकस्थ वाणियें। यह अर्थ श्लेष से निकाला जा रहा है। शूर शब्द का अर्थ संस्कृत कोषों में सूर्य और भट दोनों है। देव पद विद्वान् अर्थ का दाता भी है। देवी पद का अर्थ शतपथ ६।५।१।३६ (छन्दांसि देव्यः) में वैदिक छन्द किये गये हैं। वत्स पद पड़ा ही है अतः "गो" पद अपने आप उपमेय लुप्ता उपमा से आ जाता है।

शरभ—

यह भी किसी ऋषिविशेष का नाम नहीं। ऋग्वेद ८।१००।६ में यह पद आया है और यहाँ पर इसका विशेषण "ऋषिबन्धु" आया है। ऋषि हो बन्धु जिसका वह ऋषिबन्धु है। राजा और तपस्वी लोग ऋषियों को अपने यहाँ शरण देते हैं। शृणाति हिनस्ति कामक्रोधादीन् दोषान् शत्रूंश्चेति शरभः। अथवा शरैर्भाति इति शरभः। अर्थात् कामक्रोधादिकों को नष्ट करने वाला

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विद्वान् मनुष्य अथवा शत्रुत्रों का नाशक एवं शरों से सुशोभित राजा शरभ है। मंत्रार्थसंगति इस अर्थ से बैठ जाती है।

शर्यणावत्—

इण्डेक्स का कथन है कि यह पद ऋग्वेद में कई स्थलों पर प्रयुक्त है और सायण इन सब में स्थानीय नामों को देखता है। सायण के अनुसार "शर्यणाः" कुरुक्षेत्र में एक स्थान है। उसके समीप का सरोवर शर्यणावत् है। सायण के कथन की विशेष समंजसता इसके एक स्थान का नाम होने के पक्ष में है। यहाँ पर यह भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि कुरुक्षेत्र में एक सरोवर था जिसका नाम अन्यतः प्लक्ष था। रॉथ का (St Petursbrug Dictionary S. V.)

विचार है कि यह दो स्थलों (ऋ० १।८४।१४) और १०।३५।२ में केवल सरोवर का वाचक है। शब्दतः इसका अर्थ है—

घास के जाल से घिरा पानी। शर्याण एक प्रकार की घास है। दूसरे स्थलों में यह सोमपात्र का अर्थ देता है।

ज़िमर का (Altindischis Laben 19--20) इसी अर्थ की ओर झुकाव है। पिशेल (Vedische Studien 2—217; So. Maxmullar Sacred Book of the East 32—398—399) सायण के विचार से सहमत है। हिल ब्रैण्ड्थ (Vedische Mythologie 1-126et Sag) इस शब्द का अर्थ स्थानविशेष का नाम मानते हैं परन्तु इसे वे पञ्च नदियों के बीच में स्थान देते हैं जो कि इसके कुरुक्षेत्र में होने के साथ कोई असमंजसता नहीं रखता। क्योंकि पश्चातकालीन कुरुत्रों के साथ पुरुवों का सम्बन्ध प्रसिद्ध है। स्यात् ये कहना चाहते हैं कि शर्यणावत् कश्मीर के पुराने बुलर समुद्र का, नाम है जो कि वैदिक काल में एक स्मृतिमात्र था। यह सम्भाव्य नहीं। ऐसा ही लगभग लुडविग (Ludwigs Translation of the Rigveda 3—205) की भी कल्पना है। वह इसे पश्चात्कालीन पूर्वीय सरस्वती नदी मानता है। वर्गिजन (Religion Vedique 1—206) इसे दैवी सोम सोताका नाम मानता है।

यहाँ पर इण्डेक्स के अनुसार सारा वर्णन दिया गया। वास्तविक अर्थ न मालूम होने और सायण का अन्धाधुन्ध अनुकरण करने से लोगों ने कितनी उटपटांग कल्पना कर डाली। वस्तुतः यह कोई स्थानविशेष एवं सरोवरविशेष नहीं है। कुरुक्षेत्र के पास यह सरोवर है—इस बात की कल्पना करना ही व्यर्थ हैं। वेद मन्त्रों में ऐसा कोई साक्ष्य एवं संकेत नहीं मिलता है। शर्या पद का अर्थ अंगुलि और इषु है। निरुक्त ५।५ और १०।३० के अनुसार शर्या अंगुलि और इषु के अर्थ में है। अंगुलियों को शर्या इसलिए कहा गया है कि इनसे कर्मों का निर्माण होता है। इषु शर्या इसलिए है कि यह शरमय है। अतः शर्या पद सृज् सर्गे और श्रृ हिंसार्थक धातुवों से बनेगा। इसी प्रकार शर पदभी बाण और जल दोनों का वाचक है। शर्याभिः सुम्पद्यमानाः क्रियाः शर्यणाः तद्वान् शर्यणावान् यज्ञः अथवा शर्याभिः इषुभिः सम्पद्यमानाः क्रियाः शर्यणास्तद्वान् संग्रामः अथवा शर्यणाः घासादयः तद्वान् शर्यणावान् = तालाब, स्थान आदि इस प्रकार शर्यणावत् के क्रमशः यज्ञ, संग्राम और सिंघाड़े एवं कमल तथा घास आदि से युक्त तालाब और स्थान—अर्थ हैं। शर का अर्थ जल भी है। अतः शर्याभिः

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जलमयीभिः वाष्पधाराभिः सम्पद्यमानाः मेघसमूहाः शर्यणाः तद्वान् शर्यणावान् अन्तरिक्षम्। अर्थात् जलमयी वाष्प धारायें शर्या हैं। उनसे हे।ने वाले मेघ समूह शर्याण हैं और उस वाला अन्तरिक्ष शर्यणावान् है।

अब मन्त्रों की स्थिति पर विचार करना चाहिए। ऋग्वेद १।८४।१४ में शर्यणावति पद मिलता है। यहाँ पर इससे पूर्व के मन्त्र और इस मन्त्र में एक नित्येतिहास का वर्णन मिलता है। यह नित्येतिहास दैवत प्रक्रिया के अर्थ को विस्पष्ट करता है। अथर्वा के पुत्र का नाम दध्यङ् (दधीच) है। देवों और असुरों के संग्राम में देव लोग हारने लगे। तब उन्होंने दधीच की अस्थियों की याचना की। दधीच के मर जाने से शिर के रूप में उनकी अस्थियाँ मिलीं। यह वह शिर था जो आश्व शिर था। इन्द्रो इस शिर को शर्यणावत् में पाया। वहाँ से लेकर वृत्र जो असुर है उसके समस्त समूह को काट दिया।

देव वस्तुतः अग्नि, आयु, किरण आदि पदार्थों का नाम है। इन देवों में इन्द्र विद्युत् है। असुर और वृत्र मेघों का नाम हैं। निघण्टु १।१० में असुर और वृत्र मेघ नाम में पठित हैं। अन्तरिक्ष में सूर्य की किरणों और तत्स्थ अग्नियों का इन असुरों = मेघों के साथ युद्ध चलता है। इस युद्ध में मेघ घेर लेते हैं और बलवान् पड़ जाते हैं। उस समय इन्द्र दध्यङ् की अस्थियाँ चाहता है। अथर्वा वस्तुतः वायु का नाम है। शतपथ ६।४।२।२ में (प्राणोऽथर्वा) प्राण को अथर्वा कहा गया है। यह वस्तुतः मातरिश्वा वायु है। जब जगत् की अन्धकार रात्रि अथवा देवासुर संग्राम में मेघों से अग्नि छिप गया और अन्धकार हो गया तब वायु ने इसे अन्तरिक्ष से मथकर प्रकट किया। सामवेद १।१।९ में कहा गया है (त्वामग्ने पुष्करादथर्वा निरमन्थत) कि अथर्वा = वायु अन्तरिक्ष से अग्नि को मंथन कर प्रकट करता है। यह मन्त्र ऋग्वेद में भी ऐसा ही है। अग्नि को पैदा करने के कारण अथर्वा = वायु पिता है और अग्नि उसका पुत्र है। इस अग्नि को इसी कारण आथर्वण कहा गया है। यह आथर्वण अग्नि ही दध्यङ् (दधीच्) है। इसमें ध्यान लगा होता है अतः यह दध्यङ् है। इसे आंगिरस भी कहा जाता है। यह देवों का अग्रगामी है। तथा उनका पुरोहित भी है! ताण्डय १२।८।६ (दध्यङ् वा आंगिरसो देवानां पुरोधानीय आसीत्) में इस प्रकार का वर्णन मिलता है। अग्नि अंगारजन्य हैं अतः आंगिरस है और वायु के द्वारा पैदा है अतः आथर्वण दध्यङ् इस अग्नि को कहा जाता है। इस अग्नि का शिर "आश्व" है। "अश्व" पद निघण्टु १।१० और ५।३ में क्रमशः "मेघ" और पदनाम में पढ़ा गया है। अग्नि का जो रूप मेघस्थ है वह आश्व है। क्योंकि अश्व नाम मेघ का है और मेघस्थ अग्नि ही आश्व है। यही दध्यङ् का आश्वशिर है। इसने अश्विनी को मधुविद्या दी यह भी ठीक है। निघण्टु १।१२ में मधु पद उदक नाम में पठित है। अतः मधुविद्या का अर्थ जलविद्या है। प्राण और अपान को अश्विनी कहा जाता है। पहले प्रकरण में यह वर्णित है। ये वृष्टि से सम्बन्ध रखते हैं। इन्हें यह जल का प्रकार इस दध्यङ् के आश्वशिर ने बताया। अस्थि पद का अर्थ धारक है। हड्डियाँ भी शरीर की धारक हैं। तैत्तिरीय १।१।९।४ (अस्थि वा एतत्। यत्समिधः) में अस्थि से समिध् अर्थ लिया गया है। शतपथ ६।२।३।४६ में भी ऐसा ही भाव मिलता है। शतपथ ८।१।४।५ में इष्टकावों को अस्थि कहा गया है। (अस्थीष्टकाः श० ८।१।४।५)। इस प्रकार समिधा ही दध्यङ् = अग्नि की अस्थियाँ हैं। इन समिधावों से जहाँ अग्नि प्रज्वालन की सामग्री इन्धन अभिप्रेत

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हैं वहां इससे माध्यम किरण, आदि भी अभिप्रेत है। विद्युत् दध्यङ् (दधीच्) = अग्नि की अस्थियों = समिधावों को लेकर उससे वृत्र = मेघों उस आश्वशिर = मेघस्थ रूप को मारता है। यह ऋग्वेद १।८४।१३ मन्त्र में वर्णित है। इन्द्र ने दध्यङ् = अग्नि के उस आश्वीशरा = मेघस्थ रूप को घने मेघों में व्याप्त होने से न पाकर शर्यणावान् अन्तरिक्ष में प्राप्त किया। यही वस्तुतः वज्र है—इसका ही वर्णन ऋग्वेद १।८४।१४ में किया गया है

मंत्रार्थ निम्न प्रकार है—

इच्छन्नश्वस्य यच्छिरः पर्वतेष्वपश्रितम्। तद्विदच्छर्यणावति ॥

अर्थ—

पर्वत = मेघों में छिपे हुये अश्वस्यशिरः = मेघ सम्बन्धी जिस शिर की इन्द्र इच्छा करता है वह उसे शर्यणावति = अन्तरिक्ष में प्राप्त करता है। पर्वत पद निघण्टु १।१० में मेघ नाम में पठित है।

ऋग्वेद ८।६।३९ में "शार्यणावान्" यज्ञ और अन्तरिक्ष दोनों ही अर्थों को प्रक्रिया के भेद से देगा। ऋग्वेद ८।७।२९ में "सुषोमे शर्यणावति आर्जी के पस्त्यावति पद आये हैं। अतः यहाँ पर "सरल समतल एवं सुन्दर शालायुक्त सोम से सुसज्जित यज्ञ में" अर्थ होगा। यहाँ पर अन्तरिक्ष अर्थ भी लग सकता है। पस्त्यम् निघण्टु में गृहनाम में पठित है परन्तु शतपथ ५।३।५।१९ (विशो वै पस्त्याः) में प्रजा को पस्त्या कहा गया है। अतः "प्रजावों से युक्त सरल चन्द्र एवं सोम तत्व से युक्त अन्तरिक्ष" अर्थ भी किया जा सकेगा। "नरः" का अर्थ मरुतः = होगा।

सोमतत्व कहाँ कहाँ पर है, इसका वर्णन ऋग्वेद ८।६५।११ में इस प्रकार है—

अयं ते शर्यणावति सुषोमायामधि प्रियः। आर्जिकेये मदिन्तमः ॥

अर्थ—

हे इन्द्र! यह तुम्हारा हर्षदायक सोम तत्व अन्तरिक्ष, अथवा घास आदि से युक्त तालाब एवं प्रदेश, उत्तम जल वाली नदी और आर्जिकीय = पार्वत प्रदेश में पाया जाता है। ऋग्वेद ६।६५।२२ में "शर्यणावान्" के अर्थ यज्ञ, अन्तरिक्ष, और तालाब तीनों ही प्रक्रियानुसार घट सकते हैं। ऋग्वेद ६।११३।१ में यज्ञ, अन्तरिक्ष, युद्ध आदि अर्थ प्रक्रियानुसार घटेंगे। ऋग्वेद १०।३५।२ में "शर्यणावतः पर्वतान्" पाठ आया है। यहाँ पर "घास वनस्पति से युक्त पर्वत" और "वाष्पीभूत वायुवों से युक्त मेघ" अर्थ होगा। "शर्यणावतः पर्वतान्" में यह "शर्यणावतः" विशेषण ही बतलाता है कि यह किसी स्थान अथवा तालाब का नाम नहीं है। इण्डेक्स और पाश्चात्य विद्वानों एवं सायण की कल्पना अनर्थक है।

शाण्ड—

इण्डेक्स ईसे शण्ड के पुत्र एक व्यक्तिविशेष का नाम मानती है परन्तु यह ठीक नहीं। शाण्ड कोई व्यक्ति नहीं। ऋग्वेद ६।६३।९ में यह पद आया है और वहाँ पर इसका अर्थ शत्रुवों को पीडित करने वाला अथवा धन, जन आदि का संघात करने वाला राजा है। शडि धातु रुजा और

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

संघात अर्थ में है। इससे शाएड पद बना है। दीन दुःखियों को देखकर स्वयं पीडित होने वाला दयालु मनुष्य भी इस का अर्थ हो सकता है।

शार्यात—

इण्डेक्स का कथन है कि यह शायद शर्यात का पुत्र है और एक स्तोता का नाम है। परन्तु यहाँ पर शायद में कितनी अनभिज्ञता छिपी हुई है। शर्यात अथवा शार्यात किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं। शरं याति प्राप्नोति यायति शर्यातिः पृषोदरादित्वादलोपः शरपदस्य। अथवा शर्यामिषुमातनोति अतति वा शर्यातिः। अथवा शरान् दुर्वाकुशादीन् जलानि वा यज्ञार्थं अर्तति शर्याति र्यजमानः। अर्थात् शर को प्राप्त होने वाला अथवा शर को चलाने अथवा विस्तारित करने वाला शर्याति है। अथवा कुश, दुर्वा एवं जल आदि को यज्ञ के लिए प्राप्त करने वाला यज़मान शर्याति हैं। इस प्रकार राजा, योद्धा अथवा यजमान शर्याति है। शर्यातिरयम् शार्यातः अथवा शर्यातेः पुत्रः शर्यातः। अर्थात् शर्याति सम्बन्धी अथवा शर्याति का पुत्र शर्यात है। ऋग्वेद १।५१।१२ और ३।५१।७ में यह पद आया है और इसी प्रकार वहाँ पर अर्थसंगति लग जावेगी।

शिग्रु—

इसका अर्थ शीघ्रगामी है। "अज" की व्याख्या के प्रसंग में इसका अर्थ कर दिया गया है। ऋग्वेद ७।१८।१९ मंत्र में यह पद आया है।

शिञ्जार

यह व्यक्तिविशेष नहीं है। इसका अर्थ शब्द करने वाला अर्थात् स्तोता है और यह ऋग्वेद ८।५।२५ में अत्रि का विशेषण है। सायण ने भी यहां पर ऐसा ही अर्थ किया है। ऋग्वेद १०।४०।७ में यह स्तोता मनुष्य के लिए प्रयुक्त है।

शिरिम्बिठ—

यह व्यक्तिविशेष नहीं हैं। परन्तु ऋग्वेद १० मंडल के १५५ वें सूक्त का ऋषि "भरद्वाज शिरिम्बिठ" है अतः इण्डेक्स वालों को भ्रम हुआ। निरुक्त ६।३० में इस मंत्र की यास्क ने व्याख्या की है और वहाँ पर "शिरिम्बिठ" का अर्थ मेघ दिखलायाहै। ऋग्वेद १०।१५५।१ मंत्र दुर्भिक्ष का वर्णन करता है। यास्क ने नित्येतिहास से भी इस भाव को समझाने के लिए संकेत किया है। भरद्वाज का अर्थ ऐतरेयारण्यक २ के अनुसार प्राण है। यह वायु का रूप है। भरद्वाज याज्ञिक अर्थ को भी देता है। वायु अर्थ को देने वाला होने से भरद्वाज मेघ का पिता है। इसीलिए शिरिम्बिठ को यास्क ने भारद्वाज कहा है। याज्ञिक भी यज्ञ द्वारा मेघ को पैदा करता है अतः वह मेघ का जनक है। इस कारण से भी शिरिम्बिठ भारद्वाज अर्थात् याज्ञिक का पुत्र है। दुर्भिक्ष का नाश दो प्रकार से होता है। प्रथम प्रकार तो यह है कि मेघ के जल से दुर्भिक्ष नष्ट होता है और दूसरा यह है कि याज्ञि अपनी बुद्धि और कर्म आदि के द्वारा उसका विनाश करता है। यास्क ने इस भाव को व्यक्त करने के लिए नित्येतिहास को भी दिखला दिया है। वह निरुक्त ६।३० पर लिखता है—अपि वा शिरिम्बिठो भारद्वाजः। कालकर्णो-पेतोऽलक्ष्मीर्निर्णाशयाञ्चकार। तस्य सत्वैः कर्मभिरिति स्यात्तैष्टवा चातयामः। चातयतिर्नाशने—अर्थात्शिरिम्बिठ भरद्वाज का पुत्र है। उसने कालकर्णा = दुर्भिक्ष अथवा अलक्ष्मी से युक्त होने पर दुर्भिक्षि अथवा अलक्ष्मी को अपने कर्मों से नष्ट कर दिया। चातयति का अर्थ नाश करना है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यास्क ने कितने सुन्दर ढङ्ग से याज्ञिक अर्थ को खोल दिया है। याज्ञिक अपने कर्म एवं उपायों से दुर्भिक्ष को नष्ट कर देता है। यहाँ पर समझना चाहिए कि कालकर्ण दुर्भिक्ष और अलक्ष्मी का नाम है। यह मन्त्र अलक्ष्मीनाशन का वर्णन करता है। अतः यह सुन्दर नित्याख्यान दिखलाया गया। "शिरिम्बिठ" का अर्थ मेघ है।

मन्त्रार्थसंगति इस आधार पर लगती है।

शिव—

यह व्यक्तिवाचक नहीं है। ऋग्वेद ७।१८।७ में यह प्रयुक्त है और वहाँ पर यज्ञ के द्वारा लोगों का कल्याण करने वाले याज्ञिक अर्थ को देता है।

शुचा और शुच—

यह किसी व्यक्ति एवं स्त्री का नाम नहीं। शुचा के अर्थ दीप्ति और शुच के अर्थ शुक्र=तेज हैं। अथवा शुचा का अर्थ मादा पशु और शुच का अर्थ नर पशु है। ऋग्वेद १०।२६।६ में इन पदों का प्रयोग है। इस मन्त्र का देवता पूषा है। पूषा का अर्थ पोषक किरणों से युक्त सूर्य और पोषक प्राणों से युक्त वायु है। कौषीतकी ५।२ और गोपथ उत्तरार्ध १।२० में (असौ वै पूषा योऽसौ [सूर्यः] तपति) सूर्य पूषा है। शतपथ ३।१।४।९ में पूषा को पशुवों का पालक और स्वामी कहा गया है। (पूषा वै पशूनामीष्टे)। शतपथ १४।२।१।१९ में वायु को (अयं वै पूषा योऽयं [वातः] पवते) पूषा कहा गया है। वस्तुतः सूर्य के प्रकाश का पोषक भाग और वायु का पोषक भाग पूषा है। निरुक्त १२।१८ पर यास्क लिखते हैं कि जो रश्मि से पुष्ट करता है वह (अथ यद्रश्मिपोषं पुष्यति तत्पूषा भवति) पूषा है। पूषा समस्त देवों के पथ=मार्ग का रक्षक है। अतः वह वायु है। निरुक्त ५।२८ पर वायु को यास्क ने पूषा कहा है। इस प्रकार ऋग्वेद १०।२६।६ में पूषा को स्त्री पशु और पुरुष पशु तथा श्लेष से दीप्ति और तेज का पालक एवं स्वामी कहा गया है। मेष का वस्त्रनिर्माता=वालों को पैदा करने वाला कहा गया है साथ ही वह इन पशुवों के वासः=रक्त को शुद्ध करता है। मन्त्र में वासः पद रक्त के लिये प्रयुक्त है। अथर्व वेद १।१७।१ में "हिरा लोहित वाससः=पद" आया है जिसका अर्थ "लालरक्तों से युक्त हिरा=नाडियें" है। इसी प्रमाण से यहाँ पर "वासः" पद का अर्थ रक्त है। परन्तु जब दीप्ति और तेज तथा पृथिवी आदि अर्थों में मन्त्र घटेगा तब इस वासः पद का अर्थ "जाल" होगा।

शुतुद्री—

इसकी व्याख्या प्रथम प्रकरण में नदी के इतिहास के निराकरण के समय कर दी गयी है। इसका अर्थ शीघ्र बढ़ने वाली अथवा शीघ्र किसी से बिद्ध होकर बहने वाली नदी है। यह पद ऋग्वेद ३।३३।१ और १०।७५।५ में आया है।

अर्थसंगति इस आधार पर लग जाती है।

शुनहोत्र—

इण्डेक्स बहुवचन में इसका प्रयोग देखकर एक ऋषि का परिवार समझती है। परन्तु यह ठीक नहीं। शुनहोत्र कोई व्यक्तिविशेष अथवा परिवारविशेष नहीं है। "शुनम्" पद निघण्टु ३।६ में सुख का वाचक है। "होत्रा" पद निघण्टु १।११ और ३।१७ में क्रमशः वाणी और यज्ञ का

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वाचक है। अतः शुनेन सुखेन होत्रा यज्ञो, सुखेन युक्ता होत्रा वाक् वा येषां ते शुनहोत्रा ! अर्थात् सुख से सम्पन्न होता है यज्ञ जिनका अथवा सुखकारी वाणी है जिनकी वे शुनहोत्र हैं। इस प्रकार सुखमयीवाणी वाला अथवा याज्ञिक विद्वान् वा मनुष्य शुनहोत्र है। यहे पद ऋग्वेद २।१८।६; २।४१।१४, १७ में प्रयुक्त है। २।१८।१७ में सायण ने इसका अर्थ यज्ञ का पात्रविशेष माना है। परन्तु अन्य स्थलों में ग़लती कर गया है।

शौचद्रथ—

इण्डेक्स ने इसे शुचद्रथ का वंशज और सुनीथ का पैतृक नाम माना है। परन्तु यह कल्पना निराधार है। सायण के अनुकरण से यह खड़ी हुई है। वस्तुतः "सुनीथ" पद निघण्टु ३।८ में प्रशस्य नाम में पठित है। शुचद्रथ का अर्थ प्रकाशमानरथ है। इस प्रकार प्रकाशमान रथ वाला प्रशस्त राजा अथवा मनुष्य शौचद्रथ है। दूसरा अर्थ यह भी हो सकेगा कि शुचद् = प्रकाशमान रथ = आदित्य है जिसमें ऐसे आकाश का नाम शुचद्रथ है। वही शौचद्रथ है। ऋग्वेद ५।७९।२ में यह प्रयुक्त है और वहां पर अर्थसंगति इस अर्थ से ठीक तौर पर घट जाती है।

श्याव—

यह व्यक्तिविशेष नहीं है। सक्रिय एवं गतिशील और समझदार मनुष्य "श्याव" है। यह ऋग्वेद ८।१९।३७; ५।६१।९ में आया है। यह अर्थ वहां पर संगत है। श्यैङ् गत्यर्थक से यह बना है।

श्यावक—

इसका भी अर्थ प्रगतिशील है। यह पद भी श्यैङ् गत्यर्थक धातु से बना है। रुम, रुशम आदि की व्याख्या को भी देखना चाहिए। यह पद ऋग्वेद ८।३।१२ और ८।४।२ में आया हैं।

अर्थसंगति इस अर्थ के साथ लग जाती हैं।

श्यावाश्व—

श्यावाश्व भी कोई व्यक्ति विशेष नहीं है। इसका अर्थ है गतिशील अश्वों वाला अथवा सक्रिय इन्द्रियों वाला। ऋग्वेद ५।५२।१, ५।६१।५; ५।८१।५; ८।३५।१९, ८।३६।७; ८।३७।७; ८।३८।८ में प्रयुक्त है।

और इस अर्थ के साथ संगति लग जाती है।

श्रुतकक्ष—

श्रुत = ज्ञान में कक्ष्या = बन्धन है जिसका वह श्रुत कक्ष है। अथवा ज्ञान से बन्धन वाला अर्थात् ज्ञानी। अथवा श्रुत = ज्ञानकी कक्ष्या है जिसमें वह श्रुतकक्ष है।

ऋग्वेद ८।९२।२५ में ये अर्थसंगत होंगे।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

श्रुतर्वन्—

इण्डेक्स इसे ऋक्ष का वंशज अथवा पुत्र और एक राजा का नाम बतलाती है। परन्तु यह कल्पना निराधार ही है। आर्क्ष के विषय में "ऋक्ष" प्रकरण में पर्याप्त लिखा जा चुका है। श्रुतर्वा का अर्थ है शिक्षित घोड़ों वाला। अर्वा पद का अर्थ तैत्तिरीय १।३।६।४? के अनुसार (अग्निर्वा अर्वा) अग्नि है। तथा शतपथ ३।३।४।७ में (पुमान्सोऽर्वन्तः) पुमान् को अर्वा कहा गया है। इस प्रकार "श्रुतोऽग्निर्येन स श्रुतर्वा अथवा श्रुतोऽर्वा श्रुतर्वा—अर्थात् जिसने अग्नि को सुना जाना है वह श्रुतर्वा है अथवा श्रुत = पढ़ा लिखा पुमान् = पुरुष श्रुतर्वा है। यह पद ऋग्वेद ८।७४।४ और १०।४९।६ में आया है।

मंत्रार्थसंगति इस आधार पर लग सकेगी।

सत्यश्रवस्—

इण्डेक्स इसे वय्य के वंश का मानती है जब कि लुडविग इसे शौचद्रथ का पुत्र मानते हैं। लुडविग का विचार (Translation of Rigveda 3. 156) उनके ऋग्वेद भाष्य में मिलता है। परन्तु यह ऐसा है नहीं। वाय्य की व्याख्या पूर्व की जा चुकी है। "श्रवस्" पद निघण्टु २।७ और २।१० में क्रमशः अन्न और धन नाम में पढ़ा गया है। श्रवः का अर्थ यज्ञ और ज्ञान भी होता है। अतः सत्यमेव श्रवो यस्य स सत्यश्रवाः सत्यधनः सत्ययशाः इति। अर्थात् सत्य ही जिसका धन अथवा यश है वह सत्यश्रवस् है। सत्यज्ञान वाला भी सत्यश्रवस् है। सत्य के लिए ही जिसका अन्न और धन है वह भी सत्यश्रवस् है। यह पद ऋग्वेद ५।१९।१ में प्रयुक्त है और वहाँ पर इसका यह अर्थ संगत हैं। सत्यं शृणोतीति सत्यश्रवाः = सत्य—श्रोता—

अर्थ भी किया जा सकता है।

सदापृण—

यह भी व्यक्तिविशेष नहीं। सदा दानशील (सदा सर्वदा पृणाति इति सदापृणः) ही सदापृण है। सायण ने भी यही अर्थ किया परन्तु बाद में भटक गया है।

ऋग्वेद ५।४४।१२ में मंत्रार्थसंगति इस प्रकार लग जाती है।

सध्रि—

का अर्थ सहध्रिः सहधारणः है। साथ धारण करने वाला सध्रि है। यह सहयोगी, सहकारी, साथ मिलकर काम करने वाले के लिए प्रयुक्त हो सकता है। ऋग्वेद ५।४४।१० में यह पद प्रयुक्त है। यज्ञकर्त्ता भी सध्रि हो सकता है।

सप्तगु—

यह कोई व्यक्तिविशेष नहीं। सप्त छन्दांसि गच्छति जानाति इति सप्तगुः—अर्थात् सात छन्दोमयी वाणियों को जानने वाला "सप्तगु" है। अथवा सप्त गावो वाचः यस्य स सप्तगुः—अर्थात् सात प्रकार की वाणियों वाला सप्तगु है। सात वाणियाँ गायत्री आदि सप्त छन्द हैं। अतः मंत्रज्ञ सप्तगु है। ऋग्वेद १०।४७।६ में इस पद का प्रयोग है और इस दिये अर्थ से संगति ठीक ठीक

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

बैठ जाती है। इस मंत्र में सप्तगु के "ऋतधीति" "सुमेधा," और "बृहस्पति" विशेषण पड़े हैं। दैवतप्रक्रिया में बृहस्पति विषय में अर्थ किया जा सकता है। क्योंकि मंत्र में आंगिरस पद भी पड़ा है।

सप्तसिन्धवः—

इण्डेक्स के अनुसार यह ऋग्वेद में (८।२४।२७) केवल एक बार एक निश्चित देश के नाम के रूप में प्रयुक्त है। इसका अर्थ सात नदियाँ हैं। परन्तु दूसरे स्थानों में यह सप्त नदियों का वाचक है। मैक्समूलर (Chips I-63 Cf Muir Sanskrit text 190) का विचार है कि सिन्धु और सरस्वती को लेकर पंजाब की पाँच नदियाँ ही "सप्तसिन्धवः" से अभिप्रेत हैं। लुडविग का कथन है कि इस वर्णन में सरस्वती के स्थान में कुभा को जोड़ देना चाहिए। अथवा शायद आक्शस (Thomos Journal of the Royal Assiatic Society 1883, 37 इन सातों में अवश्य एक होगी। जिमर का यहाँ पर Atlindisches Leben 21 of Hopkins Journal of the American Qriemtal Society 16, 278, India old and new 33) किसी परिचित नदी नाम पर जोर देना उचित ही है। क्योंकि सात संख्या ऋग्वेद और बाद के समय में एक प्रिय संख्या है।

यह सारा वर्णन इण्डेक्स का है। परन्तु मंत्रों की अन्तःसाक्षियों की परीक्षा करने पर ये सामान्य नदियाँ ही बनती हैं। इनसे किसी स्थान विशेष अथवा किन्हीं नदीविशेष का अर्थ नहीं निकलता है। ऋग्वेद ८।२४।२७ मंत्र को ही लीजिए। यहाँ पर भी यह किसी देश का संकेत नहीं करता। यहाँ पर भी "सप्त सिन्धुषु" का अर्थ सात नदियों में है। यहाँ नदी के कूल के अतिरिक्त कोई देश अभिप्रेत नहीं। निघण्टु १।१३ में "सिन्धवः"पद का नदी के अर्थ में पाठ है। सायण ने भी विकल्प में "सप्तसिन्धुषु" का अर्थ "सर्पणशीलासु सिन्धुषु। तत्कूलेषु इत्यर्थः" किया है। फिर इण्डेक्स का यह कथन कितना ग़लत है कि यह एक देश का नाम है। अन्य स्थलों में तो इण्डेक्स भी इसका अर्थ सात नदियाँ ही मानती है। इससे पंजाब प्रदेश का ग्रहण भी थोथी कल्पना है। ऋग्वेद १।३४।८ में "सप्तसिन्धवः" पाठ न होकर "सप्तमातृभिः सिन्धुभिः पाठ है। "मातरः" पद भी निघण्टु १।१३ में नदी नाम में पठित है। अतः सप्तमातरः कोसिन्धवः का विशेषण बनाने पर सात निर्मात्री नदियाँ अर्थ होगा। "सिन्धवः" को विशेषण बनाने पर "स्पन्दनशील सात नदियाँ" अर्थ निकलेगा। यहाँ पर पृथिवीस्थ नदियों का ही वर्णन नहीं है। इस मंत्र में दैवत-दृष्टि का भी वर्णन है। ऋग्वेद १।७१।७ में सप्त सिन्धु पद नहीं है वहाँ पर सप्त यही पद है। यह सूचित करता है कि सप्त सिन्धु पद नदी सामान्य का वाचक है। ऋग्वेद १।१०२।२ में "सप्तनद्यः" पाठ है। यह कितना स्पष्ट है। यह स्वयं सूचित करता है कि "सप्त सिन्धवः" का अर्थ "सप्तनद्यः" है। ऋग्वेद १।३२।१२; १।३५।८ ४।२८।१; और ८।९६।१ में सप्तसिन्धु पद आया है और यहाँ पर नदी-सामान्य अथवा अन्तरिक्षस्थ जल-धारावों का वाचक है। प्रथम प्रकरण में नदी-सम्बन्धी इतिहास के निराकरण स्थल को भी देखना चाहिए।

अथर्व ४।६।२ में भी ऐसा ही अर्थसंगत है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सप्तमानुषः—

इससे भी किन्हीं व्यक्तिविशेषों का ग्रहण नहीं हैं। इसका अर्थ सात ऋत्विज् एवं सप्त-होता है। ऋग्वेद ८।३६।८ में "सप्तमानुषः" पद अग्नि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। इसी मंत्र में "मन्धातुः" "मन्धाता" पद का षष्ठी विभक्ति में प्रयोग है। इसे ही "मान्धाता" भी कहा जाता है। यह निघण्टु ३।१५ में मेधावी नाम में पठित है। अतः मांन्धाता का अर्थ मेधावी है।

सरयु —

सरयु का अर्थ सरणशील अथवा "सरोयुः" बहुत जल वाली नदी है। ऋग्वेद ४।३०।१८ में यह अर्थ संगत है।

सरस्वती—

नदीसामान्य और वाणी का नाम है। इसकी व्याख्या प्रथम प्रकरण में नदियों के इतिहास के निराकरण में देखें।

सहदेव—

देवैः सह वर्तते इति सहदेवः—अर्थात् देवपूजा करने वाला = याज्ञिक। इसकी व्याख्या पूर्व अम्बरीष के प्रकरण में की गयी है।

साम्वरणि—

मनु पद मेधावी और मननशील के अर्थ में प्रयुक्त है। संवरण का अर्थ सम्यक् वरण अर्थात् वरणीय तेज वाला है। जिसको चुनने की इच्छा हर एक व्यक्ति करें ऐसे तेज वाला संवरण है। संवरण का पुत्र सांवरणि = अर्थात् अत्यन्त वरणीय है। अत्यन्त श्रेष्ठ। ऋग्वेद ८।५१।१ में यह पद मनु के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है।

साप्य—

इसकी व्याख्या "नमी" की व्याख्या के अवसर पर की जा चुकी है।

साञ्जय—

सृञ्जय का अर्थ स्तोता अथवा यज्ञ आदि कर्मों का कर्त्ता है। उद्यमी और शत्रुवों को ललकारने वाला भी सृञ्जय है। उसका पुत्र सार्ञ्जय है। अर्थात् अत्यन्त स्तोता वा अत्यन्त बहादुर मनुष्य। ऋग्वेद ६।४७।६ में यह पद आया है।

सिन्धु—

इसको वर्तमान सिन्धु नदी (Indus) कई लोग समझते हैं परन्तु वेद में इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है। वेद में नदीसामान्य का नाम सिन्धु है। प्रथम प्रकरण में नदी के इतिहास के निराकरण में इसका वर्णन किया गया है। सिन्धुः = स्यन्दनशीला नदी - अर्थात् अधिक बहाव वाली नदी सिन्धु है। जल की धारा को भी सिन्धु कहा जाता है। अन्तरिक्षस्थ जलप्रवाह को भी सिन्धु कहा जाता है। जल के निर्माता तत्व वरुण को भी सिन्धु कहा जाता है। जलों में बहाव का जो वेग है जिससे जल को बहने में गति मिलती है वह भी सिन्धु है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ऋग्वेद १।१२२।६ में "सिन्धुरद्भिः" पाठ है यहाँ पर सिन्धु का अर्थ वरुण है जो जल का प्रेरक है। ऋग्वेद १।१२६।१ में "सिन्धौ" का अर्थ "स्यन्दशील नदी पर" है। ऋग्वेद २।११।६ में "सिन्धु" का अर्थ अन्तरिक्षस्थ अथवा मेघस्थ जल है। क्योंकि वहाँ पर वृत्र को सिन्धु में शयन करता हुआ वर्णित किया गया है। ऋग्वेद ४।५५।६ में सिन्धु का अर्थ जलप्रेरक वरुण है। ऋग्वेद ४।५५।३ में भी "सिन्धु" जल की प्रेरक शक्ति अथवा वरुण के लिए प्रयुक्त है। ऋग्वेद ७।६५।१ में सिन्धु का अर्थ स्यन्दनशील है और वह सरस्वती का विशेषण है। ऋग्वेद १।१२५।५ में "सिन्धवः" पद आपः के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। यहाँ पर "स्यन्दनशीला आपः" यह अर्थ है। ऋग्वेद १।६७.८ में सिन्धु का अर्थ स्यन्दनशील नदी है। ऋग्वेद २।२५।३ में नदी अर्थ है। ऋग्वेद २।२५।५ में "सिन्धवः" का अर्थ स्यन्दनशील नदियां है। ऋग्वेद ३।५३।६ में सिन्धु का अर्थ "रोधस् = प्रवाह अथवा वेग है। ऋग्वेद ५।५३.७ में सिन्धवः का अर्थ अन्तरिक्षस्थ जलधारा है।

ऋग्वेद ८।१२।३ में सिन्धु का अर्थ समुद्र और नदी दोनों ही घट सकता हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद ३।१३।१; ४।२४।२; १०।४।१५; १३।३।५०; १२।१।३; १४।१।४२ आदि स्थलों में भी सिन्धु का अर्थ समझना चाहिए।

विशेष बात तो यह है कि ऋग्वेद १०।७५।७ में सिन्धु को "अपसामपस्तमा" कहा गया है। ऋग्वेद १०।७५।१ में सिन्धु को सबसे ओज वाली धारा बतलाया गया है। ऋग् १०।७५।२ में वरुण के द्वारा द्युलोक में सिन्धु के मार्ग का बनाया जाना लिखा है। और भूमि पर पर्वतों को भेदन कर बहने वाली भी बतलाया गया है। सिन्धु की आवाज को ऋग्वेद १०।७५।३ में अन्तरिक्ष से गिरने वाली वृष्टि के समान और वृषभ की आवाज के समान बतलाया गया है। ऋग्वेद १०।७५।४,६,७ में भी सिन्धु पद आये है परन्तु सर्वत्र नदी के अर्थ में हैं, किसी विशेष नदी वर्तमान सिन्धु के अर्थ में नहीं। ऋग्वेद ८।४१।२ में "सिन्धूनाम्" पद आया है। इसका अर्थ यास्क ने निरुक्त १०.५ पर स्यन्दमानानामासामपाम्—अर्थात् बहनशील जलों के—किया है। सिन्धवः की व्याख्या करते हुये जैमिनीय उपनिषद् १।२६.६ में (तद्यदेतैरिदं सर्वं सितं तस्मात्सिन्धवः) कहा गया है कि इन सबसे यह समस्त आकाश सित = भास्वर रहता है अतः इन को सिन्धु कहा जाता है। अतः भास्वर वर्ण जो अन्तरिक्ष में है वह भी सिन्धु है। ऋग्वेद १०।७५।६ में सिन्धु को आश्विन रथ का जोड़ने वाला कहा गया है। उससे वाज = अन्न का प्रदान करना भी लिखा है। यहाँ पर यह "भास्वर वर्ण" ही उपयुक्त अर्थ जान पड़ता है।

सीलमावती—

इण्डेक्स ने इसे नाम नहीं माना है। परन्तु लुडविग ने (Translation of the Rigveda 3, 200) लिखा हैं कि यह नदी का नाम है। परन्तु यह निराधार है। ऋग्वेद १०।७५।८ में यह पद आया है। यहाँ पर यह सिन्धु का विशेषण है। इसे नदीविशेष का नाम कहना अनभिज्ञता का द्योतन करना है। सायण ने भी इसका नदीविशेष अर्थ नहीं किया है। वह कहता है—सीराणि ययौषध्या रज्जुभूतया बध्यन्ते सा सीलमेति निगद्यते कृषीवलैः—अर्थात् हल जिस रज्जुमयी ओषधि

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

से बाँधे जाते हैं उसे किसान लोग "सीलमा" कहते हैं। इस ओषधि से युक्त "सीलमावती" है। वस्तुतः सीर और सील एक हैं। र और ल का भेद नहीं माना जाता है। ऋग्वेद के इस मन्त्र में दो प्रकार से "सीलमावती" पद का विग्रह किया जा सकता है। पहला यह कि सीलमा से युक्त सीलमावती है। दूसरा पदविग्रह का प्रकार यह है कि सीलम्ऽआवती—सीलमावती सन्धिवशात् बन गया है और इस अवस्था में सीलम् और आवती दोनों पद पृथक् पृथक् हैं।

शतपथ ब्राह्मण ७।२।२।२ में (सेरꣳहैतद्यत्सीरमिरामिरामेवास्मिन्नेतद्दधाति) लिखा है कि सा = इरा के सहित होने से यह "सेरम्" है। इसीलिए यह सीरम् है। चूंकि यह पृथिवी अथवा अन्न को इसमें धारण करता है अतः सीर है। अतः हल अथवा हल से जोती जाने वाली भूमि जिसमें अन्न होता है वह सीर है। सीर का अर्थ खेती भी हो सकता है। इन्द्र को सीरपति कहा जाता है। इरा = अन्न वाली होने से खेती सीर है। निरुक्त ६।४० में सीर आदित्य को कहा गया है। निघण्टु १।१३ में सीरा नदी नाम में पठित है। इसका अर्थ है प्रभूत जल से युक्त। इस प्रकार—सीरम् सीराः वा मिनोति सीरमा रलयोर्भेदाभावात् सीलमा तद्वती सीलमावती—अर्थात् सीर = खेती हल, अथवा जल धारावों की माप करने वाली सीमा का नाम सीलमा है और तद्वती होने से वह सीलमावती है। अथवा सीर नाम आदित्य का है। उससे मित होने के कारण सीरमा अथवा सीलमा नाम फस्ल का है। उस वाली होने से सीलमावती है। दूसरे विग्रह में इन सभी पदों को द्वितीयान्त करके आवती को जोड़ने से सीधा ही अर्थ निकल आवेगा। इस प्रकार यह सिद्ध है कि सीलमावती किसी नदीविशेष का नाम नहीं है।

सुदास्—

इसके विषय में इण्डेक्स ने पर्याप्त कल्पनायें सायण के आधार को लेकर की है। इसे एक राजा का नाम माना है। इसके वंश का भी वर्णन बतलाया है। परन्तु महाभारत आदि की कहानियों को मानकर इसे एक ऐतिहासिक व्यक्ति वेद में वर्णित मानना ठीक नहीं। वेद में किसी व्यक्तिविशेष सुदास् का वर्णन नहीं है। इस विषय में दूसरे प्रकरण में सुदास् पैजवन का व्याख्यान कर दिया गया है। सुदास् का अर्थ उत्तमदानी है। वस्तुतः उत्तमदाता ही सुदास् है। निरुक्तकार यास्क ने निरुक्त २।२४ पर "सुदास्" का अर्थ कल्याणदान (सुदा: कल्याणदानः) किया हैं। इस अर्थ से सुदास् पद वाले सभी मंत्रों की अर्थसंगति सरलता से लग जाती है। ऋग्वेद १।४७।६; १।६३।७; १।११२।१६; ३।५३।६; ३।५३।११; १।११२।१९; ७।१८।२५; ७।२५।३; ७।३३।३; ७।८३।१ स्थलों पर सुदास् पद आया है और सर्वत्र कल्याणदान मनुष्य अथवा राजा अर्थ घटेगा।

ऋग्वेद ७।२०।२ पर सायण जैसे ने भी "सुदासे" का अर्थ विकल्प पक्ष में "कल्याणदानाय यजमानाय" किया है। ऋग्वेद ७।३२।१० पर "सुदासः" का अर्थ सायण ने "शोभनदानस्य यजमानस्य" किया है। ऋग्वेद ७।६४।३ पर "सुदासे" का अर्थ सायण ने "शोभनदानाय जनाय" किया है। जब सायण को भी यह बात सूझ रही है तो फिर सुदास् को व्यक्तिविशेष मानना ठीक नहीं। सायण को अन्य स्थलों पर भी ऐसा ही अर्थ करना चाहिए था। परन्तु उसको पूर्वापर का कोई क्रम नहीं याद रहा और अपने भाष्य में गप्पें मार गया।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सुमित्र वाध्यूश्व—

इण्डेक्स के अनुसार यह वध्यूश्व का पुत्र है और एक ऋषि है। इसके परिवार का भी वर्णन मिलता है।

यहाँ पर यह जानना चाहिए कि सुमित्र और वध्यूश्व दोनों ही कोई व्यक्तिविशेष नहीं हैं। ऋग्वेद १०।६६।१,७,८ मंत्रों में "सुमित्र" पद का बहुवचन प्रयोग है। इससे परिवार की कल्पना करना व्यर्थ है। यह बहुवचन प्रयोग ही सिद्ध करता है कि सुमित्र कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। ऋग्वेद १०।६६।१,२,४,१०,११ और १२ मंत्रों से वध्यूश्व पद पड़ा है। ऋग्वेद १०।६६।५,६, १२ मन्त्रों में भी "वध्यूश्व" पद का प्रयोग है। वध्यूश्व का अर्थ यहाँ पर पहले किया जाता है। वध्रिः बुद्धः अश्वः अग्निरादित्यो यजमानों वा वध्यूश्वः। अर्थात् किरणों, एवं ज्वालावों से बद्ध अथवा नियम में बद्ध अग्नि अथवा आदित्य अथवा यजमान वध्यूश्व है। शतपथ ६।३।३।२२ में (अग्निरेष यदश्वः) अग्नि को अश्व कहा गया है। तैत्तिरीय ३६।२३।२ में (असौ वा आदित्योऽश्वः) आदित्य को अश्व कहा गया है। तैत्तिरीय ३।६।४, ..५ में (यजमानो वा अश्वः) यजमान अश्व है। इस प्रकार आदित्य अग्नि और यजमान वध्यूश्व होते... व पद का अर्थ किरण, ज्वाला और इन्द्रियाँ भी होता है। अतः इस आधार पर—वध्यूः वद्धाः नियमिता... श्वाः—किरणा ज्वालाः, इन्द्रियाणि, वा यस्य स वध्यूश्वः—अर्थात् नियन्त्रित किरण अथवा ज्वाला अ... इन्द्रियाँ हैं जिसकी ऐसा सूर्य, अथवा अग्नि अथवा मनुष्य वध्यूश्व है। ऋग्वेद १०।६६ सूक्त के मंत्रों पर विचार करने पर भी ऐसा ही प्रमाणित होता है। इस सूक्त के प्रथम मंत्र में "वध्यूश्वस्य" अग्नेः पाठ है। इससे वध्यूश्व अग्नि का विशेषण हैं। अतः "नियंत्रित ज्वालावों वाला अग्नि" इसका अर्थ होगा। दूसरे मंत्र में भी "वध्यूश्वस्य अग्नेः" पाठ है। यहाँ पर स्पष्ट अग्नि को ही वध्यूश्व कहा गया है। इसके अतिरिक्त ५ वें, ६ वें, १२वें मंत्र में अग्नि को वाध्यूश्व कहा गया है। वध्यूश्व को सूर्य मानने पर उसका पुत्र पृथिवीस्थ अग्नि वाध्यूश्व होगा। बध्यूश्व को यजमान मानने पर तत्सम्बन्धी अग्नि वाध्यूश्व होगा। अतः मंत्रों में अग्नि को वाध्यूश्व और वध्यूश्व दोनों ही कह दिया गया है।

साथ ही ४ थे मंत्र में "वाध्यूश्वः समीधे" पाठ है। १० वें मंत्र में "वध्यूश्वः सपर्यन्" पाठ आया है। ११ वें मंत्र में "वध्यूश्वस्य शत्रून्" पाठ है। १२ वें मंत्र में "अयमग्निर्वध्यूश्वस्य वृत्रहा" पाठ है। ये पाठ यह व्यक्त करते हैं कि वध्यूश्व और वाध्यूश्व अग्नि और सूर्य से पृथक् अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं। वह अर्थ है यजमान और यजमान का पुत्र। वध्यूश्वस्य पुत्रो वाध्यूश्वोऽत्यन्तयजनशील इत्यर्थः।

मंत्रों में सुमित्र वध्यूश्व का पिता है—यह स्पष्ट व्यक्त नहीं होता। परन्तु यदि ऐसा भी माना जावे तो यजमान का पुत्र वाध्यूश्व याज्ञिक मनुष्य ही ठहरेगा। कोई व्यक्तिविशेष नहीं। सुमित्र का अर्थ है अच्छे मित्रों वाला। शोभनानि मित्राणि यस्य स सुमित्रः। ऋग्वेद १०।६६।१,३-५,७,८ मंत्रों में सुमित्र पद का प्रयोग एकवचन और बहुवचन में पाया जाता है। सर्वत्र इस अर्थ से अर्थसंगति बैठ जाती है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सुराधस्—

यह भी व्यक्ति नहीं। राधस् पद निघण्टु २।१० में धन नाम में पठित है। अतः उत्तम धन वाला मनुष्य सुराधस् है। ऋग्वेद १।१००।१७ में यह पद आया है और अर्थसंगति इस अर्थ से ठीक बैठ जाती है।

सुवास्तु—

इसकी व्याख्या दूसरे प्रकरण में कर दी गयी है। निरुक्त ४।१५ पर भी इसका संकेत है। उत्तम स्थान, अच्छी बसने की जगह का नाम सुवास्तु है।

सुश्रवाः—

इस पद का अर्थ उत्तम धन और अन्न वाला मनुष्य है। उत्तम ज्ञानी भी सुश्रवाः है। निघण्टु २।७ और २।१० में क्रमशः यह पद अन्न और धन नाम में पठित है। शोभना निश्रवांसि अन्नानि, धनानि वा यस्य स सुश्रवाः। ऋग्वेद १।५३।९ में यह पद आया है।

सुषोमा— की माप क

उत्तम अथवा ...ला नदी सुषोमा है। अथवा जिसके किनारे पर सोम पैदा हो अथवा जिसके जल में ...म ...बल हो वह सुषोमा है। दूसरी बात यह है कि यह सिन्धु का विशेषण है। ऋग्वेद १०।७५।५ में यह प्रयुक्त है। और वहां पर सिन्धु के लिए सामान्य प्रयोग है। यह कोई नदी-विशेष नहीं।

सुसर्तु—

यह भी नदी विशेष नहीं। यह ऋग्वेद १०।७५।६ में "रसया" का विशेषण है। रसा स्वयं नदीवाचक पद है। अतः सुसर्तु विशेषण है जिसका अर्थ है सुसरणशीला अथवा उत्तम बहाव वा धारा वाली।

सृञ्जय—

सृञ्जय का अर्थ यज्ञकर्ता है। सृज् धातु से यह वैदिक प्रयोग बना है। सृजति संगादयति विविधान् यज्ञानिति सृञ्जयः अर्थात् विविध यज्ञों का सर्जन करने वाला सृञ्जय है। ऋग्वेद ४।१५।४; ६।२७।७ में सृञ्जय पद आया है और ६।४७।२५ में सार्ञ्जय पद है। अर्थसंगति इस अर्थ से बैठ जाती है। शार्ञ्जय और दैववात पदों की व्याख्या भी देखनी चाहिए।

सोभरि—

इण्डेक्स का कथन है कि यह एक ऋषि का नाम है जो बहुधा ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है। इसके परिवार और पिता "सोभरी" का भी वर्णन मिलता है।

इण्डेक्स की यह निराधार बातें हैं। सोभरि कोई व्यक्तिविशेष नहीं। सोभरि का अर्थ है सुष्ठु भरण पोषण करने वाला। सुष्ठु भरतीति सोभरिः। इस का आधार ताण्डय ८।८।१९ को (ताः [प्रजाः] अब्रुवन् सुभृतन्नो अभार्षीरिति तस्मात् सौभरमभवत्) बनाया जा सकता है। यहाँ पर सौभर साम की व्याख्या के प्रसंग में कहा गया है कि "प्रजा ने कहा कि हमारे लिये सुभृत

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

को धारण किया है इसलिए सोभर है"। इस प्रमाण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सोभरि का अर्थ उत्तम भरण पोषण करने वाला" ठीक ही है। यह पद "सोभरिः", "सोभरयः" और "सोभरी" रूपों में ऋग्वेद में प्रयुक्त है। ऋग्वेद ८।५।२६; ८।१६।२; ८।२०।१६; ८।२२।२ मंत्रों में "सोभरि" पद का प्रयोग है। ऋग्वेद ८।१६।३२, ८।२०।८ में क्रमशः सोभरयः और "सोभरीणाम्" का बहुवचन में प्रयोग है। ऋग्वेद ८।२२।१५ में "सोभरी" और ८।१०३।१४ में "सोभर्याः" पाठ आया है। यह ऋग्वेद ८।१०३।१४ का "सोभर्याः" प्रयोग प्रकट करता है कि यह "सोभरी" प्रयोग स्त्रीलिंग में है। अन्यथा "सोभर्याः" बन नहीं सकता है। सायण ने इसका अर्थ "सोभरेः" किया है और "सोभरी'; का अर्थ सोभरिः किया है जो अनर्गल और अपनी मनःस्यूत कल्पना की सिद्धि का असफल प्रयत्नमात्र है। इण्डेक्सकर्त्तावों ने बहुवचन प्रयोग देखकर सोभरि के परिवार और सोभरी पद से पिता की कल्पना करली। क्योंकि वहाँ पर मंत्र में "हुवे पितेव सोभरी" पाठ पड़ा है। परन्तु बुद्धि लगाकर तो देखना चाहिए था कि "सोभरी" पद स्त्रीलिंग में प्रयुक्त है। वस्तुतः सोभरि का अर्थ उत्तम भरण पोषण करने वाला मनुष्य, [illegible] का अर्थ उत्तम भरण पोषण करने वाले मनुष्य हैं और "सोभरी" का अर्थ उत्तम भरण पो[illegible]ली स्त्री है। मंत्रार्थसंगति सर्वत्र इस प्रकार से लग जावेगी। अथर्व १८।३।१५ में भी सोभरि का अर्थसंगा[illegible] जावेगी।

स्वनय-भाव्य—

यह भी नाम नहीं है। इण्डेक्सकर्त्ता स्वनय को भव्य का पुत्र मानता है। भव्य भी कोई व्यक्तिविशेष नहीं। "भव्य" का अर्थ सुन्दर और उदार है। भव्य का पुत्र अथवा भव्य ही भाव्य है। इस का अर्थ अत्यन्त प्रशस्त एवं उदार है। स्वनय का अर्थ है अपने [illegible] (नीति) वाला। जो अपनी नीति और आचार का मार्ग स्वयं बनाता है [illegible] कर [illegible] ऋग्वेद १।१२६।१,३ मंत्रों की अर्थसंगति इस आधार पर लग जावेगी।

स्वर्णर—

इण्डेक्स के अनुसार "स्वर्णर" ऋग्वेद की दो ऋचावों (८।३।१२ और ८।१२।२) में याज्ञिक व्यक्ति का नाम है। गिल्डनर (Rigveda glossar 209) इसे ऋग्वेद के सभी स्थलों पर एक यज्ञ की जाने वाली पवित्र झील अथवा इसके चारों तरफ का सोम पैदा करने वाला प्रदेश मानता है।

परन्तु मंत्रों की अन्तःसाक्षियों से ये दोनों मत अन्यथा ही सिद्ध होते हैं। इस का अर्थ वस्तुतः न कोई याज्ञिक व्यक्ति ही और न कोई सरोवर अथवा प्रदेश ही है। ऋग्वेद ८।३।१२ को ही लीजिए। इस में "स्वर्णरम्" पद का अर्थ है "समस्त हवियों को ले जाने वाला"। अथवा स्वर्ग प्राप्त करने योग्य यजमान। सायण ने यहाँ पर—स्वर्णरं सर्वस्य हविषो नेतारं प्रापयितारम्, यद्वा स्वः स्वर्गं प्रति नेतव्यं यजमानम्—अर्थ किया है। ऋग्वेद ८।१२।२ में भी सब का नेता अथवा सूर्य अर्थ अभिप्रेत मालूम पड़ता है। सायण ने भी यहां पर "स्वर्णरम्" का अर्थ "सर्वस्य नेतारं सूर्यम्—किया है। ऋग्वेद ८।१६।१ में भी "स्वर्णरम्" का अर्थ सब का नेता और हवियों को प्राप्त कराने वाला है। सायण ने यहां पर—स्वर्णरं सर्वस्य नेतारम् सर्वैर्यजमानैः कर्मादौ

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नीतं वा। अथवा स्वर्गं प्रति हविषां नेतारम्—अर्थ किये हैं। ऋग्वेद ८।६५।२ में "स्वर्णरि" पद है। यहाँ पर भी पूर्व की भांति ही अर्थ है। सायण ने यहाँ पर "स्वर्णरि स्वर्गनयने वा भूलोकेऽन्यस्य यागदेशे—अर्थ किये हैं। ऋग्वेद ८।१०३।१४ में भी स्वर्णरि पद है। इस का अर्थ हविर्नेय कर्म है। सायण ने भी "स्वर्णरि" का अर्थ—अस्माकं यजनलक्षणे कर्मणे—किया है। ऋग्वेद ८।६।३९ में "स्वर्णरि" पद है जिसका अर्थ यज्ञ है। सायण ने यहाँ पर "सर्वैर्ऋत्विग्भिर्नेतव्ये यज्ञे" अर्थ किया है। ऋग्वेद ६।७०।६ में "स्वर्णरम्" का अर्थ सब के हित को प्राप्त कराने वाला अथवा सुख प्राप्त कराने वाला है। सायण ने यहाँ पर "सर्वमनुष्यहितम्" अर्थ किया है। ऋग्वेद १०।६५।१ में "स्वर्णरम्" पद आदित्य का वाचक है। सायण ने यहाँ पर "स्वर्णरं सर्वस्य स्वस्वकर्मणि नेतारमादित्यम्—अर्थ किया है। जब इतने स्थलों में कहीं पर भी स्वर्णर व्यक्तिविशेष नहीं और सायण जैसे ने भी व्यक्तिविशेष इसे नहीं माना तो फिर विदेशियों ने ऐसी व्यर्थ कल्पना क्यों करली समझ में नहीं आता। वस्तुतः उनकी अनभिज्ञता ही इस में मुख्य कारण है।

सुख "स्वः" पद नि[illegible] की माप में साधारण नाम अर्थात् सर्व के अर्थ में पठित है। पुनः १।१२ में [illegible] [illegible]पाठ[illegible] ने स्वः सुख और अन्तरिक्ष का भी वाचक है। अतः सब का नेता, [illegible] में [illegible]हवियों का प्राप्त कराने वाला; अन्तरिक्षस्थ सूर्य; जल को प्राप्त कराने वाला; तथा यजमान, यज्ञ, आदि प्रक्रियानुसार स्वर्णर के अर्थ हैं। ऊपर दिये गये सभी मन्त्रों में इस आधार को लेकर अर्थसंगति लगानी चाहिए।

हरियूपीया—

[illegible] यह भी नदी विशेष की व्याख्या के अवसर पर कर दी गयी है।

[illegible] है।

हिरण्यस्तूप—

इसकी व्याख्या द्वितीय प्रकरण में हिरण्यस्तूप के इतिहास के निराकरण के अवसर पर कर दी गयी है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

परिशिष्ट

इतनी दूर तक वैदिक इण्डेक्स में दिये गये पदों का वास्तविक अर्थ दिखलाकर तत्सम्बन्धी मन्त्रों की अर्थसंगति लगा दी गयी और दिखलाया गया कि ये व्यक्तिवाचक नाम नहीं हैं। अब थोड़े से शब्द परिशिष्ट के रूप में रखे जाते हैं। ये पद इन पूर्वोक्त प्रकरणों के प्रसंग में नहीं आ पाये हैं अतः इन्हें यहाँ पर रख दिया जा रहा है।

इद्राणी—

यह पद यद्यपि देवतावाचक है। दैवत पद कभी ऐतिहासिक [illegible] फिर भी इस पर अनेक कल्पनायें लोगों ने कर डाली हैं। ऋग्वेद १० वें मण्डल के ८६ [illegible] की ऋषि "इन्द्राणी" है। इस आधार पर इसे कई लोग अन्यथा कल्पित कर लेते हैं। इस सूक्त की टिप्पणी में ग्रिफिथ ने अनेक पाश्चात्य विद्वानों की सम्मतियां दिखलाकर इसे दुरूह बतलाया है। गिल्डनर महोदय ने (Vedische Studien) नाम [illegible] ग्रन्थ में इस पर पर्याप्त [illegible] दिखलाया है। उनका व्याख्यान भी विलक्षणता से भरा प[illegible] कर स [illegible]n Des Veda) में इस विषय पर पर्या[illegible] विवाद खड़ा [illegible] फिर भी वेदार्थ के समीप पहुँचने में कुछ सफल हुये हैं। इन्हों[illegible] नाम इन्द्राणी और सोम का नाम वृषाकपि माना है।

वस्तुतः इन्द्राणी पद निघण्टु ५।५ में पद नाम में पढ़ा गया है। पद नाम में यहां पर पढ़े जाने का तात्पर्य यह है कि "इन्द्राणी" दैवत है। यह कोई स्त्रीविशेष नहीं है। इन्द्राणी की दैवत प्रकरण में निरुक्त ११।३७ में यास्क ने व्याख्या की है। दैवत प्रकरण में जहां वेदमंत्रों के विषयभूत देवों का वर्णन पुलिंग में है वहां उनकी शक्ति को स्त्रीलिंग का रूप देकर देवपत्नियों का भी वर्णन है। सृष्टि में परमेश्वर, प्रकृति [illegible] का खेल चल रहा है। प्रकृति का नाम अदिति है। वह स्त्रीलिंग में वर्णित है। परमे[illegible]र पुलिंग में वर्णित है। इसी प्रकार देवगण पुलिंग में वर्णित हैं और उनकी विशेष शक्ति स्त्रीलिंग में उनकी पत्नी के रूप में वर्णित है। यह दैवतसृष्टि को समझाने का एक उत्तम तरीका है। यास्क ११।३७ पर कहता है कि (इन्द्राणी इन्द्रस्य पत्नी) इन्द्राणी इन्द्र की पत्नी है। यह इन्द्राणी मध्यस्थानीया है और इन्द्र की विभूति है। सृष्टिविद्यावित् नित्यैतिहासिक की दृष्टि से यह इन्द्र की पत्नी है।

यास्क ने यहां पर ऋग्वेद १०।८६।११ और १२ मंत्र को प्रतीक रूप में उपस्थित किया है और इन की व्याख्या भी कर दी है। इस एकादशम मंत्र में ही स्पष्ट लिखा है कि यह समस्त

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

स्त्रीलिंगामिधानी शक्तियें ओजस्विनी है। इसके समान कोई नहीं है, और इसका पति जरा से नहीं मरता है। इन्द्र सबसे उत्कृष्ट है। जब इन्द्र उत्कृष्टतर है तो निश्चय है कि उस की विभूति भी उत्कृष्टतर ही होगी। संसार में मनुष्य अमर तो है नहीं कि वह न मरे। अतः मंत्र ही स्पष्ट करता है कि यह किन्हीं व्यक्तिविशेषों का वर्णन नहीं है। यहां पर १२ वें मंत्र में "वृषाकपि" पद पड़ा है। इन्द्र का कहना है कि वह इस वृषाकपि के बिना रह नहीं सकता। यह वृषाकपि क्या है — इसका निर्देश तो मंत्र में ही मिल जाता है। मंत्र स्पष्ट कह रहा है कि उसकी अप्य हवि निरन्तर चलती है। इससे ज्ञात हुआ कि अप्य हवि वाला यह देव महेन्द्र ही वृषाकपि है। वृषाकपि और वृषाकपायी दोनों ही निघण्टु ५।६ में पद नाम में पठित हैं। इससे यह स्पष्ट है कि ये भी दैवत पद है। यास्क ने निरुक्त १२।२८ पर वृषाकपि की भी व्याख्या की है। वह लिखता है कि (यद्रश्मिभिरभिकम्पयन्नेति तद्वृषाकपिर्भवति। वृषाकम्पनस्तस्यैषा भवति) जब रश्मियों से यह प्राणियों को प्रकम्पित करता हुआ आता है तब यह आदित्य वृषाकपि कहा जाता है। यह वृषाकम्पन है। यास्क ने इसके प्रमाण में १[illegible] सुऊ[illegible]त्र दिया है। वृषाकपायी की व्याख्या यास्क ने निरुक्त १२।८ पर की है। वह क[illegible]र्मे [illegible]षाकपायी वृषाकपेः पत्न्येषैवाभिसृष्टकालतमा) वृषाकपि की पत्नी वृषाकपायी [illegible] वृषाकपि के पास जाती हुई उषा है। यास्क ने यहाँ भी प्रमाण रूप में ८।८६।१२ उत्त[illegible] हविर्ग[illegible]ो ही उपस्थित किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि इस सूक्त में इन्द्र, इन्द्रणी, वृषाकपि और वृषाकपायी व्यक्तिविशेष नहीं है। यास्क का इस प्रकार इसी सूक्त के मंत्रों को देकर व्याख्या करना भी यह प्रकट कर रहा है कि सूक्त दुरूह नहीं है।

इ[illegible]र्शनिक रहस्य [illegible] के लिए यास्क के एक और सन्दर्भ का अध्ययन करना चाहिए। [illegible] न[illegible] विशे[illegible] की व्याख्या के अ[illegible]व-पत्नियों की व्याख्या की है। (देवपत्न्यो देवानां पत्न्यस्तासामेषा भवति)। उसने [illegible] ऋग्वेद ५।४[illegible]।७ मंत्र को उपस्थित किया है। इस मंत्र में देवपत्नियों को पृथिवी में रहने वाली [illegible] पार्थिवा और उदकों के कर्म अर्थात् वर्षकर्म में प्रवृत्त कहा गया है। पुनः इसी अर्थ को पल्लवन करते हुये यास्क ने ५।४६।८ मंत्र को भी उद्धृत किया है। इस मंत्र में इन्द्राणी, अग्नायी, अश्विनी, रोदसी और वरुणानी का वर्णन है। यास्क ने इसकी व्याख्या करते हुये १२।४६ पर लिखा है कि "इन्द्राणी[1] इन्द्र की पत्नी, अग्नायी अग्नि की पत्नी है। अश्विनी अश्विनियों की पत्नी और रोदसी रुद्र की पत्नी है। वरुणानी वरुण की पत्नी है। मंत्र में यह भी कहा गया है कि इनका जो ऋतु[illegible]ल वा वेला है उस में दी गयी हवि को ये ग्रहण करें। इस प्रकार यास्क ने इस तथ्य को [illegible] कि देव और देवपत्नी दिव्य पदार्थ और उन की शक्तियें हैं। सूर्य की पत्नि सूर्या को कहा जाता हैं। वह उषा है।

इस प्रकार जब इन्द्र का अर्थ सूर्य होगा तब उसकी पत्नी उषा इन्द्राणी होगी। जब इन्द्र का अर्थ वैद्युत तेज होगा तब उसकी पत्नी विद्युत् की दीप्ति अथवा चमक एवं गड़गड़ाहट इन्द्राणी

१—इन्द्राणीन्द्रस्यपत्नी अग्नाय्यग्नेः पत्न्यश्विन्यश्विनोः पत्नी।.......
रोदसी रुद्रस्य पत्नी वरुणानी च वरुणस्य पत्नी।

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कहे जावेंगे। जब इन्द्र का अर्थ वायु होगा तब वायु की शक्ति और सनसनाहट इन्द्राणी कहे जावेंगे। जब इन्द्र का अर्थ आत्मा होगा तब बुद्धि इन्द्राणी होगी। सूर्य की रात्रि के बीतने से लेकर उदय होने और अस्त होकर रात्रि के आने तक अनेकों संज्ञायें हैं। उसी के अनुसार वृषाकपि आदि नाम सूर्य के हैं। उसे ही माहेन्द्र भी कहा जाता है। उसकी पत्नी अर्थात् उस अवस्था में होने वाली प्रभा वृषाकपायी है। एक दूसरे के अनन्तर होने से इन में जन्य-जनक व्यवहार आदि पाये जाते हैं। संगत होने से पति-पत्निव्यवहार पाये जाते हैं। इस आधार को न समझकर व्यर्थ की कल्पनायें लोगों ने कर डाली।

शतपथ[1] १४।५।१।८ में कहा गया है कि इन्द्राणी इन्द्र की पत्नी है और उसकी पगड़ी समस्तरूपों वाले तेजस्वी पदार्थ से भी चमकदार है। पुनः १०।५।२।६[2] में कहा गया है कि "दाहिनी आंख में जो पुरुष है वह इन्द्र है और बायीं आंख में जो पुरुष है वह इन्द्राणी है। गोपथ उत्तरार्ध ६।१२[3] में आदित्य को वृषाकपि कहा ग... इन्द्राणी एक औषधि का नाम भी है। यह लाल रंग का सुन्दरतम गोल फल होता है। प... बहुत कड़ुवा होता है।

अपाला—

इसके ऊपर सायण ने कुछ अन्य ग्रंथों के आधार को लेकर व्यर्थ की एक क... गढ़ ली है जो सर्वथा उपेक्षणीय है और है अत्यन्त त्याज्य। वेद से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अपाला का अर्थ है "शरीर दोषों के कारण संततिजननासमर्थ गृहस्थ स्त्री। न पालयति शरीरदोषात् संतानजननासमर्थत्वात् गृहस्थधर्मान् इति अपाला। य... भाविक है कि ... तिक्रिया अवरुद्ध हो जाती है, पति कुछ उससे विमुख रहता है ... कर स ग... यज्ञ आदि क्रियावों में तल्लीन रहती है ... से ... अपाला के वर्णन के साथ साथ "पतिद्विषः" और ... में रहने वाली स्त्रियां यति हैं। सन्तान न होने पर पति से जहाँ ... उन पर दिखलायी जाती है वहाँ वे स्वयं इसका अनुभव करते हुये नियमित जीवन के पालन और यज्ञ में अधिक रुचि लेती हैं। इस सूक्त में इस शरीर दोष के दूरीकरणार्थ यज्ञ और सोम प्रयोग का वर्णन है। यज्ञ इन्द्र देव के लिए होता है। इस यज्ञ को विशेष सामग्री का भी इस ८।९१ वें सूक्त के दूसरे मंत्र में वर्णन है। वहाँ पर धान से युक्त, सक्तुमयी, और पुरोडाशयुक्त सोमसामग्री का वर्णन है। इस यज्ञ के द्वारा इन्द्र की प्रार्थना की गयी ... न्द्र = परमेश्वर से अपाला = सन्ततिजननावरुद्ध गृहिणी स्त्री प्रार्थना करती है कि वह उसे ... दे। उसे ही "तीन विष्टप" पदों के प्रयोग से ५ वें मंत्र में व्यक्त किया गया है। "...पानि" पद का अर्थ सायण आदि स्थान करते हैं परन्तु यह गलत है। "विष्टप" निघण्टु ... में साधारण नाम में पठित है जिसका अर्थ साधारण वस्तु है। अर्थात् निःसंतति गृहस्थ स्त्री प्र...ना करती है कि प्रभु उसके तीन साधारण वस्तुवों की पूर्ति करे।

१—इन्द्राणी हवा इन्द्र...य प्रिया पत्नी तस्य। उष्णीषो विश्वरूपतमः ॥ १ ॥

२—स एष एवेन्द्रः। य...ऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषोऽथेयमिन्द्राणी योऽयं सव्येऽक्षन् पुरुष ॥ २॥

३—आदित्यो वै वृषाकपि... ॥ ३ ॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वे तीन वस्तुयें ५ ठें और ६ वें मन्त्र में वर्णित हैं। प्रथम वस्तु यह मांगती है कि तत = सन्तति का जो क्षेत्र अनुर्वर होगया है वह उर्वर हो। दूसरी वस्तु मांगती है कि सन्तान के शिर आदि इन्द्रिय सर्वथा ठीक और निर्दोष हों। तीसरी बात यह हो कि उदर = कुक्षि ठीक हो। यहाँ पर तत पद पड़ा है इसका अर्थ पिता और सन्तान दोनो होता है। यास्क ने ६।६ पर लिखा है कि तत सन्तान (तत इति सन्तान नाम पितुर्वा पुत्रस्य वा) का नाम है। वह पिता का और पुत्र का वाचक है। अतः यहाँ पर तत का अर्थ सन्तान है। रोमशा पद भी यहाँ पर पड़ा है। इसका अर्थ यहाँ पर उत्पत्तियुक्त अथवा निर्दोष है। ७वें मंत्र में ऐसी प्रार्थना का वर्णन है कि हे शतक्रतो! इन्द्र! आप रथ = रमणीय स्थूल शरीर, अनस् = सूक्ष्म शरीर और युग = कारणशरीर के ख = गोलकाकाश के विषय में तीन प्रकार से पवित्र कर, अपाला = सन्ततिहीना शरीरदोषयुक्ता गृहस्थ स्त्री को सूर्य के समान त्वचा वाला कर।

जुहू—

इस विषय में भी ... लोगों ने रच रखा है और वह व्यर्थ का है। "जुहू" पद का प्रयोग बहुधा यज्ञ की ... आता है। ऋग्वेद १०।२१।३ में जुहूभिः सिंचतीरिव पाठ आ... स्रुवा अर्थ में इसका प्रयोग है। "घृताच्यासि जुहूर्नाम्ना" यजुः २।६ में भी यही भाव व्य... गया है। परन्तु ऋग्वेद १०।१०९ सूक्त में एक यज्ञ सम्बन्धी विज्ञान का वर्णन है। उसमें नित्येतिहास भी गर्भ में दिया है। इस रहस्य को न जानकर लोगों ने व्यर्थ की मन गढन्त बातें बना डाली। वेदवाणी जिससे यज्ञ सम्पन्न होता है और जो समस्त भूतों और विज्ञानों की धारिका है उसे ... है। जुहूरिति ... नाम। ऐसा कहकर सायण ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है ... नदी विशेष की व्याख्या के आ जाने पर द्युलोक में थी। देवों ने उसे यज्ञ में प्रयुक्त करने योग्य रूप में ... व्यक्त नहीं हुई अवस्था में होने से बृहस्पति उसे छोड़ देता है। पुनः ... ऋग्वेद ५।४...७ ... बना कर बृहस्पति के पास लाते हैं और वह उसे स्वीकार करता है। फिर यह ... पार्थिवा ... में प्रयुक्त होकर इष् और ऊर्ज्व आदि का सम्पादन करती है। यह है नित्य आख्यान जिसको न समझ कर व्यर्थ कल्पनायें की गयी हैं। "जुहू" का ही नाम ब्रह्मजाया भी है। जब जुहोति क्रिया के अर्थ में समर्थ होकर यह वाणी स्पष्ट व्यक्त हो जाती है और यज्ञ को संपादन करने योग्य बन जाती है तब इसका नाम जुहू है। परन्तु जब इससे पूर्व अवस्था में रहती है तब वह "ब्रह्मजाया" है। शतपथ १४।४।४।१ में "ब्रह्म" पद पर लिखा है कि ([वागिति ...] [नाम्नां] ब्रह्मेतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्त्ति) समस्त नामों को धारण करने से वाक् ही ब्रह्म ... । ब्राह्मण ग्रन्थों में वाणी को ब्रह्म कहा गया है और वेद, ऋक्, मंत्र, गायत्री, प्रणव आदि ५ ... के लिए ब्रह्म का प्रयोग है। शतपथ ५।३।२।४ में (ब्रह्म हि यज्ञः) यज्ञ को ब्रह्म कहा गया ...। ऐतरेय ७।२२ में (ब्रह्म वै यज्ञः) भी ब्रह्म यज्ञ को कहा गया है। अतः यज्ञसाधिका वाणी ... व्यक्त वाणी ब्रह्म है और वह उत्पन्न होती है। जिसमें उस अव्यक्त दैवी वाणी का नाम ब्रह्मज... है।

बृहस्पति की व्याख्या करते हुये शतपथ १४।४।१।२२ में ... वाग्वैबृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः) लिखा है कि वाणी का नाम बृहती है। उसका प... होने से यह बृहस्पति है। विद्वान्

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

को बृहस्पति कहा जाता है। परन्तु देवरूप में बृहस्पति देवतावों का पुरोहित है। ऐतरेय ८।२६ में लिखा है कि बृहस्पति देवों का पुरोहित है। (बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः)। वह चूंकि देवों का दैवीयज्ञ में पुरोहित है अतः देवों का वाणी को उसे देना उचित ही है। ऐतरेय ३।३४ में (ये [प्रजापतेः रेतः पिण्डा दग्धाः सन्तः] ऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्यदङ्गाराः पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवत्) लिखा है कि विराट् के बीजपिण्ड जो अंगार रूप थे वे अंगिरोगण कहलाये और जब ये शान्त होकर प्रकाशित हुये तब वह बृहस्पति हुआ। यही दैवत-पुरोहित है। इसे ब्रह्मजाया देवों ने दी। परन्तु उसमें किल्विष = अव्यक्ता दोष था। अतः बृहस्पति ने छोड़ दिया। जब देवों ने उसे व्यक्त करके निर्दोष कर दिया तब पुनः बृहस्पति ने उसे स्वीकार किया। यही जुहू है। ऋग्वेद १०।१०९ सूक्त में इसी विज्ञान का वर्णन है। प्रथम मंत्र में—अकूआर = आदित्य, सलिल, मातरिश्वा, उग्र और कल्याणकारी आपः देवियों के द्वारा ब्रह्मजाया का देना लिखा है। इन्हें यहां पर ऋत द्वारा प्रथमोत्पन्न कहा गया है। २ [illegible] मंत्र में मित्र, वरुण, अग्नि के द्वारा अनुवर्तित होकर सोम द्वारा उसका पुनः देना दिखलाया गया [illegible] मंत्र में इसे राजदूत के गोपनीय रहस्य की भाँति गुप्त कहा गया है। ४ थे मंत्र में पूर्व ऋ[illegible] के द्वारा और देवों के द्वारा इसक[illegible] और इसकी विशेषता दिखलायी गयी है। ५ वें मंत्र म[illegible] है कि ब्रह्मचारी [illegible]एकाङ्ग होकर विचरता है अतः वही इस वाणी को पा सक[illegible] नहीं। बृहस्पति ब्रह्मचारी है अतः वह जुहू को प्राप्त करता है। यहाँ कितना ऊंचा विज्ञान दिख[illegible]या गया है। ६ ठें और ७वें मंत्र में देव, मनुष्यों और राजावों द्वारा इसका आदान प्रदान और यज्ञ व्यवहार में लाना वर्णित है।

[illegible] कर संगति

वाग्—

यह भी कोई नारी[illegible] [illegible]वेद १०।१२५ सूक्त में वाणी[illegible] वर्णन है। इसका नाम [illegible] यास्क ने इसे निरुक्त ७।२ पर वागम्भृणीय [illegible] है। इसका यह तात्पर्य [illegible] म्भृण की पुत्री वाक् का सूक्त है अतः वागम्भृ[illegible] है। सायण आदि का यह [illegible] कर[illegible] [illegible]त है। निघण्टु ३।३ में अम्भृण पद महन्नाम में प[illegible] है। अतः महान् जनों अथवा बह[illegible] [illegible]ी का नाम अम्भृणीय वाक् है। राजा की सर्वो[illegible] सभा की वाणी अम्भृणीय वा[illegible] इस का प्रयोग स्पष्ट नहीं है तथापि भ्रम [illegible] सार्थ यहाँ पर लिख दिया।

विश्पला—

विशः पालयतीति वि[illegible]ला—अर्थात् जो प्रजा की रक्षा करे वह विश्पला है। जो राजपत्नी अथवा स्त्री प्रजा एवं जनता [illegible] रक्षा करती है वह विश्पला है। संग्राम आदि में यदि उसका पैर कट जाता है तो पुरोहित औ[illegible]द्य उसे स्वर्ण अथवा लोहे का पांव दे देवें। ऐसा वर्णन मिलता है। इस को न समझ व्यक्ति[illegible]ी इतिहास व्यर्थ में खड़ा कर लिया गया है। ऋग्वेद १।११२।१०; १।११६।१५; १।११७।११; १[illegible]।८; और १०।३९।८ में यह पद प्रयुक्त है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विश्ववारा—

समस्त उत्तम गुणों को चुनने वाली स्त्री विश्ववारा है। अथवा समस्त बुराइयों एवं दोषों का निवारण करने वाली विश्वारा है। ऋग्वेद ५।२८।१ में यह पद आया है।

शुनःशेप—

ऋग्वेद १म मण्डल के २४–३० सूक्तों का मंत्रद्रष्टा ऋषि शुनःशेप है। इस धारणा को लेकर इन सूक्तों में लोगों ने शुनःशेप सम्बन्धी इतिहास गढ़ लिया है। जब कि इन सूक्तों में ऐसी किसी घटना का उल्लेख नहीं हैं। सूक्तों के पढ़ने से इस का गन्धमात्र भी नहीं मिलता। न इनमें हरिश्चन्द्र का नाम है और न रोहिताश्व और देवरात विश्वामित्र का ही। इस सूक्त में नरमेध का तो किञ्चिन्मात्र भी कहीं जिक्र ही नहीं। फिर भी कुछ पाश्चात्य और एतद्देशीय विद्वानों ने व्यर्थ की गड़बड़ी मचायी है। वेद से तो इस इतिहास का सम्बन्ध नहीं। हां! कल्पित विनियोग को आधार लेकर यह इतिहास का अण्ड-वण्ड स्वरूप खड़ा किया गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। ऋग्वेद १।२४।९ मंत्र में वरुण [illegible] लोगों ने [illegible]हा गया है कि उसके सहस्रों ओषधियाँ और सहस्रों रोग-हन्त्री शक्तियाँ हैं। [illegible] आता है [illegible] करे"। यह निर्ऋति क्या है—इस पर शतपथ ब्राह्मण[1] ५।३।१।[illegible] [illegible] अर्थ [illegible] ध्यान [illegible] देने योग्य है। इसमें कहा गया है कि जो [illegible] पत्नी है वह निर्ऋति [illegible] गया है। यहाँ पर यह स्पष्ट है कि निर्ऋति वह रोग एवं दोष हैं जो [illegible] स्थिर नहीं होने देते। इसको ओषधियों से दूर करने का विधान है। इस आधार को समझाने के लिए [illegible] व्यक्ति की कल्पना खड़ी कर ली।

[illegible] है कि ऋग्वेद [illegible] मंत्र का हवाला यास्क ने निरुक्त ६।३ पर दिया [illegible]। इनी नदी विशेष की व्याख्या [illegible] जाने पर [illegible] दिखलायी [illegible] है। यास्क ने इस स्थल [illegible] दायभाग का भी वर्णन [illegible] ऋग्वेद ५।४।[illegible]७ [illegible] व्यक्त नहीं हुई [illegible] किया है। दत्तक पुत्र यदि [illegible] ऋण को अदा करने वाला नहीं है तो वह [illegible] पार्थिवा [illegible] बना कर बृहस्पति [illegible] अजीगर्त के पुत्र का देवरात [illegible] विश्वामित्र बन जाना वर्णव्यवस्था से होने वाले [illegible] में प्रयुक्त होने को पुष्ट करन के लिए है। [illegible] पुत्र परिवर्तन की विधि को स्पष्ट करने में यह कोई [illegible] जिसको न समझ कर [illegible] गयी होगी।

तीसरी बात यह है कि इन सूक्तों में बन्धन से [illegible] करने योग्य की प्रार्थना है। वेदों में सृष्टि को [illegible] यज्ञ कहा गया है और पुरुष = जीव को पशु कहा है [illegible] तब वह "[illegible] प्रकृति-यज्ञ में पुरुष को देवों ने [illegible][2]। इस आधार को लेकर शुनःशेप की [illegible] कल्पना जोड़ ली। वस्तुतः वेद [illegible] शुनःशेप की इस कथा का कोई सम्बन्ध नहीं है।

शुनःशेप का अर्थ है ज्ञानी अथवा गतिमान वायु, अग्नि, मित्र, वरुण, जल आदि पदार्थों से सम्पर्क रखने वाला। शेप पद का अर्थ प्रजनन इन्द्रिय है। परन्तु यहाँ पर वह अभिप्रेत नहीं। यहाँ पर शेप शब्द उत्तर पद है। निघण्टु ३।२९ में शेप पद को उत्तरपद नाम में पढ़ा गया है।

१—या वा अपुत्रा पत्नी सा निर्ऋतिगृहीता। श[illegible] ५।३।१।१३

२—देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्। [illegible] ऋग्वेद १०।९०।१५

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इससे यह स्पष्ट है कि यहाँ पर शेप उत्तरपद के अर्थ में है और उसका अर्थ प्रजननेन्द्रिय नहीं है। "शेप" पद स्पर्शार्थक शप् धातु से बनता है। इसका अर्थ है संपर्क अथवा संस्पर्श रखने वाला। "श्वा" पद का अर्थ कुत्ता भी है। परन्तु यहाँ पर "श्वा" पद का अर्थ गतिशील पदार्थ अथवा ज्ञान वाला है। यह पद शव गत्यर्थक धातु से बना है। यदि कुत्ता ही अर्थ "श्वा" का होता होता तो "मातरिश्वा" पद की क्या स्थिति बनती। क्या इसका अर्थ आकाश का कुत्ता किया जावे। नहीं, मातरिश्वा वायु और जीवात्मा का नाम है। माता के गर्भ में जाता है अथवा शयन करता है अतः वह मातरिश्वा है। मातरि = आकाश में गमन करने अथवा शयन करने से वायु मातरिश्वा है। यास्क ने शेप पद को निरुक्त ३।२१ पर शप् स्पशार्थक धातु से माना है। जब कि यह शीङ् स्वप्ने से भी बन सकता है। इसी प्रकार निरुक्त ३।१५ पर "श्वा" पद की निरुक्ति भी। (शु यायी, शवतेर्वा स्याद्गतिकर्मणः) शव गत्यर्थक धातु से क्रिया है। जब कि यह "श्वा" पद शीङ स्वप्नार्थक धातु से भी बन सकता है। अतः ज्ञानी का संपर्क रख[illegible]ाला अथवा गतिशील दिव्य पदार्थों के साथ संपर्क रखने वाला शुनःशेप है। इस प्रकार शुनःशे[illegible]नी अथवा वैज्ञानिक है।

शुन[illegible] कोई व्यक्तिविशेष नहीं—इसका एक और भी [illegible] है। वह यह कि ऋग्वेद ५।[illegible] "शुनश्चिच्छेपम्" प्रयोग मिलता है। शुनः+चित्+शेपम्—[illegible] करता कि समस्तपद यहाँ पर नहीं [illegible] है। अन्यथा मध्य में चित् कैसे आता [illegible] व्यत्यय मानकर इसकी संगति [illegible]यी है। स्वामीजी महाराज ने भी "शुनः [illegible] पद स्वीकार किया है परन्तु वह शु[illegible]पम् को पृथक् [illegible] पर भी अन्वित होकर [illegible] इस मंत्र में शुनः और शेप को अलग अलग प[illegible] [illegible] कर संगति [illegible] पद पाठ में शुनः शेप[illegible] प्रकार लग सकती है:—[illegible]

शुनश्चिच्छेपं नि[illegible]

अर्थात् हे अग्ने [illegible] परमेश्वर) अनेक बन्धनो से युक्त शुनः = विद्वान् [illegible] गाढ़ शेप = संपर्क को हटाइये।

"शुनःशेप पद ऋग्वे[illegible]।१२ में आया है। पूर्वोक्त अर्थ से [illegible] संगति लग जाती है।

सप्तवध्रि—

इस विषय में भी बहु[illegible] अनर्गल कल्पनायें लोगों ने की हैं परन्तु वे सब निराधार हैं। सप्तवध्रि कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। स[illegible]वध्रयो यस्य स सप्तवध्रिः। सात धातुवें, अथवा सप्त इन्द्रियें (जिन्हें सप्तर्षि कहा जाता है) बन्धन [illegible] जिसके ऐसे गर्भस्थ जीव का नाम सप्तवध्रि है। ऋग्वेद ५।७८ सूक्त गर्भ के विषय का वर्णन करता है। इस सूक्त के ५,६ मंत्र में सप्तवध्रि पद आया है। ६ठें मंत्र

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

में ऋषि पद का भी प्रयोग है जो यौगिक है । ऋग्वेद ८।७३।६ मंत्र में भी सप्तवध्रि पद आया है । ऋग्वेद १०।३६।६ में भी सप्तवध्रि पद है । इस अर्थ से सर्वत्र मंत्रार्थसंगति लग जाती है । अथर्ववेद १८।३।१५–१६ में कण्व, कक्षीवान्, पुरुमीढ, अगस्त्य, श्यावाश्व, सोभरि, अर्चनानस्, विश्वामित्र, जमदग्नि, अत्रि, कश्यप, वामदेव, भरद्वाज, गोतम, वसिष्ठ, शर्दि आदि पद आये हैं । इनका भी पूर्व विवेचन हो गया है ।

इस प्रकार विपक्षियों द्वारा प्रस्तुत किये गये व्यक्तिवाचक पदों के अर्थ और मंत्रार्थसंगति दिखलाकर यह सिद्ध किया गया कि ये व्यक्तिवाचक नाम नहीं हैं ।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शुद्धाशुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
१	५	तपस्याकाल	तपस्याचल
”	६	विद्वानो	वि[illegible]वों
”	८	”	[illegible]
”	२५	पुनः }	यह [illegible]क छप[illegible]या है ।
२	११	[illegible] बात	[illegible]क बात का
”	२७	वह	[illegible]
”	३०	ये	[illegible]
	फुट नोट	वाचकत्वापि	[illegible]त्वेऽपि
३	३	वही	[illegible]
”	७	सूर्य पर[illegible]	[illegible]
”	९	सन्देह न[illegible]	[illegible]
”	१२	ब्रिटेन	[illegible]
”	२१	फिर	[illegible]
”	२४	है	[illegible]
”	२६	छन्दकाल	[illegible]
”	२७	व्यक्ति विशेषों	[illegible]
४	४	पश्चात्य	पाश्चात्[illegible]
”	७	Premit[illegible]	Primitive
”	५	मानूली	मामूली
”	७	विकास	विकास को
”	१३	शब्दगुञ्जना	शब्दगुम्फना
”	१६	परिभाषिक	[illegible]पारिभाषिक

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
४	२३	प्रकार के आगे “यह” पद रह गया है ।	
४	[illegible]	Mantre	Mantra
”	[illegible]	[illegible]acrifical	Sacrificial
		[illegible]	प्यथान करता
५	१२	ऊटपटांग	[illegible]
”	२७	प्रश्न	[illegible]
”	३१	इस	कि[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]न बतलात[illegible] हों
”	[illegible]७	मार्नेनिभिज्ञ	मर्मान[illegible]
”	२४	उस	इस
७	१३	मूजवान् अंग वंग आदि	मूजवा[illegible]ंग, वंग आ[illegible]
”	१७	का	वा[illegible]
”	३२	समझने	[illegible]
८	१७	इस	इस[illegible]
”	२३	पाणि[illegible]	प[illegible]
”	२५	“बहुल छंदसि”	“[illegible]
”	२७	अवहेलता	[illegible]
”	३१	है	[illegible]के

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
,,	३२	अर्थ	अर्थ के
,,	३४	जत	जल
६	शीर्षक	विमश	विमर्श
,,	१२	विशेष्य	विशेषण-विशेष्य
,,	३३	वृण	वृण
१०	३	उर्वी	उर्वीं
,,	४	पृथिवीयुतयाम्	पृथिवी-मुतद्या[illegible]
,,	फुटनोट	अदिति ह[illegible]	[illegible] ही
११	,,	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]वन्	मभवत्
[illegible]	[illegible]	मघवान्	मघवान्
[illegible]	[illegible]	निरुक्त	निरुक्त में
[illegible]	[illegible]	जबरम्	जब र[illegible]
,,	[illegible]	[illegible]	[illegible] के अ[illegible]
,,	फुटनोट	[illegible]	[illegible]
	२	तो कभी	तो क्या कभी
	१६	नहीं है	है
	फुटनोट	कविग्रहपति	कविर्गृहपति
	,,	देवममीनवचा-तनम्	देवममीव-चातनम्
[illegible]	[illegible]	बहुत्रान्त	बहुवचनान्त
	१८	उसको	उसके
	१६	[illegible]	लिखा ही
		सिद्ध करना	सिद्ध करती
		सिद्ध करता	सिद्ध करती
,,		कि	इससे
,,	१०	नहीं मन्त्रार्थ	नहीं, मन्त्रार्थ

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
,,	२१	पाशवद्ध	पाशबद्ध
१५	फुटनोट	व्यपाश्यना	व्यपाश्यन्त
,,	,,	तस्याद्विपाडुच्यते	तस्माद्विपाडुच्यते
,,	फुटनोट	मुमूर्सतः	मुमूर्षतः
,,	,,	उरुञ्जिरा	उरुञ्जिरा
१६	४	भाष्यनिरुक्त	भाष्य निरुक्त
,,	४	से	से प्रमाण
,,	४	यह	कह
,,	[illegible]	फैली हुई	फैले हुये
,,	[illegible]२	मरुत्वृधे	मरुद्वृधे
,,	१३	मररुत्	मरुत्
,,	[illegible]	मरुवृत्धा	मरुद्वृधा
,,	[illegible]	मरुत	मरुत्
	[illegible]	आवाशीय	आकाशीय
,,	[illegible]	हो सकती है	हो सकती हैं
,,	[illegible]	वर्तमानविशेषण	वर्तमान विशेष
[illegible]	[illegible]	[illegible]मित्र	विश्वामित्र
[illegible]	[illegible]	में प्रयुक्त	का
[illegible]	[illegible]	[illegible]हाना-	सञ्जिहान-
[illegible]	[illegible]	[illegible]दि	मित्यादि
[illegible]	[illegible]	[illegible]र्वोचति	कारुर्वोचाति
[illegible]	[illegible]	तानद्यः	ता नद्यः
[illegible]	[illegible]	पृथिव्यामस्तरिक्षे	पृथिव्या-मन्तरिक्षे
	,,	[illegible]ायणाः	सायणः
१७	शीर्षक	विमश	विमर्श
,,	६	का है	का है,
,,	१२	चाहिए	चाहिए।
,,	१८	प्रैष्यञ्जर्नाम	प्रैष्यञ्जनमिव
,,	२६	यो	वा

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
१७	फुटनोट	अपद्वेषास्यमुपा	अपद्वेषां-स्यमुया
१८	१	मूजवन्द	मूजवन्त
,,	३	पर्वत	पर्वत को
,,	८	ज्वर	ज्वर
,,	१२	स्थान हैं	स्थान ही हैं
,,	२५	तौर	तौर से
,,	३०	यहां पर एक तो [illegible] पूर्व निम्न वाक्य छूट गए [illegible] दो तरह से अपन[illegible]	
२०	२[illegible]	क्रिया विशे[illegible]षण	[illegible]
,,	२२	"पूर्व"	
२१	१	पूर्व	[illegible]पाठ
,,			
,,			
,,	६	सुमे[illegible]	
,,	१७	शाम[illegible]	
,,	२८	इन	
,,	फुटनोट	शाष्पा[illegible]	
२२	२	दश् धातु	
,,	३	दश्	
,,	६	ऋत्विज	
,,	९	दश्	
,,	१४	दश्	
,,	२२	यहां पर क्र[illegible] गया है।	
,,	फुटनोट	परिकार्तिताः	

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
२२	,,	आर्षेपवरर्ण	आर्षेयवरणम्
२३	८	स्तोमानां	स्तोमानाम्
,,	१३	यहां सिद्ध पद व्यर्थ ही छप गया है।	
,,	१५	कर दिया है २	कर दिया है २।
,,	१६	सूक्त	सूक्ष्म
,,	२८	"वे" ग़लती से छप गया है।	
		[illegible]क्तान-	सूक्ष्मान-पर्यन्त
			करता

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
२८	२८	अंगिरस्तम् ,	अंगिरस्तमम्
२९	३	के अधिक छप गया है।	
"	१५	का अर्थ	का विविध अर्थ
३१	१	नहीं	नहीं नहीं!
३२	१५	गौण	गौण वर्णन
"	२१	के लिए	करने के लिये
३३	७	है	[illegible]
		[illegible]	मभवत्
		मघवान्	मघवान्
		निरुक्त	निरुक्त में
		जबरम्	जब र[illegible]
	फुटनोट	[illegible]	[illegible]
	२	तो कभी	तो क्यों कभी
	१६	नहीं है	है
	फुटनोट	कविग्रहपति	कविर्गृहपति
	"	देवममीनवचा-तनम्	देवममीव-चातनम्
		बहुत्रान्त	बहुवचनान्त
		[illegible]	उसके
	१६	[illegible]	लिखा ही
		सिद्ध करना	सिद्ध करती
		सिद्ध करता	सिद्ध करती
		कि	इससे
"	१४	नहीं मन्त्रार्थ	नहीं, मन्त्रार्थ

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
१२७	शीर्षक में 'वैदिक', शब्द रह गया है।		
१७९	"	विचार	इतिहास
१९०	३	Peterburg	Peters-burg
२८९	शीर्षक ग़लत लग गया है।		
२९०, २९१	शीर्षक अस्त-व्यस्त लग गया है।		
"	१३	Altindi-schis	Atlindi-schis
"	शीर्षक	विमश	विमर्श
		[illegible]	[illegible]
	१७	शीर्षक [illegible]	[illegible]
"	६	[illegible]	[illegible]
"	१२	[illegible]	[illegible]
"	१८	[illegible]	[illegible]
"	२६	[illegible]	[illegible]

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

करता

रात

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
२८	२८	अंगिरस्तम्	अंगिरस्तमम्
२९	३	के अधिक छप गया है।	
,,	१५	का अर्थ	का विविध अर्थ
३१	१	नहीं	नहीं नहीं !
३२	१५	गौण	गौण वर्णन
,,	२१	के लिए	करने के लिये
३३	७	है	[illegible]
		[illegible]	मभवत्
		मद्यवान्	मघवान्
		निरुक्त	निरुक्त में
		जब्रम्	जब्र [illegible]

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
१२७	शीर्षक में 'वैदिक', शब्द रह गया है।		
१७९	,,	विचार	इतिहास
१९०	३	Peterburg	Petersburg
२८६	शीर्षक ग़लत लग गया है।		
२९०, २९१	शीर्षक अस्त-व्यस्त लग गया है।		
४[illegible]	१३	Altindischis	Atlindischis
,,	शीर्षक	विमश	विमर्श

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

करत

ाद

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आर्य साहित्य मंडल लिमिटेड

अजमेर

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal